श्रीश्रीरूपगोस्वामिप्रभुपादप्रणीतः

श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

द्वितीय खण्ड

इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र ने व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प के अन्तर्गत वृन्दावन और दक्षिण भारत में उसके तुल्य तंजावुर–इन दो ऐसे केन्द्रों का विशेष अध्ययन एवं अनुसन्धान का काम उठाया है जिससे मध्ययुग में वहाँ विकसित और आज तक जीवित परम्परा में प्राप्त साहित्य, सङ्गीत, कला, स्थापत्य, अनुष्ठान आदि के प्रमुख तत्त्व सम्मिलित रूप से उभर कर सामने आ सकें।

व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प के अन्तर्गत श्रीरूपगोस्वामी के कृतित्व से जुड़े श्रीगोविन्ददेव-मन्दिर और उससे सम्बद्ध गौड़ीय वैष्णव परम्परा के श्रीरूपगोस्वामी द्वारा ही प्रणीत भक्तिरस-सम्बन्धी मीमांसा के तीन ग्रन्थ–*श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु*, *श्रीउज्ज्वलनीलमणि* और *श्रीनाटकचन्द्रिका*–इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित होंगे। *श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु* केवल गौड़ीय परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ ही नहीं है अपितु पूरे देश में भक्तिरस का जो भी प्रतिपादन हुआ है उसकी पराकाष्ठा इसमें निबद्ध है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति का साङ्गोपाङ्ग निरूपण परम्परा-प्राप्त नौ रसों में से शान्त और शृङ्गार से दास्य, सख्य और वात्सल्य को जोड़कर पाँच मुख्य भक्तिरस और शेष सात–हास्य, करुण, वीर, भयानक, बीभत्स, रौद्र एवं अद्‌भुत–को गौण भक्तिरस बनाकर द्वादश भक्तिरस का प्रतिपादन है।

प्रथम खण्ड में मूल ग्रन्थ के 'पूर्व' एवं 'दक्षिण' विभाग आ चुके हैं।

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में शेष दो–'पश्चिम' एवं 'उत्तर'–विभाग आए हैं। यहाँ परिशिष्टों के रूप में सम्पूर्ण ग्रन्थ की श्लोकानुक्रमणी, परिभाषानुक्रमणी, उद्धृत प्रमाणग्रन्थादि की अनुक्रमणी, मूलग्रन्थ में प्रतिपादित पदार्थों के भेद-प्रभेदों की तालिका-सारणियाँ भी दी गई हैं।

तृतीय खण्ड में तीनों उपलब्ध संस्कृत टीकाएँ जाएँगी। मूल सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्वय एवं विमर्श से साधारण पाठक मूल की ओर उन्मुख हो सकेंगे और संस्कृत टीकाओं से विद्वज्जनों का परितोष होगा।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भक्तिशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, साहित्य आदि के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपादेय होगा। विशेषज्ञ एवं सामान्य पाठक, दोनों के लिए इसमें प्रभूत सामग्री है।

5.2

श्रीश्रीरूपगोस्वामिप्रभुपादप्रणीतः

श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

व्रज-नाथद्वारा-प्रकल्प

इ.गा.रा.क.के. व्र.ना.प्र.–५

श्रीश्रीरूपगोस्वामिप्रभुपादप्रणीतः

श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

(हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पादन एवं अनुवाद
प्रो० प्रेमलता शर्मा

(द्वितीय खण्ड)

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
नई दिल्ली
और
मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

प्रथम संस्करण : २००३

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित अनुमति
के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी भाग का उद्धरण
किसी भी प्रकार से न किया जाय।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
जनपथ, नई दिल्ली ११०००१
द्वारा
मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७
के सहयोग से प्रकाशित

ISBN: 81-208-1985-3 (द्वितीय खण्ड)
ISBN: 81-208-1986-1 (सैट)

मूल्य : रु. १४००

श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५, नारायणा, फेस १
नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

गौड़ीय-वैष्णव-ग्रन्थों के

उद्धारक
आचार्यदेव श्रीपुरीदासजी
की पुण्य-स्मृति में

सश्रद्ध समर्पित

॥ श्रीराधारमणो जयति ॥

आमुख

श्री चैतन्य प्रेम संस्थान एवं इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के सहसङ्कल्प व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प रूपी वृक्ष की शाखाएँ फलवती हो रही हैं। *"ईवनिंग ब्लॉसम्स: द टेम्पिल ट्रेडीशन ऑफ़ साँझी इन वृन्दावन," "श्रीगोविन्ददेव: अ डायलॉग इन स्टोन, इन फेवर ऑफ़ गोविन्ददेवजी: हिस्टोरिकल डाक्यूमेंट्स रिलेटिंग टु अ डिअटी ऑफ़ वृन्दावन एण्ड ईस्टर्न राजस्थान"* आदि प्रकाशन हमको उपलब्ध हो चुके हैं। मूल सङ्कल्प के अन्तर्गत ग्रन्थसूची, दृश्य एवं श्रव्य आलेखों की सूची एवं अन्य कई शोध-ग्रन्थ प्रकाशन-प्रक्रिया में हैं। डॉ॰ मोनिका के प्रकाशन *"इन फेवर ऑफ़ गोविन्ददेव"* के फलस्वरूप व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प का अनुसन्धान-क्षेत्र जयपुर एवं राजस्थान की ओर बढ़ा, जिसके लिए हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय के सूदेशियन इंस्टीट्यूट तथा इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र मिलकर कार्यरत हैं।

व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प के द्वारा भारतीय-रस-चिन्तन धारा के प्रमुख ग्रन्थ श्रीरूप गोस्वामी कृत *श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु* का प्रथम खण्ड हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हो चुका है। उसका सम्पादन और अनुवाद रस-परम्परा की आचार्या प्रो॰ प्रेमलता शर्मा ज़ी की साधना के द्वारा हमें प्राप्त हुआ। आज उसी *श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु* का द्वितीय खण्ड आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए भाववैचित्त्य की स्थिति का अनुभव हो रहा है।

श्रीरूप गोस्वामिपाद की इस गम्भीर कृति को हिन्दी में सुलभ प्रो॰ शर्मा ने बनाया, किन्तु हमारी कृतज्ञता को स्वीकारने के लिए आज वे हमारे मध्य नहीं हैं। महाप्रयाण के पूर्व ही उन्होंने इस द्वितीय खण्ड के हिन्दी अनुवाद के साथ ही एक विवेचनात्मक अवतरणिका की रूपरेखा और नोट्स कृपापात्री अनुजा डॉ॰ ऊर्मिला शर्मा को लिखाकर सुरक्षित कर दी थीं। दिवंगता बहिन जी की उस अनूठी कृपा को इस खण्ड में डॉ॰ ऊर्मिला जी ने अनुवाद को व्यवस्थित एवं अवतरणिका को प्रस्तारित कर प्रस्तुत किया है।

लगता है कि इतिहास अपने आप को दोहरा रहा है। श्रीरूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि तथा नाटकचन्द्रिका के रूप में रसप्रस्थानत्रयी की रचना की थी। किन्तु रचना प्रक्रिया में ग्रन्थों को सम्पादित कर प्रकाशित करने का दायित्व श्रीजीव गोस्वामी का ही बना। उसी प्रकार श्रीरूप गोस्वामी के इन ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद तथा विमर्श यद्यपि प्रो॰ प्रेमलता शर्मा कहीं पूर्णत: और कहीं आंशिक रूप से ही कर गई हैं, तथापि हमारा सौभाग्य है क़ि उस महत्त्वपूर्ण कार्य का विधिवत् सम्पादन तथा अन्तिम रूप देने की सेवा को ऊर्मिला जी ने सहज रूप से स्वीकारा है, उस परम्परा को पुष्ट करते तथा आगे बढ़ाते हुए।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के प्रस्तुत संस्करण की आवश्यकता और विशेषता के बारे में प्रथम खण्ड में ही सम्पादिका प्रो० प्रेमलता शर्मा के द्वारा स्पष्टतः कहा जा चुका है। यह ग्रन्थ क्या है? इसका सूत्रात्मक परिचय भी प्रथम खण्ड की भूमिका में दिया जा चुका है। पुनरावृत्ति न करते हुए मैं स्वामी श्री महेशानन्द गिरि जी की आनन्दाभिव्यक्ति यहाँ उल्लिखित करना चाहूँगाः–

> *“...यह भक्ति स्वयं ही रसरूप है, और यही अमृत है। शृङ्गार आदि इसी की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। साधकों–पार्षदों–परिकरों के भेद से पाँच रस प्रधानतया एवं अन्य औपाधिक या गौण रस परिस्थिति–भेद से पूर्णतया यहाँ निरूपित होने से इस ग्रन्थ को सिन्धु (समुद्र) कहा गया है। इस प्रकार सभी रसानुभूतियों के भेदों का यह विश्वकोष बन गया है। श्रीरूप गोस्वामी जी ने भगवदवतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जी का सान्निध्य पाकर अपने को तो कृतार्थ किया ही, अपनी रचनाओं से मानव मात्र के लिए कृतार्थता के मार्ग को सुलभ एवं प्रशस्त किया है।*
>
> *लीलाचिन्तन की विविधताओं का जो बीज श्रीमद्भागवत में है, उनको विस्तार से रस–ग्रहण के विविध वर्गीकरण के द्वारा यहाँ इतना स्फुट कर दिया गया है कि साहित्य–शास्त्री भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकेंगे। हिन्दीभाषियों से यह निधि छिपी न रहे अतः सुश्री प्रेमलताजी ने इसका प्रामाणिक अनुवाद एवं श्रीजीव गोस्वामी, श्री मुकुन्ददास तथा श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की संस्कृत चिन्तनिकाओं का सार उपस्थापित किया है। वे सङ्गीत, साहित्य एवं नाट्य की अगाध विज्ञाता तो थी हीं, उच्च कोटि की साधिका भी थीं। अनुवाद अत्यन्त उत्तम बन पड़ा है एवं मूलग्रन्थ के भावों का पूर्ण रक्षण इसमें है। कई स्थलों पर, टीकाकारों के समय अत्यन्त प्रसिद्धि होने से जो विस्तार के योग्य नहीं समझा गया होगा, उस विषय को भी वर्तमान परिवेश में समझाने का स्तुत्य प्रयास विमर्श में अनुवादिका ने किया है। उज्ज्वलनीलमणि आदि का प्रकाशन भी इस शृङ्खला में होने जा रहा है–यह प्रसन्नता का विषय है।”*[१]

व्रज–नाथद्वारा प्रकल्प के अन्तर्गत श्रीरूप गोस्वामी के तीनों प्रमुख ग्रन्थों को अनुवाद एवं विमर्श सहित सम्पादित कर प्रकाशित किया जाएगा। प्रथम खण्ड के प्राक्कथन में इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के इस सङ्कल्प को डॉ० कपिला वात्स्यायन ने प्रकट किया था। वास्तव में यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान सदस्य–सचिव डॉ० एन०आर० शेट्टी ने भी उसी सङ्कल्प को दोहराया है, आगे बढ़ाया है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के तीसरे खण्ड में श्रीजीव गोस्वामी, श्री मुकुन्ददास एवं श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाओं को एक साथ प्रकाशित किया जाएगा जो भारतीय रसशास्त्र के विद्वान्

---

[१] *प्रेम रसायन तथा सङ्गीतमीमांसाः द अल्कमी ऑफ़ लव एण्ड विज़्डम ऐज़ एक्सप्रेस्ड थ्रू द होलिस्टिक लाइफ एण्ड वर्क्स् ऑफ़ प्रो० प्रेमलता शर्मा*, सं० ऊर्मिला शर्मा, दिल्लीः राधा प्रकाशन २००२, पृ० १०९–१०।

चिन्तकों के लिए एक अप्रतिम उपलब्धि होगी। प्रस्तुत प्रकाशन के साथ ही डॉ० डेविड एल० हीबरमैन द्वारा *श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु* का सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद एक खण्ड में व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। डॉ० ऊर्मिला जी द्वारा स्मृतिशेष प्रो० प्रेमलता जी के द्वारा छोड़े गए *श्रीउज्ज्वलनीलमणि* के हिन्दी अनुवाद एवं विमर्श को पूर्णता प्रदान करने का कार्य अपनी उन्नत अवस्था में है, जिसका अनुवाद, विमर्श तथा टीकाओं सहित प्रकाशन २-३ खण्डों में आपके सामने आएगा। तदुपरान्त श्रीरूप गोस्वामीकृत नाटकचन्द्रिका का प्रकाशन सङ्कल्पित है।

प्रथम खण्ड की अवतरणिका को प्रो० प्रेमलता शर्मा जी द्वितीय खण्ड में विस्तारित करने वाली थीं। वह कार्य उन्हीं के शिक्षण एवं निर्देशानुसार उनकी अनुजा डॉ० ऊर्मिला जी ने किया है, जब बहिन जी सशरीर हमारे सामने नहीं हैं। यह 'अवतरणिका-प्रस्तार' अपने आप में पूर्ण एक शोध आलेख है, जिसमें भक्ति एवं रस चिन्तन का एक सर्वाङ्गीण चित्रण दिखायी पड़ता है; इस नाते यह जिज्ञासु-पाठकों के लिए अवश्य उपादेय होगा। हम आशा करते हैं कि व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प के इन सङ्कल्पों को प्रकाशित करने हेतु डॉ० ऊर्मिला शर्मा जी की निष्ठापूर्ण सारस्वत सेवा हमें प्राप्त होती रहेगी।

श्रीवत्स गोस्वामी

श्रीधाम वृन्दावन
पवित्रा एकादशी
सं० २०५९

श्रीवत्स गोस्वामी
निदेशक
व्रज-नाथद्वारा प्रकल्प

अवतरणिका-प्रस्तार

सन्मनोऽलिव्रजोद्गीतमिन्दिरानन्दमन्दिरम्।
गङ्गोत्तुङ्गरसं वन्दे श्रीगोविन्दपदाम्बुजम्॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्त-सुखाभिवर्षिणे।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम्॥[1]

[उन श्रीकृष्ण के प्रति हम सतत प्रणाम निवेदित करते हैं जो सत्-चित्-आनन्द के घन-स्वरूप हैं, जो सब ओर अनन्त सुख बरसाते हैं, इसी स्वरूप-स्वभाव के कारण जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं निरोध के मूल हेतु हैं, उन की नित्य सेवा-रूप भक्तिरस पाना ही हमें अभीष्ट है।][1]

श्रीरूपस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतमतिरहं नौमि भूमौ निपत्य,
श्रीराधाकृष्णलीलामृतसलिलनिधौ मज्जिता येन लोकाः।
श्रीमच्चैतन्यचन्द्रोऽप्यतिशयकृपया यत्र शक्तिं प्रकाश्य
श्रीमद्वृन्दावनीयं मधुररतिरसं दर्शयामास सर्वान्॥[2]

[श्रीरूप गोस्वामी के चरणकमल में प्रणत मति से मैं भूमि पर (दण्डवत्) लोट कर प्रणाम करती हूँ, जिन्होंने (देख पाने के सौभाग्य से सम्पन्न) लोगों को श्रीराधाकृष्ण के लीलामृत-सागर में निमग्न किया, जिनके भीतर अतिशय कृपा-पूर्वक निजशक्ति प्रकाशित करके श्रीचैतन्यचन्द्र (चिन्मय आह्लादक-स्वरूप) ने श्रीमद्वृन्दावन के मधुर-रति-रस का दर्शन सबको कराया।]

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं इसके प्रणेता श्रीरूप गोस्वामी दोनों पर विस्तृत विचार इस द्वितीय खण्ड में करने का सङ्कल्प था; उसकी पूर्ति करवा लेने के लिये स्वयं 'रस' की स्वरूप शक्ति 'भक्ति' की कृपा तथा उस 'भक्तिरस' का स्वाद पिपासुओं को सुलभ करा देने वाले श्याम-मेघ के चातक भक्तवृन्द की कृपा पाने की चाह है।

प्रथम खण्ड की अवतरणिका में कहा जा चुका है कि अग्रज एवं गुरुवर्य श्री सनातन एवं अनुज शिष्य श्रीरूप-दोनों गोस्वामी-अग्रणी स्वयं संस्कृत भाषा तथा विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ प्रौढ़ पण्डित थे ही, फिर श्री चैतन्यदेव द्वारा उनमें विशेष रूप से जो रस-सञ्चार हुआ था, उस रस के परिपाक में 'विदग्ध' थे। श्री चैतन्य महाप्रभु की ही प्रेरणा पा कर श्रीरूप ने 'गोविन्ददेव

---

[1] श्री स्कन्दपुराणान्तर्गत भागवतमाहात्म्य का प्रथम पद्य (श्रीव्यासोक्त)

[2] यह अज्ञातकर्तृक पद्य हमें पूज्यपाद म०म०श्री गोपीनाथ कविराज जी के निजी प्रकीर्ण लेखनों 'notes' में से प्राप्त हुआ था, प्रस्तुत प्रसङ्गानुरूप होने के साथ ही उन्हें सविशेष प्रणाम-सहित स्मरण करने हेतु इसे यहाँ लिया गया है।

के स्वर्णमन्दिर' -तुल्य वाङ्मय की रचना की और अठारह ग्रन्थों की जो रत्नमाला भक्ति-विज्ञान को पहनाई, उसमें मध्यमणि हैं—'श्री भक्तिरसामृतसिन्धु', 'श्री उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'नाटकचन्द्रिका'। ये तीनों मिलकर इस परा-विद्या का सम्पूर्ण 'व्याकरण' प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में भक्तिरस के प्रतिपादन के संक्षिप्त इतिहास तथा उसमें श्रीरूप गोस्वामी का स्थान जितना-सा देखा गया उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि श्रीरूप के ग्रन्थों से पहले भक्तिरस की काव्यशास्त्र के अनुरूप व्याख्या के बहुत थोड़े, छिटपुट, शृङ्खलारहित, सामान्य ही प्रयत्न हुए थे। ब्रह्मविज्ञान अर्थात् अध्यात्म-धर्म के शास्त्रों का प्रतिपादन उस विषय को बहुत रूखा बनाये हुए था और काव्यात्मक रस-शास्त्र के ग्रन्थ केवल बाह्य लौकिक विषय-रस की ही बात कहते हुए से दिखते थे। इसीलिये भले ही उपनिषदों में ब्रह्म को ही 'आनन्द', 'भूमा-सुख', 'रस' आदि कहा गया और काव्य-नाट्य के रसास्वाद को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना गया, अर्थात् 'रस' का मूल अर्थ एवं पूर्ण आश्रय ब्रह्म ही है- यह समझ ज्ञान तथा काव्य दोनों धाराओं में समान थी, फिर भी इन दोनों के प्रतिपादन समान्तर चल रहे थे, दोनों के बीच सेतु नहीं बन पा रहा था। केवल श्रीरूप गोस्वामी ही ब्रह्म-विज्ञान की व्याख्या में लोकपरिचित काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण अनुकलन की बाधाओं पर विजयी हुए। इन्हीं के द्वारा भक्तिरस के विज्ञान की सुदृढ़मूलक, सुविस्तीर्ण, साङ्गोपाङ्ग निष्पत्ति तथा स्थापना हुई। अवश्य ही, उनके समकालीन दो महामनीषियों श्रीनारायण भट्ट एवं श्रीमधुसूदन सरस्वती की भक्तिरस-दर्शन-विषयक कृतियाँ क्रमशः 'भक्तिरसतरङ्गिणी' तथा 'भगवद्भक्तिरसायन' इस सन्दर्भ में अतीव महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी उतनी परिपूर्ण नहीं। श्रीरूप के उत्तरवर्ती मनीषियों में भी भक्तिरस-विज्ञान की रस-शास्त्रीय व्याख्या को विशद करने में किसी का वैसा मौलिक अवदान नहीं है।

अतएव भक्तिरसात्मक काव्यशास्त्र के अग्रणी ऋषि-रूप में श्रीरूप गोस्वामी अप्रतिम हैं, सुप्रतिष्ठित हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दिखाए गए पथ में प्रकट हुई अन्य सभी शास्त्रीय कृतियाँ श्रीरूप के ही निरूपण तथा प्रतिपादन की पोषक टीका या व्याख्या जैसी हैं। श्रीरूप-प्रणीत ग्रन्थों में सिद्धान्त (लक्षण) तथा साध्य (लक्ष्य) का ऐसा प्रामाणिक, सटीक, विलक्षण प्रतिपादन है कि ये ग्रन्थ सम्पूर्ण भक्ति-शास्त्र के कीर्तिस्तम्भ-सदृश विराजमान हैं। इन का यथार्थ अध्ययन हो पाये तो निःसंशय कहा जा सकता है कि इन में प्रतिपादित चिन्तन-स्तरों के पार जाना (इन से आगे बढ़ना) बुद्धि के वश की बात नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की महत्ता तथा सनातन उपयोगिता गहराई से समझनी हो तो भारतीय अध्यात्मविद्या तथा उसमें गुँथे हुए मूलगामी दर्शन के आद्योपरान्त इतिहास के परिप्रेक्ष्य में श्रीश्री चैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित दृष्टि-पथ का तथा उस पथ पर चलना चाहने वालों के लिये प्रेरित आचारसंहिता-तुल्य वाङ्मय का विहंगावलोकन अवश्य अपेक्षित है।

१. ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

यह सत्य-तथ्य प्रबुद्धों में सर्वमान्य है कि धर्म-अध्यात्म-चिन्तन के क्षेत्र में भारत प्राचीनतम है। परमतत्त्व तथा सृष्टि रहस्य को जानने एवं उससे अपना सम्बन्ध पहचानने के लिये असंख्य

पहलुओं से विचार होता चला आया। दर्शन एवं आचरण की अगणित विधायें यहाँ जन्मीं, पनपीं, परस्पर मिलीं-बिछुड़ीं, शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होती रहीं। देश-काल-व्यक्ति के भेद से तत्त्वविचार का सञ्चार-प्रचार होता रहा, उसी तरह आचार विविध प्रकार के नाम-रूप-रीति-मति-गति में विहार करता रहा—फिर भी इनमें से अधिकांश के मूल सिद्धान्त समान रहे। उनको प्रकट करने की शैली एवं व्यवहार देश-काल-युग के धर्मानुसार बदलते हुए आते-जाते रहे।

धार्मिक-आध्यात्मिक चिन्तन के इन सभी चढ़ाव-उतारों के चलते भी एक विलक्षण विशिष्टता सामने आयी कि किसी न किसी प्रकार से (अधिकतर अन्वय रीति से, कभी व्यतिरेक-रीति से भी—जैसे कि तथाकथित नास्तिक दर्शनाधारित बौद्ध-जैन आदि में[१]) वेद (मनुष्य की व्यक्ति-मति से अतीत ज्ञान की प्रकाशक अपौरुषेय वाणी) का प्रामाण्य सभी ने स्वीकार किया।

'वेद' को केवल 'ऋषि'-दृष्ट मन्त्र-ब्राह्मण-उपनिषद् आदि में सीमित न मानते हुए भारतीय मनीषा ने 'निगम' एवं 'आगम' नाम से साथ-साथ चलने वाली दो सरणियों में पाया है। वस्तुतः ये दो परस्पर विलक्षण विधायें नहीं। ज्ञान का सिद्धान्त-पक्ष निगम है और प्रयोग/व्यवहार या क्रियात्मक पक्ष आगम है। अथवा निगम रूप में उपलब्ध सूक्ष्म ज्ञान का प्रकट व्यवहार में विनियोग किस प्रकार हो सकता है—यह दिखाने वाला विज्ञान है आगम; और—वेद का विस्तार करने की पद्धति है तन्त्र[२], जिसका पर्याय है आगम। इसका व्यापक अर्थ है अनुभव-परम्परा से प्राप्त शास्त्र तथा विज्ञान। वैदिक परिभाषा में—

> ''विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते''॥ ईशोप० १/१
>
> [विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्म-सम्बन्धी लौकिक ज्ञान) दोनों को जो एक-साथ जानता है वह लौकिक ज्ञान तथा शुद्ध कर्म द्वारा मरण-धर्मिता को पार करके विद्या (परमात्मबोध) द्वारा अमृत को चखता है।]

स्मृति —''ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'' (गी० ६/८) ''ज्ञानं विज्ञानसहितम्'' (गी० ९/१) पुराणशिरोमणि में—''ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्'' (भा० २/९/३०) इत्यादि द्वारा सूचित अर्थ के अनुरूप तात्त्विक ज्ञान का व्यावहारिक विज्ञान-स्वरूप तन्त्र/आगम जीवन की समुन्नति तथा परम कल्याण के उपायों का शास्त्र है। इस प्रकार निगम और आगम परस्पर पूरक/उपकारक हैं। सरल भाषा में कहें तो निगम ज्ञानप्रधान हैं और आगम क्रिया या उपायप्रधान। स्वरूप को पहचानने की इच्छा ही दोनों का प्रवर्तक एवं जोड़ने वाला सेतु है। बौद्ध-चिन्तन की अभिव्यक्ति में ''प्रज्ञा और उपाय के योग में ही आनन्द का उदय'' है। आनन्द ही प्राणिमात्र का परम अभीष्ट है,

---

[१] सम्पूर्ण मूल बौद्ध-जैन-वाङ्मय का तटस्थ, उदात्त दृष्टि (खुली आँख) से अध्ययन करने पर यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि वे भी वस्तुतः वैदिक-सिद्धान्त-प्रामाण्य तथा तदाधारित इतिहास की उपजीव्यता से कभी छटक नहीं सके हैं। तथागत बुद्ध एवं अर्हत् महावीर ने स्वयं जो सत्य कहा था उसका मर्म ज्यों का त्यों ग्रहण-परिवेशन न करके अनुयायि-परम्परा ने अपनी 'पृथक् अस्मिता' बनाने की 'धुन' में कितना भी तोड़-मरोड़ कर आपाततः नये-नये रंग चढ़ाकर कहा हो, किन्तु इन सभी पन्थों के पुराने मूल वाङ्मय स्वयं प्रमाण हैं कि चेतना (दिल-दिमाग) पर वही मूल ज्ञान छाया रहा है।

[२] 'तनु विस्तारे' + ष्ट्रन् = तन्त्र।

इसमें प्रत्यक्षादि ही नहीं, श्रौत ऋषि से चार्वाक्-पर्यन्त सभी स्तरों के अनुभवी प्रमाण हैं। 'आनन्द' के रूप अवश्य उसे पाने की अभिलाषा के स्तर-भेद से विविध कहे-समझे जाते रहे हैं, तदनुरूप ही उपाय़ या पथ-भेद भी रहे हैं, किन्तु गम्य लक्ष्य सदा एक ही रहा है,

> ''रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।''

वह लक्ष्य है—अपूर्णताबोध-जन्य कष्ट से मुक्ति दिलाकर, पूर्णतानुभव-साधक आनन्दयोग।

इसी आनन्दात्मक लक्ष्य एवं योगात्मक उपाय का विवेचन करने वाले आगम आपाततः दो प्रकार के हैं—वेदमूलक तथा वेदक-मूलक[१]। यद्यपि सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत 'वेद' ही है; फिर भी पाञ्चरात्र एवं शैवागम के कुछ सिद्धान्त तथा शाक्त तन्त्र के सप्तविध आचारों में से एक (वाम) वेदबाह्य कहलाते हैं, इनमें अनुभवी (तथा अनुभव कराने वाले व्यक्ति) के वचन ही प्रमाण हैं।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से तन्त्र/आगम प्रमुख रूप से तीन हैं; ये तीनों तथा उनके मुख्य प्रविभाग निम्नलिखित सारणी में देखें :

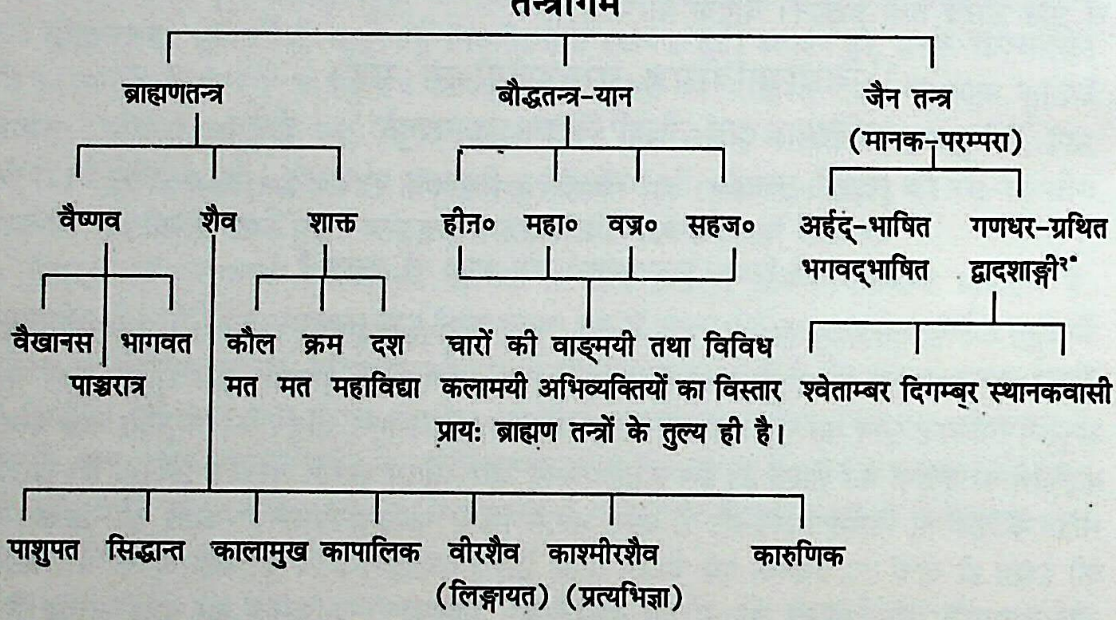
तन्त्रागम
ब्राह्मणतन्त्र
बौद्धतन्त्र-यान
जैन तन्त्र
(मानक-परम्परा)
वैष्णव
शैव
शाक्त
हीन० महा० वज्र० सहज०
अर्हद्-भाषित
भगवद्भाषित
गणधर-ग्रथित
द्वादशाङ्गी[२]
वैखानस
भागवत
पाञ्चरात्र
कौल मत
क्रम मत
दश महाविद्या
चारों की वाङ्मयी तथा विविध कलामयी अभिव्यक्तियों का विस्तार प्रायः ब्राह्मण तन्त्रों के तुल्य ही है।
श्वेताम्बर
दिगम्बर
स्थानकवासी
पाशुपत
सिद्धान्त
कालामुख
कापालिक
वीरशैव
(लिङ्गायत)
काश्मीरशैव
(प्रत्यभिज्ञा)
कारुणिक

(सभी ब्राह्मण तन्त्रों का विविध साहित्य अपार है। जिसमें अधिकांश संस्कृत में, कुछ प्रान्तीय भाषाओं में हैं।)

---

[१] वेद = ज्ञानमात्र/(अपौरुषेय); वेदक= ज्ञान कराने वाले अनुभवी व्यक्ति (प्रतिभा)।

[२] इन सबके अन्तर्गत अत्यधिक साहित्य संस्कृत तथा प्राकृतों में रचित है—(१) मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, कवच, स्तोत्र, सूत्र, कल्प, योग, व्याकरण, दर्शन, पूजा, अनुष्ठान, आचार तथा त्रिविध काव्य की आकृतियों में, (२) शिल्प, स्थापत्य, मूर्ति, अलङ्करण आदि स्थिर कलाओं से लेकर दैनिक एवं नैमित्तिक पूजा आदि में चली आती 'आंगी'-जैसी विविध सौन्दर्यमयी अभिव्यक्तियों में, (३) 'शान्तसुधारस' से लेकर 'अध्यात्मरास' जैसी विधाओं का साहित्य बना है। इन सब में जैनागम के बाह्य आचार की शुष्कता का प्रतिफलन हुआ है। अन्ततः 'रस'-मय अभिव्यक्ति पर्यन्त पहुँचना अनिवार्य रहा है।

इन सब के साथ-साथ स्मार्त तन्त्र (षड्देव-पूजक) एवं विविध पुराणों में चर्चित योग एवं तन्त्र थोड़े से भिन्न होते हुए भी इष्टदेव तथा उपासना-पद्धति के अनुसार प्रायः इन्हीं के अन्तर्गत रहते हैं।

इनमें प्रमुख रूप से वैष्णव आगम से ही प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के स्रोतमूल का विशेष सम्बन्ध है, यद्यपि उक्त सभी तन्त्रागमों में परस्पर आदान-प्रदान-सम्बन्ध रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मानव का मस्तिष्क और हृदय चेतना के स्तर पर एक ही है, देह में इन का आधार-स्थान भी वस्तुतः एकत्र है। (मानव या पशु के भी-मस्तक में ही ज्ञान, भावना, मनोभावों, संवेगों की स्थिति है, जिन्हें सजीव-कार्यक्षम बनाये रखता है नियमित-शुद्ध रक्त-सञ्चार। उस रक्त की शुद्धता, सत्-संस्कारिता से युक्त स्वास्थ्य का आधार है सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा लिया जाने वाला आहार तथा किया जाने वाला व्यवहार।) अतः मूलतः मानव-मात्र की अन्तःकरणवृत्तियाँ समान हैं। देश-काल-परिवेश-शरीर के संस्कारों के अनुसार मनस् की रचना एवं बुद्धि की चिन्तन-सरणी विविध वेषों में, विविध आचार आदि में प्रकट होती है, किन्तु एक ही जाति के आकाश-वायु-अग्नि-जल-भूमि का सेवन करते हुए इन्हीं से गठित शरीरादि में से अभिव्यक्त होती हुई चेतना वस्तुतः भिन्न हो नहीं सकती।

विविध विकल्प-मेघों से रहित स्वच्छ आकाश देख सकने वाली खुली दृष्टि से देखें तो परम-अनुभव की अभिव्यक्ति सब से अधिक सुगम रीति से वैष्णव आगमों में (इन के भी सबसे ऊँचे शिखर जैसे श्रीचैतन्य-प्रवर्त्तित पथ में) हुई है। वैष्णव-दर्शन में परम तत्त्व, सृष्टि तथा जिज्ञासु का स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध सब से अधिक सुबोध एवं सरस है। क्योंकि यहाँ इन तीन (तत्त्व, अनुभव तथा जिसे अनुभव होता है) में सर्वथा भेद नहीं, पूरा-पूरा अभेद भी नहीं, और रहस्यात्मक भेद-अभेद को साथ-साथ समझाने वाली अनिर्वचनीयता (जिससे मिथ्यात्व को 'झूठ' मान लिया गया) भी नहीं। यहाँ परमतत्त्व के 'आनन्द'-स्वरूप का रसास्वाद प्रधान होने से उक्त तीनों की किसी स्तर में भिन्नता स्वीकार करते हुए भी तत्त्वतः उनका परस्पर अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त है। इस 'अचिन्त्य' शब्द से 'अनिर्वचनीय' 'मिथ्या' और 'मायिक' शब्दों के परम्परागत व्याख्यान से सामान्य जन में पनपी हुई झूठेपन की गन्ध मिट गयी। अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त में परम तत्त्व का 'अद्वय' होना प्रकट व्यवहार में कोई समस्या नहीं लाता और 'परम'-अर्थ से 'व्यवहार' का अद्वय-सम्बन्ध 'लीला' रूप में रसास्वाद का उत्कर्ष ही साधता है। फिर व्यवहार में सुविधा इतनी कि ''जिस किसी भी प्रकार से, जैसे भी बन पड़े वैसे, मन को श्रीकृष्ण में लगा दें''[१] -बस! बुद्धि-चित्त-वाणी और शरीर से यथासम्भव पूरी तरह अहिंसक रहते हुए, जीवमात्र के प्रति दया का आचरण करते हुए (क्योंकि यहाँ वास्तविक अद्वय तत्त्व को सर्वत्र देखा जा रहा है, सृष्टि में प्रत्येक वस्तु या प्राणी उसी की मूर्त्ति है, इसीलिये-) ''तिनके से भी नीचा स्वयं रहते हुए, वृक्ष-लता आदि से भी अधिक सहनशील रहते हुए, स्वयं सर्वथा

---

[१] (श्रीमद्भा० ८/८/३१) ''येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे निवेशयेत्॥ ''

अभिमान-शून्य हो कर सब को सम्मान देते हुए सदा-सतत श्रीहरि का कीर्तन करते रहना चाहिए।"[१] यह आचरण होते हुए जब हृदय के सभी भाव[२] उस परम प्रिय[३] में जुड़ जाते हैं तब "अन्यं किसी भी अभिलाषा से रहित चित्त में ज्ञान और कर्म आदि उपलक्ष्यों के आवरणों से न ढकी हुई वृत्ति से केवल श्रीकृष्ण का ही निरन्तर अनुकूल भाव से अनुशीलन होने लगता है, यही उत्तम भक्ति है।"[४]

इसीलिये तब "जारबुद्धि से भी भलीभाँति जुड़े चित्त वाले"[५] जीवों का परम कल्याण सुनिश्चित है। शम-दम आदि छहों प्रकार की साधन सम्पत्ति हो या न हो, वेद-वेदान्तादि का अध्ययन-मनन-निदिध्यासन हो या न हो, परम पवित्र ब्राह्मण-क्षत्रिय कुलों में जन्म-संवर्धन आदि हो या भील, गँवार हो, रीछ की सन्तान (जाम्बवती) हो या नरकासुर द्वारा अपहरण की हुई राजकुमारियाँ हों, डूबता हुआ हाथी हो, नन्हीं टिटिहरी हो, या स्वयं को बींध कर प्राण-हरण करने वाला व्याध हो—सब की पुकार को समान रूप से स्वीकार करने वाले श्रीकृष्ण का नाम गाने (सङ्कीर्तन) के यज्ञ में सभी प्राणियों को समान अधिकार है,[६] और यह सब को परम पुरुषार्थ प्राप्त करा सकने वाला सुगम साधन है।

अनायास सभी भेदभाव मिटाते हुए सम्पूर्ण समग्रता से अद्वय-सिद्धान्त को प्रतिपल जीवन में जीना सिखाता है यह वैष्णव पथ, जो इस के संग्राहक (भलीभाँति ग्रहण कराने वाले) श्री चैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि के साथ जुड़कर 'गौडीय' नाम से प्रख्यात हुआ, जब कि स्वयं उन का तथा उनके हृदय को विश्व में प्रकट करने वाले गोस्वामी-गण एवं इस चैतन्यमत के अनुगामी अधिकतर भक्तवृन्दों के जीवन-कर्म का क्षेत्र प्रायः वृन्दावन-व्रजमण्डल और जगन्नाथ-धाम रहा एवं दक्षिण होते हुए पश्चिम-भारत की यात्रा में बहुत-कुछ किया गया, मूलतः दक्षिण से ही आ कर बंगाल में बसे हुए प्रमुख पार्षदों (श्री सनातन-श्रीरूप-श्रीजीव) का शिक्षण प्रयाग तथा काशी में हुआ, श्रीगोपाल भट्ट की शिक्षा-दीक्षा उनकी किशोरावस्था में दक्षिण (श्रीरङ्गम्) में

---

[१] "तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥"
-श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा स्वमुख से कहा गया वैष्णव-उपासना का बीजमन्त्र या सूत्र (शिक्षाष्टक, ३)

[२] "यं क्रोध-काम-सहजप्रणयादि-भीति-वात्सल्य-मोह-गुरुगौरव-सेव्य-भावैः।
सञ्चिन्त्य तस्य सदृशीं तनुमापुरेते गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"
-श्रीब्रह्मसंहितान्तर्गत गोविन्दस्तव-२७

[३] "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"। -बृह० उप० २/४/५.., वही ४/५/६...

[४] "अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥" -भ०र०सिं०१/१/११

[५] "तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।" -भ० १०/२९/११

[६] आकृष्टिः कृतचेतसां सुमनसामुच्चाटनं चांहसाम्
आचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मुक्तिश्रियः।
नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते,
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥ -शिक्षाष्टक ४

ही सम्पन्न हुई थी, उसी समय के निर्देशानुसार यथासमय वे वृन्दावन आ कर बसे। इन चारों प्रमुख ग्रन्थप्रणेताओं ने व्रज में रहते हुए ही आजीवन सेवा सम्पन्न की। श्री चैतन्यमहाप्रभु के इसी स्वरूप को श्री जीवगोस्वामी ने ''स्वसम्प्रदायाधिपः''[१] कह कर व्यक्त किया है। इसीलिये वस्तुतः इसे वैष्णव-आगम एवं दर्शन का ''श्रीचैतन्य-सम्प्रदाय'' कहा जाना चाहिये, इसे केवल 'गौडीय' कहना तथ्य की दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है।

वैष्णव चिन्तनधारा का उपलब्ध क्रम

उपलब्ध वाङ्मय की दृष्टि से वैष्णव चिन्तनधारा का ऐतिहासिक क्रम देखें तो वैदिक 'विष्णु' देवता तथा ऋषि नारायण[२*] के एकार्थक होकर पर्याय होने में पाञ्चरात्र० का बीज निहित है। यहाँ ईश्वर के चार[३] कभी पाँच[४] रूप देखे गये—१. पर २. व्यूह ३. विभव ४. अर्चा तथा ५. हार्द = अन्तर्यामी। ईसा-पूर्वीय साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक सामग्रियों में इन रूपों-संज्ञाओं के उल्लेख प्राप्त[५] हैं। पाञ्चरात्र का श्रौत मूल एकायन शाखा है, जो अब उपलब्ध नहीं। फिर भी उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पारमेश्वर संहिता, ईश्वर संहिता, विष्णु पुराण इत्यादि[६] में भलीभाँति उसके सङ्केत हैं।

वैखानस आगम का सम्बन्ध आदि स्रष्टा विखनस् (विष्णु तथा ब्रह्मा) से है। सम्प्रदाय रूप में वैखानस वैष्णव-देवालयों के अर्चक हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन श्रौत उपासना-प्रक्रिया में समर्पित है। उनका व्यक्तित्व आदर्श वैष्णव रूप में सर्वथा शुद्ध, शान्त, भावितात्मा, सात्त्विकाहारभोजी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ रूप में वर्णित हुआ है। इनका विविध, विपुल वाङ्मय भृगु-कश्यप-अत्रि-मरीचि-कृत संहिता, सूत्र, काण्ड, अधिकार, तन्त्र, पुराण तथा अन्य भी अनेकों आकृतियों में है।

पाञ्चरात्र और भागवत मतों का पृथक् उल्लेख[७*] मिलने पर भी इन दोनों की विभाजक रेखा व्यक्त नहीं है, और सर्वथा शुद्ध अहिंसक विनम्र आचार-व्यवहार-आहार आदि पथ्य-पालन में सभी वैष्णव मत समान हैं। भागवत-मत का समावेश सम्पूर्ण भक्ति-चिन्तन एवं सभी वैष्णवों के मूर्धन्य प्रमाण-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में हो गया है। ये त्रिविध वैष्णव संहितायें एवं अन्य मूल-

---

[१*] ''महाभागवतकोटिबहिरन्तर्दृष्टिनिष्टङ्कितभगवद्भावं निजावतारप्रचारप्रचारितस्वरूपं भगवत्पद-कमलावलम्बिदुर्लभप्रेमपीयूषमय-गङ्गाप्रवाहसहस्रं स्वसम्प्रदायाधिदैवं श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तम्...'' -श्रीभागवतसन्दर्भ, प्रारम्भिक अंश।

[२*] ऋ० १०.९० सूक्त, यजु० ३.६२, ३०.३१, अथर्व० १९.६, १०.२

[३] लक्ष्मीतन्त्र २.६०, ११.४१-४७

[४] अहिर्बुध्न्य सं. १.६३-६५

[५] विस्तृत सन्दर्भ के लिये द्र० ''संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास''-एकादश—खण्ड पृ० ६२-६९

[६] वही, पृ० ७३

[७*] नित्याषोडशिकार्णव—सेतुबन्ध टीका प्रारम्भिक अंश में।

ग्रन्थ ही—दक्षिण के आलवार सन्त (जिनकी वाणी तमिल 'नालाइर'—दिव्यप्रबन्धम्'[१*]—में सङ्कलित हुई) श्रीयामुनाचार्य, श्रीनाथ मुनि आदि आचार्य, दक्षिण में श्री रामानुज, श्रीमध्व, श्रीनिम्बार्क, महाराष्ट्र में श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, बङ्गाल-उड़ीसा तथा व्रजमण्डल में श्री चैतन्य, दक्षिण से ही व्रज में आकर प्रतिष्ठित श्री वल्लभ—इन सभी वैष्णव-दार्शनिक सम्प्रदायों की उद्भावक भूमि हैं अर्थात् सभी के चिन्तन-प्रतिपादन-व्याख्यान का मूल आधार प्राचीन वैष्णव संहितायें एवं श्रीमद्भागवत ही हैं।

श्री चैतन्य-देव के आविर्भाव से पहले उत्तर-पश्चिमी भारत में सन्त कबीर जन-मानस में छाये। उन्होंने विविध भ्रमों को तथा धर्म-अध्यात्म के नाम पर पनप रही अनाचारों की काई को झिँझोड़ कर हटाया था। भ्रमजाल काटने में कभी उनकी 'निर्गुण' वाणी अस्त्र-शस्त्र जैसी तीखी रही, कभी रोग-निवारक औषधि जैसी कटु और रूखी भी, किन्तु मर्मग्राही साधकों-अध्यात्म-पथिकों के लिये उतनी ही रसगर्भित भी जितनी वैदिक ऋचाओं से लेकर आण्डाल (गोदावरी), मीरा एवं समान हृदय वाले सभी सन्तों की वाणी। ('निर्गुण'-पदावली में दोनों प्रकार के शृङ्गार-रस का रूपक भरा हुआ है जो ठुमरी जैसी शृङ्गार-प्रधान संगीत-शैली में आज भी भरपूर गाया जाता है)।

इधर बङ्गाल में एक ओर मुस्लिम-शाही के भीषण प्रकोप से, दूसरी ओर साधना के नाम पर चल रहे—बौद्ध सहजयान तथा लक्ष्यभ्रष्ट शाक्तागम के विकृत सङ्कर के प्रसार से, साथ ही बहुविध अज्ञान के घटाटोप से जनजीवन अशान्त तथा क्षुब्ध था। इस सङ्कटपूर्ण स्थिति में भी जिनका 'तार' दिव्य प्रीति के स्वर में मिला हुआ था ऐसे श्रीजयदेव, चण्डीदास, विद्यापति जैसे कविकमल अवश्य बङ्गाल व मिथिला में रहते हुए भी हृदय से वृन्दावन में खिल रहे थे, किन्तु जनसामान्य त्रस्त था। वातावरण में युग-परिवर्तन का आह्वान था। ऐसे समय श्रीचैतन्यदेव ने अन्तःस्रोतस्विनी भक्ति को सबके लिये सुलभ रूप में प्रकट किया।

२. 'भक्ति' का मूल स्रोत तथा 'रस' पर्यन्त प्रवाह

"श्रद्धा माता मनुःपिता"[२*] की सन्तति-रूपा भक्ति का जन्म ज्ञान और जिज्ञासा के समान अथवा

[१*] 'दिव्यप्रबन्धम्'- परब्रह्म के सौलभ्य-आनन्दस्वरूपता के अनुसन्धान से प्रेम भक्तिसागर में मग्न वैष्णव सन्त तमिल भाषा में 'आल्वार' कहलाये; उन प्रमुख बारह 'आल्वारों' की प्रेमभक्ति का परिवाह तमिल भाषा में पद्य-माला के रूप में निकला; उन में चार हजार पद्य हैं। यह चतुः साहस्री चौबीस प्रबन्धों में विभक्त है। इन्हीं का मूल नाम 'नालाइर' फिर 'दिव्यप्रबन्धम्' संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ। ये तमिल कृतियाँ पं० श्रीनिवास राघवन् द्वारा देवनागरी लिपि में लाई गईं, हिन्दी में अनुदित हुईं, प्रो० रामसिंह तोमर द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी-भवन, विश्वभारती, शान्ति निकेतन से हलवासिया शोध-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९८०-८९ तक आठ भागों में प्रकाशित हुई हैं। आल्वार-वाणी में उत्तमा-भक्ति के मुख्य पाँचों रसों के अनुभव रूप-गुण-लीला-वर्णन में व्यक्त हुए हैं।

[२*] साम सं० १. १. ९.

स्वयं मनुष्यजाति (मननाद् मनुष्यः) के समान अनादि है।[१] परम तत्त्व के प्रति अपना सम्बन्ध देखना और उस परम सम्बन्धी से साधिकार अपना अभीष्ट चाहना भी तभी से है—

''स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ (ऋ१.१.९)

अन्तःकरण द्वारा पहचाने गये सम्बन्ध की पहली अभिव्यक्ति होती है श्रद्धा (श्रत् हृदय में धारण), नमन-पूजन में—''अग्निमीळे पुरोहितम्'' (वही १.) यास्कमुनि कृत व्याख्या में 'ईड्' का अर्थ है याचना, अध्येषण, पूजा; पाणिनि के अनुसार स्तुति अर्थात् गुणकथन, स्तव, प्रशंसा (कीर्तन); वही बनती है अहर्निश उपासना—

''उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥'' (वही ७.)

'उस' की पहचान आगे बढ़ती है तो सब ओर, सब में सर्वदा वह एक ही दिखता है—

''अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥''[२]
(ऋ१.८९.१०)

'उस' से अपनापन अनुभव करता रहता है चित्त—कभी माता-पिता के रूप[३] में, कभी सखा[४] तो कभी जाया-पति के भाव में[५]। यही पहचान कभी सब ओर आनन्द-मधु की प्रतीति जगाती है—

''मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः.........................
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥''[६]
(ऋ१.९०.६-८)

''ऐसा हो!'' यह अभीप्सा रहती है। उसके अभिरूप जीवन की अभिलाषा व्यक्त होती है—

---

[१] भारतीय इतिहास-भूगोल-सृष्टिविज्ञान में जीव और जगत् अनादि हैं। काल-चक्र का कहीं प्रारम्भ नहीं। 'अमीवा' से लेकर मनुष्य-पर्यन्त उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज-जातियों में चौरासी लाख प्रकार के शरीरों की एक साथ उपस्थिति यहाँ स्वीकृत है (क्रमशः विकास की अपेक्षा नहीं है)। इन सब में श्रेष्ठ है मनुष्य, क्योंकि उसमें सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति सबसे अधिक सम्भव है। इसी शरीर में 'अहं'-बोध होने से कर्म करना सम्भव है। मनुष्य ही सामने आये विषयों में से 'श्रेयान् या प्रेयान्' को पहचान कर अपनी रुचि से चुन सकता है, फिर ऐसे कौशल से कर्म कर सकता है कि उस कर्म के आदि-मध्य-अन्त में आनन्द ही रहे, कर्म-परिणाम से अनिवार्यतः नया जन्म-मरण न हो।

[२] ऋ० १. ८९.१०। [३] ऋ० ६. १. ५., ८. ९८. ११। [४] ऋ० ४. १७. १७-१८। [५] ऋ० १०. ४३. १.।

[६] ऋ० १.९०.६-८।

> "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा.....भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम...."
> "शं नो मित्रः शं वरुणः.....शं नो विष्णुरुरुक्रमः।"[1]
>
> (वहीं १/८९/८६, १/९०/९)

"हमारा कल्याण हो"—यह कामना ही क्रमशः काम्य को 'वरेण्य' बनाती है—

> "तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥"[2]

आनन्द की वह वरेण्यता दैनिक जीवन में उन स्थितियों में व्यक्त होती है जब मनुष्य "न बाह्यं किञ्चन वेद, ... नान्तरम्"[3] क्योंकि "आनन्दभुक्... प्राज्ञः"[4] "एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरे-वाभिनिष्पद्यते।"[5] "प्राणिमात्र में 'प्राणन' का प्रेरक स्वयं ब्रह्म-तत्त्व ही है, जो 'रस' स्वरूप है[6]।" रस का शील है प्रसरण (ब्रह्म में बृंहण)। इसी शील से मायोपहित होकर "स वै नैव रेमे ... एकाकी न रमते"[7]। अतः "पुरु-रूप ईयते"[8]। अनन्त नाम-रूपात्मक जगत् में अनन्त ही 'जीव'[9] बनकर वह अपनी अद्वितीयता का वैभव अनुभव करता है 'सच्चिदानन्द आत्मा' स्वरूप से समस्त प्रियता का एकनिष्ठ आस्पद होकर।[10] उसकी अनन्त एकता आकाश ("खं ब्रह्म")[11] के समान जहाँ भलीभाँति व्यक्त हो पाती है वहाँ 'सुख' अनुभव होता है अनुकूल होने से; और जहाँ उस अभिव्यक्ति को अवकाश नहीं मिल पाता (वह प्रतिकूल होने से) वहाँ 'दुःख' प्रतीत होता है। यह सुख-दुःख का अनुभव प्राणिमात्र में है, किन्तु विविध वाणी-मुद्रा आदि द्वारा पूरी तरह व्यक्त हो पाता है मनुष्य-तनु में ही। अतः सुख या आनन्द[12] को स्वरूपतः समझने, चिरस्थायी या अद्वय रूप में अनुभव कर पाने की अभीप्सा मनुष्य आकृति में ही 'आत्मा की चरम प्रियता' के रूप में पहचानी गई। इसीलिये मनुष्य को ही अधिकारी कहा गया—कर्म, उपासना, ज्ञान, योग, भक्ति (प्रेममयी सेवा) के विविध मार्गों द्वारा वस्तुतः एक ही 'मृग्य' (खोज कर पाने का लक्ष्य) पर्यन्त पहुँचने का।

दिव्य सत्ता के प्रति मानवीय-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति को एक अन्य दिशा से देखें तो जो वेदवाणी (संहिता-ब्राह्मणात्मक) हमें प्राप्त है, जिसका पर्यवसित रूप उपनिषदों में है, उसके प्राकट्य के अनुमानित समय में मनुष्य का प्रकृति के साथ सीधा एवं अधिकतम सम्बन्ध था।

---

[1] ऋ० १.८९.६, ८, १.९०.९। [2] ऋ० ३.६२.३।, [3] बृ० ४.३.२१।, [4] मा० ५।, [5] छा. ८.३.२।, [6] बृह. १.३.८, २.३.२.४, छा० १.१.३ तै० २.६.१...।, [7] बृ० १.४.३।, [8] बृ० २.५.१९।, [9] छा० ६.३.२-३; ६.११.१।

[10] तदेतत् प्रेयः पुत्रात्... प्रेयोऽस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा... बृ० १.४.८ "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"। बृ० २.४.५, [11] बृ० ५.१.१

[12] आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तै० २.५. तथा इस पर शाङ्करभाष्य-मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः। स एव प्रकृष्टः प्रमोदः। आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा, प्रियादीनां सुखावयवानां तेष्वनुस्यूतत्वात्। आनन्द इति परं ब्रह्म। ... तपसा विद्यया श्रद्धया च निर्मलत्वमापद्यते यावत् तावद् विविक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यते, विपुलीभवति...एष ह्येवानन्दयति। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" —बृ० ४.३.३२-३३।

आकाश (व्योम, परम व्योम) वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी जीवन के अङ्ग थे। इनका अखण्ड समवाय-रूप अदिति, ऋतु चक्र, प्रकृति के सहज नियम इत्यादि से साक्षात् सम्पर्क था। अतः उनकी परिच्छिन्न एवं अपरिच्छिन्न सत्ता तथा स्वभाव मनुष्य के अनुभव-गोचर थे। इसीलिये प्रकृष्ट-प्रज्ञाशील क्रान्तद्रष्टा ऋषि प्रकृति में अभिव्यक्त अप्राकृत तत्त्व को "साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म"[1] समझ पाये। उनका वह दर्शन-अनुभव व्योम जैसी ही विस्तीर्ण एवं अव्यक्त को व्यक्त कर सकने में सक्षम वाणी और 'कवि' शैली में प्रकट होता रहा। वह वाणी व्यक्ति-चित्त के सङ्कल्प से उत्पन्न नहीं थी कि मैं इस अनुभव को ऐसा गढ़कर इन शब्दों व छन्दों में कहूँगा। वह तो सहज अनायास स्फूर्त होती थी—इसीलिये, उस वस्तु-धर्म के नाते वह 'अपौरुषेय' कही गयी, भले ही जिन ऋषियों के मुख से वह प्रकट हुई उनका नाम उस वाणी के द्रष्टा के रूप में जुड़ा चला आया।

मनुष्य के हृदयस्थ भाव एवं भक्ति सहज ही उस वाणी में व्यक्त होते रहे। उसकी अथाह गहन-व्यापक गरिमा न पहचान सकने वाली अतिमन्दबुद्धि और कूपमण्डूकवृत्ति से ही कुछ 'आधुनिकों' द्वारा यह कहा जाता है कि प्रकृति से चमत्कृत होकर 'प्राथमिक' मनुष्यों को उसमें देवताओं की 'कल्पना' हुई और रहस्यात्मक कथायें या 'मिथक' बने। (तथ्य को देख सकने वाली बुद्धि को तो यह 'मिथक'-संज्ञा अपशब्द जैसी गर्हणीय प्रतीत होती है।) अस्तु।

प्रकृति का निकट-सम्बन्ध क्रमशः सीमित होता चला ज्यों-ज्यों ग्राम-नगर-जनपद आदि की संस्कृति का विकास हुआ। तब भी आदिकवि वाल्मीकि, पाराशर्य, व्यास तथा कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की वाणी में चर-अचर प्रकृति से मानव-सम्बन्ध एवं तदाधारित भाव-सम्बन्ध व्यक्त होते रहे। नगर-संस्कृति का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता गया तब साथ-साथ श्रद्धा, भाव आदि के आलम्बन भी मनुष्याकृति में आते गये। इसी अनुपात में उनके नाम, रूप, क्रिया-कलाप, निवास, वाहन, कुटुम्ब-सम्बन्ध आदि का विस्तार बढ़ता चला। किन्तु साथ ही 'इन विविध रूपों में कोई एक ही तत्त्व अनुस्यूत है,' 'उस एक से ही वस्तुतः हमारा सम्बन्ध है', 'हमारी विविध कामनाओं में मूलतः कोई एक ही अपूर्णता-बोध निहित है', 'हमारे जीवन का उद्देश्य इस अपूर्णता से पूर्णता में पहुँचना है'—इत्यादि चिन्तन भी बना रहा।

जिस 'पूर्ण' का आकर्षण विविध रूपों में मनुष्य जीवन को प्रभावित करता रहा, उससे अपने तथा चहुँ ओर वर्तमान जगत् के सम्बन्ध की 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुरूप धारणायें तथा पूर्णता पाने के उपाय-चिन्तन होते रहे। इन सब में किसी न किसी प्रकार से छाया रहा भक्तिभाव।

वेदोपनिषदों की सारसंहिता श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण (विराट्-रूप) को सम्बोधित करते हुए भगवान् (परम आत्मा) और भक्त-मानव (जीवात्मा) में तीन सम्बन्धों का उल्लेख हुआ—'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः...[2] फिर पुराणों में, विशेषतया

---

[1] बृ० ३.४.१, ३.५.१।

[2] गी. ११.४४

श्रीमद्भागवत में तथा उसके अनुयायी वाङ्मय में यह प्रसङ्ग भलीभाँति एवं पूर्णतया विकसित हुआ; प्रीतिमय मानवीय सम्बन्धों के रूप में भगवान् का चिन्तन अथवा इन मनोभावों द्वारा भगवान् से सीधा सम्बन्ध भक्ति-पथ का विशिष्ट रूप बना।

भक्तिसूत्र शाण्डिल्य तथा नारदभक्तिसूत्र में भक्ति का लक्षण कहा गया—"ईश्वर में वैसी परम अनुरक्ति या प्रेम भक्ति है जैसी व्रजलीला में गोपियों द्वारा व्यक्त हुई।[१]" उसमें सेव्यभाव, वात्सल्य तथा माधुर्य तीनों का समावेश है। पुराणों में अन्य प्रकार से वर्णित नवधा भक्ति में भी दास्य तथा सख्य ये दो मानवीय-सम्बन्ध स्पष्टतया और 'आत्मनिवेदन' में सङ्केतित रूप से वात्सल्य तथा माधुर्य भी अन्वित हैं। इन्हीं के द्वारा भक्ति-धारा में दिव्य चैतन्य के आनन्दानुभव से संस्पृष्ट भावपक्ष पर अधिकाधिक बल दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि यह भावानुभाविनी शक्ति (भक्ति) भगवत्कृपा के रूप में ही जीव-चेतना को अभिभूत करते हुए अवतरित होती है। यह सामान्य चेतना का प्रयत्नसाध्य उन्नयन-ऊर्ध्वीकरण या उसमें दिव्यता का आरोपण नहीं है (जैसी कि सामान्य मान्यता है)। इस कृपावतरण का ही सङ्केत कठोपनिषद् में आत्मा-कृत वरण[२] में दिया गया है, जिसकी व्याख्या में अनुभवी-वचन द्विविध वरण समझाते हैं।[३] कौषीतकि (ब्राह्मणोपनिषत्) में भी इस आत्माकृत वरण का सङ्केत स्पष्ट है।[४] तन्त्र की भाषा में भी आणव-मल की निवृत्ति का उपाय 'कृपा' है ही। वैष्णव साधना का तो अनिवार्य घटक है भगवत्कृपा की अपेक्षा में सर्वथा प्रपत्ति (पूर्ण शरणागति)।

एक ओर सात्त्विक सात्त्वत-चिन्तन इतना अग्रसर हुआ, फिर भी मानवीय विचार-सरणी के प्रमुख दो स्तर बने रहे—श्रेयस् और प्रेयस्। चिन्तन में प्रेयस् के व्याख्यान का भी अन्तिम लक्ष्य 'निःश्रेयस्-प्राप्ति' ही रहा, पर लौकिक अभ्युदय भुलाया न गया[५]। क्रमशः इस 'अभ्युदय' का विचार बढ़ने लगा—सुगम, बाह्य-सुखद प्रतीत होने से।[६] लोकानुगामी साहित्य और उसका शास्त्र अधिकाधिक लोक-भोग्य रचनाओं से भरता गया, जिनमें मूल आकर्षण का प्रेरक तत्त्व (आत्मा का स्वरूप भूमा-सुख एवं प्रेम का युगपत् आश्रय-विषय होना) भुलाया जा कर आकर्षण का बाह्य रूप-काम (तात्कालिक प्रातिभासिक स्थूल सुख की इच्छा) प्रधान हो गया था। उसी से

---

[१] "सा परानुरक्तिरीश्वरे" "यथा व्रजाङ्गनानाम्।"

[२] "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।" कठ० २.२३

[३] यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते, तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायते इत्येतत्। निष्कामश्चात्मानमेव प्रार्थयते तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम्। —कठ० २.२३ पर शाङ्करभाष्य।

[४] एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते... कौ० ३.८।

[५] यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिकसूत्र १.१.२

[६] पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यागात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ कठ० ४/१

रँगी हुई लौकिक कवि-दृष्टि उत्तरोत्तर स्थूलानुगामिनी होने से अर्थ-गाम्भीर्य से हट कर शब्द-छिलकों के चमत्कार में रत होती गयी। अर्थ-प्रकाशन हुआ भी तो तथाकथित 'रसराज' शृङ्गार के लौकिक स्थूल रूप का ही।

मानव-चेतना 'विषय-रस-छीलर' में ही आसक्त होकर मूल रस से विरत होती जा रही थी। उसे पुनः वास्तविक रस-उत्स की ओर लौटाने की प्रेरणा करुणा-परायण रसिक-अनुभवियों में उठी तब भारत की प्रायः सभी दिशाओं में सद्-वाणी (सन्त-वाङ्मय) उस-उस क्षेत्र की संस्कार-भूमिका तथा अपेक्षा के अनुरूप शैली में प्रकट हुई, जिसका सङ्केत पहले किया जा चुका है। इनमें भक्ति के विविध रूप प्रकट हुए, और काव्य के शास्त्र में भी भक्ति को 'रस' रूप से पहचाना गया।

'द्रष्टा' (दार्शनिक चिन्तक) देख रहे थे कि वस्तुतः ''अशब्द-अस्पर्श-अरूप-अव्यय''[१] तत्त्व के ही 'रस'-स्वरूप ने स्वयं अपने आस्वादन के लिए चिन्मय से भौतिक पर्यन्त सभी स्तरों में 'लीला'-रूप अभिनय का अभिनय किया है। समस्त सृष्टि उसी का 'लीलायन' है। वह लीला पूर्ण होती है जब उस रस का आस्वादन भक्ति द्वारा भक्त रूप में लिया जाता है। इसीलिये 'रस' के परम विग्रह युगल-छबि (गोपी-गोपाल) ने एक तनु में श्रीचैतन्य-रूप में 'भक्त' होकर भक्ति-लीला का आस्वादन प्रकट किया, इतना ही नहीं ''ज्ञानं विज्ञानसहितम्''-प्रतिज्ञा के अनुसार स्वयं सूक्ष्म रूप में (शिक्षाष्टक द्वारा) कह कर सम्पूर्ण भक्ति-रहस्य एवं उसके विज्ञान का व्याख्यान श्रीरूप सनातन प्रमुख गोस्वामि-वृन्द द्वारा करवाया।

३. भक्तिरस सिद्धान्त का साहित्यिक-विकास

ऊपर कहे गये क्रम में मूल भक्ति-स्रोत की 'रस-धारा' ने क्रमशः परिनिष्ठित रूप लिया। उस का ऐतिहासिक विकास उपलब्ध ग्रन्थों में देखें तो सामवेद के उपवेद-तुल्य 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि की रससूची में गिने गये आठ या नौ रसों में उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों द्वारा कुछ रस जोड़े गये, तथापि पण्डितराज जगन्नाथ-पर्यन्त अधिकतर ने भरतप्रदत्त सूची को ही प्रामाणिक माना। सामान्यरूप से यह प्रतीत हो सकता है कि 'भक्तिरस' भी ऐसा ही जोड़ा गया एक रस होगा। किन्तु वास्तव में यह कहीं अधिक व्यापक एवं गहन चिन्तन का फल है, केवल प्रसिद्ध सूची में अभिवृद्धि-मात्र नहीं।

भक्तिरस के प्रतिपादन और विवृति में मौलिक रस-सिद्धान्त के सम्पूर्ण ढाँचे अथवा काया का भलीभाँति विनियोग हुआ, जिसमें कि इस भूमि-लोक में रहते हुए भी लोकोत्तर मनःक्षितिज या अलौकिक चैतसिक (चेतना के) क्षेत्र में भक्तों के भगवान् के साथ सम्बन्धों की विविधताओं

---

[१] कठ० ३/१५, नृ० ३.९, मुक्ति० २.७२

का विवरण शब्दों में आँका गया। भक्तिरस के स्वानुभवी प्रतिपादकों ने देखा कि वर्तमान लोक में रहते हुए भी चखे जा सकने वाले भक्तिरस एवं प्रसिद्ध लौकिक काव्यरसों के बीच बहुत बड़ी खाई जैसा अन्तर है; यह भी देखा कि प्रसिद्ध नव-रसों का भी मूल वैभव तो भक्तिरस में ही विद्यमान है, उसी का किञ्चित् प्रतिबिम्ब या आभास अन्तःकरण (अज्ञानोपहित जीव-दशा) में भी रहने के कारण लौकिक क्षेत्र या जीवन में उन रसों की उपलब्धि होती है; फिर, इन रसों का 'आस्वादन' वे 'सहृदय' ही कर पाते हैं जिनका हृदय व्यक्तिसीमा लाँघ कर 'साधारणीकरण' की दशा में पहुँच गया हो।* इसीलिए लोक-जीवन में शोक-निर्वेद-विस्मय-उत्साह आदि के आश्रय-विषय-आलम्बन व्यक्ति स्वयं उन-उन रसों का आस्वादन नहीं कर पाते; क्योंकि उन परिस्थितियों से तदात्म हुए रहते हैं। उस दशा में उनको देखने एवं सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी उन परिस्थितियों से अभिभूत होने के कारण उन भावों के आश्रयवत् हो जाने से शोकादि से आकुल ही होते हैं। केवल उन परिस्थितियों का वर्णन (काव्य में) सुनते या अभिनय देखते समय ही स्वयं अभिनेता तथा प्रेक्षक दोनों में सहृदयता-युक्त तटस्थता सम्भव होने से 'रस' का परिवेशन तथा आस्वादन सम्भव होता है।

केवल भक्तिरस में विलक्षणता है कि इसके आश्रय-विषय स्वयं, उनका दर्शन पाने वाले भक्तजन तथा उन लीलाओं का अभिनय करने एवं दत्तचित्त देखने वाले प्रेक्षक-पर्यन्त सभी 'रस' का आस्वादन पाते हैं; क्योंकि वस्तुतः 'निज-आस्वादन' के लिये ही 'रस' द्वारा 'लीला' नित्य हो रही है। उस नित्य लीला का युगानुरूप प्राकट्य देश-काल-सीमा में भी होता रहता है, और उन लीलाओं का अनुकरण (नाट्य अभिनय) किये जाते समय तक वही 'रस' अनुस्यूत होने के कारण 'लीला' नाटक-मात्र नहीं रह जाती; वहाँ अभिनेता तथा प्रेक्षक दोनों उन भावों से भावित भावुक होते हैं जो उतने समय तक उन भावों को जी रहे होते हैं। यहाँ तटस्थता आवश्यक नहीं, बल्कि बाधक होती है; यहाँ तो—''अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।''

भक्ति का 'रस' रूप में निरूपण किनके द्वारा किस रूप में किया जाता हुआ श्रीरूप के प्रतिपादन का परिपार्श्व बना—इसे बहुत-कुछ प्रथम खण्ड (की अवतरणिका) में देखा जा चुका है, उसके विस्तार का यहाँ अवकाश नहीं है।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्।...देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्...न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसताऽपि युक्ता प्रत्यक्षादिव। ...तत्र प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटनिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिघातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। ...अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः....। अलौकिक-चमत्कारात्मा रसास्वादः। हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।

—ना. शा. ६/३२ पर अभि० भा०

४. भक्ति एवं रस के मूल चिन्तनबिन्दु एवं धारणायें

(क) भक्ति के मूल तत्त्व एवं (सभी धाराओं में) स्वीकृत लक्षण—

१. परम तत्त्व तथा तत्सम्बन्धियों में सुदृढ़ निष्ठा।
२. उस एक (आराध्य या इष्ट) के प्रति ऐकान्तिक निर्भरता।
३. स्वयं को 'अणु' तथा परम सत्ता या तत्त्व को 'भूमा' समझना।
४. परम-इष्ट की इच्छाशक्ति का महत्त्व, उसी पर बल; परम तत्त्व को ही भक्त अपना स्वामी, जगत् का प्रभु, परमेश्वर समझता है। उनकी इच्छा के अधीन है भक्त की इच्छा।
५. 'कर्म' और 'ज्ञान' से भिन्न 'भक्ति' इच्छाशक्ति की वृत्ति है, इसलिये यहाँ चित्त के भावपक्ष पर बल है।

'रस' के आस्वादन के लिए दो उपाधि या दशायें आवश्यक हैं—(१) आस्वादन का आश्रय 'साक्षी' (परिस्थिति से तटस्थ) हो, (२) साथ ही 'सहृदय' (परिस्थिति को अनुभव करने में सक्षम मृदु अन्तःकरण वाला) हो। ज्ञान के द्वारा प्रथम योग्यता तो आ सकती है किन्तु दूसरी नहीं; उसके लिये 'भाव' नितान्त अनिवार्य है।

(ख) 'रस' का मूल तत्त्व एवं धारणा

'रस'-प्रत्यय भारतीय काव्यशास्त्र की विशिष्टता है। यहाँ 'रस' के घटक—स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी या व्यभिचारी भाव आदि—सुपरिचित हैं, अतः उनका अतिसंक्षिप्त निरीक्षण यहाँ पर्याप्त होगा। अधिकतर मनोभावों में एक विशेष सर्वसाधारण आवेद्यता, गहरी प्रगाढ़ उत्कटता होती है, उसी को उस मनोभाव का स्थायीभाव कहा गया है। वह मनोभाव जब व्यक्ति-सीमा से रहित (अनवच्छिन्न)हो तब 'रस' कहलाता है। उस मनोभाव की अभिव्यक्ति जिसमें हो रही हो वह उस रस का 'आश्रय' कहलाता है, और जिस निमित्त से वह मनोभाव उदित हुआ हो वह उस रस का 'विषय' कहलाता है। उस रस के आस्वादन के समवायी या अन्तर्निष्ठ कारण को 'विभाव' कहा गया है। विविध सहायक कारणों (जो अनेकों रसों में समान होते हैं) की संज्ञा 'व्यभिचारी भाव' है, जो अवसर के अनुरूप उदित और शान्त होते रहते हैं, चेतना में बने नहीं रहते। इनसे अतिरिक्त जो बाह्य अभिव्यक्तियाँ उन मनोभावों में दिखाई देती हैं, वे 'अनुभाव' कही गयीं तथा मनःशारीरिक अभिव्यक्तियों की संज्ञा हुई 'सात्त्विक भाव'।

रसों की संख्या—स्थायिभावों के अनुसार रसों की संख्या स्वीकृत है। भरतमुनि द्वारा गिनाये गये रसों की संख्या पर भी मतभेद है। उनमें कुछ 'शान्त' को रस मानते हैं, कुछ नहीं मानते। अधिकांश मतभेद 'शान्त' को रस मानने या न मानने पर ही केन्द्रित है, किन्तु कुछ ने इन आठ या नौ रसों के अतिरिक्त नये रस भी गिने हैं। जैसे कि भोज द्वारा

(शृङ्गारप्रकाश में) 'उदात्त' और 'उद्धत' रस जोड़े गये और साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने वात्सल्य-रस जोड़ा।

रस की एकता—कुछ काव्यशास्त्रियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि वस्तुतः एक ही मूल-मनोभाव (रस) अन्य सब में अनुस्यूत है, जो विभिन्न प्रकार से (लक्षणा से) 'स्थायी भाव' बनता है। भोज का 'अभिमान-शृङ्गार'-सिद्धान्त, धर्मदत्त द्वारा अद्‌भुत रस पर बल देना तथा भवभूति का 'करुण' को ही वस्तुतः एक मात्र रस कहना इसी धारा के चिन्तन के उदाहरण हैं।

५. अन्य साधना-पद्धतियों का यथार्थ एवं पारम्परिक रसशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध न होने का कारण

भारतीय एवं पाश्चात्त्य दोनों चिन्तनधाराओं में मनुष्यचेतना के मूलतः त्रिविध पक्ष देखे गये हैं—(१) इच्छा (२) ज्ञान (३) प्रयत्न या क्रिया। इनमें से ज्ञान और प्रयत्न (क्रिया)-शक्तियों पर तो सभी भारतीय दर्शनों में प्रभूत विश्लेषण एवं व्याख्यान हुआ है किन्तु 'इच्छा'-पक्ष प्रायः उपेक्षित रहा है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि विस्तृत-विकसित दर्शनाधारित धर्म-साधनात्मक पद्धतियों में ज्ञान तथा योग अधिक है। (वैष्णव-चिन्तनानुसार ये दोनों अहंप्रत्यय-प्रधान प्रयत्न हैं जो नम्रता अमानित्व, प्रपत्ति के विपरीत हैं)—अतः ये ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग अन्ततः परमतत्त्व के इन दो ही शक्ति-पक्षों तक पहुँचाने में समर्थ हैं। सर्वथा उच्चतम शिखर पर क्वचित् (कभी) इच्छाशक्ति का भी किञ्चित् (थोड़ा-सा) परिचय दिलाते हैं। अधिकतर धार्मिक दार्शनिकों ने इच्छाशक्ति की ओर कम ही दृष्टिपात किया। इसीलिये फिर रसशास्त्र या काव्यशास्त्र से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रायः नहीं रहा, क्योंकि इन में इच्छाशक्ति का ही विवेचन-व्याख्यान है, भले ही वह आपाततः लौकिक-चेतना-स्तर पर हो। केवल वैष्णव (तथा कुछ शैव) साधना-पथों ने अपने सिद्धान्तों के रूपरेखाङ्कन के लिये रस-शास्त्रीय प्रणाली अपनाई, जहाँ शरणागति द्वारा भगवत्कृपा साध्य थी एवं भगवान् (या परमेश्वर) की इच्छा-शक्ति एवं भाव (रसात्मक) पक्ष का साक्षात्कार प्रमुख था।

श्रीरूप गोस्वामी के भक्तिरसामृत-सिन्धु में साधना एवं अध्यात्मविज्ञान में रसशास्त्रीय प्रणाली अपनाये जाने की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष मूर्त्तिमान् हुआ। श्रीरूप की इस अद्‌भुत प्रतिभा को समझने के लिये इस क्षेत्र में रसशास्त्र के प्रयोग की प्रवृत्ति का कुछ ऐतिहासिक क्रम देखना, साथ ही पारम्परिक काव्यशास्त्रियों के भक्तिरस के प्रति रुझान का आकलन अवश्य उपयोगी होगा। इससे लौकिक काव्यशास्त्र का न्यूनता-पक्ष जान कर भक्तिरस से उन रसों का अन्तर समझना सरल होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से ई० दसवीं से सत्रहवीं (प्रायः आठ) शताब्दियों में लौकिक तथा अलौकिक (दिव्य) दोनों ही क्षेत्रों में 'रस'-चिन्तन प्रधान रहा है। श्री आनन्द-वर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक तथा श्रीमद् अभिनवगुप्त की अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक-'लोचन' (टीका) दोनों के द्वारा 'रस'-विचार काव्य-नाट्य के सर्वाधिक सारभूत अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। तभी काव्य में रसशास्त्र की नींव सुदृढ़ हुई।

इस अवधि में पनपे भक्तिरस के विचारकों को प्रमुख पाँच श्रेणियों में देखा जा सकता है*—

१. जिन्होंने 'भक्तिरस' का केवल नामोल्लेख किया, रसशास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत भक्तिरस की व्याख्या नहीं की; यथा श्रीशाण्डिल्यमुनि एवं उनके व्याख्याता।
२. जिन्होंने अपने सिद्धान्त को पारम्परिक रसशास्त्र के ही ढाँचे में ढाल कर प्रस्तुत किया, उसमें 'भक्तिरस' नाम से नया कुछ जोड़ा नहीं; यथा श्रीबोपदेव।
३. जिन्होंने परम्परा प्राप्त रसों में 'भक्ति-रस' नाम से नयी संख्या जोड़ी, किन्तु विशेष विश्लेषण नहीं किया; यथा श्री श्रीधरस्वामी, पुराणसंहिता-कार तथा श्री लक्ष्मीधर।
४. जिन्होंने भक्तिरस-विषयक पूर्ण विस्तृत ग्रन्थ-रचना की। श्रीरूप गोस्वामी, श्री मधुसूदन सरस्वती एवं श्री नारायण भट्ट इसी श्रेणी में हैं।
५. कुछ अन्य, जिन्होंने श्रीरूप के पश्चात् इस विषय में प्रकीर्ण रचनायें कीं।

इन श्रेणियों के अधिक विवेचन का अवकाश अब भी नहीं है (ग्रन्थ-कलेवर बढ़ने के भय से); प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के विषय में यथामति चिन्तन ही वस्तुतः यहाँ प्रसङ्ग-प्राप्त है।

६. प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(क) पीठिका

पहले भी बहुधा व्यक्त हुआ ही है कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु भक्तिरस-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें परम्परागत रस-सिद्धान्त तथा अध्यात्मसाधना के अलौकिक उत्कर्ष का अद्भुत सङ्गम है। इनके पूर्ववर्ती मनीषियों ने भक्ति को रस की चरमावस्था (साध्य भक्ति) तक पहुँचा कर ही सन्तोष माना था। श्रीरूप ने इस ग्रन्थ में प्रथम बार भक्तिरस का शास्त्रीय पद्धति एवं सम्पूर्ण प्रक्रिया-बद्ध रीति से आद्योपान्त निरूपण किया।

इसलिए भक्तों के दिव्य मनोभावों तथा उनकी विविध अभिव्यक्तियों के शब्द-चित्राङ्कन देने के अतिरिक्त यह ग्रन्थ वस्तुतः साधकों के लिए भी सर्वथा उपयोगी है; क्योंकि इसमें भक्ति के क्रमिक स्तरों के अन्तःकरण-वैज्ञानिक सुस्पष्ट विश्लेषण के साथ-साथ इस भक्तिपादप के बीज-अङ्कुर स्तर से पुष्पित-फलित होने के स्तर-पर्यन्त का विज्ञान आत्मपरीक्षण तथा परिशोधन

---

* प्रथम खण्ड—अवतरणिका में पृ० xxx पर तीन श्रेणियाँ कही गयी हैं; यहाँ थोड़ी भिन्न रीति से कहा जा रहा है, सर्वथा पुनरुक्ति नहीं है।

के मापदण्ड-सहित निरूपित हुआ है। साथ ही ब्रह्मविज्ञान की भी विशद मीमांसा इस ग्रन्थ में है। पारम्परिक रसशास्त्रीय दृष्टिकोण की लेशमात्र भी क्षति न होने देते हुए, बल्कि उसकी रसात्मकता में अपूर्व सुषम अभिवृद्धि करते हुए भक्तिरस के वैष्णव-दर्शन के अनुकूल सिद्धान्तात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करने में श्रीरूप की विचक्षण विदग्धता सच ही विस्मयकारिणी है। इस सन्दर्भ में इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपायचातुरी है भक्तिरसों को मुख्य एवं गौण श्रेणियाँ देना। रसशास्त्र को यह श्रीरूप की मौलिक देन है।

भक्तिरस के मूल अधिष्ठान तथा विविध आकारों को समझाने में श्रीरूप की विशिष्टता को पहचानने के लिये स्वयं उनकी भक्तिधारणा का अवलोकन आवश्यक है। उनके भक्तिलक्षण में दो शब्द मौलिक महत्त्वपूर्ण हैं—(१) आनुकूल्य (वे क्रियायें जो साभिप्राय समान रूप से श्रीकृष्ण के प्रति सुखद हों) (२) अनुशीलन (मन, वाणी शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियाँ)। इन दो शब्दों का निहितार्थ या आशय श्रीरूप के भक्तिरस-विस्तरण की नींव का घटक है।

'अनुशीलन' के तात्पर्य में भक्ति के दो पक्ष[१] ध्वनित हैं—चेष्टा[२] (बाह्य क्रियायें) तथा 'भाव' (भीतरी रुझान)। भाव भी पुनः दो प्रकार का है—स्थायी तथा सञ्चारी। भक्ति का स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है। 'आनुकूल्य' का अभिप्राय है कि भाव भगवान् के प्रति प्रेममय हो, अन्यथा प्रतिफलित बाह्य क्रियायें भगवान् के सुख में सहायक या सुख-प्रयोजक नहीं होंगी।

इसी कारण पारम्परिक रसों में जो प्रतिकूल-वृत्ति के थे, उन्हें श्रीरूप ने भक्ति के अनुरूप ढाल कर निरूपित किया है। इसी समस्या के समाधान-हेतु यहाँ भक्तिरसों के भेद या प्रकार प्रतिपादित हुए हैं। 'भक्ति' को एक नये रस का रूप न देकर श्रीरूप ने सभी पारम्परिक रसों तथा स्वयं देखे हुए नये तीन रसों को अपने भक्तिसिद्धान्त में ऐसा तदात्मरूप से अपनाया है कि वे सभी (नौ तथा तीन कुल बारह) रस पूर्णतया भक्तिरसों में परिणत हो गये हैं। मूल लक्षण में कहे गये 'आनुकूल्य' के सिद्धान्त के कारण अवश्य ही अनेक अभिनव परिवर्तन अनिवार्य हुए, वे ही इनके भक्तिरस-सिद्धान्त तथा निरूपण को श्रीवोपदेव से भिन्न दिखाते हैं।

भक्तिरस के सामान्य स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीरूप ने 'श्रीकृष्णरति' (श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम) को स्थायीभाव कहा है। यहाँ 'रति' का तात्पर्य शृङ्गाररस का स्थायीभाव नहीं, सामान्य प्रेम-भाव है। यह प्रेम विकसित अवस्था में अविशेषित नहीं रह सकता, तब इसे कोई न कोई रूप लेना होता है, जिसमें प्रेम के 'विषय' से कोई न कोई व्यक्ति-सम्बन्ध अपेक्षित होता है। भक्त का भगवान् के प्रति प्रेम प्रमुख पाँच प्रकार के सम्बन्धों का रूप लेता है—

१. शान्ति रति—निश्चल प्रीति, जिसमें भगवान् के प्रति 'ममत्व' ('मेरा अपना') भाव नहीं है, अर्थात् कोई व्यक्ति-सम्बन्ध नहीं है।

---

[१] द्र० भ० र० सिं० १/३/१ पर श्रीजीवगोस्वामी-कृत टीका।

[२] चेष्टा पुनः दो प्रकार की है—(१) भाव को प्रकट कराने वाली साधना, तथा (२) भाव की बाह्य (काय-मनो-वाक् में) अभिव्यक्तियाँ (अनुभाव)।

२. प्रीति रति—सेवक (भक्त) का स्वामी (भगवान्) के प्रति प्रेम।

३. सख्य रति—मित्रों की परस्पर प्रीति, जहाँ दोनों (भक्त-भगवान्) में समानता का भाव है।

४. वात्सल्य रति—माता-पिता की सन्तान के प्रति एवं बालक की माता-पिता के प्रति प्रीति। इसमें भी पहला पक्ष प्रधान है जिसमें भक्त भगवान् को अपना सन्तान मानता है, स्वयं को उसका रक्षक।

५. प्रियता रति—प्रेमी-प्रेमास्पद-युगल में रहने वाली परस्पर प्रीति।

इन्हीं पाँच प्रकार के प्रेम की परिणति शान्त, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल तथा मधुर* (शृङ्गार) रसों में होती है। (यहाँ 'मधुर' का अर्थ 'प्रिय' लिया गया है जो प्राचीन कोशों में उल्लेखित है।) इन पाँचों में इसी क्रम से उच्चता-तारतम्य भी देखा गया है। उसका मनोवैज्ञानिक आधार (सम्बन्ध की घनिष्ठता के साथ-साथ प्रेम की घनता का स्तर) भी है। जिस पर विचार स्वतन्त्र रूप से करना अपेक्षित है। परम्परागत रस-चिन्तन में से शान्त और शृङ्गार का इन मुख्य रसों में ग्रहण हुआ, मध्य के तीन (दास्य=प्रीतभक्ति, सख्य (प्रेयोभक्ति) तथा वत्सलभक्ति)-मानवीय प्रेम की तीन छटाओं को स्वतन्त्र रस-रूप में पहचाना श्रीरूप की विशेष उद्‌भावना है। इसने काव्य-साहित्य के रस-विमर्श को विशेष समृद्ध किया है। शान्त रस के स्थायी भाव में 'रति' का योग करके उसे प्रेम का रूप देना भी श्रीरूप की अद्‌भुत मौलिक देन है।

श्रीचैतन्य-मतानुसारी दर्शन में 'भाव' मानवात्मा को परमात्मा का कृपा-दान है। शुद्धसत्त्व-आत्मा में यह सदा विद्यमान रहता है, और भगवत्कृपा से ही जीव-चित्त[1] में स्फुरित होता है। वही भगवान् के प्रति पञ्चविध सम्बन्धों का बीज बन कर भक्त के स्वभाव[2] में स्फुट होता है। इसलिये पञ्चविध भाव या रति का आधार यह प्रत्यय है कि शुद्ध-सत्त्व आत्मा (भक्त) का भगवान् से सम्बन्ध उसके स्वभाव या प्रकृति के अनुसार पाँच प्रकार का हो सकता है।

इसी अवधारणा का प्रतिबिम्बवत् समानान्तर चिन्तन दक्षिण के सिद्धान्तशैवदर्शन (शैवसिद्धान्त) में—दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग, सन्मार्ग नाम से मिलता है। किन्तु वहाँ इनका कोई रस-सन्दर्भ नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि उनमें शान्त-भाव का कोई उल्लेख या स्थान नहीं है।

भरतमुनि की रस-गणना में नया 'भक्तिरस' जोड़ने की अपेक्षा श्रीरूप ने अन्य ही सुघड़ उपाय से भक्तिरस का व्याख्यान परम्परा की धारा के अनुकूल ही किया। 'शान्त' को पाँच मुख्य रसों

---

* श्रीरूप० द्वारा लौकिक शृङ्गार से ऊपर उठकर भगवद्-रति में युगल-प्रेम को 'माधुर्यभाव'-'मधुर रति' संज्ञा दी गयी, इससे शृङ्गार के लौकिक-स्तर के समस्त दोषों का अनायास परिहार हो गया। सबसे पहले महाराष्ट्र में सन्तश्रीज्ञानेश्वर द्वारा 'शान्त द्वारा शृङ्गार को जीतने की प्रतिज्ञा' और उसका पालन हुआ था, उस 'शान्त' को 'मधुर' बनाकर 'मधुराद्वैत' की स्थापना की थी। किन्तु वहाँ उस समय के समाज और कवि-मति में छाये लौकिक शृङ्गार का प्रत्युत्तर देना उद्देश्य था। वहाँ 'मधुर रति' का सङ्केत (गी० १२ वें अध्याय की व्याख्या में) बहुत सूक्ष्म है क्योंकि ज्ञान-प्रधान भक्ति शान्त रस की मर्यादा में है।

[1] भ. र. सिं. १.३.२।

[2] -चै. शि. ७ -

में सम्मिलित करने से उस समस्या का भी अनायास समाधान हो गया जो भरतमुनि के उनचास भावों में शान्तरस के स्थायीभाव की गणना से उठ रही थी। शेष सात पारम्परिक रसों (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स) को श्रीरूप ने गौण-रस-श्रेणी में रखा। इनमें से भी प्रेम-विरोधी रसों का रूपान्तर कर लिया, क्योंकि इस दृष्टि में 'रति' रस का अनिवार्य अविनाभावी घटक है। इस मुख्य-गौण श्रेणीकरण में मुख्य वे पाँच हैं जिनमें भक्त-भगवान् के मध्य किसी न किसी प्रकार व्यक्तिगत सम्बन्ध है और जहाँ वैसा सम्बन्ध अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं है, वे सात रस गौणश्रेणी में गिने गये। ये कुछ समय के लिये ही उदित होते हैं, जबकि पृष्ठभूमि में कोई मुख्य रस ही विद्यमान रहता है। इसलिये गौण रसों की अपने आप में स्थिरता नहीं है, मुख्य रसों के फलक पर ही गौण रस उदित-विलीन होते रहते हैं, किसी भक्त में कोई गौण रस सदा नहीं रहता, बल्कि परिस्थितिवश मुख्य रस सङ्कुचित होकर मानो गौण रस को अवकाश दे देते हैं।

श्रीरूप ने स्वयं कहा भी है कि[१] सभी गौण रस वास्तव में ठीक-ठीक भक्तिरस नहीं हैं। किन्तु बहुधा ये व्यभिचारी भावों की भाँति मुख्य रसों के पोषक होते हैं, तथा परम्परा-प्राप्त हैं; इसीलिये उनकी गणना भक्तिरसों में की गयी। फिर भी श्रीरूप की सुविदग्धता का प्रावीण्य है कि सभी पारम्परिक रसों को भक्ति से अनुप्राणित कर सिद्धान्तानुकूल बना लिया।

श्रीरूप के अनुसार वस्तुतः भगवत्सम्बन्ध के अभिव्यञ्जक भक्तिरस के पाँच ही प्रकार हैं, जो 'श्रीकृष्णरति' स्थायिभाव द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं; अतः मूल भक्तिरस श्रीकृष्णरति ही है। इस पक्ष में एकमात्र भोज का शृङ्गारप्रकाश में व्यक्त मत ही श्रीरूप के कुछ समान है। वहाँ 'अहङ्कार (अभिमान) शृङ्गार' के प्रतिपादन का सार है कि :—

रस वस्तुतः लोकोत्तर आनन्दास्वाद है। उसी के विविध रूप हैं शृङ्गार, वीर आदि, किन्तु मूल रस इनसे विशेषित नहीं। रस तो मनुष्य के अन्तरात्मा का अन्तरात्मा में ही आस्वादित होने वाला पक्ष है; उसका निजी कोई नाम-रूप नहीं। 'आसकाम' की 'आत्मरति' या 'आत्मप्रीति' ही 'अहङ्कार' या 'अभिमान' द्वारा 'आस्वादन' बनती है। 'अहङ्कार' में व्यक्त होती हुई आत्मरति जब बाह्य विषयों (दुःख-पर्यन्त) के सम्पर्क में आती है तब भावजगत् में सहस्रमुखी हो जाती है। इन भावों का आस्वादन 'अहं' (जीव) की उसी रति-शक्ति द्वारा होता है। वह मूल रस ही 'स्थायी' है। अहङ्कार/अभिमान-शृङ्गार 'पूर्वा कोटि' है।

इसी में से भाव उदित होते हैं, जो अपने व्यभिचारी भावों-अनुभावों-विभावों के साथ प्रकर्ष-पर्यन्त पहुँच कर मूल अहङ्कार-रस को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार विभिन्न रूपों में प्रकृष्ट होने पर भी वे मूल एक ही रस के व्यभिचारी भाव-मात्र होते हैं। यह रस की 'मध्यमाकोटि' (व्यावहारिक अवस्था) है, जिसकी विचारणा सभी आलङ्कारिक करते हैं। इसी स्तर पर रसों में अनेकता देखी जाती है।

---

[१] भ. र. सिं. ४/१/९,१०

रस की तृतीय-'पराकोटि'-है प्रेम। सभी भाव पूर्ण प्रकर्ष पाकर 'भावना' में सञ्चरित होते हुए उसके परे जाकर प्रेम-अवस्था द्वारा 'अहं' रस में लीन हो जाते हैं। प्रेम-अवस्था में प्रत्येक भाव किसी न किसी प्रकार की 'रति' होता है। अन्ततः प्रत्येक प्रकार की रति या प्रीति आत्मा-अहङ्कार-अभिमान या 'शृङ्गार' (मूल अर्थ में ये सभी पर्याय हैं)—की ही प्रियता की अभिव्यक्ति है।

उस 'अहं' की प्रथम प्रमुख अभिव्यक्ति है मनुष्य की चार प्रकार की आसक्ति एवं समस्त क्रियाओं के प्रयोजक चार पुरुषार्थ। अर्थात् प्रमुख रूप से मनुष्य की चाहत के जो चार प्रकार के लक्ष्य देखे गये हैं, उनका भी मूल प्रयोजक (जिसे बाद में 'पञ्चम-पुरुषार्थ' रूप से पहचाना गया) प्रेम ही है। ''प्रेमा पुमर्थो महान्''[१] उसी के लिये 'अहं' (प्रतिबिम्ब) के बिम्ब (परम आत्मा-भगवान्) को भी मनुष्य आकृति में आने की इच्छा हुई, होती है।

''जनिष्यते तत्प्रियार्थम्''[२]

भोज के अनुसार 'अभिमान' ही सब रसों का आधार है। ''मैं अमुक हूँ'' ''मैं ऐसा हूँ''—यह बोध ही व्यक्ति में विविध भावों को जगाता है। उस अहंबोध (के स्तर) पर ही इन भावों-संवेगों की प्रकृति और उत्कटता निर्भर रहती है। यह 'अहं'-प्रत्यय (अस्मिता) वस्तुतः आत्मप्रतीति का ही प्रकाश है, जो प्रत्येक मनुष्य में इसी आधार पर भिन्न होता है कि वह स्वयं को 'क्या' समझता है।

श्रीरूप के भक्तिरस-सिद्धान्त में भी 'अभिमान' (स्वयं को अमुक समझना) का बहुत महत्त्व है। भक्तों की अन्तर-बाह्य प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ) उनके 'अभिमान' पर ही निर्भर करती हैं कि वह भगवान् से अपना क्या सम्बन्ध समझता है। यह 'अभिमान' ही उसके अनुरूप कृष्णरति में परिणत होता है। जैसे कि वात्सल्यरति से सम्पन्न जीव अपने नाम-व्यक्तित्व को भूलकर यही मानता है कि मैं कृष्ण की माँ या पिता हूँ, वह हमारा बेटा है, उसकी भूख-प्यास-नींद और सुरक्षा का ध्यान हमें रखना है। भक्त का यह अभिमान ही (भक्त तथा भगवान्) दोनों ओर का व्यवहार निर्धारित करता है।

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि भोज की 'आत्मंरति' का ही प्रतिफलन है श्रीरूप की 'कृष्णरति'। यद्यपि भोज का 'अभिमान' मायिक (त्रिगुणात्मक) है और श्रीरूप-सूचित अभिमान शुद्धसत्त्वाधारित होने से मायातीत है; इसी तथ्य से ये दोनों पृथक्जातीय हो जाते हैं, फिर भी दोनों की पृष्ठभूमि का चिन्तन समान अवश्य है। भोज एवं श्रीरूप के चिन्तनों का भेद 'रति' के तात्पर्य में है। भोज के अनुसार 'रति' का विषय सम्प्रयोग (नर-नारी-सम्बन्ध) है, और 'प्रीति' के अन्तर्गत अन्य सब मानवीय सम्बन्ध है। श्रीरूप ने सभी प्रकार के प्रेम के लिए 'रति' संज्ञा दी है।

'भक्ति' को 'रस' रूप में किसी न किसी स्तर पर स्वीकार करने वाले मनीषियों का अपेक्षित

---

[१] श्रीचैतन्यमत का प्रसिद्ध श्लोक

[२] श्रीमद्भागवत १०.१.२३

परिचय प्रथम खण्ड में आ चुका है। अब इस सन्दर्भ में उन सम्भ्रान्त चिन्तकों का कुछ परिचय भी उपयोगी होगा जिन्होंने भक्ति को 'रस' रूप से नहीं पहचाना और काव्यशास्त्रीय रीति से विरोध प्रकट किया।

(ख) भक्ति-रस का अन्वय-व्यतिरेकी-चिन्तन

यह विचित्र तथ्य है कि भक्ति-रस के प्राचीन उल्लेख विरोधात्मक हैं। ये उन चिन्तकों की वाणी में हैं जिन्होंने भक्तिरस-रस को स्वीकार नहीं किया बल्कि इस पर आक्षेप उठाये हैं। इन उल्लेखों से अर्थापत्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी भक्तिरस का प्रतिपादन प्रसिद्ध रहा होगा, किन्तु उन प्रतिपादकों की वाणी अब प्राप्त नहीं है।

पारम्परिक विरोधी चिन्तन तीन प्रकार का है—

(१) भक्तिरस को शान्तरस के ही अन्तर्गत मानना (अभिनव गुप्त[१], शार्ङ्गदेव[२])।

(२) वस्तुधर्म से ही भक्ति में 'रस' की उत्कटता के लिये आधारता न मानना (मम्मट[३])।

(३) भरत-सम्मत न होने के कारण इसे 'रस' न मानना।

इनमें से प्रथम कोटि की युक्ति यह है कि भक्ति ज्ञान का ही अङ्ग है, इसी रूप में वह मोक्ष का उपाय है। इसलिये भक्ति को पृथक् स्वतन्त्र 'भाव' नहीं माना जा सकता।

परम्परागत काव्यशास्त्रीय रसों का भक्तिरस से भेद दो प्रकार से है—

(१) परम्परागत (रस-शास्त्र) में रस का आश्रय-आस्वादक केवल सहृदय प्रेक्षक[४] होता है, अनुकार्य वस्तु (कथा) या अनुकारक (अभिनेता या सुनाने वाला) स्वयं रस का आस्वादक-आश्रय नहीं होता। जब कि भक्तिरस में रस के आस्वादक तीनों होते हैं—अनुकार्य (स्वयं भगवान् 'रस'-स्वरूप होने से), भक्त (सहृदय होने से), नट (अनुकार्य से तदात्म हुए बिना नाट्य सम्भव न होने से)। भक्तिरस के आस्वादन में भाव लौकिक होने का अवकाश ही नहीं।

(२) पारम्परिक रसों में स्वयं स्थायीभाव ही अलौकिक नहीं होता, केवल रसास्वादन के माध्यम—नाट्य-यज्ञ एवं सहृदय प्रेक्षण—के द्वारा ही वह अलौकिक बनता है। इधर, भक्तिरस-प्रसङ्ग में स्वयं स्थायी भाव ही अलौकिक है, उसके आस्वादन के लिये किसी रसाभिव्यञ्जक माध्यम की आवश्यकता नहीं। इसलिये वास्तव में एकमात्र भक्तिरस ही अलौकिक है।

---

[१] अभिनवभारती

[२] सङ्गीतरत्नाकर ७.१५३०-३१

[३] काव्यप्रकाश ६

[४] यह चिन्तन 'नाट्य' के सन्दर्भ में है अतः प्रेक्षक का उल्लेख है, अन्य काव्य के लिये सहृदय श्रोता या पाठक इसी के अन्तर्गत समझने चाहियें।

पारम्परिक रसों का अलौकिकत्व वस्तुतः लोक से अतीत स्थिति को सूचित नहीं करता, केवल सामान्य से ऊँचे स्तर की अनुभूति का ही द्योतक है।

इस पर्यालोचन में, हमारे निकट के रसानुभवी योगी श्री अरविन्द के "सावित्री-काव्य विषयक पत्रों"[१] में से एक सार-स्थल उद्धृत करना उपयोगी होगा—

"Aesthesis responds not only to what we call beauty, but to all things. There can be an aesthetic response to Truth also. Truth is not merely a dry statement of facts or ideas to or by the intellect (as religious philosophy is), it can be a splendid discovery, a reputurous revelation, a thing of beauty. The poet can feel a poetic and aesthetic joy in the expression of the True as well as in that of the beautiful. He does not make a mere intellectual or philosophical statement of the Truth, it is his vision of its beauty, power, his thrilled reception of it, his joy in it, that he tries to convey by an utmost perfection of word and rhythm. Such a poet sees, thinks and creates in masses, re-unites separated things (of our ordinary consciousness) and reconciles opposites. On his level of consciousness Truth and beauty not only become constant companions but become one, involved in each other, inseparable; the True is always beautiful and beautiful is always True".

(ग) श्रीरूप-निरूपित भक्तिरस के प्रमुख मूलभूत सिद्धान्त

भ. र. सिन्धु का प्रतिपाद्य मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—

(१) भक्ति का 'रस' रूप से कथन,-भक्ति की प्रकृति और भेद।

(२) भक्ति के संघटक उपादान।

(३) भक्तिरस का बारह भेदों में विभाजन (पाँच मुख्य, सात गौण) तथा उन बारहों का परस्पर मित्र-शत्रु-भाव।

वास्तव में इस ग्रन्थ का प्रथम भाग (जिसमें भक्ति की प्रकृति और भेदों का सामान्य निरूपण है) 'स्थायी भाव' ही की पर्यालोचना है, क्योंकि वहाँ 'कृष्णरति' (भक्तिरस का मूल स्थायिभाव) के प्रारम्भिक स्तरों की संघटना पर विचार किया गया है जिनकी परिणति स्थायिभाव में होती है। उसके भी उपोद्घात रूप में भक्ति के सामान्य भेद तथा प्रकृति (स्वभाव) का चिन्तन है, जो भक्तिरस का मर्म समझने के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण है।

(१) भक्ति की प्रकृति एवं प्रकार

भक्तिरस-प्रतिपादन का प्रारम्भ ही 'उत्तमा भक्ति' की परिभाषा से किया गया है, क्योंकि वस्तुतः वही 'रस'-चिन्तन में प्रासङ्गिक है। उत्तमा भक्ति वह है जहाँ जीव की काया, मन, वाणी

---

[१] "Letters on Sāvitrī" पृ० 63-64

की सभी वृत्तियाँ साभिप्राय केवल श्रीकृष्ण के निरन्तर अनुकूल रहते हुए, उनका ही अनुशीलन करते हुए, अन्य किसी भी स्तर[*] की अभिलाषा से सर्वथा रहित रहते हुए, उनके निज-सुख-आस्वादन में सहायक होने के लिये प्रेरित हों—

> ''अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥''

इस लक्षण या परिभाषा का प्रत्येक शब्द मौलिक महत्त्व से भरा है, जिनमें प्रमुख छह बिन्दु हैं—

१. काय-मनो-वाक् द्वारा अनुशीलन—निरन्तर वही लक्ष्य बना रहना,
२. अनुकूल भाव से,
३. श्रीकृष्ण के (सुख में सहायक होना),
४. उत्तमा भक्ति,
५. अन्य कोई प्रयोजन या अभिलाषा न होना,
६. ज्ञान और कर्म से ढका न होना।

१. भक्ति 'अनुष्ठानमयी'[१] है। अर्थात् व्यवहारिक या लौकिक जगत् में भक्ति की अभिव्यक्ति-चित्त के 'भाव' सहित समस्त अन्तर-बाह्य करणों द्वारा होती है।[२] भक्ति भगवान् की स्वरूपा शक्ति की ही वृत्ति है। उस स्वरूपाशक्ति से अनुगृहीत भक्त की इन्द्रियाँ उसी शक्ति से तादात्म्य-मयी हो जाती हैं। तब इन दिव्यभावापन्न इन्द्रियों से श्रीकृष्णानुशीलन बन पड़ता है। इस अनुग्रह से पहले तक की क्रियायें साधना की प्रवर्त्तिका-मात्र होती हैं, उस स्तर में ये गौण अर्थ में भक्ति या साधना कहलाती हैं।

२. 'श्रीकृष्ण का आनुकूल्य' ऊपर कहे गये अनुशीलन का विशेषण है। कभी प्रतिकूल भाव क्रोध, भय, द्वेष आदि से भी सतत भगवान् का अनुशीलन हो सकता है, जैसा कि हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि का था, किन्तु वह दशा भक्ति नहीं, मुक्ति का हेतु बन जाती है। इसीलिये 'आनुकूल्य' से सूचित प्रीति भक्ति के लिये अनिवार्य कही गयी। शाण्डिल्य मुनि बारम्बार कहते हैं कि द्वेष से सर्वथा दूर या विरोधी है भक्ति भाव।[३] श्रीरामानुज[४] एवं श्रीमध्व[५] ने भी इस बिन्दु पर बल दिया है कि प्रेम भक्ति का अनिवार्य अविनाभावी धर्म है।

---

[*] ''मुझे तत्त्वज्ञान या परमात्मज्ञान हो जाय, जिससे मोक्षप्राप्ति हो'' अथवा ''मेरे द्वारा अच्छे कार्य हों, जिनके फल-रूप पुण्यादि से इह-पर-लोकों में सुख एवं अन्ततः ज्ञान-पूर्वक मोक्ष हो''—ऐसी उच्चस्तर की अभिलाषा भी भक्तिरस की निष्पत्ति में बाधक है। उत्तमा भक्ति में साधन और साध्य एकमात्र भक्ति (श्रीकृष्ण के प्रति अगाध-अबाध प्रेम) ही है। भ.र.सिं. १.१.११

[१] इस विवेचन का सन्दर्भ—भ.र.सिं. १.१.११ पर श्री जीवगोस्वामी कृत टीका

[२] भ.र.सिं. में उद्धृत नारदपाञ्चरात्र—''सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते''

[३] शाण्डिल्य-सूत्र—१.१.४,६ तथा २.१.१९

[४] वेदार्थसंग्रह-मध्यभाग, जहाँ भक्ति को 'प्रीतिविशेषः' कहा गया।

[५] महाभारततात्पर्यनिर्णय—१.१८६ ''भक्तिः स्नेहरूपा''। प्राचीनोक्ति उद्धृत।

श्रीमद्भागवत में चार श्लोकों (७-१. ३०-३३) में यह कहा गया कि काम, द्वेष, भय, प्रीति, सम्बन्धिता तथा भक्ति द्वारा, अथवा जिस-किसी भी प्रकार से हो चित्त श्रीकृष्ण में लगा रहने से शुद्धि, पापनिवृत्ति होती है। किन्तु मूल शब्दों द्वारा या टीकाकारों द्वारा कहीं प्रीतियुक्त और प्रीतिरहित अनुशीलन-प्रकारों से फलित होने वाले इस भेद की ओर इङ्गित नहीं किया गया जो श्रीरूप ने दर्शाया है। भक्ति के उत्कर्ष के लिये कृष्णानुशीलन में आनुकूल्य की अनिवार्यता कहना इस विषय में पहले से चले आते चिन्तन के और आगे का कदम है। इसके द्वारा कंस, शिशुपाल आदि भक्त-श्रेणी से बहिष्कृत हुए, साथ ही प्रीति-विरोधी रसों का भी कायापलट हो गया। श्री जीवगोस्वामी ने भक्ति-सन्दर्भ में इस सिद्धान्त को और विशद किया कि आपाततः श्रीकृष्ण को सुखद प्रतीत होने वाले भाव भी भक्ति के अन्तर्गत नहीं यदि वास्तव में वे सख्यादि के समान प्रीतिकर न हों। जैसे कि कंस की रङ्गशाला में चाणूर-मुष्टिक ने मल्लयुद्ध के लिये आह्वान किया तब श्रीकृष्ण को (अपने अभीष्ट कार्य के अनुरूप होने से) अच्छा ही लगा, किन्तु उनका आह्वान मित्रभाव से नहीं शत्रुभाव से था, अतः वे भक्त नहीं कहे जा सकते। दूसरी ओर यदि भक्त की किसी क्रिया का प्रयोजन श्रीकृष्ण का सुख हो तो बाहर से वह क्रिया उनके लिये कष्टकर होने पर भी भक्ति के अन्तर्गत रहती है। जैसे कि दूध पीते हुए बालकृष्ण को गोद से उतार कर रोते हुए छोड़कर भी यशोदा आँच पर उफनते दूध को उतारने चली गयीं, वह उनकी भक्ति की ही अभिव्यक्ति रही (क्योंकि उस दूध में से कृष्ण के लिये मक्खन निकालना था)।

३. श्रीकृष्ण का अनुशीलन भक्ति कहा गया, क्योंकि वे स्वयं ''अखिलरसामृतमूर्त्ति''[१] हैं। प्रेम और सौन्दर्य के समग्र आकलन रूप रस-शास्त्र में श्रीकृष्ण का यही स्वरूप परम आराध्य है उनके अन्य समस्त ऐश्वर्य यहाँ गौण हैं। 'ब्रह्म' तत्त्व का आनन्द-पक्ष यहाँ प्रधान है, चित् एवं सत् पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं।

४. भक्ति को 'उत्तमा' विशेषण देने का तात्पर्य श्रीजीवगोस्वामी ने (भक्तिसन्दर्भ में) भक्ति की तीन श्रेणियों के रूप में विशद किया है—(१) आरोपसिद्धा (२) सङ्गसिद्धा (३) स्वरूप-सिद्धा। इनमें—प्रथम सर्व-कर्म-समर्पण का फल है, जहाँ भगवान् का स्वरूप ज्ञात नहीं, अनुमित या आरोपित है; द्वितीय योग एवं ज्ञान की सहायता से लब्ध है; और तीसरी अपने चित्-स्वरूप के बोध से स्वतः उपलब्ध है। इसी को 'अहैतुकी' 'अप्रतिहता' 'केवला' 'निर्गुणा' संज्ञायें भी दी गयी हैं। यही कोटि 'उत्तमा' भक्ति में अभिप्रेत है।

५. भक्ति में कोई अन्य प्रयोजन या अभिलाषा नहीं रहती—यह भी वैष्णवों का अनुभूत-स्वीकृत सत्य है। कुछ ईसाई रहस्यवादियों ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। जैसे कि Geneva के St. Catherine का वचन है—"I wish not for anything that comes forth from thee but only for thee O my lord!"[2]

---

[१] भ.र.सिं. १.१.१

[2] E. Underwill के "Mysticism" में पृ० १०१ पर उद्धृत

६. 'ज्ञान' अर्थात् ब्रह्म से एकत्व का ध्यान या बोध तथा श्रुति-स्मृति-निर्दिष्ट नित्य-नैमित्तिक कर्म से आवृत न होने का अभिप्राय रस-बोध में उनका अन्तराय न रहने से है; यदि ये ज्ञान-कर्म मूल सेवा-भाव तथा भगवत्सम्बन्ध में बाधक न होते हों तो इनका निषेध नहीं है, अपेक्षा भी नहीं है।

भक्ति के प्रकार

सभी प्रधान वैष्णव-सम्प्रदायों में भक्ति के प्रमुख दो भेद स्वीकृत हैं—साधन (भक्ति) और साध्य (भक्ति)। श्री मध्वाचार्य ने इन दोनों के मध्य छह स्तर देखे हैं— १. श्रद्धा, २. माहात्म्यज्ञान, ३. अपरोक्ष-साधन, ४. अपरोक्ष-ज्ञान, ५. परमाभक्ति, ६. मुक्ति, —इनके बाद स्वरूपभक्ति या साध्यभक्ति कही है।[१] श्रीरूप ने भक्ति के तीन स्तर पहचाने हैं—१. साधन, २. भाव, ३. प्रेम। भावभक्ति भक्तिरस के साक्षात्कार की प्रक्रिया में मध्यम दशा है, जहाँ प्रेम-भक्ति आंशिक रूप में व्यक्त हो रही है।

१. साधन-भक्ति

साधनभक्ति 'कृतिसाध्या' (इन्द्रियादि की क्रियाओं द्वारा निष्पन्न की जाने वाली) तथा 'साध्यभावा' (भाव की अभिव्यक्ति में परिणत होने वाली) है। सभी अध्यात्म-पथों में प्रारम्भ का स्तर है अन्तर्बाह्य शुद्धि करते हुए परमात्मसाक्षात्कार के योग्य आधार बनाना। इसी के लिये सद्‌गुरु एवं शास्त्र अनेक प्रकार के विधि-निषेध बताते हैं जिनका पालन करने से ही बुद्धि-मन-वाणी-काया 'भक्ति' को जीने-योग्य बनते हैं। कुल मिलाकर वह तपश्चर्या ही साधन बनती है जिसमें सभी स्तरों का संयम एवं सन्तुलन सम्पूर्ण व्यवहार एवं अन्तरङ्ग में जिया जाता है; ''जैसे हिं राखौ वैसे हि रहौं'' की दशा में रहते हुए प्रतिक्षण भगवान् के प्रति आनुकूल्य एवं निज-अभिलाषा-शून्य भाव से सभी प्राप्त कर्म कुशलता से किन्तु सर्वथा निष्काम किये जाते हैं।

वैष्णव साधना की विशिष्टता है कि यहाँ तपस्या रूखी नहीं, जीवन-विमुख नहीं, बल्कि सभी क्रियायें भगवान् को समर्पित होने से, सर्वत्र भगवद्दर्शन दृढ़ करने के लिये अधिकाधिक सरस होती हैं; दैनिक जीवन ही साधना-क्षेत्र है; शुष्क 'मौन' के स्थान पर रस-भावमय कीर्तन होता है, प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति भगवत्सम्बन्धी होने से सर्वत्र व्यवहार प्रेममय होता है, सहज ही मानवीय जीवन-मूल्य (सत्य, करुणा, प्रेम) व्यवहार में प्रतिष्ठित होते हैं। साथ ही वैष्णव जिस पारमार्थिक लक्ष्य-परमतत्त्व के साक्षात्कार एवं सेवा के लिये तत्पर हैं उस नित्य जीवन के सभी रङ्गों, छटाओं के आनन्दास्वाद के रसिक हैं अतः किसी भी प्रकार शुष्क या जीवन-विमुख नहीं।

यहाँ साधना ऐसी सीढ़ी या मार्ग नहीं जो लक्ष्य पा लेने पर छोड़नी पड़े या छूट जाय; वस्तुतः 'साधन' और 'साध्य' भक्ति में कोई अन्तर नहीं, दोनों ही स्तरों में मन-वचन-कर्म से सेवा

---

[१] अनुव्याख्यान-३१४

परम-आराध्य की ही होती है, स्तरभेद इतना ही है कि साधन नश्वर मायिक देह द्वारा शिक्षण रूप में है और साध्य है नित्य-भाव-देह या स्वरूप में रहते हुए नित्यलीला में प्रवेश।

श्रीरूप ने साधन-भक्ति के चौंसठ अङ्ग[1] कहे हैं जिनमें विधि-निषेध सम्मिलित हैं। ये सभी भाव के प्राकट्य के लिये हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इन भक्ति-अङ्गों का पाँच प्रकारों में वर्गीकरण भावों के अनुरूप किया है[2]—

१. भावमय—जो स्वयं भाव-प्रकृति के हैं—दास्य, सख्य आदि।
२. भाव सम्बन्धी—जिनका भाव से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसे—गुरुपदाश्रय, मन्त्र जप, भक्त-सङ्ग, श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि।
३. भावानुकूल—एकादशी आदि उपवास, इन्द्रियनिग्रह, तुलसी अश्वत्थ आदि का सम्मान।
४. भावाविरुद्ध—जो भाव के विरोधी नहीं, जैसे 'नाम' तिलक-धारण, निर्माल्य-सेवन, प्रणामादि।
५. भाव-प्रतिकूल—जो क्रियायें निषिद्ध हैं—जैसे रागानुगा भक्ति के साधक के लिये द्वारिकालीला के अधिकांश प्रसङ्गों (जहाँ ऐश्वर्य प्रधान है) का चिन्तन निषिद्ध है।

मुख्य रूप से साधन-भक्ति द्विविध कही गयी है—वैधी और रागानुगा। (इनकी व्याख्या स्वयं ग्रन्थ में है ही, विस्तारभय से यहाँ उसका सार भी उद्धृत नहीं किया जा रहा है।) प्राचीन आचार्यों में से वोपदेव ने भक्ति के दो भेद कहे हैं—विहित और अविहित[3] जो बहुत कुछ उक्त दोनों के समान हैं, किन्तु 'अविहित-भक्ति' में निषिद्ध भावों—द्वेष, भय आदि तथा सामान्य काम, स्नेह आदि को भी एक साथ ले लिया गया है, यह बड़ा अन्तर है। श्रीवल्लभाचार्य ने भी श्रीरूप के सदृश ही भक्ति के दो विभाग कहे हैं। इसे भगवान् की इच्छा के अधीन बताया है कि कौन जीव किस प्रकार की भक्ति करेगा। जो जीव इन दोनों के अन्तर्गत नहीं, वे प्रवाह-मार्गीय हैं जो बाह्य भौतिक-मानसिक प्रकृति के अनुसार जन्म-मरण लौकिक सुख-दुःख के थपेड़े सहते रहेंगे।[4]

२. भाव-भक्ति : मध्यान्तर दशा

३. प्रेमा भक्ति—

भाव की रस में परिणति; यही वास्तविक साध्य भक्ति है। इन दोनों का सुविशद प्रतिपादन ग्रन्थ के पूर्व-विभाग में क्रमशः तृतीय और चतुर्थ लहरियों में हुआ है। उनका संक्षिप्त सार यही है कि प्रेम-सूर्य की किरणों के समान शुद्धसत्त्वात्मक भाव चित्त को द्रवित करके मृदु बनाता है। इसमें अश्रु-पुलकादि सात्त्विक विकार अल्प मात्रा में रहते हैं। प्रेम की प्रथमावस्थारूपा रति

---

[1] भ.र.सिं. १.२.७२-२३७
[2] भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु-११
[3] मुक्ताफल ५
[4] ''पुष्टि-प्रवाह-मर्यादामार्ग'' पर आधारित।

चित्तवृत्ति का स्वरूप लेकर वस्तुतः स्वयं प्रकाश होते हुए भी प्रकाश्य जैसी हो जाती है, स्वयं आस्वाद-स्वरूपा है किन्तु श्रीकृष्ण (एवं तत्सम्बन्धि) को विषय बनाने वाले आस्वाद का हेतु बनती है। यह भाव दो प्रकार से उत्पन्न होता है—१. प्रायः सब में साधन में अभिनिवेश से (प्रायिक) २. श्रीकृष्ण एवं भक्तों के अनुग्रह से (विरल)। यह अलौकिक होता है एवं सभी शक्तियों को अनायास जागृत कर देता है; उस भक्त में फिर कोई वैगुण्य नहीं रहता।

श्रीकृष्ण के प्रति यह भाव ही अतिशय ममत्व से प्रगाढ़ होने पर 'प्रेम' कहलाता है। कभी भाव की दशा में से पार हुए बिना भी साक्षात् भगवत्प्रसाद से प्रेम उदित होता है। सामान्य रूप से श्रद्धा से प्रारम्भ होकर, साधुसङ्ग, भजन-साधन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव के बाद प्रेमोदय—यह क्रम रहता है। जो भक्त विधिमार्ग से यहाँ तक आते हैं उनका प्रेम माहात्म्यज्ञान से युक्त (ऐश्वर्यबोधमिश्रित) होता है; जो रागानुगाभक्ति के सौभाग्य से समृद्ध हैं उनमें 'केवल प्रेम' उदित होता है।

श्रीश्री सनातन गोस्वामी के ग्रन्थ 'भागवतामृत' में भक्तिसिद्धान्त की गूढ़ माधुरी भी व्यक्त हुई है। यहाँ उसके आस्वादन का अवसर नहीं, नियति की अनुमति हुई तो ''उज्ज्वल-नीलमणि'' की भूमिका में वह हो पाएगा।

श्रीरूप के प्रमुख समकालीन तथा अद्वैत वेदान्त में से भक्ति में पहुँचे हुए महामहिम श्री मधुसूदन सरस्वती के 'भगवद्भक्ति-रसायन' का अतिसंक्षिप्त परिचय प्रथम खण्ड में दिया गया तब विस्तृत विवरण प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में देने का संकल्प व्यक्त किया गया था। वास्तव में भक्तिरसामृतसिन्धु की विशिष्टता हृदयङ्गम होने में भगवद्भक्तिरसायन में हुए दार्शनिक विवेचन का परिचय अवश्य उपयोगी है, किन्तु अब भी इस लेख के आयतन की मर्यादा ध्यान में रखते हुए सार-चखना ही हो पाएगा।

''श्रीमद्भगवद्भक्तिरसायन'' का सार

ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण में ही मुकुन्दभक्तियोग को परम-पुरुषार्थ कहते हुए 'नवरसमिलितं वा केवलं वा' कह कर उस समय तक के रस-विवेचन का संग्रह क्रिया और 'निरुपमसुखसंविद्रूपम् अस्पृष्टदुःखम्' भक्तिरस का स्वरूप बताया है। यह भक्ति दुःखाभाव से भिन्न स्वतन्त्र परमानन्दमयी है। प्रसिद्ध चार (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) में तो 'पुरुषार्थ' संज्ञा उपचरित है वस्तुतः उनके द्वारा उत्पन्न 'सुखसंवित्' ही पुरुषार्थ है; भक्ति में अनुभूत होने वाला सुख तो समाधि-सुख से भी उत्कृष्ट है अतः परम पुरुषार्थ भक्ति ही है क्योंकि कर्मयोग का अष्टाङ्गयोग में, उसका ज्ञानयोग में, फिर ज्ञानयोग का भी अन्ततः भक्ति में ही पर्यवसान होता है—इसे श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत के वचनों से पुष्ट किया है। उस भक्ति का उदय भगवत्कृपा-साध्य ही है। सभी साधनों के फलस्वरूप द्रवीभूत मनोवृत्ति भगवदाकारा होने पर उसमें विभावादि के संयोग से 'रस' रूप में अभिव्यक्त परमानन्द साक्षात्कार-स्वरूप 'रति'-स्थायिभाव प्रकट होता है। वही 'भक्ति' है, जिससे बढ़कर और कुछ भी आत्मा ('पुरुष') का ईप्सित नहीं।

यह भक्ति ब्रह्मविद्या का ही पर्याय-मात्र नहीं है क्योंकि ब्रह्मविद्या-रूपा निर्विकल्प मनोवृत्ति केवल अद्वितीय आत्मतत्त्व के अपरोक्ष बोध का निकटतम साधन-मात्र बनती है, उसमें स्वयं में द्रवीभाव नहीं होता। जबकि भक्ति का प्रथम चरण है चित्त का द्रवीभूत होना; पिघला हुआ सुवर्ण जैसे अभीष्ट आकृति में ढलता है वैसे द्रवित शुद्धसत्त्वात्मक चित्त की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति भक्ति है; यहाँ 'विकल्प' विकार या अस्थिरता नहीं अपितु लचीलापन है, जिसमें 'लीला' की सभी सम्भावनाओं का सहज अवकाश है। भक्ति का फल है भगवद्विषयक प्रेम का प्रकर्ष और प्राणी-मात्र भक्ति का अधिकारी है—इस प्रकार आत्मा या ब्रह्म की सर्वव्यापिता (ईशावास्यमिदं सर्वम्) का जितना स्वीकार भक्ति-सिद्धान्त में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं; क्योंकि जीवात्मा के देह-जाति-कर्म-परम्परा से रुँधे हैं अन्य सभी सिद्धान्त; केवल भक्ति की महिमा है जहाँ "श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते" (कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी 'भगवत्कृपा से' श्रद्धा से पिघले चित्त से हरिनाम लेने पर तत्काल सोमयाग के योग्य हो जाता है) ब्रह्मविद्या-पर्यन्त तो केवल साधनचतुष्टयसम्पन्न परमहंस परिव्राजक ही पहुँच सकते हैं।[१] फिर भक्तिसुखधारा का स्वाद सर्वदेश-काल-शरीर आदि में ब्रह्मविद्या के फल के समान पाया जा सकता है, यह सुख न कभी क्षीण होता है, न परतन्त्र है। भक्तिसुख से कभी वैराग्य न होना तो इसका उत्कर्ष ही सिद्ध करता है, दोष नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या द्वारा 'आत्माराम' 'निर्ग्रन्थ' हो चुके हुए भी श्रीहरि के प्रति अहैतुक भक्त होते हैं[२]। (भा० १/७/१०)

भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणादि से द्रवीभूत हुए चित्त की भगवान् के प्रति धारावाही (तेल की धारा के समान अविच्छिन्न) वृत्ति ही भक्ति है।[३] चित्त-द्रव्य (वस्तु) लाख के समान स्वभाव से कठिन है, तापक (उष्णता, विषयादि) के संयोग से पिघलता है तब किसी भी आकार में ढल जाता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्त-लाक्षा को तपा कर पिघला देते हैं, उस दशा में जो भी आकृति वह ले वे वही स्थिर हो जाती है और जो रंग उसमें घुल जाय वही रंग स्थायी होता है, अतः द्रवीभूत चित्त में भगवद्रूप तथा उन्हीं के प्रति राग-स्नेह-आसक्ति का संस्कार पड़ जाये तो फिर नहीं छूटता। यह द्रवीभूत चित्त ही जब-"सर्वभूतेषु आत्मनः भगवद्भावं पश्येत्" सर्वत्र अपना भगवद्भाव देख ले तो वह उत्तम भागवत (भगवान् का) हो जाता है। वही सर्वदा ब्राह्मी स्थिति में रह सकता है।

---

[१] स्वयं श्री मधुसूदन सरस्वती ऐसे अधिकार-सम्पन्न थे, उस अपरोक्षानुभूति का स्वाद चख चुके थे, तब श्रीकृष्णसाक्षात्कार पाकर उसका प्रकर्ष-प्रतिपादन स्वानुभूति से समृद्ध होकर किया, जो उनके अनेक वचनों में स्फुट होता रहा ("वंशी...कृष्णात् परं तत्त्वमहं न जाने") और प्रकीर्ण उक्तियों में भी उस प्रकर्ष का स्वीकार व्यक्त हुआ—"अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः वयं हठेन दासीकृता"... "भगवता नीलाचलनायकेन अनुगृहीता।" "कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति।"

[२] आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
—(भा० १/७/१०)

[३] यहाँ श्रीरूप प्रतिपादित भक्ति से अन्तर है कि किसी भी प्रकार से अविच्छिन्न वृत्ति भगवान् के प्रति प्रवाहित होने में कंस-शिशुपाल जैसों की भय-क्रोधादि आवेगों से उत्पन्न चित्तद्रुति भी श्रीमधुसूदनमत में भक्ति कहलायेगी, जबकि श्रीरूप के अनुसार 'आनुकूल्य' सर्वथा अपेक्षित है।

चित्तद्रुति की कोटि पर भक्ति की कोटि निर्भर है। चित्त की द्रवावस्था ही प्रणय, अनुराग, स्नेह आदि शब्दों का अर्थ है। प्रणय रस्सी की भाँति भगवान् को बाँध लेता है, द्रवित चित्त में प्रविष्ट भगवदाकार फिर वहाँ से छूटता नहीं, मानो बँध जाता है। इस द्रवावस्था में प्रविष्ट भगवत्स्वरूप की प्रतीति तीन प्रकार की होती है—

१. सचराचर विश्व को भगवान् का विग्रह-रूप ही देखना।
२. प्रपञ्च मिथ्या है केवल भगवान् सत्य हैं—ऐसा समझना।
३. केवल भगवान् का ही दर्शन होना, प्रपञ्च का भान नहीं।

द्रवीभूत चित्त में स्थित हुआ भाव ही स्थायिभाव है, फिर वही परम आनन्द रूप से व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है। परमानन्द-स्वरूप भगवान् ही पूर्ण द्रवित चित्त में स्थायी-भाव रूप में पूर्ण रस बनते हैं। वास्तविक 'रस' यही है। लौकिक विषयों में रस की प्रतीति इसी सुखस्वरूप चिद्घन के आभास से ही होती है, माया का आवरण रहने से वहाँ भगवदाकार वृत्ति नहीं बन पाती, रसत्व न्यून रह जाता है।

वेदान्त के अनुसार 'रस'-ग्रहण की उक्त व्याख्या करने के बाद सांख्यदर्शन की दृष्टि से निरूपित किया है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कारण प्रत्येक वस्तु की सुख-दुःख मोहात्मक प्रतीति होती है, उसमें से सुखात्मक रूप से वस्तु द्रवीभूत चित्त में प्रविष्ट हो तब वह (चित्त) स्थायीभाव पाकर रस में परिणत होता है। यहाँ भी शुद्धसत्त्व में ही रसानुभूति पर्यवसित होती है।

जिन (तार्किक, मीमांसक, बौद्ध आदि) मतों में मन परमाणुरूप है उनके यहाँ रस-प्रतीति की व्याख्या नहीं बन पड़ती इसीलिये विश्लेषण द्वारा उनकी अप्रामाणिकता बताई है। वेदान्त तथा सांख्य में विषय-संयोग से मन का तदाकार होना निरूपित है, उससे चित्त की द्रवता एवं भगवदाकारता को समझना सरल है। द्रवित चित्त में अङ्कित हुआ भगवान् का रूप (उसी में अन्वित गुण-लीला आदि) स्थायी होता है, उसका बाह्य आधार सामने रहे या न रहे, मनोबुद्धि में समाया हुआ रूप सर्वदा रहता है, इसीलिये वह 'स्थायी' कहा गया।

चित्त का स्वभाव है विषयाकार होना; भक्ति-भावित चित्त में विषय की विषयता लुप्त होकर शुद्ध भगवदाकार ही रह जाता है जैसे अग्नि से तपने पर सोना-शुद्ध स्वरूप में रह जाता है, उसमें मिली खोट जल जाती है। इसीलिए भगवान् में आविष्ट मन भगवान् में ही लीन हो जाता है। समस्त वेदान्त-सिद्धान्त इस तथ्य का पोषक है। सभी प्रकार की साधना बाह्य विषयों के प्रति वैराग्य लाकर मोक्ष-द्वार पर्यन्त पहुँचाती हैं, किन्तु उतने से ही पूरी कृतकृत्यता नहीं होती, भक्ति का प्रकर्ष परमवैराग्य लाता है जिससे मोक्ष से भी वैराग्य हो जाता है; भक्ति-भावित अन्तःकरण वाले परमभागवत प्रेम की पराकाष्ठा-अवस्था में, स्वयं भगवान् द्वारा दिये जाते हुए सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य तो क्या सायुज्य (एकता) भी नहीं चाहते; इसीलिये पृथु का वचन है—"आपके भक्तों के हृदय-मुख से निकले आपके चरणकमलों का मकरन्द जहाँ नहीं है ऐसा कैवल्य मुझे नहीं चाहिये; बल्कि ऐसा कीजिये कि आप की कथा सुनने के लिये मेरे अयुत

(दस हजार) कान हो जायें।''[१] ध्रुव[२], इन्द्र[३], वृत्र[४] आदि अनेकों के वचनों में भक्ति के आनन्द को ब्रह्मानन्द से उत्कृष्ट कहा गया है।

श्रीमद्भागवत के ही नारद-वचन को अपना कर भक्ति की साधना से साध्य पर्यन्त ग्यारह भूमिकायें कही हैं[५] फिर उदाहरण सहित—व्याख्या की है।

प्रथम उल्लास में यहाँ तक सिद्धान्त-विवेचन करने के बाद द्वितीय उल्लास में संक्षिप्त भक्तिलक्षण कहा—''द्रुतचित्त में प्रविष्ट होकर स्थिर हुई गोविन्दाकारता ही भक्ति है।''[६]

चित्त के द्रवित होने के कारणों की भिन्नता ही भक्तिरस के भेद बनाती है। इनमें पहला है काम (द्विविध शृङ्गार) इस से रति, क्रोध या ईर्ष्या से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता के दो भेदों (निमित्त को नष्ट करने या उसकी प्रियता साधने का भाव) में से पहला द्वेष होता है दूसरा रति। फिर हैं—भय, पुत्रादि के प्रति वात्सल्य, सेव्यसेवक भाव, वात्सल्य तथा उससे मिश्रित दास्य एवं सख्य, चतुर्विध हर्ष (हास), विस्मय, चतुर्विध उत्साह (वीर), शोक, जुगुप्सा, शम—इस प्रकार बारह कारणों से बारह प्रकार की चित्तद्रुति ही भाव बनती है। वे ही स्थायिभाव हैं जो विभावादि द्वारा 'रस' बनते हैं। इनमें से धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स और शान्त का विषय भगवान् न होने से ये भक्तिरस नहीं बनते। इसी प्रकार ईर्ष्या और भय से उत्पन्न द्वेष भगवद्विषयक होने पर भी चित्त की साक्षात् द्रुति के विरोधी होने से भक्तिरस नहीं। शुद्ध रौद्र तथा रौद्र-भयानक भी प्रीतिविरोधी होने से भक्तिरस नहीं बनते। शुद्ध तथा मिश्रित रूप से शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, वीर (युद्ध०, दान०), वत्सल, प्रेयान्, इतने ही भक्तिरस बनते हैं; इनमें सबसे अधिक बलवान् है शृङ्गार, उसी में रति की तीव्रता-तीव्रतरता स्फुट होती है। भक्तिरस—केवल सङ्कीर्ण, सङ्कीर्णमिश्रित, केवलमिश्र और शुद्ध—ऐसे चार प्रकार के हैं। पुनः भक्ति के अन्य चार प्रकार हैं—शुद्धसात्त्विकी, राजसी, तामसी और मिश्रित। फल की दृष्टि से भक्ति त्रिविध है—दृष्टफला, अदृष्टफला, उभयफला। इन सबका दृष्टान्तों द्वारा सूक्ष्म विवेचन है।

रति का स्वरूप है—रजस्-तमस् से रहित, शुद्ध सत्त्वमयी, सुख की अभिव्यञ्जिका, भगवान् को ही विषय करने वाली मति।[७]

विरह में जिस अनुपात में दुःख होता है, उतना ही वह रति की गहराई का परिचायक होता है।

रति की मृदु-मध्य-तीव्र-इन तीव्रता की कोटियों के क्रमशः दृष्टान्त हैं—वैकुण्ठ, द्वारिका, श्रीमद् वृन्दावन में स्थित भक्त—नित्य-परिकर।[८]

भक्ति की उत्पत्ति-विकास भेद का क्रम-निरूपण करते हुए कहा है—''यह निसर्ग, संसर्ग, औपम्य (सादृश्य), अध्यात्म (स्वरूपतः) अभियोग, (भावाभिव्यक्ति) सम्प्रयोग, अभिमान

---

[१] भा. ४/२०/२४, [२] भा. ४/९/१०, [३] भा. ७/८/४२; ६/१२/२२, [४] भा. ६/११/२५; २६,
[५] भ. भ. रसायन १/३३-३६, [६] भ. भ. भ. रसायन २/१, [७] वही २/५८;
स्नेहस्यैव विकारः प्रिययोरत्यन्तभावनादनिशम्।
विरहासहिष्णुतात्मा प्रीतिविशेषो रतिर्नाम॥ ५९॥
[८] भ. भ. रसायन-२/६०-६१

(भगवान् में अभिनिवेश) और समारोप (भगवान् के शब्द-स्पर्शादि) से उत्पन्न होती है। यह किसी एक विषय अथवा सबके समुच्चय को लेते हुए ६ प्रकार की होती है। पुनः शुद्धा और व्यामिश्र (उपाधि-मिश्रिता)—ऐसे दो प्रकार की रहती है।

निरतिशय आनन्दस्वरूप भगवान् की महिमा से अङ्कुरित होने वाली भक्ति भगवद्गुणों की अनन्तता के कारण वस्तुतः एकरूपा ही रहती है। विभावादि के योग में शुद्ध भक्तिरस होता है। सोपाधिक रति काम (शृङ्गार), सम्बन्ध (वत्सल, प्रेयान्) और भय (प्रीतिभय)—निमित्तों से तीन प्रकार की होती है। ये सभी यदि एक साथ व्यक्त हों तो पानकरस (विविध स्वाद-मिश्रण से बना मधुर पेय) की भाँति वह परम रस होता है।[१] व्रजदेवियों (गोपियों) में यह परम रस स्पष्ट दिखता है। उनके चित्त को आलम्बन बनाने से अपना चित्त भी वैसा हो जायेगा।[२] अन्य रसों के विभावादि न रहने पर स्वरूपमात्र में स्थित रस शुद्धता में अधिक होने पर भी विलक्षण दसवीं स्थिति का होता है जैसे सनकादि में।[३] श्रीकृष्ण परमानन्दस्वरूप परमात्मा हैं, देव-मात्र नहीं, देवों में जीवता वर्तमान है, अतः ''देवादिविषयक रति रस नहीं ऊर्जित (व्यञ्जना से प्रकाशित) भाव मात्र हैं''—ऐसा रसकोविदों (भरतादि) का मत लोक-परक है, परमात्मविषयक नहीं। वास्तव में तो कान्ता आदि विषयालम्बित रति में पूर्ण सुख का लेश-स्पर्श भी नहीं होता इसलिये वहाँ रसता पुष्ट नहीं होती, परिपूर्ण-रसमयी भगवद्विषया रति लौकिक क्षुद्र-रसों से उसी प्रकार अधिक बलवान् है जैसे खद्योतों (जुगुनुओं) की तुलना में सूर्यप्रभा।[४]

इस उल्लास के अन्त में ग्रन्थकार ने कुछ कड़े शब्दों में उन रस-शास्त्रियों को प्रत्युत्तर दिया है जो 'भक्ति' को 'रस' नहीं मान पाते, कि—क्रोध-शोक-भय जैसी मनोदशायें जो साक्षात् सुख की विरोधी हैं उनमें जो थोड़े से अनुभव से 'रस' देख पाये वे लोग कैसे जड़ की भाँति उस वास्तविक रस को नहीं देख पाते जो अनुभव (तथा प्रमाण) से सहस्रगुना रस-स्वरूप सिद्ध है।[५] वास्तव में वही 'रस' है जो वेदान्त तथा न्याय के मूर्धन्य मनीषियों को भी विवश करता रहा है अपने आकर्षण से। तभी तो न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली का भी मङ्गलाचरण हुआः—

''नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहबीजाय॥''

तृतीय (अन्तिम) उल्लास में 'रस' का विशिष्ट विवेचन किया है कि रस क्या है? कहाँ स्थित है? उसकी प्रतीति कैसी और किसके द्वारा होती है? परम्पराप्राप्त क्रम में ही 'सुख' जोड़ते हुए लक्षण कहा गया कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी आदि भावों के द्वारा सुख रूप में व्यक्त होता हुआ स्थायी भाव ही रस है। सुख आत्मस्वरूप है अतः उसका कोई आधार अपेक्षित नहीं, (इसीलिये पृथक् विषय भी नहीं)[६] उस सुख को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति का आधार

---

[१] भ.भ.र. ६२-६९, [२] वही-७१, [३] वही-७३

[४] वही ७६-७७, [५] वही ७८-७९

[६] ''मधुर-मधुरिमा द्वय वा अद्वय? कौन कौन को विषय कि आश्रय?''—ऊर्मिला (प्रकीर्ण अभिव्यक्ति)

सामाजिकों (प्रेक्षकों, श्रोताओं) का मन है।[१] काव्य के अर्थ में रहने वाले रति आदि स्थायी भाव लौकिक हैं, पर रस का अनुभव करने वाले प्रेक्षक आदि में ये स्थायी भाव अलौकिक हैं क्योंकि जिसका बोध कराया जा रहा हो—वह अर्थ सुखद हो चाहे दुःखद हो किन्तु सहृदय 'सामाजिक' में वे वस्तुतः सुखजनक ही होते हैं क्योंकि देश-काल-पात्र से परे जा कर साधारणीकरण दशा में आत्मस्वरूप के ग्रहण बिना रसानुभूति बनती ही नहीं। विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव के सहित स्थायीभाव का ग्रहण करने वाली सत्त्वगुणमयी जो मति (मनोवृत्ति) बनती है वह अगले ही क्षण में एक उत्तम (सबसे ऊपर=परे) सुख को व्यक्त करती है वह सुख ही रस है, कोई उस वृत्ति को ही रस मान लेते हैं जिसमें सुखात्मक रस अभिव्यक्त होता है। स्थायीभाव को ही रस मानना औपचारिक (गौण अर्थग्रहण) है। क्षणार्ध का व्यवधान और क्रम दिखाई नहीं पड़ता इसीलिये 'रस' का वास्तविक स्वरूप पहचाना नहीं जाता। यह असंलक्ष्यक्रम से व्यञ्जित ध्वनि है क्योंकि सामान्य रूप से वस्तु और अलङ्कार का व्यवधान ध्वनि में स्पष्ट होने से क्रम दिखाई पड़ता है, वृत्ति में सुख की झलक में उतना भी क्रम पकड़ में नहीं आता।

भगवद्भक्तिरसायन में हुए इस सम्पूर्ण विवेचन में भक्तिरस का जो चित्रण दर्शन एवं काव्यशास्त्र की समन्वित पृष्ठभूमि में किया गया वह लेखन-समय की दृष्टि से समकालीन होने पर भी एक प्रकार से भक्तिरसामृतसिन्धु की भूमिका बाँधने के तुल्य है, जिसका और परिष्कृत प्रस्तार श्रीरूप गोस्वामी के ग्रन्थों में सामने आया है। श्रीमधुसूदन सरस्वती के भी मनोभूमि के संघटक संस्कार गौड (बङ्गाल) के प्रायः समान ही क्षेत्र के थे ही, जो काशी में अद्वैत-शिखर पर्यन्त पहुँचकर फिर उसी सीढ़ी से भक्ति-मन्दिर में आये थे, अतः चिन्तन की प्रकृति में सजातीयता स्वाभाविक थी।

(२) भक्ति के सङ्घटक उपादान

(क) स्थायी भाव

श्रीरूप के अनुसार सर्वरस-सामान्य स्थायिभाव रति (श्रीकृष्णरति) शुद्धसत्त्वविशेषात्मक है, जो स्वरूपशक्ति का धर्म है। अर्थात् यह (भक्तिरस की स्थायी भाव रूपा रति) जीव में स्वतः निहित नहीं, भगवान् की कृपा का ही वरदान है। जीव स्वयं तटस्थ शक्ति है अतः भाव उसकी प्रकृति में नहीं, भगवदनुग्रह का ही फल है।

(ख) आलम्बन-विभाव

रस-सिद्धान्त में रस के आश्रय-विषय के रूप में आलम्बन-विभाव के विभाग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। परम्परागत काव्यशास्त्र में इस विभाग का स्पष्ट विवेचन नहीं है। आलम्बन-विभाव से प्रायः रस का विषय ही समझा जाता था, आश्रय-पक्ष की पृथक् पहचान उतनी नहीं थी।

---

[१] भ. भ. रसायन ३/१-३, तथा द्र० तै० उ० २/६/१ "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति", "एष ह्येवानन्दयति"

वास्तव में 'रसास्वाद' में आश्रयालम्बन भी रस के विभाव (कारण) का वैसा ही अङ्ग है जैसा विषयालम्बन, क्योंकि आश्रय ही तो आस्वाद की विशिष्टता का निवेदक होता है। काव्यशास्त्रियों में सबसे पहले भोज ने इस पक्ष एवं विभाग पर विचार उठाया है।[१] फिर रसार्णवसुधाकर[२] तथा चमत्कारचन्द्रिका में भी इसे स्वीकार किया गया है। श्रीरूप के प्रतिपादन में इस विभाग का मौलिक महत्त्व है, क्योंकि साधक को 'सिद्ध' भक्त (आश्रय) के भाव से तदात्मता साधनी होती है।

इस विषय-आश्रय-विभाग का दोहरा महत्त्वपूर्ण पहलू है कि भक्तों के प्रेम की दृष्टि से भगवान् विषय होते हैं और भक्त स्वयं आश्रय होता है; भगवान् की ओर से भक्तों के प्रति प्रेम में भगवान् आश्रय होते हैं और भक्त विषय। किन्तु इस पक्ष का विवेचन श्रीरूप ने भी नहीं किया है क्योंकि श्रीचैतन्यमत की साधना-पद्धति में भक्त किन्हीं नित्यसिद्ध भक्त-पार्षद के अनुगत होने में ही दासानुदास-रूप में ही तदात्मभाव रखता है, भगवान् के भक्त के प्रति 'भाव' से तादात्म्य का प्रसङ्ग यहाँ उठता नहीं। इसीलिये श्रीरूप के प्रतिपादनों में सर्वत्र भक्त आश्रयालम्बन हैं और भगवान् विषयालम्बन। इस विषयालम्बनता का उत्कर्ष श्रीवृन्दावन-लीला में है, जहाँ सभी भक्त ऐश्वर्यज्ञान से सर्वथा अनुपहित हैं, शुद्ध प्रेममात्र से भरे हैं।

(ग) **व्यभिचारी भाव** तथा (घ) **अनुभाव**—इसमें श्रीरूप-कृत प्रतिपादन अन्य सब काव्यशास्त्रियों के समान ही है।

(ङ) **सात्त्विक भाव**—सात्त्विक भावों में उनकी उत्कटता के अनुपात से 'दीप्त' 'उद्दीप्त' आदि प्रभेद करना—श्रीरूप का मौलिक विश्लेषण है।

(च) **भक्तिरस के आस्वाद के लिये योग्यता-अयोग्यता**—परम्परागत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार रस-बोध के अनुकूल 'वासना' या संस्कार से युक्त व्यक्तियों को रसास्वाद के योग्य माना है, उसी प्रकार श्रीरूप का सिद्धान्त है कि पूर्वजन्म में या इस जन्म में जिनमें 'भक्ति की वासना' उदित हुई है वे भक्तिरसास्वाद के अधिकारी हैं। जिनका चित्त संस्कार-ग्रहण के अनुकूल मृदु है, उन्हीं में यह वासना जागती है और वे ही भक्तिरस का आस्वाद पा सकते हैं। मीमांसक में यह योग्यता नहीं मानी गयी, क्योंकि वे ईश्वर या भगवान् को नहीं मानते। कोरे ज्ञानमार्ग से भी जिनके हृदय कड़े पड़ चुके हैं, भावना सूख चुकी है, वे भी भक्तिरस-आस्वादन में अनधिकारी माने गये।

(३) द्वादश भक्तिरस

श्रीरूप० ने पूरी महिमा के साथ भक्तिरस के बारह वेषों का सर्वाङ्ग निरूपण किया; उन्हें दो श्रेणियों-मुख्य (पाँच) तथा गौण (सात) में सजाया; प्रत्येक के स्वरूप, आश्रय, विषय का

---

[१] द्र० शृङ्गारप्रकाश २२/..., [२] र. सु. १/६०

सविधि विवेचन किया; फिर सभी रसों के परस्पर संवादी-विवादी स्वभाव को भी आँका। रसशास्त्र को श्रीरूप द्वारा दी गयी इस मौलिक देन का उनके पूर्ववर्ती रस-कोविदों के मतों के सन्दर्भ-सहित संक्षिप्त अवलोकन प्रसङ्गत: प्राप्त है। ग्रन्थ के क्रम के अनुसार ही यह देखना सुगम होगा।

मुख्य भक्तिरस

१. शान्तभक्तिरस

चित्त की निर्विकल्प दशा में विद्यमान 'शम'-रूपा रति ('शान्ति'-रति) ही शान्तभक्तिरस है। यहाँ लौकिक चेतना के संकल्प-विकल्प समाप्त हो चुके हैं और भगवत्सेवा का चित्संकल्प अभी उदित नहीं हुआ है। भगवान् के प्रति ममत्व भी बना नहीं है। श्रीकृष्ण यहाँ नारायण, परब्रह्म, सबके आश्रय रूप में ही पहचाने जा रहे हैं अत: शान्तभक्त के चित्त में उनसे कोई अपनेपन का सम्बन्ध आकृति नहीं ले पाया है। 'शान्ति' शुद्धा-रति का ही एक प्रकार है, इसीलिये इस का प्रीति-आदि से कोई सम्पर्क नहीं है। फिर भी इसके रति-पक्ष के नाते कहीं न कहीं प्रेम का संस्पर्श अवश्य है ऐसा श्रीरूप ने देखा है। ममत्व-सम्बन्ध की कोई आकृति न बन पाने पर भी अविशेषित प्रेम अवश्य सम्भव है। ऐसे प्रेम में दो लक्षण रहेंगे ही—(१) वह अपने आस्पद (विषय) के आभ्यन्तर प्रकर्ष पर आधारित होगा, किसी निजी आकर्षण या व्यक्ति-आसक्ति पर नहीं; (२) आस्पद के दर्शन या अनुभव से ही शान्ति रति का आश्रय स्वयं धन्य-धन्यता में मग्न होगा, आस्पद के लिये सुखकर कुछ करने की अभिलाषा नहीं उठेगी। इसी प्रकार की प्रीति शान्तिरति है।

इसीलिये शान्तभक्तिरस में केवल ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार है, चित्त द्रवित नहीं होता, भगवान् की हृदयाकर्षिणी लीला का भी साक्षात्कार नहीं होता,जैसा कि प्रीत-प्रेयान् आदि अन्य भक्तिरसों में हुआ करता है। अत: शान्तभक्तिरस ब्रह्मानन्द एवं लीलानन्द का मध्यस्थ है। यह केवल ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि यहाँ निर्गुण-निराकार परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं बल्कि नित्य रूप-गुण-शाली सच्चिदानन्द विग्रह का दर्शन है, साक्षात्कार का विषय परम आत्मा है और आश्रय जीवात्मा। कैवल्य या ब्रह्मानन्द की तरह यहाँ दोनों एक नहीं हो गये हैं; किन्तु इस रस-दशा में चित्त इस स्थिति में भी नहीं रहा है कि भगवान् की लीला में सहभागी हो सके, क्योंकि किसी सम्बन्ध का और तदनुरूप प्रेमाभिव्यञ्जक सेवा का अवकाश चेतना में नहीं है। भक्त यहाँ भगवान् के दिव्य रूप-गुण-कर्म का स्तब्ध दर्शक-मात्र है। फिर भी इस रस में अनुभूत होने वाला आनन्द योगी और ज्ञानी के समाधि-सुख से बढ़कर है, क्योंकि इस रसानन्द में गहराई एवं सघनता अधिक है। फिर भी प्रभु के सेवक, सखा, पिता-माता आदि के आनन्द से यह न्यून है। यहाँ परमात्मा के चतुर्भुज नारायण-रूप का साक्षात्कार होता है, जबकि दास आदि को द्विभुज श्रीकृष्ण अपने निकट दिखते हैं, उनसे नित्य सम्बन्ध बन पाता है, प्रेम की परस्पर अभिव्यक्ति हो पाती है। शान्तिरति में भक्त यह अनुभव नहीं करता कि भगवान् को मेरे द्वारा

सेवा की आवश्यकता है, इसीलिये उनके रूप-गुण के प्रति 'अहोभाव' मयी प्रीति से हृदय भरा होने पर भी अभिव्यक्ति का कोई पथ खुलता नहीं, अतः उदासीनता न होते हुए भी निष्क्रियता रहती है। उधर भगवान् भी यहाँ 'सच्चिदानन्द-सान्द्र' स्वरूप स्थित 'आत्मारामशिरोमणि' विभु हैं जो आनन्दास्वाद के लिये भक्त-सापेक्ष नहीं, भक्तों के प्रति उनकी प्रीति की अभिव्यक्ति को भी अवकाश नहीं।

शान्तभक्तिरस के आश्रयालम्बन हैं तापस और आत्माराम सिद्ध। आत्माराम ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं, कभी स्वयं भगवान् या किन्हीं भागवत (भक्त) की कृपा हो तब ब्रह्म का नारायण-स्वरूप दर्शन कर पाते हैं और अद्भुत आनन्दमयी कृतार्थता से अभिभूत होते हैं। तापस वे हैं जो मोक्षार्थी हैं, उसके साधन रूप से भक्ति अपनाते हैं, उनमें भी आत्माराम-कृपा से शान्त-भाव की एक कला उदित होती है।

इस विवरण से इतना स्पष्ट होता है कि शान्तभक्तिरस का आस्वाद वे ही पाते हैं जिन्हें पहले योग अथवा ज्ञान मार्ग में सिद्धि प्राप्त हुई है अथवा वैसी साधना (मोक्षप्राप्ति के लिये) कर चुके हैं। इसलिये वास्तविक शुद्ध-भक्ति उनमें नहीं है। इसीलिये श्रीजीव० ने परमात्मसन्दर्भ में इसे 'ज्ञानभक्तिरस' संज्ञा दी है।

इस रस में हृदय की ऊष्मा और उत्साह की समृद्धि नहीं, अतः सात्त्विक भावों के उत्कर्ष तथा 'विरह'-रूपी प्रेमशिखर का कोई अवकाश नहीं।

२. प्रीतभक्तिरस

सामान्य रूप से इसे 'दास्य' का प्रतिरूप माना जाता है, किन्तु श्रीरूप ने इसी में बालक की पिता-माता के प्रति प्रीति को भी ले लिया है (जहाँ भक्त बालक है भगवान् पिता-माता), शिष्य की श्रीगुरु के प्रति भक्ति भी इसी के अन्तर्गत है।

भगवान् के प्रति अनन्य ममता प्रीतभक्तिरस का स्वरूप है। सेवकों की स्वामी के प्रति प्रीति 'सम्भ्रम' (सम्मानभाव)-मयी होती है और छोटों (पुत्रादि) की बड़ों (पिता आदि) के प्रति प्रीति गौरवमयी। यह सम्मान, गौरव की भावना ही इन भक्तों की प्रीतभक्तिरस-कोटि की निर्धारिका है। यहाँ दोनों प्रकारों में भगवान् सम्माननीय (होने के नाते बड़े स्थान पर) हैं। इसीलिये पुत्र-आदि अभिमान वाले भक्त भी वत्सल-भक्ति के अन्तर्गत न कहे जा कर इस श्रेणी में गिने गये। 'सम्मान' में ऐश्वर्य का पुट रहता है, उसी से कुछ दूरी भी बनी रहती है। फिर भी यह रति एक सीमा तक 'राग'-पर्यन्त उठती है। उसी मर्यादा में यहाँ वियोग का भी अनुभव होता है। इसी दृष्टि से यह शान्तभक्ति से उच्चतर है।

३. प्रेयान् भक्तिरस

सख्य-भाव के द्योतक इस रस में प्रीति के आस्पद (विषयालम्बन) भगवान् को भक्त अपने बराबर का साथी समझता है। श्रीकृष्ण के सखा ही इस रस के आश्रय हैं। इनकी अनेक श्रेणियाँ

श्रीरूप० द्वारा कही गयी हैं। यह सख्यरति 'अनुराग' में परिणत होती है। भगवान् से घनिष्ठता की दृष्टि से यह प्रीतभक्ति से उच्चतर है।

४. वत्सलभक्तिरस

इसमें भक्त स्वयं को बड़ा रक्षक, पोषक, सम्हालने वाला और भगवान् को छोटा, लालनीय, रक्षणीय, सम्हालने योग्य मानता है, अपने प्रीति के आस्पद लाडले बेटे कृष्ण की रक्षा और देख-भाल के लिये व्यग्र रहता है। आलवार भक्तों में श्रीविष्णुचित्त की एक उक्ति है—"ओ मेरे लाडले! तेरी सुन्दरता को कहीं नज़र न लगे! कहीं कोई तेरी शक्ति चुरा न ले, कोई तेरा यश न चुराये! आ मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ, जैसे पिता-माता अपने बच्चे को असीसते हैं। वही दुलार मुझे तेरे प्रति खींच रहा है।" यह वत्सल रति का स्पष्ट उदाहरण है। भगवान् के प्रति अति-प्रगाढ़ स्नेह उनके बड़ेपन और ऐश्वर्य का भान भुला कर उनके प्रति कोमल रक्षा-भावना जगा देता है, तब भगवान् और भक्त के बीच रक्षक और रक्षणीय का सम्बन्ध उलट जाता है।

५. मधुरभक्तिरस

मुख्य भक्तिरसों में श्रेष्ठ इस कान्त-कान्ता-भावाधारित रस के सम्पूर्ण विवेचन के लिये श्रीरूप० ने पृथक् ग्रन्थ ही रचा है—श्रीउज्ज्वलनीलमणि।[१] इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ (भ. र. सिन्धु) में इसका अतीव संक्षिप्त प्रतिपादन है। उसका कारण कहा है कि—जो व्यक्ति सांसारिक राग आदि से निवृत्त नहीं हो चुके हैं वे इस रस के चिन्तन के अधिकारी नहीं, क्योंकि वे इसे लौकिक शृङ्गार-तुल्य मान बैठेंगे और जो ज्ञान द्वारा निवृत्त हो चुके हैं उनके लिये यह अनुपयोगी है। यह रस सामान्य जन के लिये दुरूह है, रहस्यमय है, हर-किसी के सामने उद्घाटित नहीं किया जा सकता, अत: सामान्य मति वालों से गोपनीय है। अप्रतिम सौन्दर्य-लीला-रसास्वाद-चातुरी के आश्रय श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिया ही आश्रय तथा विषय दोनों प्रकार से मधुररति के आलम्बन हैं।

गौण भक्तिरस

पहले कहा गया है कि श्रीरूप ने परम्परागत उन सात रसों को गौण भक्तिरस श्रेणी में लिया है जिनका भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध स्थायी नहीं एवं जो प्रीति से सीधे जुड़े नहीं हैं; इसीलिए उन्हें 'गौण' कहा भी गया। इनका विवेचन भी ग्रन्थ में संक्षेप में ही हुआ है।

गौण रसों का कोई सुनिश्चित स्थिर आधार नहीं है; प्रमुख पाँचों रसों के आधारों में ये गौण रस एक अथवा अनेक एकसाथ भी, कभी-भी अभिव्यक्त होते रहते हैं।

---

[१] श्री उज्ज्वलनीलमणि का प्रकाशन प्रस्तुत ग्रन्थ के बाद मनोनीत है ही, उस की भूमिका में इस रस का सम्यक् विवेचन किया जायेगा।

१. हास्यभक्तिरस

विभावों द्वारा पुष्ट हुई हासरति हास्यभक्तिरस बनती है जब श्रीकृष्ण अथवा उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की चेष्टायें श्रीकृष्ण को प्रमुदित कर हँसाने वाली होती हैं। इनमें अधिकतर आश्रय बालक तथा बड़े लोग होते हैं, कभी स्वयं श्रीकृष्ण एवं कभी गम्भीर व्यक्ति (मुनिजन) भी हास्य के आश्रय होते हैं। यहाँ हास्य के छह प्रकार (उत्तरोत्तर अधिक) बताये गये हैं जिनके आश्रय त्रिविध कहे हैं। नाटकचन्द्रिका में कैशिकीवृत्ति के अन्तर्गत हास्यरस का विस्तृत विवेचन है। हास्यरस का मूल शृङ्गार में ही माना गया है।

२. अद्‌भुतभक्तिरस

केशव की लोकोत्तर लीलाओं से भक्तों में प्रकट हुई विस्मय-रति अद्‌भुतभक्तिरस में परिणत होती है यह रस सभी प्रकार के भक्तों के अनुभव में आ सकता है। अवश्य ही प्रीति के आस्पद हरि के ही विशेष शक्ति को प्रकट करने वाले कार्य विस्मय एवं अद्भुतभक्तिरस की सृष्टि करते हैं, किसी अप्रिय के ऐसे कार्यों से चित्त में विस्मय नहीं होता।

३. वीरभक्तिरस

उत्साह-रति की परिणति वीरभक्तिरस में है जो चार प्रकार का देखा गया—युद्धोत्साह, दान०, दया०, धर्म०। इन सभी के आश्रय पाँचों मुख्यरसों के आलम्बनों में से कोई भी हो सकते हैं। किसी भी उत्साह का मूल प्रेरक श्रीहरि को प्रमुदित करना हो तभी वह भक्तिरस श्रेणी में आता है।

४. करुणभक्तिरस

''अतिस्नेहः पापशङ्की'' की नीति से ही जब परमप्रीति के आस्पद श्रीकृष्ण के भक्तों को अपने पुत्र, सखा या स्वामी पर किसी विपत्ति की आशङ्का होती है तब शोक-रति करुणभक्तिरस में परिणत होती है। शान्तभक्त कभी इस रस का अनुभव नहीं करते क्योंकि उनमें श्रीहरि का ऐश्वर्यबोध प्रबल रहता है, अतः उन पर विपत्ति की शङ्का वहाँ निर्मूल है।

'शोक' के लिये मूल में 'रति' होना अनिवार्य है, 'हास्य' बिना रति के भी सम्भव है। रति की उत्कटता जितनी होगी उतनी ही गहराई शोक की होती है। इस शोक की पृष्ठभूमि में स्नेह के आधिक्य से ही ऐश्वर्य-बोध लुप्त हुआ रहता है, ऐश्वर्य का अज्ञान या अविद्या करुणभक्तिरस का कारण नहीं।

यह शोक की गहराई भी अपने प्रकर्ष में उसी प्रकार आनन्द की उद्‌भावक होती है, जिस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में विरह-दुःख की असह्यता अन्तस्तल में मिलन-सजातीय आनन्द लिये रहती है। वस्तुतः ''यह दुःख भी उन्हीं प्रियतम का दिया हुआ है, हम दुःख सहें—इसमें यदि उन्हें सुख है तो यह दुःख भी प्रिय है''—ऐसी गूढ़ भावना विरह में निहित रहती है, वह आनन्द-स्रोत में चेतना को लीन करती है।

५. रौद्रभक्तिरस

भक्तों के हृदय में ऐसी क्रोध-रति रौद्रभक्तिरस का रूप लेती है जो क्रोध मूलतः श्रीकृष्ण के हित या सुख से सम्बद्ध हो, अथवा श्रीकृष्ण के, अपने या प्रियजनों के अहित के प्रति हो।

इस 'हित' 'अहित' की चिन्ता से अभिभूत कोई भी भक्त इस रस का आश्रय हो सकता है। वास्तव में क्रोध का सीधा सम्बन्ध 'रति' से नहीं है, फिर भी परम्परागत रसों को स्थान देने के लिये श्रीरूप० ने युक्ति से उसमें भी भक्ति का बीज दिखा दिया है। यही स्थिति भयानक भक्तिरस की भी है।

६. भयानकभक्तिरस

श्रीकृष्ण के सुख में बाधक या उनसे वियोग कराने वाला कोई अपराध हुआ हो तो दास (सेवक) भक्तों में, तथा श्रीकृष्ण के अहित की आशङ्का उत्पन्न करने वाले प्राणी या परिस्थिति को देखकर प्रेमी भक्तों (सेवक सखा, पिता-माता, प्रेयसीगण) में भयरति का उद्रेक होता है जो भयानक-भक्तिरस में परिणत होता है।

७. बीभत्सभक्तिरस

शान्तभक्तिरस के आलम्बन भक्तों में जो ईश्वर से विमुख करने वाली परिस्थितियों एवं अशुचि, घृणित वस्तुओं के प्रति जुगुप्सा रति उत्पन्न होती है, वही विभावादि से पुष्ट हो कर बीभत्सभक्तिरस बनती है।

वस्तुतः श्रीकृष्णरति से जुगुप्सा का क़तई लेन-देन नहीं, फिर भी यह सम्पर्कसूत्र देखा गया है कि जिन भक्तों के हृदय श्रीकृष्णरति से पवित्र, शुद्ध हो चुके हैं उन्हें संसार की लेशमात्र भी अशुद्धि सहन नहीं होती, अतः शारीरिक-मानसिक अशुचिता की स्थिति से उन्हें घृणा होती है।

सिद्धान्ततः ये सातों गौण रस वास्तव में भक्तिरस कोटि के नहीं, केवल काव्यशास्त्र-परम्परा के निर्वाह के लिये इनमें भी भक्ति के सम्बन्ध-योग्य बीज खोज कर श्रीरूप० की विलक्षण प्रतिभा ने इन्हें भक्तिरस बना लिया, स्वरूपतः ये व्यभिचारी-भाव कोटि के ही हैं।

रसों में परस्पर मैत्री और वैर

रसशास्त्रीय विवेचन में श्रीरूप० द्वारा प्रवर्त्तित नवीन पथ एवं रस-संख्या में नवीनीकरण का एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है यह चिन्तन भी। इस पक्ष पर पर्याप्त विशद विचार है, जिसका सार प्रस्तुत खण्ड के परिशिष्ट-क में यथास्थान कहा गया है। परस्पर संवादी (मित्र) रसों के मिश्रण से रस का आस्वादन अधिक समीचीन होता है, और विरोधी से रसास्वाद में बाधा आती है इसी दृष्टि से यह समस्त विवेचन किया गया है।

इसके पश्चात् इसी लहरी में मुख्य और गौण रसों के परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव का भी मौलिक विवेचन है। उसका अभिप्राय यही है कि दो रसों का मिश्रण सर्वथा समतोल तो होता नहीं, किसी प्रधान रस में कोई दूसरा रस अल्पमात्रा में साथ होता है तो प्रधान के आस्वाद में उत्कर्ष आता है। यह प्रधान और गौण का सम्बन्ध मुख्य पाँच और गौण सात रसों में किन्हीं भी दो, तीन अथवा अधिक में हो सकता है। अर्थात् कोई मुख्य रस प्रधान (अङ्गी) हो तो उसके साथ उसके संवादी रसों में से कोई भी (मुख्य या गौण) रस उसके अङ्ग हो सकते हैं, इसी प्रकार कोई गौण रस भी प्रधान (अङ्गी) हो तो कोई मुख्य रस उसके अङ्ग हो सकते हैं। केवल श्रीकृष्ण सभी (परस्पर मित्र एवं वैरी भी) रसों के एकसाथ भी आश्रय हो सकते हैं, क्योंकि वे अचिन्त्य पराशक्ति के आधार हैं। इन सम्भावनाओं के विविध उदाहरण इस लहरी में दिये गये हैं।

ग्रन्थ की अन्तिम लहरी में 'रसाभास' की स्थिति पर विचार है। अयोग्य आश्रय-विषय में जब आपाततः किसी रस के समान वर्णन हो तो विपरीतता के कारण वह विकृत होता है उसे 'रसाभास' संज्ञा दी गयी है, अर्थात् वहाँ उस रस की मिथ्या प्रतीति भले हो वस्तुतः वह रस नहीं है। उसके भी तीन प्रकार एवं स्तर देखे गये हैं—उपरस, अनुरस एवं अपरस जो क्रमशः उत्तम, मध्यम, अधम हैं। रसाभासों के विवेचन का उद्देश्य संभवतः यही है कि साधक (और कवि) को चिन्तन सुषम एवं रसात्मक बनाये रखने के लिये किन सम्भावनाओं से विरत रहना चाहिये।

रस-सम्बन्धी विवेचन में रसों के विनियोग-विषयक (नाट्यशास्त्र में चर्चित) भारती आदि चारों वृत्तियों पर विचार प्रासङ्गिक होते हुए भी (ग्रन्थ-विस्तार-भय से) उनके लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ (नाटकचन्द्रिका) का उल्लेख-मात्र कर दिया गया है।

'कैसे कहुँ, गागर महँ सागर आव न जतन करोर किये'

अतः यही ग्रन्थ का भी उपसंहार है और इस लेख का भी।

कृतज्ञता-ज्ञापन

श्रीश्रीरूप गोस्वामी की प्रमुख-ग्रन्थ-त्रयी के प्रकाशन-यज्ञ में सम्पादन आदि सेवा का प्रिय-अवसर एवं प्रेरणा का सम्बल जिन्होंने दिया, 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र' जिनकी भारत-वैभव-पारखी दृष्टि की उपज है, स्वयं जो अपने जीवन के सभी कार्यकलापों द्वारा भारतीय-संस्कृति के संरक्षण-यज्ञ में आहुति बनी रह कर सहृदयों के लिये पथ-प्रदर्शिनी ज्योति-शलाका हैं—वे वस्तुतः भारतरत्न-स्वरूपा (डॉ.) श्रीमती कपिला वात्स्यायन सर्वप्रथम कृतज्ञता-आस्पद हैं।

इस संस्था के पाँच विभागों में से 'जनपदसम्पदा' में व्रज-प्रकल्प के अन्तर्गत संकल्पित प्रकाशनों में श्रीरूप-गोस्वामी-ग्रन्थत्रयी के प्रथम ग्रन्थ का यह द्वितीय खण्ड है। इसके तृतीय खण्ड में—भ. र. सिं. की तीनों अतीव महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीकाओं का मूल (हिन्दी में विमर्श तथा विशेष टिप्पणियों सहित) प्रकाशित होना संकल्पित है।

इस व्रज-प्रकल्प के समन्वयक आचार्यश्री श्रीवत्स-गोस्वामी (श्रीरूपादि षड्गोस्वामी-शृङ्खला के वर्तमान सूत्र) के सम्पूर्ण सहयोग का साभार उल्लेख करती हूँ।

जनपदसम्पदा की परामर्शिका श्रीमती कृष्णादत्त के सतत सहयोग के प्रति कृतज्ञ हूँ। कलाकोष के समन्वयक डॉ. सातकड़ि मुखोपाध्याय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन-क्रम में बहुविध रीतियों से अपने विद्या-वैदग्ध्य तथा अनुभवसमृद्धि का लाभ दिया है, उसके लिये हृदय-सहित नतमस्तक हूँ।

श्रीश्रीरूपगोस्वामी द्वारा रसशास्त्र एवं भक्ति के 'सम्प्रयोग' (सम्मिलन) का जो पथ उद्घाटित हुआ, इसके प्रतिपाद्य तथा घटक तत्त्वों के विषय में सैद्धान्तिक उन्मेष की कृपा जैसे प्रारम्भ में (१९५०-५८) श्रीचैतन्यसम्प्रदायाचार्य पूज्यपाद श्रीपुरीदास जी से पाई थी, उसी प्रकार अब इन ग्रन्थों का नवीन प्रकाशन-प्रसङ्ग उपस्थित होने पर चित्त में छाये हुए चिन्तन-कुहक में से सत्य-सूर्य को उद्भासित करने में—श्रीदक्षिणामूर्ति-पीठ के मूर्धन्य, (महामण्डलेश्वर) तत्त्वचिन्तन में विदग्ध स्वानुभवी पूज्यपाद स्वामी महेशानन्द गिरि जी से बहुधा परामर्श-विमर्श-प्रकाश का आशीर्वाद पाया। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन में वाणी पङ्गु है, अनन्त प्रणाम ही निवेदित हैं।

इ. गाँ. रा. कला केन्द्र के वाराणसी कार्यालय की शोध अधि० डॉ. ऊर्मिला (मेरी अनुजा) शर्मा ने इस ग्रन्थकार्य में आदि से अन्त तक सभी विधाओं-अवस्थाओं (अनुवाद, अन्वय, परिशिष्ट-निर्माण, प्रेसकॉपी-प्रस्तुति आदि) में पूरा सहयोग दिया है; इधर बढ़ती जा रही मेरी अस्वस्थता तथा आँखों की दुर्बलता यदि और आगे बढ़ी तो प्रूफ़-संशोधन आदि शेष कार्य भी ऊर्मिला ही पूरे करेगी—ऐसा विश्वास है, क्योंकि बचपन से मेरे द्वारा सम्पादनादि कार्यों में यह भलीभाँति प्रशिक्षित होती रही है। मेरे स्नेहभरे आशीर्वाद सदा उसके साथ रहेंगे।

अन्य सभी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोगियों के प्रति सस्नेह धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

मार्गशीर्ष-पूर्णिमा, गुरुवार, २०५५
(३ दिसम्बर, १९९८)

— प्रेमलता शर्मा*
'आम्नाय' धर्मजित् नगर,
करौंदी, वाराणसी-५

---

* पूज्या प्रेमलताजी के द्वारा इस द्वितीय खण्ड की भूमिका के विषय में समय-समय पर स्वयं लिखे अंशों, स्फुट रूप में कहे गये, प्रकीर्ण रूप से लिखवाये एवं समझाये गये तथा "यह कहने वाली हूँ..." कह कर चर्चित विचार-बिन्दुओं एवं अभिव्यक्तियों को, (तत्सम्बन्धी अध्ययन तथा इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के अनुभवी मनीषियों के परामर्श के अनुरूप) संयोजित-सङ्कलित करके इस लेख का प्रस्तुत रूप बना है।

एक ही लेख में बहुत-कुछ कहने की अभिलाषा के कारण (और लेख का कलेवर अत्यधिक न बढ़े इस दृष्टि से भी) संस्कृत-शैली का सहारा लेना पड़ा, इस से भाषा कुछ बोझिल हो गई एवं अनेक संस्कृत उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया जा सका- इस से जिन पाठकों को असुविधा होगी उन से क्षमायाचना करती हूँ। प्रस्तुत खण्ड के प्रूफ़-संशोधन के समय विविध प्रकार की संख्याओं का मिलान करने में हमारे वाराणसी-शाखा-कार्यालय के (चतुर्थ होते हुए भी) बुद्धिशील कर्मचारी श्री बृजदेव राम शास्त्री का सहयोग अवश्य ही सराहनीय रहा, तदर्थ उन्हें तथा अन्य विविध प्रकार से सहयोग के लिये यहाँ के सभी साथियों को धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। यह लेख संयोजित करने में मेरी मति की अपटुता से जो दोष आ गये हों एवं १९९९-२००१ तक में स्वयं अकेले ही किये गये सम्पादन, प्रूफ़ संशोधन आदि में जो त्रुटियाँ रह गई हों—उन सबके लिये स्वयं गोलोकवासिनी पू० बहिनजी (प्रेमलताजी) तथा सभी विद्वज्जनों-पाठकों के प्रति प्रणामपूर्वक क्षमायाचिनी—

श्रीशरत्-पूर्णिमा गुरुवार, २०५८
(१-११-२००१)

—ऊर्मिला शर्मा
'आम्नाय' करौंदी, वाराणसी-५

विषयानुक्रमणिका

१. आमुख vii

२. अवतरणिका-प्रस्तार xi-li

[प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में सूचित विधि के अनुसार ही इस खण्ड में भी सविस्तार विषयावली-क्रम परमपूज्यपाद आचार्यदेव श्रीश्रीपुरीदासजी के ही सम्पादित संस्करण (बंगलालिपि) पर आधारित है, पृष्ठसंख्या प्रस्तुत संस्करण की दी गयी है। प्रथम खण्ड में मूलग्रन्थ का पूर्वार्द्ध (दो विभाग — (१) पूर्व तथा (२) दक्षिण आ चुका है, उत्तरार्द्ध के दो विभाग (३) पश्चिम (४) उत्तर इस द्वितीय खण्ड में लिये जा रहे हैं। — सम्पा०]

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-उत्तरार्ध

३. मुख्यभक्तिरसनिरूपक

पश्चिमविभाग

प्रथमलहरी — शान्तभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठसंख्या
मङ्गलाचरण	१	२
विभाग की लहरियों के विषय	२-३	२
शान्तभक्तिरस	४-६	२-४
उस में आलम्बन	७	४
चतुर्भुज (श्रीहरि)	८-१०	४
शान्त (-भक्त)	११	४
आत्माराम	१२	६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
उन का रूप	१३	६
भक्ति	१४	६
तापस (भक्त)	१५-१७	६-८
शान्त रस में उद्दीपन	१८-२२	८
चरणकमलों की तुलसी-सुगन्ध	२३	१०
अनुभाव	२४-२६	१०
नासाग्रनयनत्व	२७-२८	१०-१२
जृम्भा	२९	१२
(सात्त्विक भाव शान्त रस में)	३०	१२
रोमाञ्च	३१	१२
मुनियों में सात्त्विक (भाव)	३२	१२
सञ्चारी भाव	३३	१४
निर्वेद	३४	१४
स्थायी (द्विविध)	३५	१४
आद्या (समा)	३६	१४
सान्द्रा	३७	१४
शान्त द्विविध	३८	१४
पारोक्ष्य	३९-४०	१६
साक्षात्कार	४१-४२	१६
श्रीकृष्णकृपाप्राप्त शान्त भक्त श्रेष्ठ	४३-४७	१८
केवल शान्त	४८-५१	१८-२०

द्वितीय लहरी — प्रीतभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
प्रीतभक्तिरस के लक्षण आदि	१-३	२२
प्रीतभक्ति के भेद—गौरव, सम्भ्रम	४	२२
सम्भ्रमप्रीत	५	२२
आलम्बन	६	२२
श्रीहरि	७-८	२४
द्विभुज	९	२४
चतुर्भुज	१०	२४
श्रीवासुदेव के रूप-गुण आदि की विशिष्टता	११-१५	२६
दास	१६-१७	२६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
दास-चतुर्विध	१८	२८
अधिकृत	१९-२०	२८
आश्रित-त्रिविध	२१-२२	२८
शरण्य	२३-२५	३०
ज्ञानिचर	२६-२८	३०-३२
सेवानिष्ठ	२९-३०	३२
पारिषद	३१-३२	३२-३४
इनका रूप	३३	३४
इनकी भक्ति	३४	३४
प्रेमविंक्लव (उद्धव)	३५	३४
उनका रूप	३६	३४
उनकी भक्ति	३७	३६
अनुग	३८	३६
इन में पुरवासी	३९	३६
इनके द्वारा सेवा	४०	३६
व्रजवासी	४१-४२	३६
उनका रूप	४३	३६
उनकी सेवा	४४	३६
व्रजवासी अनुगों में श्रेष्ठ रक्तक	४५	३६
उसका रूप	४६	४०
उसकी भक्ति	४७	४०
पार्षद त्रिविध	४८	४०
धुर्य	४९-५०	४०
धीर	५१-५२	४२
वीर	४३-५५	४२-४४
त्रिविध दास पुनः त्रिविध	५६	४४
उद्दीपन (विभाव)	५७	४४
अनुग्रह-सम्प्राप्ति	५८	४४
साधारण उद्दीपन	५९	४४
मुरलीध्वनि	६०	४६
अनुभाव	६०	४६
अपने नियोग का अधिक महत्त्व	६२	४६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
उद्भास्वर आदि साधारण अनुभाव	६३	४६
इनमें-नृत्य	६४-६५	४८
सात्त्विक भाव	६६-६८	४८
व्यभिचारी भाव	६९-७१	५०
इनमें-हर्ष	७२-७३	५०
क्लम	७४	५२
निर्वेद	७५	५२
स्थायिभाव	७६-७८	५२
सम्भ्रमप्रीति	७९-८०	५४
प्रेमा	८१-८३	५४
स्नेह	८४-८६	५६
राग	८७-९२	५६-५८
राग के दो प्रभेद — अयोग, योग	९३	६०
अयोग	९४	६०
इसके भी दो प्रभेद उत्कण्ठा, वियोग	९५	६०
उत्कण्ठा	९६-९८	६०
प्रमुख व्यभिचारी	९९	६२
उत्सुकता	१००-१०१	६२
दैन्य	१०२-१०३	६२-६४
निर्वेद	१०४	६४
चिन्ता	१०५	६४
चपलता	१०६-१०७	६४-६६
जड़ता	१०८-१०९	६६
उन्माद	११०-१११	६६-६८
मोह	११२-११३	६८
वियोग	११४-११५	६८-७०
इस वियोग की दस अवस्थायें	११६-११७	७०
(१) ताप	११८	७०
(२) कृशता	११९	७२
(३) जागरण	१२०	७२
(४) आलम्बशून्यता	१२१	७२

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
(५) अधृति	१२२	७२
(६) जडता	१२३	७४
(७) व्याधि	१२४	७४
(८) उन्माद	१२५	७४
(९) मूर्च्छा	१२६	७४
(१०) मृति, मरण	१२७-२८	७६
योग - त्रिविध	१२९	७६
सिद्धि	१३०-३२	७६-७८
तुष्टि	१३३-३५	७८
स्थिति	१३६-३७	७८-८०
योग में क्रिया	१३८	८०
स्थिति-विषयक अन्य पुराणमत-सूचन एवं	१३८	८०
श्रीमद्भागवत-सिद्धान्त-स्थापन	१३९-१४२	८०-८२
भक्त-भावों में कालादि-वैशिष्ट्य से व्यतिक्रम	१४३	८२
गौरवप्रीति	१४४	८२
इसके आलम्बन	१४५	८२
हरि	१४६-४७	८२-८४
लाल्य	१४८	८४
इनका रूप	१४९	८४
इनकी भक्ति	१५०	८४
प्रमुख लाल्य प्रद्युम्न	१५१	८४
उनका रूप	१५२	८६
उनकी भक्ति	१५३	८६
पुरस्थित तथा व्रजस्थित सेवकों-लाल्यों में पार्थक्य	१५४-५५	८६
उद्दीपन	१५६-५७	८६-८८
अनुभाव	१५८	८८
नीचे आसन पर बैठना	१५९	८८
दास्य के कुछ अनुभाव	१६०-६१	८८
सात्त्विक भाव	१६२	९०
व्यभिचारिभाव	१६३	९०
हर्ष	१६४	९०
निर्वेद	१६५	९०

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
स्थायिभाव	१६६-६७	९२
गौरवप्रीति	१६८	९२
प्रेम	१६९	९२
स्नेह	१७०	९४
राग	१७१	९४
प्रीत-प्रेयो-वत्सल में पूर्ववत् अयोग-योग आदि भेद	१७२	९४
उत्कण्ठा	१७३	९४
वियोग	१७४	९४
सिद्धि	१७५	९६
तुष्टि	१७६	९६
स्थिति	१७७-७८	९६

तृतीय लहरी — प्रेयोभक्तिरस (सख्य)

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
प्रेयान् रस (सख्य)	१	९८
आलम्बन	२	९८
हरि	३	९८
व्रज में द्विभुज	४	९८
अन्यत्र चतुर्भुज	५	९८
हरि के रूप-गुण-आदि	६-७	१००
हरि के वयस्य (सखा)	८-९	१००
द्विविध	१०	१००
पुरसम्बन्धी	११	१००
इनका सख्य	१२	१०२
इनमें श्रेष्ठ-अर्जुन	१३	१०२
उसका रूप	१४	१०२
उसका सख्य	१५	१०२
व्रजसम्बन्धी	१६	१०४
इनका रूप	१७	१०४
इनका सख्य	१८-१९	१०४
इनके प्रति श्रीकृष्ण का सख्य	२०	१०६
चतुर्विध सखा	२१	१०६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
(१) सुहृद्	२२-२३	१०६
इनका सख्य	२४	१०६
इनमें श्रेष्ठ	२५	१०८
मण्डलीभद्र का रूप	२६	१०८
मण्डलीभद्र का सख्य	२७	१०८
श्री बलदेव का रूप	२८	१०८
श्री बलदेव का सख्य	२९	११०
(२) सखा	३०-३१	११०
इनका सख्य	३२	११०
इनमें श्रेष्ठ	३३	११०
उसका रूप	३४	११२
उस का सख्य	३५	११२
(३) प्रियसखा	३६-३८	११२
इनका सख्य	३९	११४
इनमें प्रवर	४०	११४
उसका रूप	४१	११४
उसका सख्य	४२	११४
(४) प्रिय नर्मसखा	४३	११६
इनका सख्य	४४	११६
इनमें प्रवर दो	४५	११६
सुबल का रूप	४६	११६
सुबल का सख्य	४७	११८
उज्ज्वल का रूप	४८	११८
उज्ज्वल का सख्य	४९	११८
उज्ज्वल का वैशिष्ट्य	५०-५१	११८-२०
ये सखा पुनः त्रिविध	५२-५३	१२०
उन की मैत्री-वैचित्री-चारुता आदि	५४-५६	१२०
उद्दीपन (विभाव)	५७	१२२
वयस्	५८	१२२
कौमार	५९-६०	१२२
पौगण्ड (त्रिविध)	६१	१२२
आद्य-पौगण्ड	६२-६३	१२४

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
पुष्पमण्डनादि	६४-६६	१२४
मध्य-पौगण्ड	६७-७१	१२६
शेष-पौगण्ड	७२-७७	१२८-३०
कैशोर	७८-८०	१३०
रूप	८१	१३०
शृङ्ग (सींगा)	८२	१३२
वेणु	८३	१३२
शङ्ख	८४	१३२
विनोद	८५	१३२
अनुभाव	८६-८८	१३४
नियुद्ध से तोषण	८९	१३४
सुहृदों की क्रियाएँ	९०	१३४
सखाओं की क्रियाएँ	९१	१३४
प्रियसखा की क्रियाएँ	९२	१३६
प्रियनर्मसखा की क्रियाएँ	९३-९४	१३६
वयस्यों के कुछ अनुभाव	९५-९६	१३६
सात्त्विक (भाव) उन में स्तम्भ	९७	१३६
स्वेद	९८	१३८
रोमाञ्च	९९	१३८
स्वरभेद आदि चार	१००	१३८
अश्रु	१०१	१३८
व्यभिचारिभाव	१०२-३	१४०
उन में हर्ष	१०४	१४०
स्थायिभाव	१०५-६	१४०
सख्यरति	१०७	१४२
प्रणय	१०८-१०९	१४२
प्रेम	११०	१४२
स्नेह	१११-११२	१४४
राग	११३-१४	१४४
अयोग में उत्कण्ठा	११५	१४६
वियोग में क्षोभ	११६	१४६
ताप आदि दस दशायें	११७	१४६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
इनमें ताप	१८८	१४६
कृशता	११९	१४६
जागरण	१२०	१४८
आलम्बन-शून्यता	१२१	१४८
अधृति	१२२	१४८
जड़ता	१२३	१४८
व्याधि	१२४	१५०
उन्माद	१२५	१५०
मूर्च्छा	१२६	१५०
मृति (मरणप्रायता)	१२७	१५०
श्रीकृष्ण के साथ नित्यलीला में वियोगाभाव	१२८-२९	१५२
योग में सिद्धि	१३०	१५२
तुष्टि	१३१-३२	१५२
स्थिति	१३३	१५४
प्रेयान् रस की सभी रसों में व्यापकता	१३४-३६	१५४

चतुर्थ लहरी — वत्सलभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
वत्सलरस-संज्ञा	१	१५६
आलम्बन	२	१५६
श्रीकृष्णं	३	१५६
कृष्ण के रूप, लीला, गुणादि	४	१५६
कृष्ण स्वयं आलम्बन विभाव	५-६	१५६-५८
गुरुजन (विभाव)	८-११	१५८-६०
व्रजेश्वरी का रूप	१२-१३	१६०
व्रजेश्वरी का वात्सल्य	१४	१६०
व्रजाधीश का रूप	१५	१६२
व्रजाधीश का वात्सल्य	१६	१६२
उद्दीपन (विभाव)	१७	१६२
कौमार त्रिविध	१८	१६२
आद्य-कौमार	१९-२०	१६२-६४
यहाँ श्रीकृष्ण-चेष्टायें	२१-२२	१६४
मण्डन	२३-२४	१६४

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
मध्य-कौमार	२५-२६	१६६
प्रसाधन	२७-२८	१६६
शेष-कौमार	२९-३०	१६६-६८
मण्डन	३१	१६८
यहाँ श्रीकृष्ण-चेष्टायें	३२-३३	१६८
पौगण्ड (अवस्था)	३४-३५	१६८-१७०
कैशोर	३६-३८	१७०
शैशव-चापल्य	३९-४०	१७०-७२
अनुभाव	४१	१७२
मस्तक सूँघना	४२-४३	१७२
वत्सल में साधारण क्रियाएँ	४४	१७४
सात्त्विकभाव	४५	१७४
दूध झरना	४६-४७	१७४
स्तम्भ आदि	४८	१७४
व्यभिचारिभाव	४९	१७६
हर्ष	५०-५१	१७६
स्थायिभाव	५२-५३	१७६
वात्सल्यरति	५४-५५	१७८
प्रेमवत्	५६-५७	१७८
स्नेहवत्	५८	१८०
रागवत्	५९	१८०
अयोग में उत्कण्ठा	६०-६१	१८०
वियोग	६२-६३	१८२
वियोग में कुछ अनुभाव	६४	१८२
चिन्ता	६५	१८२
विषाद	६६	१८४
निर्वेद	६७	१८४
जडता	६८	१८४
दैन्य	६९	१८४
चपलता	७०	१८६
उन्माद	७१	१८६
मोह	७२	१८६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
योग में सिद्धि	७३	१८६
तुष्टि	७४-७५	१८८
स्थिति	७६	१८८
नाट्यज्ञों के मत से वत्सलरस	७७-७८	१८८
वत्सल में अन्य रसों का भाव-मिश्रण	७९-८४	१९०

पञ्चम लहरी — मधुरभक्तिरस

मधुररतिलक्षण	१	१९२
मधुररस दुरूह रहस्य	२	१९२
आलम्बन	३	१९२
श्रीकृष्ण	४-५	१९२
उनकी प्रेयसीगण	६	१९४
उनमें प्रवरा	७	१९४
उनका रूप	८	१९४
उनकी रति	९	१९४
श्रीकृष्ण की रति	१०	१९६
उद्दीपन	११-१२	१९६
अनुभाव	१३-१४	१९६
सात्त्विक भाव	१५	१९८
व्यभिचारी भाव	१६	१९८
निर्वेद	१७	१९८
हर्ष	१८	१९८
स्थायी भाव	१९-२०	२००
श्रीराधामाधव की नित्यरति	२१-२३	२००
मधुररस द्विविध	२४	२०२
(१) विप्रलम्भ	२५	२०२
पूर्वराग	२६-२८	२०२
मान	२९-३०	२०४
प्रवास	३१-३३	२०४
(२) सम्भोग	३४-३५	२०६
विभाग-उपसंहार	३६-३७	२०६

४. गौणभक्तिरसनिरूपक

उत्तरविभाग

प्रथम लहरी — हास्यभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
मङ्गलाचरण	१	२०८
इस विभाग के लहरी-विषय	२-५	२०८
हास्यभक्तिरस	६	२०८
आलम्बन	७	२१०
श्रीकृष्ण	८	२१०
उन से सम्बद्ध	९-११	२१०-२१२
उद्दीपन तथा अनुभावादि	१२-१३	२१२
हासरति के छह प्रकार	१४-१५	२१२
स्मित	१६-१७	२१४
हसित	१८-१९	२१४
विहसित	२०-२१	२१४-१६
अवहसित	२२-२३	२१६
अपहसित	२४-२५	२१६
अतिहसित	२६-२७	२१८
विभावादि द्वारा गम्य हास	२८-२९	२१८
हास्य शृङ्गारादि का ही भेद	३०	२२०

द्वितीय लहरी — अद्भुतभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अद्भुत-भक्तिरस-निरूपण	१	२२२
आश्रय-विषय	२	२२२
उद्दीपन एवं क्रिया	३	२२२
व्यभिचारी तथा स्थायिभाव	४	२२२
द्विविध कर्म	४	२२२
(१) साक्षात् विविध	५	२२२
दृष्ट	६-८	२२२-२२४
श्रुत	९	२२४
सङ्कीर्तित	१०	२२४
अनुमित	११	२२६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अद्भुत रस में रतिवैचित्र्य	१२-१३	२२६

तृतीय लहरी — वीरभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
वीरभक्तिरस-संज्ञा, प्रकार, आलम्बन	१-३	२२८
युद्धवीर	४-५	२२८
कृष्ण	६-७	२२८-२३०
सुहृद्	८	२३०
युद्धकेलिसमुत्साह	९-१०	२३०
उद्दीपन	११	२३०
कत्थित	१२	२३२
अनुभाव	१३-१४	२३२
कत्थित	१५	२३२
आहोपुरुषिका	१६	२३२
सात्त्विक भाव	१७-१८	२३४
स्वशक्ति से आहार्योत्साह	१९	२३४
स्वशक्ति से सहजोत्साह	२०-२१	२३४-३६
सहाय द्वारा आहार्योत्साह	२२	२३६
सहाय द्वारा सहजोत्साह	२३	२३६
वीर और रौद्र का भेदक	२४	२३६
दानवीर द्विविध	२५	२३८
बहुप्रद	२६-२८	२३८
द्विविध-बहुप्रद	३०	२३८
आभ्युदयिक	३१-३२	२३८-४०
तत्सम्प्रदानक	३३-३४	२४०
प्रीतिदान	३५-३६	२४०
पूजादान	३७-३९	२४२
उपस्थितदुरापार्थत्यागी	४०	२४२
कारकविपर्यय, इस के उद्दीपन, अनुभाव तथा सञ्चारी आदि	४१-४६	२४२-४४
दयावीर	४७	२४४
इस के उद्दीपन	४८	२४६
क्रियायें, सञ्चारी भाव	४९	२४६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
स्थायी भाव	५०-५१	२४६
दानवीर-दयावीर में भेदक	५२-५३	२४६
त्रिविध वीर-मत	५४	२४८
धर्मवीर	५५-६०	२४८-५०
त्रिविध वीर - मत	६१	२५०

चतुर्थ लहरी — करुणभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
करुण-रस निरूपण	१	२५२
आलम्बन-त्रिविध	२-३	२५२
आलम्बन, उद्दीपन	४	२५२
अनुभाव	५	२५२
सात्त्विक तथा व्यभिचारी भाव	६	२५२
स्थायीभाव	७	२५४
कृष्ण-विषयक	८-९	२५४
उनके प्रियजन-विषयक	१०	२५४
अपने प्रियजन-विषयक	११-१२	२५६
रति के न्यून-अधिक होने से रस का न्यून-अधिक होना	१३-१४	२५६
प्रेमाधिक्य से श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को न देखना	१५	२५६
करुण में भी सुख की दुरूह मति	१६	२५८

पञ्चम लहरी — रौद्रभक्तिरस

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
रौद्रभक्तिरस-संज्ञा	१	२६०
इस रस के आश्रय, विषय	२	२६०
कृष्ण पर सखी का क्रोध	३-४	२६०
कृष्ण पर जरती का क्रोध	५-६	२६०-६२
कृष्ण के प्रति सब की रति	७	२६२
त्रिविध हितकारी (विषय)	८	२६२
इन में अनवहित	९-१०	२६२
साहसी	११-१२	२६४
ईर्ष्यालु	१३-१४	२६४

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अहितकारी (विषय)	१५	२६४
अपना अहितकर	१६-१७	२६६
हरि का अहितकर	१८-१९	
उद्दीपन	२०	२६६
अनुभाव, तथा सात्त्विक भाव	२१-२३	२६८
व्यभिचारी भाव	२४	२६८
क्रोधरति-स्थायीभाव, त्रिविध	२५-२६	२६८
तीनों में त्रिविध क्रिया	२७	२६८
(क्रोध) वैरी के प्रति	२८	२७०
पूज्य के प्रति	२९	२७०
समान के प्रति	३०	२७०
न्यून के प्रति	३१	२७०
रति के बिना क्रोध में रसत्व नहीं	३२-३३	२७२

षष्ठ लहरी — भयानकभक्तिरस

भयानक-भक्तिरस-संज्ञा	१	२७४
आलम्बन द्विविध	२	२७४
दारुण	३	२७४
श्रीकृष्ण अनुकम्प्य के प्रति	४-५	२७४
दारुण (भयङ्कर) बन्धुओं के प्रति	६	२७६
श्रवण से भय	७	२७६
स्मरण से भय	८	२७६
उद्दीपन तथा सात्त्विक भाव	९-१०	२७६
व्यभिचारी भाव	११	२७८
स्थायीभाव	१२	२७८
भय के आलम्बनादि का विस्तार	१३-१६	२७८

सप्तम लहरी — बीभत्सभक्तिरस

जुगुप्सा रति ही बीभत्सभक्तिरस	१	२८०
आलम्बन	२-३	२८०
विक्रिया	४	२८०
व्यभिचारी भाव	५	२८०

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
स्थायी भाव - द्विविध जुगुप्सा	६	२८०
विवेक से उत्पन्न	७-८	२८०
प्रायः होने वाली	९-११	२८०-८२
इस रस का विश्लेषण, अन्यों से सम्बन्ध	१२-१४	२८२

अष्टम लहरी — रसों में मैत्री और वैर की स्थिति

रसों में परस्पर मैत्री-वैर-निरूपण	१-१५	२८६-९०
सुहृद् रस का कार्य	१६-१९	२९०
शान्त अङ्गी — प्रीत अङ्ग	२०	२९०
शान्त अङ्गी — बीभत्स अङ्ग	२१	२९२
शान्त अङ्गी — प्रीत, अद्भुत, बीभत्स अङ्ग	२२	२९२
प्रीत अङ्गी — शान्त अङ्ग	२३	२९२
प्रीत अङ्गी — बीभत्स अङ्ग	२४	२९४
प्रीत अङ्गी — बीभत्स, शान्त, वीर अङ्ग	२५	२९४
प्रेयान् अङ्गी — शृङ्गार अङ्ग	२६	२९४
प्रेयान् अङ्गी — हास्य अङ्ग	२७	२९४
प्रेयान् अङ्गी — शृङ्गार तथा हास्य अङ्ग	२८	२९६
वत्सल अङ्गी — करुण अङ्ग	२९	२९६
वत्सल अङ्गी — हास्य अङ्ग	३०	२९६
वत्सल अङ्गी — भयानक, अद्भुत, हास्य, करुण अङ्ग	३१	२९८
वत्सल का अङ्ग कोई मुख्य रस नहीं	३२	२९८
उज्ज्वल (शृङ्गार) अङ्गी — प्रेयान् अङ्ग	३३	२९८
उज्ज्वल (शृङ्गार) अङ्गी — हास्य अङ्ग	३४	३००
उज्ज्वल (शृङ्गार) अङ्गी — प्रेयान् तथा वीर अङ्ग	३५	३००
गौण अङ्गी मुख्य अङ्ग होना सम्भव	३६	३००
हास्य अङ्गी शुचि (शृङ्गार) अङ्ग	३७	३०२
वीर अङ्गी प्रेयान् अङ्ग	३८	३०२
रौद्र अङ्गी प्रेयान् तथा वीर अङ्ग	३९	३०२
अद्भुत अङ्गी प्रेयान्, वीर तथा हास्य अङ्ग	४०	३०४
रसों की मुख्यता, गौणता, विपरीतता	४१-५२	३०४-०८

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
वैरी रस का कार्य		
रसविरोधिता के विविध उदाहरण	५३-६१	३०८-१०
रसाभास	६२	३१२
वैरस्य न होने की स्थिति	६३-६४	३१२
एक की बाध्यता में	६५-६६	३१२
स्मरण होते समय	६७	३१४
साम्यवचन में	६८-६९	३१४
अन्य रस का व्यवधान होने पर	७०	३१४
विषय भिन्न होने पर	७१-७२	३१६
आश्रय भिन्न होने पर	७३	३१६
वैरस्य होने की स्थिति	७४	३१८
विषय-भेद से	७५	३१८
आश्रय-भेद से	७६	३१८
भिन्न मत	७७-८०	३१८-२०
वैरस्य नहीं, कभी पोषक भी	८१-८३	३२०
अनेक रसों का विषयत्व	८४	३२०
अनेक रसों का आश्रयत्व	८५	३२०

नवम लहरी — रसाभास-निरूपिका

रसाभास-संज्ञा	१	३२४
रसाभास के भेद	२	३२४
उपरस	३	३२४
शान्त-उपरस द्विविध	४	३२४
पहला	५	३२४
दूसरा	६	३२६
प्रीत-उपरस	७-८	३२६
प्रेय-उपरस	९-१०	३२६-२८
वत्सल-उपरस	११-१२	३२८
शृङ्गार-उपरस	१३	३२८
स्थायी की विरूपता	१३	३२८
एकत्र रति	१४-१५	३३०
अनेकत्र रति	१६-१७	३३०

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
विभाव-विरूपता	१८	३३०
लता में	१९	३३२
पशुओं में	२०	३३२
भीलनी में	२१	३३२
वृद्धा में	२२	३३२
भाव-विरूपता की अन्य दशायें	२३-२४	३३४
अनुभावविरूपता	२५	३३४
'समय' का व्यतिक्रम	२६-२७	३३६
ग्राम्यता	२८-२९	३३६
धृष्टता	३०-३१	३३६
गौण हासादि भी उपरस	३२	३३६
अनुरस	३३	३३६
हास्य-अनुरस	३४	३३८
अद्भुत-अनुरस	३५	३३८
वीर आदि भी	३६-३७	३३८
अपरस	३८	३३८
हास्य-अपरस	३९	३४०
अद्भुत आदि भी	४०	३४०
ये सभी तत्त्वतः रस ही हैं	४१	३४०
रसावस्थान-सूचक चार वृत्तियाँ	४२	३४०

(लहरी तथा विभाग समाप्त)

ग्रन्थ का उपसंहार

ग्रन्थ-पूर्त्ति - उक्ति १-२ ३४२

पाठ-विमर्श

पाठान्तरों के साङ्केतिक चिह्न ३४५

पाठान्तर ३४५-३५१

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क

विमर्श

(अर्थ-सम्बन्धी विचार एवं टिप्पणियाँ)

प्रारम्भिक ३५३

मुख्यभक्तिरसनिरूपक पश्चिमविभाग

प्रथम लहरी — शान्तभक्तिरस ३५३-३६०
द्वितीय लहरी — प्रीतभक्तिरस ३६०-३७४
तृतीय लहरी — प्रेयोभक्तिरस ३७४-३८२
चतुर्थ लहरी — वत्सलभक्तिरस ३८२-३८७
पञ्चम लहरी — मधुरभक्तिरस ३८७-३९०

गौणभक्तिरसनिरूपक उत्तरविभाग

प्रथम लहरी — हास्यभक्तिरस ३९०-३९२
द्वितीय लहरी — अद्भुतभक्तिरस ३९२-३९४
तृतीय लहरी — वीरभक्तिरस ३९४-३९६
चतुर्थ लहरी — करुणभक्तिरस ३९६-३९७
पञ्चम लहरी — रौद्रभक्तिरस ३९८-४००
षष्ठ लहरी — भयानकभक्तिरस ४०१-४०२
सप्तम लहरी — बीभत्सभक्तिरस ४०२-४०३
अष्टम लहरी — रसों की (परस्पर) मैत्री-वैर-स्थिति ४०३-४१०
नवम लहरी — रसाभास ४१०-४१२

परिशिष्ट—क

ग्रन्थ में प्रतिपादित पदार्थों के भेद - प्रभेदों की तालिकायें

पूर्वविभाग

प्रथम लहरी ४१२
- क्लेश ४१२
- भक्ति की सुदुर्लभता ४१२

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
द्वितीय लहरी		४१६
भक्ति		४१६
अधिकारी		४१६
मुक्ति		४१६
रागात्मिका भक्ति		४१६
रागानुगा भक्ति		४१७
तृतीय लहरी		४१७
भाव		४१७
रत्याभास		४१७
चतुर्थ लहरी		४१७
प्रेम		४१७

दक्षिणविभाग

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
प्रथम लहरी		४१८
सद्भक्तिवासना		४१८
विभाग		४१८
सल्लक्षण		४१८
तेजस्		४१८
वावदूक (श्रीकृष्ण-गुण)		४१९
सुपाण्डित्यवान्		४१९
बुद्धिमान्		४१९
शुचि		४१९
ईश्वर		४१९
हरि		४१९
नायक		४१९
कृष्णभक्त		४२०
भक्त		४२०
श्रीकृष्णगुण (सामान्य)		४२०
वयस्		४२०
वसन		४२१
कचबन्धन		४२१

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
आलेप		४२१
माला		४२१
चित्र		४२१
रत्नमण्डन		४२१
वंश		४२१
द्वितीय लहरी		४२२
अनुभाव		४२२
तृतीय लहरी		४२२
सात्त्विक भाव (१)		४२२
सात्त्विक भाव (२)		४२२
वृद्धि		४२२
सात्त्विकाभास		४२२
चतुर्थ लहरी		४२३
आवेग		४२३
सञ्चारी भाव		४२३
सञ्चारी-आभास		४२३
भावसन्धि		४२३
चित्त		४२३
पञ्चम लहरी		४२४
श्रीकृष्णविषयारति		४२४
रस		४२४
भक्तिरसास्वाद		४२४

पश्चिमविभाग

प्रथम लहरी		४२५
शान्तभक्त		४२५
अनुभाव		४२५
शान्तिरति		४२५
शान्तरस		४२५

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
द्वितीय लहरी		४२६
दास		४२६
प्रीति		४२६
तृतीय लहरी		४२७
वयस्य (क)		४२७
वयस्य (ख)		४२७
वयस्		४२७
सख्य रति		४२७
(वृद्धि के स्तर)		४२७
चतुर्थ लहरी		४२८
कौमार (वयस्)		४२८
पञ्चम लहरी		४२८
मधुरभक्तिरस		४२८

उत्तरविभाग

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
प्रथम लहरी		४२९
हासरति		४२९
द्वितीय लहरी		४२९
लोकोत्तर कर्म		४२९
तृतीय लहरी		४२९
वीर-रस		४२९
चतुर्थ लहरी		४३०
करुणभक्तिरस के—		
विषयालम्बन		४३०
आश्रयालम्बन		४३०

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
पञ्चम लहरी		४३०
रौद्रभक्तिरस के—		४३०
विषयालम्बन		४३०
आश्रयालम्बन		४३०
क्रोध		४३१
षष्ठ लहरी		४३१
भयानक भक्ति रस के—		४३१
विषयालम्बन		४३१
आश्रयालम्बन		४३१
सप्तम लहरी		४३१
बीभत्स भक्तिरस के आश्रयालम्बन		४३१
जुगुप्सा रति		४३१
अष्टम लहरी		४३२
प्रत्येक रस के सुहृद् तथा वैरी		४३२-३३
नवम लहरी		४३४
रसाभास		४३४

परिशिष्ट—ख

सम्पूर्ण ग्रन्थ की परिभाषा-अनुक्रमणी ४३५-४४५

परिशिष्ट—ग

सम्पूर्ण ग्रन्थ की श्लोकानुक्रमणी ४४७-५२०

परिशिष्ट—घ

सम्पूर्ण ग्रन्थ में उद्धृत प्रमाणग्रन्थों तथा प्रामाणिक व्यक्तिनामों की अनुक्रमणी ५२१-५२३

ग्रन्थ-सन्दर्भिका (सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची) ५२५-५३४
शुद्धिपत्र (श्री श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु — प्रथम खण्ड) ५३५-५३६

श्रीश्रीरूपगोस्वामिप्रभुपादप्रणीतः

श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

श्रीश्री-रूपगोस्वामि-प्रभुपाद-प्रणीतः

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

मुख्यभक्तिरस-निरूपकः

पश्चिम-विभागः

शान्तभक्तिरसाख्या प्रथमलहरी

१. धृतमुग्धरूपभारो, भागवतार्पितपृथुप्रेमा ।
स मयि सनातनमूर्त्तिस्तनोतु पुरुषोत्तमस्तुष्टिम् ॥ (१)

[धृतमुग्धरूपभारः भागवतार्पितपृथुप्रेमा सः सनातनमूर्त्तिः पुरुषोत्तमः मयि तुष्टिं तनोतु ॥]

२. रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये पश्चिमाभिधे ।
मुख्यो भक्तिरसः पञ्चविधः शान्तादिरीर्यते ॥ (२)

[रसामृताब्धेः पश्चिमाभिधे तृतीये भागे अत्र मुख्यः पञ्चविधः शान्तादिः भक्तिरसः ईर्यते ॥]

३. अतोऽत्र पाञ्चविध्येन लहर्यः पञ्च[1] कीर्तिताः ।
अथामी पञ्च लक्ष्यन्ते रसाः शान्तादयः क्रमात् ॥ (३)

[अतः अत्र पाञ्चविध्येन पञ्च लहर्यः कीर्त्तिताः; अथ अमी पञ्च शान्तादयः रसाः क्रमात् लक्ष्यन्ते ॥]

तत्र शान्तभक्तिरसः—

४. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः ।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥ (४)

[वक्ष्यमाणैः विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः स्थायी शान्तरतिः धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥]

५. प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ।
किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनन्त्वीशमयं सुखम् ॥ (५)

[अत्र प्रायः योगिनां स्वसुखजातीयं सुखं स्यात्, किन्तु आत्मसौख्यम् अघनम्, ईशमयं तु घनं सुखम् ॥]

श्रीश्री-रूपगोस्वामि-प्रभुपाद-प्रणीत

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

मुख्यभक्तिरसनिरूपक

पश्चिम-विभाग

(हिन्दी अनुवाद)

प्रथमलहरी—शान्तभक्तिरस

१. **पुरुषोत्तम भगवान् के पक्ष में अर्थ**—जिनमें भोले-भाले सुकुमार रूप (सौन्दर्य) का आधिक्य है, जो वैष्णवों को विपुल प्रेम प्रदान करते हैं, वे सनातन-विग्रह वाले पुरुषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण) मुझ में तुष्टि (सन्तोष) का विस्तार करें।

श्रीगुरु सनातन गोस्वामी के पक्ष में अर्थ—मुझ अज्ञ 'रूप' का भार वहन करने वाले, श्रीमद्भागवत (महापुराण) के प्रति विपुल प्रेम देने वाले वे सनातन-स्वरूप उत्तम पुरुष मुझ में तुष्टि का विस्तार करें। ।१।

२. रसामृत-सिन्धु के पश्चिम नाम के इस तृतीय विभाग में पाँच प्रकार के शान्त आदि मुख्य भक्तिरस कहे जा रहे हैं। ।२।

३. अतएव उस पञ्चविधता के कारण यहाँ पाँच लहरियाँ कही गई हैं। अब ये शान्त आदि पाँच रस क्रम से दिखाये जा रहे हैं। ।३।

उनमें से शान्तभक्तिरस—

४. आगे जो विभाव आदि कहे जायेंगे, उनके द्वारा शम-शील भक्तों का आस्वाद्य बनने वाला शान्तिरति-रूपी स्थायीभाव शान्तभक्तिरस माना गया है। ।४।

५. यहाँ योगियों के आत्मसुख के सदृश सुख होता है, किन्तु आत्मसुख घन नहीं होता (जबकि) ईशमय सुख घन होता है। ।५।

६. तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता।
दासादिवन्मनोज्ञत्व-लीलादेर्न तथा मता॥ (६)

[तत्र अपि ईशस्वरूपानुभवस्य एव उरुहेतुता। दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेः तथा न मता॥]

तत्र आलम्बनाः—

७. चतुर्भुजश्च शान्ताश्च अस्मिन्नालम्बना मताः। (७)

[चतुर्भुजः च शान्ताः च अस्मिन् आलम्बनाः मताः॥]

तत्र चतुर्भुजः—

१. श्यामाकृतिः स्फुरति चारुचतुर्भुजोऽय-
मानन्दराशिरखिलात्म-तरङ्गसिन्धुः।
यस्मिन् गते नयनयोः पथि निर्जिहीते
प्रत्यक्पदात् परमहंसमुनेर्मनोऽपि॥ (८)

[अयं श्यामाकृतिः, चारुचतुर्भुजः, आनन्दराशिः अखिलात्मतरङ्गसिन्धुः स्फुरति, यस्मिन् नयनयोः पथि गते परमहंसमुनेः मनः अपि प्रत्यक्पदं निर्जिहीते॥]

८. सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिरोमणिः[2]।
परमात्मा परं ब्रह्म शमो दान्तः शुचिर्वशी॥ (९)

[सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः आत्माराम-शिरोमणिः पर ब्रह्म शमः दान्तः शुचिः वशी॥]

९. सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः।
विभुरित्यादि-गुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः॥ (१०)

[सदा स्वरूपसम्प्राप्तः हतारिगतिदायकः विभुः इत्यादिगुणवान् हरिः अस्मिन् आलम्बनः॥]

अथ शान्ताः—

१०. शान्ताः स्युः कृष्ण-तत्प्रेष्ठ-कारुण्येन रतिं गताः।
आत्मारामास्तदीयाध्व-बद्धश्रद्धाश्च तापसाः॥ (११)

[कृष्ण-तत्प्रेष्ठ-कारुण्येन रतिं गताः आत्मारामाः तदीयाध्वबद्धश्रद्धाः तापसाः च शान्ताः स्युः॥]

६. उस (घनता) में भी ईश के स्वरूप का अनुभव ही प्रधान कारण है। दास आदि को जैसा मनोज्ञ लीला का अनुभव होता है, वह यहाँ हेतु नहीं है।

। ६।

आलम्बन विभाव—

७. चतुर्भुज (भगवान्) और शान्त (भक्त) इसमें आलम्बन माने गये हैं।

। ७।

उनमें से चतुर्भुज—

१. *श्याम आकृति वाले ये सुन्दर चतुर्भुज (नारायण) स्फुरित हो रहे हैं, ये आनन्दराशि हैं, समस्त जीवात्मा रूपी तरङ्गों के सिन्धु हैं, जो नयनों के सामने आ जाते हैं तब परमहंस मुनि का मन भी प्रत्यक्पद अर्थात् आत्मसाक्षात्कारमय समाधि से हट जाता है।*

। ८।

८-९. सच्चिदानन्दघनमूर्ति, आत्मारामों के शिरोमणि, परमात्मा, परब्रह्म, शमस्वरूप, दमयुक्त, शुचि, वशी (सबको वश में रखने वाला) सदा स्वरूप में अवस्थित, मारे हुए शत्रुओं को सद्गति देने वाला, विभु-इत्यादि गुणों से युक्त हरि आलम्बन है।

। ९-१०।

शान्त भक्त—

१०. शान्त भक्त वे हैं जो श्रीकृष्ण और उनके प्रियजनों की करुणा के कारण 'रति' (प्रेम) प्राप्त करते हैं, वे आत्माराम हैं, श्रीकृष्ण के पथ में दृढ़ श्रद्धा वाले हैं, तथा तपस्वी हैं।

। ११।

तत्र आत्मारामाः—

११. आत्मारामास्तु सनक-सनन्दनमुखा मताः।
प्राधान्यात् सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते॥ (१२)

[आत्मारामाः तु सनक-सनन्दनमुखाः मताः। प्राधान्यात् सनकादीनां रूपं भक्तिः च कथ्यते॥]

तत्र रूपम्—

२. ते पञ्चषाब्दबालाभाश्चत्वारस्तेजसोज्ज्वलाः।
गौराङ्गा वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः। (१३)

[ते चत्वारः पञ्चषाब्दबालाभाः तेजसा उज्ज्वलाः गौराङ्गाः वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः॥]

तत्र च भक्तिः—

३. समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युतेर्
मुकुन्द! सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥ (१४)

[मुकुन्द! करणतः प्रतीचीनतां गते समस्तगुण-वर्जिते वस्तुनि किम् अपि सुखं तावत् स्वयम् अदीपि यावत् तव नवतमालद्युतेः इयम् अद्भुता साक्षात्कृतिः न बभूव॥]

अथ तापसाः—

१२. मुक्तिर्भक्त्यैव[3] निर्विघ्नेत्यात्तयुक्तविरक्तताः।
अनुज्झित-मुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः॥ (१५)

[भक्त्या एव मुक्तिः निर्विघ्ना इति आत्तयुक्तविरक्तताः ये अनुज्झितमुमुक्षाः भजन्ते ते तु तापसाः॥]

यथा—

४. कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति-
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥ (१६)

[कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसतिः, कौपीनं वसानः, रचितफल-कन्दाशनरुचिः, मुकुन्दाभिधं चिदानन्दं ज्योतिः हृदि मुहुः ध्यायं-ध्यायं रजनीः क्षणम् इव इह विनेष्यामि॥]

उनमें से आत्माराम—

११. सनक, सनन्दन आदि जिनमें प्रमुख हैं वे आत्माराम माने गये हैं। इन सनक आदि की प्रधानता के कारण उनके रूप एवं भक्ति की बात कही जा रही है। ।१२।

उनका रूप, यथा—

२. *वे चारों पाँच-छह वर्षों के बालक के सदृश कान्ति वाले हैं, तेज से उज्ज्वल हैं, गौरवर्ण हैं, वायु ही उनका वस्त्र है अर्थात् दिगम्बर हैं, और प्राय: एक साथ चलते हैं।*।१३।

उनकी भक्ति, यथा—

३. *समस्त गुणों से रहित (अर्थात्-निर्गुण) किसी वस्तु—जोकि इन्द्रियगति से विपरीत अर्थात् अगोचर है—से स्वयं ही आनन्द तभी तक प्रकाशित होता है जब तक, हे मुकुन्द! नवीन तमाल के सदृश नील कान्ति वाले, चिदानन्दघन-स्वरूप आपका अद्भुत साक्षात्कार नहीं हो जाता।* ।१४।

तपस्वी—

१२. तपस्वी वे हैं जो मुक्ति की इच्छा छोड़े बिना भजन करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भक्ति से ही मुक्ति निर्विघ्न होती है, इसीसे उनमें 'युक्त वैराग्य' आता है। ।१५।

यथा—

४. *कब मैं पर्वत की घाटी में, विशाल वृक्ष की गोद (कोटर) में रहता हुआ, कौपीन पहने हुए, फल और कन्द खाने में ही रुचि रखता हुआ, मुकुन्द नाम के चिदानन्दमय ज्योति का हृदय में बारम्बार ध्यान करते हुए रात्रियों को क्षण की भाँति बिता दूँगा?* ।१६।

१३. भक्तात्मारामकरुणा-प्रपञ्चेनैव तापसाः।
शान्ताख्य-भावचन्द्रस्य हृदाकाशे कलां श्रिताः॥ (१७)

[तापसाः भक्तात्माराम-करुणाप्रपञ्चेन एव हृदाकाशे शान्ताख्यभावचन्द्रस्य कलां श्रिताः॥]

अथ उद्दीपनाः—

१४. श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम्।
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य[4] स्फूर्तिस्तत्त्वविवेचनम्॥ (१८)

[महोपनिषदां श्रुतिः, विविक्तस्थानसेवनम्, अन्तर्वृत्तिविशेषस्य स्फूर्तिः, तत्त्वविवेचनम्॥]

१५. विद्या-शक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम्।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्रादयस्तथा,
एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी॥ (१९)

[विद्याशक्तिप्रधानत्वम्, विश्वरूपप्रदर्शनम्, ज्ञानिभक्तेन संसर्गः तथा ब्रह्मसत्रादयः बुधैः एषु असाधारणाः प्रोक्ताः॥]

तत्र महोपनिषच्छ्रुतिः, यथा—

५. अक्लेशाः कमलभुवः प्रविश्य गोष्ठीं
कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतज्ञाः।
उत्तुङ्गं यदुपुरसङ्गमाय रङ्गं
योगीन्द्राः पुलकभृतो नवाप्यवापुः॥ (२०)

[श्रुतज्ञाः अक्लेशाः, नव अपि योगीन्द्राः पुलकभृतः कमलभुवः गोष्ठीं प्रविश्य श्रुतिशिरसां श्रुतिं कुर्वन्तः यदुपुरसङ्गमाय उत्तुङ्गं रङ्गम् अवापुः॥]

१६. पादाब्जतुलसीगन्धः शङ्खनादो मुरद्विषः।
पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं [5]स्वरापगा॥ (२१)

[पादाब्जतुलसीगन्धः, मुरद्विषः शङ्खनादः, पुण्यशैलः, शुभारण्यम्, सिद्धक्षेत्रम्, स्वरापगा॥]

१७. विषयादि-क्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता।
इत्याद्युद्दीपनाः साधारणास्त्वेषां किलाश्रितैः॥ (२२)

[विषयादिक्षयिष्णुत्वम्, कालस्य अखिलहारिता इत्यादि उद्दीपनाः तु एषाम् आश्रितैः किल साधारणाः॥]

१३. आत्माराम भक्तों की करुणा के विस्तार से ही तपस्वी शान्त नामक भावचन्द्र की कला का अपने हृदयाकाश में आश्रय लेते हैं।

। १७।

उद्दीपन विभाव—

१४-१५. महान् (प्रमुख) उपनिषदों का श्रवण, एकान्त स्थान का सेवन, विशेष अन्तर्वृत्ति होना और उसका स्फुरण, तत्त्व का विवेचन, विद्याशक्ति की प्रधानता, विश्वरूप का दर्शन, ज्ञानीभक्त का संसर्ग और ब्रह्मसत्र आदि ये सब, इन (शान्त) भक्तों में असाधारण उद्दीपन कहे गये हैं।

। १८-१९।

इनमें से महोपनिषदों का श्रवण, यथा—

५. *क्लेशरहित, सुने हुए को समझने वाले नौ योगीन्द्र ब्रह्मा की गोष्ठी में प्रवेश करके उपनिषदों का श्रवण करते हुए पुलकित होकर यदुपुर (द्वारिका) के सङ्गम (वहाँ पहुँचने) के लिए अतीव आनन्दोत्साह को प्राप्त हुए।*

। २०।

१६-१७. मुरारि के चरणकमलों की तुलसी की गन्ध, शङ्ख का नाद, पवित्र पर्वत, कल्याणमय वन, सिद्धक्षेत्र, गङ्गा, विषय आदि की क्षयशीलता, काल का अखिलहारी स्वभाव इत्यादि उद्दीपन इन भक्तों के लिए आश्रित भक्तों के साथ साधारण (समान) होते हैं।

। २१-२२।

तत्र पादाब्जतुलसीगन्धो, यथा तृतीये (भा० ३/१५/४३)—

६. तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥ (२३)

[तस्य अरविन्दनयनस्य पदारविन्द-किञ्जल्कमिश्र-तुलसीमकरन्दवायुः तेषाम् अक्षरजुषाम् अपि स्वविवरेण अन्तर्गतः चित्ततन्वोः संक्षोभं चकार॥]

अथ अनुभावाः—

१८. [६]नासाग्र-न्यस्तनेत्रत्वमवधूत-विचेष्टितम्।
युगमात्रेक्षित-गतिर्ज्ञानमुद्रा-प्रदर्शनम्॥ (२४)

[नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वम् अवधूतविचेष्टितम् युगमात्रेक्षितगतिः ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम्॥]

१९. हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि।
सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता॥ (२५)

[हरेः द्विषि अपि द्वेषः न, प्रियेषु अपि अतिभक्तिः न, तथा सिद्धतायाः जीवन्मुक्तेः च बहुमानिता॥]

२०. नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहङ्कारिता तथा।
मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः॥ (२६)

[नैरपेक्ष्यम्, निर्ममता तथा निरहङ्कारिता, मौनम् इत्यादयः असाधारणाः शीताः क्रियाः स्युः॥]

तत्र नासाग्रनयनत्वं, यथा—

७. नासिकाग्रदृगयं पुरो मुनिः स्पन्दबन्धुरशिरा विराजते।
चित्तकन्दरतटीमनाकुलामस्य नूनमवगाहते हरिः॥ (२७)

[अयं मुनिः पुरः नासिकाग्रदृक्, स्पन्दबन्धुरशिराः विराजते; नूनम् अस्य अनाकुलां चित्तकन्दरतटीं हरिः अवगाहते॥]

उन में से चरणकमल-तुलसीगन्ध, यथा श्रीदशम में (भा० ३/१५/४३)—

६. *उन कमलनयन के चरणकमल के पराग से मिश्रित तुलसी के मकरन्द के वायु ने अपने विवर अर्थात् नासिकारन्ध्र से भीतर जाकर उन अक्षर (ब्रह्म) के आनन्द में मग्न मुनियों के भी मन और तनु को क्षुब्ध कर दिया।*

। २३।

अनुभाव—

१८-२०. नयनों का नासाग्र पर टिके रहना, अवधूतों के सदृश व्यवहार, युगमात्र (चार हाथ भर ही) दृष्टि डालते हुए चलना, ज्ञानमुद्रा दिखाना, हरि के शत्रुओं से भी द्वेष न करना और उनके प्रियजनों पर भी अतिभक्ति न करना, सिद्धता एवं जीवन्मुक्ति को बहुत मानना, निरपेक्षता, निर्ममता, निरहङ्कारिता, मौन इत्यादि शीत असाधारण क्रियायें हैं।

। २४-२६।

उनमें से नासाग्रदृष्टि, यथा—

७. *यह मुनि सामने विराजमान है जिसकी दृष्टि नासाग्र पर टिकी है, जिसका सिर स्पन्दित होने से सुन्दर प्रतीत हो रहा है। इसके स्थिर निस्पन्द चित्तरूपी कन्दरा में अवश्य ही श्रीहरि प्रविष्ट हैं।*

। २७।

२१. जृम्भाङ्गमोटनं भक्तेरुपदेशो हरेर्नतिः।
स्तवादयश्च दासाद्यैः [7]शीताः साधारणाः क्रियाः॥ (२८)

[जृम्भा, अङ्गमोटनम्; भक्तेः उपदेशः, हरेः नति, स्तवादयः च दासाद्यैः साधारणाः शीताः क्रियाः॥]

तत्र जृम्भा, यथा—

८. हृदयाम्बरे ध्रुवं ते भावाम्बरमणिरुदेति योगीन्द्र!
यदिदं वदनाम्भोजं जृम्भामवलम्बते भवतः[8]॥ (२९)

[योगीन्द्र! तव हृदयाम्बरे भावाम्बरमणिः ध्रुवम् उदेति; यत् इदं भवतः वदनाम्भोजं जृम्भाम् अवलम्बते॥]

अथ सात्त्विकाः—

२२. रोमाञ्च-स्वेद-कम्पाद्याः सात्त्विकाः प्रलयं विना। (३०)

[प्रलयं विना रोमाञ्च-स्वेद-कम्पाद्याः सात्त्विकाः॥]

तत्र रोमाञ्चो, यथा—

९. पाञ्चजन्यजनितो ध्वनिरन्तः
क्षोभयन् सपदि विद्धसमाधिः।
योगिनां गिरिगुहा-निलयानां
पुद्गले पुलकपालिमनैषीत्॥ (३१)

[पाञ्चजन्यजनितः विद्धसमाधिः ध्वनिः अन्तः क्षोभयन् गिरिगुहानिलयानां योगिनां पुद्गले पुलकपालिम् अनैषीत्॥]

२३. एषां निरभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम्।
सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव न तु दीप्ता भवन्त्यमी॥ (३२)

[शरीरादिषु निरभिमानानाम् एषां योगिनां सात्त्विकाः तु ज्वलन्ति एव, न तु अमी दीप्ताः भवन्ति॥]

२१. जँभाई, अङ्ग मरोड़ना, भक्ति का उपदेश, हरि के प्रति नमन, स्तव आदि दासों के द्वारा की जाने वाली 'शीत' साधारण क्रियायें हैं।

। २८।

उनमें से जँभाई, यथा—

८. *हे योगिराज! आपके हृदयाकाश में निश्चित ही भावरूपी सूर्य उदित है क्योंकि आपका मुख-कमल खिलकर जमुहाई ले रहा है।*

। २९।

सात्त्विक भाव—

२२. मूर्च्छा को छोड़कर, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि यहाँ सात्त्विक भाव हैं।

। ३०।

इनमें से रोमाञ्च, यथा—

९. *पाञ्चजन्य (श्रीहरि के शङ्ख) से उत्पन्न ध्वनि ने अन्तःकरण को क्षुब्ध करते हुए तत्काल समाधि को वेध (तोड़) कर, पर्वतकन्दराओं के निवासी योगियों के शरीर में पुलकपंक्ति ला दी, अर्थात् उन्हें पुलकित कर दिया।*

। ३१।

२३. इन निरभिमानी योगियों के शरीर आदि में सात्त्विक भाव 'ज्वलित' होते हैं किन्तु ये 'दीप्त' नहीं होते।

। ३२।

अथ सञ्चारिणः—

२४. सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः।
विषादोत्सुकतावेग-वितर्काद्याः प्रकीर्तिताः॥ (३३)

[अत्र निर्वेदः, धृतिः, हर्षः, मतिः, स्मृतिः, विषाद-उत्सुकता-आवेग-वितर्काद्याः प्रकीर्तिताः॥]

तत्र निर्वेदो, यथा—

१०. अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति।
आत्मारामतया मे वृथा गतो बत चिरं कालः॥ (३४)

[अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति, आत्मारामतया मे कालः बत चिरं वृथा गतः॥]

अथ स्थायी—

२५. अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा च सा द्विधा। (३५)

[अत्र शान्तिरतिः स्थायी, समा, सान्द्रा च सा द्विधा॥]

तत्र आद्या—

११. समाधौ योगिनस्तस्मिन्नसम्प्रज्ञातनामनि।
लीलयां मयि लब्धेऽस्य बभूवोत्कम्पिनी तनुः॥ (३६)

[योगिनः तस्मिन् असम्प्रज्ञातनामनि समाधौ लीलया मयि लब्धे अस्य तनुः उत्कम्पिनी बभूव॥]

सान्द्रा, यथा—

१२. सर्वाविद्या-ध्वंसतो यः समन्ता-
दाविर्भूतो निर्विकल्पे समाधौ।
जाते साक्षाद् यादवेन्द्रे स विन्द-
न्मय्यानन्दः सान्द्रतां कोटिधासीत्॥ (३७)

[सर्वाविद्याध्वंसतः निर्विकल्पे समाधौ जाते यः समन्तात् मयि आविर्भूतः, सः आनन्दः साक्षात् यादवेन्द्रे सान्द्रतां विन्दन् कोटिधा आसीत्॥]

२६. शान्तो द्विधैषु पारोक्ष्य-साक्षात्कारविभेदतः। (३८)

[एषु पारोक्ष्य-साक्षात्कार-विभेदतः शान्तः द्विधा॥]

सञ्चारी भाव—

२४. यहाँ निर्वेद, धैर्य, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, उत्सुकता, आवेग, वितर्क आदि सञ्चारी भाव कहे गये हैं। ।३३।

उनमें से निर्वेद, यथा—

१०. *यादवपुरी (द्वारिका) में ये सुखघनमूर्त्ति परमात्मा प्रकट हैं, तब भी आत्माराम बने रहते हुए मेरा सुदीर्घ काल हाय! वृथा ही गया।* ।३४।

स्थायी भाव—

२५. यहाँ शान्तिरति स्थायीभाव है, और वह दो प्रकार की है—समा तथा सान्द्रा। ।३५।

उनमें से पहली, समा, यथा—

११. *उस योगी की असम्प्रज्ञात-समाधिदशा में लीला से मैं प्राप्त हो गया तब उसका शरीर उत्कम्पित हो उठा।* ।३६।

दूसरी, सान्द्रा, यथा—

१२. *समस्त अविद्या के ध्वंस से निर्विकल्प समाधि दशा में मुझ में जो आनन्द सभी ओर से आविर्भूत हुआ था वह, यादवेन्द्र श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन होने पर कोटिगुणा घनता को प्राप्त हो गया।* ।३७।

२६. यह शान्त दो प्रकार का होता है—पारोक्ष्य और साक्षात्कार के विभेद से। ।३८।

तत्र पारोक्ष्यं, यथा—

१३. प्रयास्यति महत्तपः सफलतां किमष्टाङ्गिका
मुनीश्वर! पुरातनी परमयोगचर्याप्यसौ?
नराकृतिनवाम्बुदद्युतिधरं[९] परं ब्रह्म मे
विलोचन-चमत्कृतिं कथय किन्नु निर्मास्यति? (३९)

[मुनीश्वर! महत् तपः, पुरातनी (च) असौ अष्टाङ्गिका परमयोगचर्या अपि किं सफलतां प्रयास्यति? कथय, नराकृतिनवाम्बुदद्युतिधरं परं ब्रह्म मे विलोचनचमत्कृतिं किं नु निर्मास्यति?]

यथा वा—

१४. क्षेत्रे कुरोः किमपि चण्डकरोपरागे
सान्द्रं महः[१०] पथि विलोचनयोर्यदासीत्[११]।
तन्नीरदद्युतिजयि[१२] स्मरदुत्सुकं मे
न प्रत्यगात्मनि मनो रमते पुरेव॥ (४०)

[कुरोः क्षेत्रे चण्डकरोपरागे पथि यत् विलोचनयोः सान्द्रनीरदद्युतिजयि महः आसीत्, तत् स्मरत् मे उत्सुकं मनः प्रत्यगात्मनि पुरा इव न रमते॥]

साक्षात्कारो, यथा—

१५. परमात्मतयातिमेदुराद्बत साक्षात्करण-प्रमोदतः।
भगवन्नधिकं प्रयोजनं कतरद् ब्रह्मविदोऽपि विद्यते॥ (४१)

[भगवन्! परमात्मतया अतिमेदुरात् साक्षात्करणप्रमोदतः अधिकं प्रयोजनं बत ब्रह्मविदः अपि कतरत् विद्यते?]

यथा वा—

१६. हृष्टः कम्बुपतिस्वनैर्भुविलुठच्चीराञ्चलः सञ्चल-
न्मूर्धा रुद्धदृगश्रुभिः पुलकितो द्रागेष लीनव्रतः।
अक्ष्णोरञ्जनमञ्जनत्विषि परब्रह्मण्यवाप्ते मुदा
मुद्राभिः प्रकटीकरोत्यवमतिं योगी स्वरूपस्थितौ॥ (४२)

[कम्बुपतिस्वनैः हृष्टः, भुविलुठत्-चीराञ्चलः, सञ्चलन्मूर्धा, अश्रुभिः रुद्धदृक्, पुलकितः, द्राक् एषः लीनव्रतः योगी अक्ष्णोः अञ्जनं अवाप्ते अञ्जनत्विषि परब्रह्मणि मुदा मुद्राभिः स्वरूपस्थितौ अवमतिं प्रकटीकरोति॥]

उनमें से पारोक्ष्य, यथा—

१३. *हे मुनीश्वर! मेरा महान् तप और पहले से चली आती हुई यह आठों अङ्गों वाली परम-योगचर्या क्या सफलता तक पहुँचेगी (फलेगी)? कहो तो! मनुष्यरूपधारी नवीन मेघ जैसी द्युति वाले परम ब्रह्म (श्रीकृष्ण) क्या मेरे नयनों को चमत्कृत करेंगे?* । ३९ ।

अथवा यथा—

१४. *कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के समय जो कोई सघन तेज नयनपथ में आया था, मेघ की द्युति को जीतने वाले उस तेज को स्मरण करता हुआ उत्सुक मेरा मन अब पहले की भाँति प्रत्यगात्मा में नहीं रमता।* । ४० ।

साक्षात्कार, यथा—

१५. *हे भगवन्! परम आत्मा का होने के नाते अतीव सघन साक्षात्कार के प्रमोद से बढ़कर भला कौन-सा प्रयोजन किसी ब्रह्मवेत्ता का भी होगा?* । ४१ ।

अथवा यथा—

१६. *जो शङ्खराज (पाञ्चजन्य) के घोषों से प्रसन्न हुआ, जिसके वस्त्रों के छोर धरती पर लोटने लगे, आनन्द से जिसका मस्तक झूमने लगा, जिसके नयन आनन्दाश्रुओं से रुँध गये, जो पुलकित हो उठा, जिसके सभी व्रत तत्काल लीन हो गये, अर्थात् छूट गये, काजल जैसी श्यामद्युति वाले परब्रह्म के नयनगोचर होते ही आनन्द से भरा यह योगी अपनी मुद्राओं से स्वरूपस्थिति के प्रति अवज्ञा प्रकट कर रहा है।* । ४२ ।

२७. भवेत् कदाचित् कुत्रापिं नन्दसूनोः कृपाभरः।
प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि सोऽत्रैव रतिमुद्वहेत्॥ (४३)

[कदाचित् कुत्र अपि नन्दसूनोः कृपाभरः भवेत् (येन) प्रथमं ज्ञाननिष्ठः अपि सः अत्र एव रतिम् उद्वहेत्॥]

यथा बिल्वमङ्गलोक्तिः[१३]—

१७. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन—
दासीकृता गोपवधूविटेन॥ (४४)

[अद्वैतवीथीपथिकैः उपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः वयं केन अपि गोपवधूटीविटेन शठेन हठेन दासीकृताः॥]

२८. तत्कारुण्यश्लथीभूत-ज्ञानसंस्कारसन्ततिः।
एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद् यथा शुकः॥ (४५)

[तत्कारुण्यश्लथीभूत-ज्ञान-संस्कारसन्ततिः एषः भक्तिरसानन्दनिपुणः स्यात् यथा शुकः॥]

२९. शमस्य निर्विकारत्वान्नाट्यज्ञैर्नैष मन्यते।
शान्त्याख्याया रतेरत्र स्वीकारान्न विरुध्यते॥ (४६)

[शमस्य निर्विकारत्वात् एषः नाट्यज्ञैः न मन्यते, अत्र शान्त्याख्यायाः रतेः स्वीकारात् न विरुद्ध्यते॥]

३०. शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः।
तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं बिना॥ (४७)

["शमः बुद्धेः मन्निष्ठता" इति श्रीभगवद्वचः, एतां शान्तिरतिं बिना बुद्धेः तन्निष्ठा दुर्घटा॥]

केवलशान्तोऽपि, श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथा—

३१. नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥ (४८)

[यत्र सुखं दुःखं न अस्ति, न द्वेषः, न च मत्सरः, सर्वेषु भूतेषु समः, सः शान्तः रसः प्रथितः॥]

२७. कभी कहीं भी नन्दकुमार की अतिशय कृपा हो जाये, तो पहले जो ज्ञाननिष्ठ रहा है वह उन्हीं के प्रति रति से युक्त हो जाता है। । ४३ ।

यथा बिल्वमङ्गल की उक्ति—

१७. अद्वैत की गली के पथिक जिनकी उपासना करते हैं,
आत्मानन्द-रूपी सिंहासन पर जो दीक्षित हैं ऐसे हम,
गोपवधुओं के विट (लम्पट) किसी शठ के द्वारा, हठात्
दास बना लिये गये हैं। । ४४।

२८. भगवान् की करुणा से जिसके ज्ञान-संस्कारों की शृङ्खला शिथिल हो गई है, ऐसा भक्त भक्तिरसानन्द में निपुण होता है, जैसा कि श्रीशुकदेव ने कहा है। । ४५।

२९. नाट्यज्ञ लोग शम को (भाव रूप में) स्वीकार नहीं करते क्योंकि यह निर्विकार है। शान्ति नाम की रति को यहाँ स्वीकार करने के साथ उनका कोई विरोध नहीं है। । ४६।

३०. श्रीभगवान् का ऐसा वचन है कि बुद्धि की मुझ में निष्ठा होना ही शम है। बुद्धि का भगवन्निष्ठ होना इस शान्तिरति के बिना दुर्घट (असम्भव) है। । ४७।

केवल शान्त भी, जैसा श्रीविष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है—

३१. जहाँ न सुख है, न दुःख है और न द्वेष है, न मत्सर है, जहाँ सब प्राणियों के प्रति समान दृष्टि है, वह शान्त नाम से प्रख्यात रस है। । ४८।

३२. सर्वथैवमहङ्कार-रहितत्वं व्रजन्ति चेत्।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति धर्मवीरादयस्तदा॥ (४९)

[सर्वथा एवम् अहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् तदा धर्मवीरादयः अत्र अन्तर्भावम् अर्हन्ति॥]

३३. धृतिस्थायिनमेके तु निर्वेदस्थायिनं परे।
शान्तमेव रसं पूर्वे [१४]प्राहुरेकमनेकधा॥ (५०)

[एके तु धृतिस्थायिनम्, परे निर्वेदस्थायिनम् एकं शान्तम् एव रसं पूर्वे अनेकधा प्राहुः॥]

३४. निर्वेदो विषये स्थायी तत्त्वज्ञानोद्भवः स चेत्।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ॥ (५१)

[विषये निर्वेदः तत्त्वज्ञानोद्भवः चेत् सः स्थायी; इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतः तु असौ व्यभिचारी॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे
मुख्य-भक्तिरसपञ्चक-निरूपणे शान्तभक्तिरस-लहरी प्रथमा॥

३२. धर्मवीर आदि (रस) यदि सर्वथा अहङ्कारशून्यता को पहुँच जायें तो उनका यहीं (शान्त में) अन्तर्भाव मान लेना चाहिये। ।४९।

३३. कुछ लोग धृति को यहाँ स्थायी मानते हैं, अन्य लोग निर्वेद को मानते हैं। ऐसे एक शान्त रस को ही पहले लोगों ने अनेक प्रकार से कहा है। ।५०।

३४. विषयों के प्रति निर्वेद यदि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हो तो वह स्थायी भाव होता है। यदि वह (निर्वेद) इष्ट के वियोग या अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न हो तो वह व्यभिचारी भाव होता है। ।५१।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिमविभाग में मुख्य पाँच भक्तिरसों के निरूपण में पहली शान्तभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

प्रीतभक्तिरसाख्या द्वितीयंलहरी

१. श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः ।
रङ्गप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्तितः ॥ (१)

[श्रीधरस्वामिभिः रङ्गप्रसङ्गे अयम् एव रसोत्तमः सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्तितः ॥]

२. रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ ।
शान्तत्वेनायमेवाद्धा सुदेवाद्यैश्च वर्णितः ॥ (२)

[नामकौमुदीकृद्भिः अपि असौ रतिस्थायितया (प्रोक्तः) सुदेवाद्यैः च अयम् एव अद्धा शान्तत्वेन वर्णितः ॥]

३. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतभक्तिरसो मतः ॥ (३)

[आत्मोचितैः विभावाद्यैः भक्तानां चेतसि आस्वादनीयतां नीता प्रीतिः प्रीतभक्तिरसः मतः ॥]

४. अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा ।
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥ (४)

[अनुग्राह्यस्य दासत्वात् लाल्यत्वात् अपि अयं सम्भ्रमप्रीतः गौरवप्रीतः इति अपि द्विधा भिद्यते ॥]

तत्र सम्भ्रमप्रीतः—

५. दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा ।
पूर्ववत् पुष्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ॥ (५)

[दासाभिमानिनां कृष्णे सम्भ्रमोत्तरा प्रीतिः स्यात्, पूर्ववत् पुष्यमाणः अयं सम्भ्रमप्रीतिः उच्यते ॥]

तत्र आलम्बनाः—

६. हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह । (६)

[इह हरिः च तस्य दासाः च आलम्बनाः ज्ञेयाः ॥]

द्वितीय लहरी—प्रीतभक्तिरस

१. श्रीधरस्वामी ने 'रङ्ग' के प्रसङ्ग में इसी उत्तम रस को 'सप्रेमभक्तिक' नाम से स्पष्ट कहा है। ।१।

२. नामकौमुदी-ग्रन्थ के लेखक ने भी इस रस को रतिस्थायिभाव-वाला कहा है। सुदेव आदि ने भी वास्तव में इसी का शान्त रस के रूप में वर्णन किया है। ।२।

३. आत्मोचित अर्थात् अपने अनुकूल विभाव आदि के द्वारा भक्तों के चित्त में आस्वादन के योग्य बनी हुई प्रीति को ही प्रीतभक्तिरस माना गया है। ।३।

४. जो अनुग्रह का पात्र है वह दो प्रकार का होता है—दास और लाल्य (लालन का पात्र भी)। इसलिये यह प्रीतरस भी सम्भ्रम और गौरव से युक्त होने से दो प्रकार का होता है। ।४।

इनमें से सम्भ्रमप्रीत—

५. जिन में दास होने का 'अभिमान' (मैं दास हूँ—ऐसी भावना) है उनकी श्रीकृष्ण पर ऐसी प्रीति होती है जिस का पर्यवसान सम्भ्रम में होता है। पूर्ववत् पुष्ट होता हुआ यह रस सम्भ्रमप्रीत कहलाता है। ।५।

उसके आलम्बन—

६. श्रीहरि और उनके दास यहाँ आलम्बन जाने जायें। ।६।

तत्र हरिः—

७. आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु।
अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः॥ (७)

[अस्मिन् गोकुलवासिनाम् आलम्बनः द्विभुजः कृष्णः, अन्यत्र क्व अपि एषः द्विभुजः, कुत्र अपि चतुर्भुजः॥]

तत्र व्रजे, यथा—

१. नवाम्बुधरबन्धुरः करयुगेन वक्त्राम्बुजे
निधाय मुरलीं स्फुरत्पुरटनिन्दिपट्टाम्बरः।
शिखण्डकृतशेखरः शिखरिणस्तटे पर्यटन्
प्रभुर्दिवि दिवौकसो भुवि धिनोति नः किङ्करान्। ।८।

[नवाम्बुधरबन्धुरः स्फुरत्पुरटनिन्दिपट्टाम्बरः शिखण्डकृतशेखरः करयुगेन वक्त्राम्बुजे मुरलीं निधाय शिखरिणः तटे पर्यटन् प्रभुः दिवि दिवौकसः, भुवि नः किङ्करान् धिनोति॥]

अन्यत्र द्विभुजो, यथा—

२. प्रभुरयमनिशं पिशङ्गवासाः
करयुगभागरिकम्बुरम्बुदाभः।
नवघन इव चञ्चलापिनद्धो
रविशशिमण्डलमण्डितश्चकास्ति॥ (९)

[अयं प्रभुः पिषङ्गवासाः, अम्बुदाभः, करयुगभाग्-अरिकम्बुः, चञ्चलापिनद्धः नवघनः इव रविशशिमण्डलमण्डितः अनिशं चकास्ति॥]

तत्र चतुर्भुजो, यथा ललितमाधवे—

३. चञ्चत्कौस्तुभ-कौमुदी-समुदयः कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यश्चतुर्भिर्भुजैः।
दिव्यालङ्करणेन सङ्कटतनुः सङ्गी विहङ्गेशितु-
र्मां व्यस्मारयदेष कंसविजयी वैकुण्ठगोष्ठीश्रियम्॥ (१०)

[चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयः, कौमोदकीचक्रयोः तथा जलजयोः सख्येन उज्ज्वलितैः चतुर्भिः भुजैः आढ्यः, दिव्यालङ्करणेन सङ्कटतनुः, विहङ्गेशितुः सङ्गी, एषः कंसविजयी मां वैकुण्ठगोष्ठीश्रियं व्यस्मारयत्॥]

उनमें से हरि—

७. इस रस में गोकुलवासियों के लिये द्विभुज कृष्ण आलम्बन है। अन्यत्र ये कभी द्विभुज तो कभी चतुर्भुज होते हैं। ।७।

व्रज में कृष्ण, यथा—

१. *नवीन मेघ की भाँति सुन्दर श्यामल उज्ज्वल स्वर्ण को भी फीका बनाने वाले रेशमी वस्त्र धारण किये हुए, दोनों हाथों से मुखकमल पर मुरली रखे हुए, मयूरपिच्छ (मोरपंख) का मुकुट लगाये हुए, पर्वत की तलहटी में विचरण करते हुए प्रभु द्युलोक में देवों को और भूलोक में हम दासों को हर्षित करते हैं। ।८।*

अन्यत्र द्विभुज यथा—

२. *वे प्रभु सुनहरे वस्त्र पहने हैं, दोनों हाथों में अरिकम्बु (पाञ्चजन्य) शङ्ख पकड़े हैं; उनकी कान्ति मेघ-जैसी है, वे विद्युत् से युक्त नवीन मेघ की भाँति हैं। सूर्य-चन्द्र के मण्डल से मण्डित वे निरन्तर प्रकाशित हैं। ।९।*

चतुर्भुज, यथा ललितमाधव में—

३. *कौस्तुभ की लहराती हुई चन्द्रिका जैसी आभा उन में समुदित है, कौमोदकी गदा, चक्र तथा जल से उद्‌भूत कमल और शङ्ख के सख्य से उज्ज्वल चार भुजाओं से वे समृद्ध हैं। दिव्य अलङ्कारों से उनका शरीर भरा हुआ है; वे पक्षिराज गरुड के सङ्गी हैं। ऐसे इन कंसविजयी ने वैकुण्ठ-गोष्ठी की शोभा मुझे भुला ही दी है। ।१०।*

८. ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः कृपाम्बुधिः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥ (११)

[ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः, कृपाम्बुधिः, अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥]

९. अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः।
ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढव्रतः॥ (१२)

[अवताराबलीबीजम्, सदा आत्मारामहृद्गुणः, ईश्वरः, परमाराध्यः, सर्वज्ञः, सुदृढव्रतः॥]

१०. समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः।
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः॥ (१३)

[समृद्धिमान्, क्षमाशीलः, शरणागतपालकः, दक्षिणः, सत्यवचनः, दक्षः, सर्वशुभङ्करः॥]

११. प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृत्तमः।
वदान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्तिसंश्रयः॥ (१४)

[प्रतापी, धार्मिकः, शास्त्रचक्षुः, भक्तसुहृत्तमः, वदान्यः, तेजसा युक्तः, कृतज्ञः, कीर्तिसंश्रयः।।]

१२. वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः।
युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः॥ (१५)

[वरीयान्, बलवान्, प्रेमवश्यः, इत्यादिभिः गुणैः युतः एषः हरिः चतुर्विधेषु दासेषु आलम्बनः॥]

अथ दासाः—

१३. दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः।
विश्वस्ताः प्रभुता-ज्ञान-विनम्रितधियश्च ते[२]॥ (१६)

[ते दासाः तु प्रश्रिताः तस्य निदेशवशवर्त्तिनः, विश्वस्ताः, प्रभुताज्ञान-विनम्रितधियः च॥]

यथा—

४. प्रभुरयमखिलैर्गुणैर्गरीयान्
इह तुलनामपरः प्रयाति नास्य।
इति परिणतनिर्णयेन नम्रान्
हितचरितान् हरिसेवकान् भजध्वम्॥ (१७)

[अयं प्रभुः इह अखिलैः गुणैः गरीयान्, अपरः अस्य तुलनां न प्रयाति, इति परिणतनिर्णयेन नम्रान् हितचरितान् हरिसेवकान् भजध्वम्॥]

८. कोटि (करोड़ों) ब्रह्माण्ड की ज्योति उनके एक-एक रोम-कूप में भरी है; कृपा के समुद्र-रूप उनमें अचिन्त्य महाशक्ति है, सब सिद्धियाँ उनकी सेवा करती हैं। ।११।

९. वे अवतारों के बीज हैं। उनके गुण ऐसे हैं कि आत्माराम मुनियों को भी आकर्षित कर लेते हैं। वे ईश्वर, परम आराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़ व्रत-वाले हैं। ।१२।

१०. वे समृद्धिमान्, क्षमाशील, शरणागत-पालक, दक्षिण अर्थात् उदार, सत्यवचन, दक्ष, सब का शुभ करनेवाले हैं। ।१३।

११. वे प्रतापी, धार्मिक, शास्त्ररूपी चक्षुवाले, भक्तों के परम सुहृद्, वदान्य (उदार), तेजस्वी, कृतज्ञ, कीर्त्ति के आश्रय हैं। ।१४।

१२. वरीयान् (अधिक वरण करने योग्य), बलवान्, प्रेम के वशीभूत-इत्यादि गुणों से युक्त ये हरि चतुर्विध दासों के आलम्बन हैं। ।१५।

दास—

१३. वे दास उनके आश्रित हैं, उनकी आज्ञा के वशवर्ती हैं, विश्वस्त हैं और प्रभुता के ज्ञान से उनकी बुद्धि विनम्र बनी हुई है। ।१६।

यथा—

४. *''यहाँ ये प्रभु अखिल गुणों से गरिमावान् हैं, इनकी तुलना में दूसरा नहीं ठहर सकता।''- ऐसे परिणत निर्णय से जो नम्र बने हुए हैं, जिनके चरित हितकारी हैं, ऐसे हरि-सेवकों का तुम सब भजन करो।* ।१७।

१४. चतुर्धामी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः॥ (१८)

[अमी अधिकृत-आश्रित-पारिषद-अनुगाः (इति) चतुर्धा॥]

तत्र अधिकृताः—

१५. ब्रह्म-शङ्कर-शक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः।
रूपं प्रसिद्धमेवैषां[3] तेन भक्तिरुदीर्यते॥ (१९)

[ब्रह्म-शङ्कर-शक्राद्याः बुधैः अधिकृताः प्रोक्ताः। एषां रूपं प्रसिद्धम् एव, तेन भक्तिः उदीर्यते॥]

यथा—

५. का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कःक्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत्॥ (२०)

[का पर्येति? इयम् अम्बिका। हरिम् अवकलयन् कः कम्पते? असौ शिवः। कः तं स्तौति? एष धाता। क्षितौ विलुठन् कः प्रणमति? अयं वासवः, कः स्तब्धः दनुजभिदः अनुजैः हस्यते? अयम् अद्धा मम पूर्वजः-इत्थं कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं व्यतानीत्॥]

अथ आश्रिताः—

१६. ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधाश्रिताः; (२१)

[ते आश्रिताः-शरण्याः, ज्ञानिचराः, सेवानिष्ठाः- (इति) त्रिधा॥]

यथा—

६. केचिद्भीताः शरणमभितः संश्रयन्ते भवन्तं
विज्ञातार्थास्त्वदनुभवतः प्रास्य केचिन्मुमुक्षाम्।
श्रावं श्रावं तव नवनवां माधुरीं साधुवृन्दाद्-
वृन्दारण्योत्सव! किल वयं देव! सेवेमहि त्वाम्॥ (२२)

[केचित् भीताः भवन्तम् अभितः शरणं संश्रयन्ते त्वदनुभवतः विज्ञातार्थाः केचित् मुमुक्षां प्रास्य (भवन्तं संश्रयन्ते) देव! वृन्दारण्योत्सव! वयं किल साधुवृन्दात् तव नवनवां माधुरीं श्रावं श्रावं त्वां सेवेमहि॥]

१४. ये दास चार प्रकार के हैं—अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुग। ।१८।

इनमें से अधिकृत—

१५. ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि को प्रबुद्ध-जनों ने 'अधिकृत' कहा है। इनका रूप प्रसिद्ध ही है, इसलिए इन की भक्ति की बात यहाँ कही जा सकती है। ।१९।

५. *"कौन चारों ओर घूम रही है?"-"ये अम्बिका हैं।" "श्रीहरि को पहचान कर कौन काँप रहा है?"-"ये शिव हैं।" "कौन श्रीहरि की स्तुति कर रहा है?" "ये ब्रह्मा हैं।" "धरती पर लोटते हुए यह कौन प्रणाम कर रहा है?"—"ये इन्द्र हैं।" "यह कौन स्तब्ध है? जिस पर दनुजों के शत्रु श्रीकृष्ण के अनुज हँस रहे हैं।"-"यह वास्तव में मेरा पूर्वज (बड़ा भाई) यम है"-इस प्रकार कालिन्दी ने जाल के छिद्रों में से जाम्बवती को (द्वारिका-सभा-प्रासाद में आये हुए) देवों का परिचय दिया।।२०।*

आश्रित—

१६. वे आश्रित तीन प्रकार के हैं—शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ। ।२१।

यथा—

६. *हे वृन्दावन के उत्सवस्वरूप देव ! कोई लोग भीत होकर सब ओर से आपकी शरण का आश्रय लेते हैं, आपके अनुभव से जिन्होंने तत्त्व जान लिया है, ऐसे कोई-कोई हम-जैसे मोक्ष को काटकर, साधुओं के समूह से तुम्हारी नई-नई माधुरी को सुन-सुन कर आप की सेवा करते हैं। ।२२।*

तत्र शरण्याः—

१७. शरण्याः कालिय-जरासन्धबद्ध-नृपादयः ॥ (२३)

[कालिय-जरासन्धबद्धनृपादयः शरण्याः ॥]

यथा—

७. अपि गहनागसि नागे प्रभुवर! मय्यद्भुताद्य ते करुणा।
भक्तैरपि दुर्लभया यदहं पदमुद्रयोज्ज्वलितः ॥ (२४)

[प्रभुवर! गहनागसि मयि नागे अपि अद्य ते करुणा अद्भुता, यत् अहं भक्तैः अपि दुर्लभया (तव) पदमुद्रया उज्ज्वलितः ॥]

यथा वा अपराधभञ्जने—

८. कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा
जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते! साम्प्रतं लब्धबुद्धिस्
त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥ (२५)

[कामादीनां कति न कतिधाः दुर्निदेशाः पालिताः, (किन्तु) तेषां मयि करुणा न जाता, न त्रपा न (च) उपशान्तिः। अथ तान् उत्सृज्य साम्प्रतं लब्धबुद्धिः यदुपते! त्वां शरणम् आयातः, माम् आत्मदास्ये अभयं नियुङ्क्ष्व ॥]

अथ ज्ञानिचराः—

१८. ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः।
[४]शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः ॥ (२६)

[ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिम् एव समाश्रिताः ते शौनकप्रमुखाः तु बुधैः ज्ञानिचराः प्रोक्ताः ॥]

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

९. अहो महात्मन्! बहुदोषदुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन।
सत्सङ्गमाख्येन सुखावहेन कृताद्य नो येन कृशा मुमुक्षा ॥ (२७)

[अहो महात्मन्! बहुदोषदुष्टः अपि एषः भवः सुखावहेन सत्सङ्गमाख्येन एकेन गुणेन भाति, येन अद्य नः मुमुक्षा कृशा कृता ॥]

उनमें से शरण्य—

१७. कालिय नाग, जरासन्ध के बन्धन में पड़े हुए नृप आदि शरण्य (शरण में लेने योग्य) हैं। ।२३।

यथा—

७. हे प्रभुवर! गहरे पापी मुझ नाग पर भी आज आपकी अद्भुत करुणा है, जोकि मैं भक्तों को भी दुर्लभ (आपके) पदचिह्न से उज्ज्वल बना हूँ। ।२४।

अथवा यथा अपराध-भञ्जन में—

८. काम आदि के कितने ही दुष्ट निर्देशों का मैंने कितने प्रकार से पालन नहीं किया? उनकी तो मुझ पर कृपा नहीं हुई, न (उससे मुझे) लज्जा ही हुई, और न ही उपशान्ति हुई। हे यदुपते! अब इनको छोड़कर मुझे बुद्धि प्राप्त हुई है, आपकी शरण में आ गया हूँ; आप मुझे अभय बना कर अपने दास्य में नियुक्त करें। ।२५।

ज्ञानिचर—

१८. जो मुमुक्षा को छोड़कर हरि का ही आश्रय लेते हैं, वे शौनक आदि बुधजनों (समझ-युक्त व्यक्तियों) द्वारा ज्ञानिचर कहे गये हैं। ।२६।

यथा हरिभक्तिसुधोदय में—

९. अहो महात्मन्! बहुत दोषों से दुष्ट होने पर भी यह संसार एक गुण से सुशोभित है—जिस सत्सङ्ग-नामक सुखदायक गुण ने आज हमारी मुमुक्षा को क्षीण बना दिया है। ।२७।

यथा वा पद्यावल्याम्—

१०. ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा[५]।
अस्माकन्तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥ (२८)

[ये तु ध्यानातीतं परमं किम् अपि तत्त्वं जानन्ति, तेषां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्रः आत्मा आस्ताम्, अस्माकं तु अयं प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दः मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षः (एव) आत्मा॥]

अथ सेवानिष्ठाः—

१९. मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः।
चन्द्रध्वजो हरिहयो[६] बहुलाश्वस्तथा नृपः॥
इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुण्डरीकादयश्च ते॥ (२९)

[चन्द्रध्वजः, हरिहयः, तथा बहुलाश्वः नृपः, इक्ष्वाकुः, श्रुतदेवः च, ते पुण्डरीकादयः च मूलतः भजनासक्ताः सेवानिष्ठाः इति ईरिताः॥]

यथा—

११. आत्मारामानपि गमयति त्वद्गुणो गानगोष्ठीं
शून्योद्याने नयति विहगानप्यलं भिक्षुचर्याम्।
इत्युत्कर्षं कमपि सचमत्कारमाकर्ण्य चित्रं
सेवायां ते स्फुटमघहर! श्रद्धया गर्धितोऽस्मि॥ (३०)

[अघहर! त्वद्गुणः आत्मारामान् अपि गानगोष्ठीं गमयति, शून्योद्याने विहगान् अपि अलं भिक्षुचर्यां नयति, इति सचमत्कारं कम् अपि चित्रम् उत्कर्षम् आकर्ण्य ते सेवायां श्रद्धया स्फुटं गर्धितः अस्मि॥]

अथ पारिषदाः—

२०. उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित्।
नन्दोपनन्द-भद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने॥ (३१)

[उद्धवः, दारुकः, जैत्रः, श्रुतदेवः, शत्रुजित् च, नन्द-उपनन्द-भद्राद्याः यदुपत्तने पार्षदाः॥]

अथवा यथा पद्यावली में—

१०. जो लोग ध्यान के अतीत किसी परम तत्त्व को जानते हैं, उनके हृदय-कुहर में शुद्ध चिन्मात्र आत्मा रहा करे, हमारा आत्मा तो यह स्वभाव-मधुर, मुस्कुराते हुए मुखारविन्द-वाला, मेघश्याम, सुनहरे परिधान-वाला कमलनयन (श्रीकृष्ण) है। ।२८।

सेवानिष्ठ—

१९. जो मूलतः भजन में आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ कहे गये हैं। वे हैं चन्द्रध्वज, हरिहय, राजा बहुलाश्व, इक्ष्वाकु तथा श्रुतदेव एवं पुण्डरीक आदि। ।२९।

यथा—

११. हे अघहर! तुम्हारा गुण आत्माराम जनों को भी गान-गोष्ठी में पहुँचा देता है; सूने उद्यान में पक्षियों को भी भिक्षुओं जैसे आचरण में ले जाता है;— इस प्रकार चमत्कारमय किसी अद्भुत उत्कर्ष को सुनकर मैं आपकी सेवा के प्रति स्फुट रूप से, श्रद्धा से लुब्ध हूँ। ।३०।

पारिषद—

२०. उद्धव, दारुक, जैत्र, श्रुतदेव, शत्रुजित्, नन्द, उपनन्द, भद्र आदि यदुपुर में पार्षद हैं॥ ।३१।

२१. नियुक्ताः सन्त्यमी मन्त्र-सारथ्यादिषु कर्मसु।
तथापि क्वाप्यवसरे परिचर्याञ्च कुर्वते।
कौरवेषु तथा भीष्म-परीक्षिद्विदुरादयः॥ (३२)

[अमी मन्त्रसारथ्यादिषु कर्मसु नियुक्ताः सन्ति, तथा अपि क्व अपि अवसरे परिचर्यां च कुर्वते, तथा कौरवेषु भीष्म-परीक्षित्-विदुरादयः॥]

तेषां रूपं, यथा—

१२. सरसाः सरसीरुहाक्षवेषा-
स्त्रिदिवेशावलिजैत्रकान्तिलेशाः।
यदुवीरसभासदः सदामी
प्रचुरालङ्करणोज्ज्वला जयन्ति॥ (३३)

[सरसाः सरसीरुहाक्षवेषाः त्रिदिवेशावलिजैत्रकान्तिलेशाः, अमी यदुवीरसभासदः सदा प्रचुरालङ्करणोज्ज्वलाः जयन्ति॥]

भक्तिः, यथा—

१३. शंसन् धूर्जटि-निर्जयादि-विरुदं बाष्पावरुद्धाक्षरं
शङ्का-पङ्कलवं मदादगणयन् कालाग्निरुद्रादपि।
त्वय्येवार्पितबुद्धिरुद्धवमुखस्त्वत्पार्षदानां गणो
द्वारि द्वारवतीपुरस्य पुरतः सेवोत्सुकस्तिष्ठति॥ (३४)

[धूर्जटिनिर्जयादिविरुदं बाष्पावरुद्धाक्षरं शंसन्, कालाग्निरुद्रात् अपि शङ्कापङ्कलवं मदात् अगणयन्, त्वयि एव अर्पितबुद्धिः उद्धवमुखः तवत्पार्षदानां गणः द्वारवतीपुरस्य द्वारि सेवोत्सुकः पुरतः तिष्ठति॥]

२२. एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः॥ (३५)

[प्रेमविक्लवः श्रीमान् उद्धवः एतेषां प्रवरः॥]

तस्य रूपं, यथा—

१४. कालिन्दीमधुरत्विषं मधुपतेर्माल्येन निर्माल्यतां
लब्धेनाञ्चितमम्बुरेण च लसद्गोरोचना-रोचिषा।
द्वन्द्वेनार्गलसुन्दरेण भुजयोर्भ्राजिष्णुमब्जेक्षणं
मुख्यं पारिषदेषु भक्तिलहरीरुद्धं भजाम्युद्धवम्॥ (३६)

[कालिन्दीमधुरत्विषम्, मधुपतेः माल्येन निर्माल्यतां लब्धेन लसद्गोरोचनारोचिषा अम्बरेण अञ्चितम्, अर्गलसुन्दरेण भुजयोः द्वन्द्वेन भ्राजिष्णुम् भक्तिलहरीरुद्धम्, पारिषदेषु मुख्यम् उद्धवं भजामि॥]

२१. ये मन्त्रणा, सारथि-कर्म आदि में नियुक्त रहते हैं। कभी अवसर आने पर परिचर्या भी करते हैं। उसी प्रकार कौरवों में भीष्म, विदुर, परीक्षित् आदि हैं। ।३२।

उनका रूप, यथा—

१२. *यदुवीर के ये सभासद सरस हैं, कमललोचन श्रीकृष्ण के सदृश वेश पहने हैं, इनकी कान्ति स्वर्गपति देवराजों की कान्ति को भी जीतने वाली है। सदा प्रचुर अलङ्कारों से उज्ज्वल ये जययुक्त हैं। ।३३।*

उनकी भक्ति, यथा—

१३. *शिव पर श्रीकृष्ण की विजय आदि के विरुद को (आनन्दजनित) अश्रुओं से रुँधे (गद्गद) अक्षरों से कहते हुए, (भगवान् के पार्षद होने के) गर्व या मद के कारण कालाग्नि-रूप रुद्र से भी शङ्का (भय)-रूपी पङ्क को लवमात्र भी न गिनते हुए, आप ही में सम्पूर्ण बुद्धि अर्पित किये हुए-उद्धव आदि आपके पार्षदों का समूह द्वारिकापुरी के द्वार के सामने सेवा के लिए उत्सुक बैठा है। ।३४।*

२२. प्रेम से व्याकुल (परवश) श्रीमान् उद्धव इन (पार्षदों) में से श्रेष्ठ हैं। ।३५।

उनका रूप, यथा—

१४. *जिनकी कान्ति कालिन्दी जैसी (श्याम) मधुर है, जो मधुपति का निर्माल्य बने हुए (प्रसादी) माल्य से सुशोभित हैं, चमकते हुए गोरोचन की कान्ति वाले (पीले) वस्त्रों से सुसज्जित हैं, अर्गला जैसी सुन्दर सुदृढ़ दो भुजाओं से उज्ज्वल हैं, भक्ति की लहरों से जो रुँधे (वशीकृत) हैं, पार्षदों में मुख्य उन उद्धव को मैं भजता हूँ। ।३६।*

भक्तिः, यथा—

१५. मूर्धन्याहुकशासनं प्रणयते ब्रह्माण्डकोटीश्वरः।
सिन्धुं प्रार्थयते भुवं तनुतरां ब्रह्माण्डकोटीश्वरः।
मन्त्रं पृच्छति मामपेशलधियं विज्ञानवारांनिधिर्
विक्रीडत्यसकृद्विचित्रचरितः सोऽयं प्रभुर्मादृशाम्॥ (३७)

[ब्रह्मेशयोः शासिता मूर्धनि आहुकशासनं प्रणयते, ब्रह्माण्डकोटीश्वरः सिन्धुं तनुतरां भुवं प्रार्थयते, विज्ञानवारांनिधिः माम् अपेशलधियं मन्त्रं पृच्छति, विचित्रचरितः सः अयं मादृशां प्रभुः असकृत् विक्रीडति॥]

अथ अनुगाः—

२३. सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः।
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युच्यन्ते[७] अनुगा द्विधा॥ (३८)

[प्रभोः परिचर्यासु सर्वदा आसक्तचेतसः अनुगाः पुरस्थाः च व्रजस्थाः च इति द्विधा उच्यन्ते॥]

तत्र पुरस्थाः—

२४. सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्बः सुतन्वाद्याः पुरानुगाः।
एषां पार्षदवत् प्रायो रूपालङ्करणादयः॥ (३९)

[सुचन्द्रः, मण्डनः, स्तम्बः, सुतन्व-आद्याः, पुरानुगाः। एषां रूपालङ्करणादयः प्रायः पार्षदवत्॥]

सेवा, यथा—

१६. उपरि कनकदण्डं मण्डनो विस्तृणीते
धुवति किल सुचन्द्रश्चामरं चन्द्रचारुम्।
उपहरति सुतन्वः सुष्ठु ताम्बूलवीटीं
विदधति परिचर्यां साधवो माधवस्य॥ (४०)

[मण्डनः उपरि कनकदण्डं विस्तृणीते, सुचन्द्रः किल चन्द्रचारुं चामरं धुन्वति, सुतन्वः सुष्ठु ताम्बूलवीटीम् उपहरति, साधवः माधवस्य परिचर्यां विदधति॥]

उनकी भक्ति, यथा-

१५. *ब्रह्मा और शिव पर शासन करनेवाले ये (श्रीकृष्ण) आहुक (उग्रसेन) की आज्ञा को मस्तक पर धारण करते हैं, कोटि-ब्रह्माण्डों के ईश्वर (शास्ता) हैं वे समुद्र से थोड़ी-सी भूमि (द्वारिका बसाने के लिये) माँगते हैं, जो विज्ञान के सागर हैं, वे मुझ मन्दबुद्धि से मन्त्रणा लेते एवं पूछते हैं—ऐसे विचित्र चरित्र वाले ये मुझ जैसों के प्रभु वारम्वार क्रीडा कर रहे हैं। ।३७।*

अनुग—

२३. प्रभु की परिचर्या में जिनका चित्त सर्वदा आसक्त है, वे अनुग द्विविध हैं—पुर में स्थित और व्रज में स्थित। ।३८।

उनमें से पुर-स्थित—

२४. सुचन्द्र, मण्डन, स्तम्ब, सुतन्व, सुधन्वा आदि पुर में रहनेवाले अनुग हैं। इनके रूप और अलङ्करण आदि प्राय: पार्षदों जैसे ही होते हैं। ।३९।

इनके द्वारा सेवा, यथा—

१६. *मण्डन उन (श्रीकृष्ण) के ऊपर कनकदण्ड वाला छत्र फैला रहा है, सुचन्द्र चन्द्रमा जैसा सुन्दर शुभ्र चामर डुला रहा है, सुतन्व ताम्बूल का बीड़ा भली-भाँति सामने रख रहा है; इस प्रकार (ये) साधुजन माधव की परिचर्या कर रहे हैं। ।४०।*

अथ व्रजस्थाः—

२५. रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः।
रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः॥ (४१)

[रक्तकः, पत्रकः, पत्री, मधुकण्ठः, मधुव्रतः, रसालः सुविलासः च, प्रेमकन्दः, मरन्दकः॥]

२६. आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा।
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः॥ (४२)

[आनन्दः, चन्द्रहासः च, पयोदः, बकुलः तथा रसदः, शारदाद्याः च, व्रजस्थाः अनुगाः मता॥]

एषां रूपं, यथा—

१७. मणिमयवरमण्डनोज्ज्वलाङ्गान्
पुरट-जवा-मधुलिट्-पटीर-भासः।
निजवपुरनुरूप-दिव्य-वस्त्रान्
व्रजपतिनन्दन-किङ्करान्नमामि॥ (४३)

[मणिमयवरमण्डनोज्ज्वलाङ्गान्, पुरट-जवा-मधुलिट्-पटीरभासः, निजवपुरनुरूप-दिव्यवस्त्रान्, व्रजपतिनन्दनकिङ्करान् नमामि॥]

सेवा, यथा—

१८. द्रुतं कुरु परिष्कृतं बकुल! पीतपट्टांशुकं
वरैरगुरुभिर्जलं रचय वासितं वारिद!
रसाल! परिकल्पयोरगलतादलैर्वीटिकाः
परागपटली गवां दिशमरुन्ध पौरन्दरीम्॥ (४४)

[बकुल! पीतपट्टांशुकं द्रुतं परिष्कृतं कुरु। वारिद! वरैः अगुरुभिः वासितं जलं रचय! रसाल! उरगलतादलैः वीटिकाः कल्पय, गवां परागपटली पौरन्दरीं दिशंम् अरुन्ध॥]

२७. व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः। (४५)

[सर्वेषु व्रजानुगेषु रक्तकः वरीयान् मतः॥]

व्रजस्थ अनुग—

२५-२६. रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल और सुविलास, प्रेमकन्द, मरन्दक,आनन्द और चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद, शारद आदि व्रजस्थ अनुग माने गये हैं। ।४१-४२।

इनका रूप, यथा—

१७. *मणिमय, श्रेष्ठ आभूषणों से जिन के अङ्ग उज्ज्वल हैं, सुवर्ण, जवा, भ्रमर, चन्दन जैसी जिनकी आभा है, जिनके दिव्य वस्त्र अपने-अपने शरीर के अनुरूप हैं, ऐसे व्रजेश (नन्द) के नन्दन (पुत्र)के किङ्करों को मैं नमस्कार करता हूँ। ।४३।*

सेवा, यथा—

१८. *हे बकुल! पीले रेशमी वस्त्र को शीघ्र परिष्कृत करो; वारिद! श्रेष्ठ अगर से सुवासित जल बनाओ; रसाल! नागवल्ली (ताम्बूललता) के पत्तों के बीड़े बनाओ! (देखो!) गायों की पराग-पटली (गोधूलि की श्रेणी) ने इन्द्र की दिशा (पूर्व) को ढक दिया है। (साँझ हो रही है, कन्हैया वन से लौट रहा होगा।) ।४४।*

२७. सभी व्रजस्थ अनुगों में से रक्तक को श्रेष्ठ माना गया है। ।४५।

अस्य रूपं, यथा—

१९. रम्यपिङ्गपटमङ्गरोचिषा
खर्वितोरुशतपर्विकारुचम्।
सुष्ठु गोष्ठयुवराजसेविनं
रक्तकण्ठमनुयामि रक्तकम्॥ (४६)

[रम्यपिङ्गपटम्, अङ्गरोचिषा खर्वितोरुशतपर्विका-रुचम्, सुष्ठु गोष्ठयुवराजसेविनम्, रक्तकण्ठम् रक्तकम् अनुयामि॥]

भक्तिः, यथा—

२०. गिरिवरभृति भर्तृदारकेऽस्मिन्
व्रजयुवराजतया गते प्रसिद्धिम्।
शृणु रसद! सदा पदाभिसेवा-
पटिमरता रतिरुत्तमा ममास्तु॥ (४७)

[शृणु रसद! अस्मिन् गिरिवरभृति भर्तृदारके व्रजयुवराजतया प्रसिद्धिं गते सदा पदाभिसेवापटिमरता मम उत्तमा रतिः अस्तु॥]

२८. धुर्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा परिषदादिकः; (४८)

[धुर्यः, धीरः च वीरः च (इति) पारिषदादिकः त्रिधा॥]

तत्र धुर्यः—

२९. कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम्।
यः प्रीतिं तनुते भक्तः[८] स धुर्य इह[९] कीर्त्यते॥ (४९)

[कृष्णे, अस्य प्रेयसीवर्गे, दासादौ च यः यथायथं प्रीतिं तनुते, सः भक्तः इह धुर्यः कीर्त्यते॥]

यथा—

२१. देवः सेव्यतया यथा स्फुरति मे देव्यस्तथास्य प्रियाः
सर्वः प्राणसमानतां प्रचिनुते[१०] तद्भक्तिभाजां गणः।
स्मृत्वा साहसिकं बिभेमि तमहं भक्ताभिमानोन्नतं
प्रीतिं तत्प्रणते खरेऽप्यविदधद्यः स्वास्थ्यमालम्बते॥ (५०)

[यथा देवः मे सेव्यतया स्फुरति, तथा अस्य प्रियाः देव्यः, तद्भक्तिभाजां सर्वः गणः प्राणसमानतां वितनुते, तं साहसिकं भक्ताभिमानोन्नतं स्मृत्वा अहं बिभेमि, यः तत्प्रणते खरे अपि प्रीतिम् अविदधत् स्वास्थ्यम् आलम्बते॥]

उसका रूप, यथा—

१९. *सुन्दर सुनहले वस्त्र पहने, अङ्गकान्ति से उत्तम दूर्वा की कान्ति को तुच्छ बनाने वाले, गोष्ठ (व्रज) के युवराज (श्रीकृष्ण) की भली-भाँति सेवा करनेवाले, मनोहर कण्ठ वाले रक्तक का मैं अनुगमन करता हूँ। ।४६।*

उसकी भक्ति, यथा—

२०. *हे रसद! सुनो, गिरिवर को धारण करने वाले, व्रज के युवराज के रूप में प्रसिद्ध हुए, इस स्वामीपुत्र में सदा ही चरण-सेवा के कौशल में रत मेरी उत्तम रति बनी रहे। ।४७।*

२८. धुर्य, धीर और वीर—इस प्रकार पारिषद (पार्षद) आदि तीन प्रकार के हैं। ।४८।

उनमें से धुर्य—

२९. श्रीकृष्ण तथा उनके प्रेयसी-वर्ग में एवं दास आदि में जो यथोचित प्रीति का विस्तार करता है, वह भक्त यहाँ धुर्य कहलाता है। ।४९।

यथा—

२१. *जैसे मेरे देव सेव्य के रूप में स्फुरित होते हैं, उसी प्रकार उनकी प्रिया देवियाँ और उनके भक्तों का समूह प्राण के समान हो रहा है। मैं तो उस साहसिक और भक्त होने के अभिमान से ऊँचे उठे (उद्धत) जन का स्मरण करके भय पाता हूँ, जो उन प्रभु के प्रति प्रणत गधे पर भी प्रीति न करता हुआ स्वस्थ बना रहता है। (अर्थात् प्रभु के प्रति प्रणत जीवमात्र प्रणम्य एवं प्रीति-योग्य है।) ।५०।*

अथ धीरः—

३०. आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः।
तस्य प्रसादपात्रं स्यान्मुख्यं धीरः स उच्यते॥ (५१)

[अस्य प्रेयसीम् आश्रित्य नातिसेवापरः अपि यः तस्य मुख्यं प्रसादपात्रं स्यात्, सः धीरः उच्यते॥]

यथा—

२२. कमपि पृथगनुच्चैर्नाचरामि प्रयत्नं
यदुकुल-कमलार्क! त्वत्प्रसादश्रियेऽपि।
समजनि ननु देव्याः पारिजातार्चितायाः
परिजननिखिलान्तःपातिनी[११] मे यदाख्या॥ (५२)

[यदुकुल-कमलार्क! त्वत्प्रसादश्रिये अपि कम् अपि अनुच्चैः पृथक् यत्नं न आचरामि, यत् पारिजातार्चितायाः देव्याः परिजननिखिलान्तःपातिनी मे आख्या ननु समजनि॥]

अथ वीरः—

३१. कृपां तस्य समाश्रित्य प्रौढां नान्यमपेक्षते।
अतुलां यों वहन् कृष्णे प्रीतिं वीरः स उच्यते॥ (५३)

[तस्य प्रौढां कृपां समाश्रित्य कृष्णे अतुलां प्रीतिं वहन् यः अन्यं न अपेक्षते; सः वीरः उच्यते॥]

यथा—

२३. प्रलम्बरिपुरीश्वरो भवतु का कृतिस्तेन मे
कुमार-मकरध्वजादपि न किञ्चिदास्ते फलम्।
किमन्यदहमुद्धतः प्रभुकृपा-कटाक्षश्रिया
प्रिया-परिषदग्रिमां न गणयामि भामामपि॥ (५४)

[प्रलम्बरिपुः ईश्वरः भवतु, तेन मे का कृतिः? कुमारमकरध्वजात् अपि किञ्चित् फलं न आस्ते। प्रभुकृपाकटाक्षश्रिया अहं कियत् उद्धतः (यत्) प्रियापरिषदग्रिमां भामाम् अपि न गणयामि॥]

धीर—

३०. जो श्रीकृष्ण की प्रेयसी का आश्रय लेकर, उन (श्रीकृष्ण) का बहुत सेवापरायण न होते हुए भी, उनका मुख्य प्रसादपात्र बन जाता है, वह धीर कहलाता है। ।५१।

यथा—

२२. *हे यदुकुल-कमल के सूर्य! तुम्हारी प्रसादश्री के लिए मैं पृथक्-रूप से थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं करता हूँ, क्योंकि पारिजात से अर्चित देवी के परिजन-समूह के बीच में मेरी गिनती हो गई है। ।५२।*

वीर—

३१. उनकी प्रौढ़ कृपा का आश्रय लेकर जो दूसरे की अपेक्षा नहीं करता, कृष्ण पर अतुल प्रीति रखने वाला वह वीर कहलाता है। ।५३।

यथा—

२३. *प्रलम्ब के शत्रु (बलराम) ईश्वर भले हों, उससे मुझे क्या करना है? कुमार मकरध्वज अर्थात् प्रद्युम्न से भी मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, कुछ लेना नहीं; कहाँ तक कहें, प्रभु-कृपा-कटाक्ष की श्री से मैं इतना उद्धत हो गया हूँ कि प्रियाओं की परिषद् में जो सबसे आगे (प्रमुख) हैं उन सत्यभामा को भी मैं नहीं गिनता। ।५४।*

चतुर्थे च (भा०/४/२०/२८)—

२४. जगज्जनन्यां जगदीश! वैशसं
स्यादेव यत् कर्मणि नः समीहितम्।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया? (५५)

[जगदीश! जगज्जनन्यां वैशसं स्यात् एव, यत् दीनवत्सलः (त्वम्) नः कर्मणि समीहितं फल्गु अपि उरु करोषि, स्वे एव धिष्ण्ये अभिरतस्य तया (श्रिया) किम्?]

३२. एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वाश्रितादिषु।
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधकाः[१२] परिकीर्तिताः॥ (५६)

[तस्य आश्रितादिषु एतेषु त्रिविधेषु दासेषु नित्यसिद्धाः च सिद्धाः च साधकाः परिकीर्त्तिताः॥]

अथ उद्दीपनाः—

३३. अनुग्रहस्य सम्प्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा।
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्त-सङ्गतिः।
इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मताः॥ (५७)

[एषु अनुग्रहस्य सम्प्राप्तिः, तस्य अङ्घ्रिरजसां तथा भुक्तावशिष्टभक्तादेः अपि (सम्प्राप्तिः), तद्भक्तसङ्गतिः इत्यादयः असाधारणाः मताः विभावाः स्युः॥]

तत्र अनुग्रहसम्प्राप्तिः, यथा—

२५. कृष्णस्य पश्यत कृपां कृपाढ्याः! कृपणे मयि।
ध्येयोऽसौ निधने हन्त दृशोरध्वानमभ्यगात्॥ (५८)

[कृपाढ्याः! मयि कृपणे कृष्णस्य कृपां पश्यत! निधने ध्येयः असौ हन्त दृशोः अध्वानम् अभ्यगात्॥]

३४. मुरलीशृङ्गयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम्।
गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्म-पदाङ्क-नवनीरदाः।
तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः॥ (५९)

[मुरलीशृङ्गयोः स्वानः, स्मितपूर्व-अवलोकनम्, गुणोत्कर्षश्रुतिः, पद्मपदाङ्कनवनीरदाः, तदङ्गसौरभाद्याः तु सर्वैः साधारणाः मताः॥]

भागवत- चतुर्थ में भी (भा. ४/२०/२८)—

> २४. *हे जगदीश! जगज्जननी लक्ष्मी के प्रति मेरा अपराध हुआ करे, क्योंकि आपकी चरण-सेवारूपी उनका सेवाकर्म मुझे भी अभीष्ट हैं। आप दीनवत्सल हैं जो कि तुच्छ को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। अपने ही स्थान अर्थात् आपके चरण में जो अभिरत है, उसे लक्ष्मी से क्या प्रयोजन? ।५५।*

३२. उनके आश्रित आदि तीनों प्रकार के दासों में नित्यसिद्ध और साधक-ऐसे तीन भेद कहे गये हैं। ।५६।

उद्दीपन—

३३. इन दासों में अनुग्रह, उन (स्वामी श्रीकृष्ण) की चरणधूलि तथा उनके भोजन से बची हुई जूठन की प्राप्ति, उनके भक्तों की सङ्गति आदि असाधारण माने गये विभाव (उद्दीपन) होते हैं। ।५७।

उनमें से अनुग्रह तथा सम्प्राप्ति, यथा—

> २५. *हे—कृपाचार्य आदि आर्यगण! मुझ कृपण पर श्रीकृष्ण की कृपा देखिये! योगियों के ध्यान के विषय ये आज मृत्यु के समय मेरी आँखों के मार्ग में आ गये हैं (मुझे इनका दर्शन प्राप्त हो रहा है।) ।५८।*

३४. मुरली और सींगे की ध्वनि, स्मित-पूर्वक अवलोकन, गुणोत्कर्ष का श्रवण, पद्म, चरणचिह्न, नवीन मेघ, उनके अङ्ग का सौरभ आदि-ये सभी के द्वारा मुख्य रसों के साथ साधारण उद्दीपन-विभाव माने गये हैं। ।५९।

तत्र मुरलीस्वनो, यथा विदग्धमाधवे—

२६. सोत्कण्ठं मुरलीकला-परिमलानाकर्ण्य घूर्णत्तनो-
रेतस्याक्षिसहस्रतः सुरपतेरश्रूणि सस्रुर्भुवि[१३]।
चित्रं वारिधरान् विनापि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात् पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम्॥ (६०)

[दूरात् पश्यत! मुरलीकलापरिमलान् सोत्कण्ठम् आकर्ण्य घूर्णत्तनोः सुरपतेः अक्षिसहस्रतः अश्रूणि भुवि सस्रुः, यैः धारामयैः अद्य वारिधरान् विना अपि तरसा वृन्दाटवीमण्डलं देवमातृकम् अभूत्॥]

अथ अनुभावाः—

३५. सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः।[१४]
ईर्ष्या-लवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने।
तन्निष्ठताद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः॥ (६१)

[स्वनियोगानां सर्वतः आधिक्येन परिग्रहः, तत्प्रणते जने च ईर्ष्यालवेन अस्पृष्टा मैत्री, तन्निष्ठताद्याः शीताः एषु असाधारणाः क्रियाः स्युः॥]

तत्र स्वनियोगस्य सर्वत आधिक्यं, यथा—

२७. अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं
प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।
कंसारातेर्वीजने येन साक्षा-
दक्षोदीयानन्तरायो व्यधायि॥ (६२)

[दारुकः अङ्गस्तम्भारम्भम् उत्तुङ्गयन्तं प्रेमानन्दं न अभ्यनन्दत् येन कंसारातेः वीजने साक्षात् अक्षोदीयान् अन्तरायः अभूत्॥]

३६. उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथास्य सुहृदादरः।[१५]
विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते॥ (६३)

[पुरा ये उद्भास्वराः उक्ताः तथा अस्य सुहृदादरः, विरागाद्याः च ये शीताः प्रोक्ताः, ते तु साधारणाः॥]

उनमें से मुरलीध्वनि, यथा विदग्धमाधव में—

२६. *उत्कण्ठा के साथ मुरली की कला के परिमलों को सुन कर सुरपति का शरीर चक्कर खाने लगा, और उनकी सहस्र आँखों से पृथ्वी पर अश्रु चूने लगे। जिनके धारामय रूप से-देखो तो कैसी विचित्र बात है कि,—मेघों के बिना भी तुरन्त वृन्दाटवी का मण्डल देव-मातृक हो गया, अर्थात् दूर से वृष्टि के जल से पालित दिखाई देने लगा। ।६०।*

अब, अनुभाव—

३५. अपने नियोगों का सब ओर से अधिकता से ग्रहण, उन (प्रभु) के प्रति प्रणत व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-लेश के स्पर्श से भी रहित मैत्री, उन (श्रीकृष्ण) में निष्ठा आदि शीत असाधारण क्रियायें इनमें होती हैं। ।६१।

उसमें, अपने नियोग का सबसे आधिक्य (समझना), यथा—

२७. *दारुक ने अपने भीतर उमड़ते प्रेमानन्द को अच्छा नहीं माना क्योंकि वह अङ्गों में स्तब्धता बढ़ा रहा था, जिससे कि कंस शत्रु (श्रीकृष्ण) को पंखा झलने में सीधा बहुत बड़ा अन्तराय (व्यवधान) पड़ रहा था। (ऐसा प्रेमानन्द भी भला नहीं जो मुझे मिले सेवा-कर्म में बाधा डाले।) ।६२।*

३६. पहले जो (नृत्य, लोट-पोट होना आदि) उद्भास्वर कहे गये हैं वे तथा प्रभु के सुहृदों का आदर एवं विराग आदि जो शीत कहे गये हैं—वे सब साधारण हैं। ।६३।

तत्र नृत्यं, यथा श्रीदशमे (१०/८६/३८)—

२८. श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहान् जनको यथा।
नत्वा मुनींश्च संहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह॥ (६४)

[श्रुतदेवः स्वगृहान् प्राप्तम् अच्युतं मुनीन् च नत्वा, यथा जनकः, संहृष्टः वासः धुन्वन् ननर्त ह॥]

यथा वा—

२९. त्वं कलासु विमुखोऽपि नर्तनं
प्रेमनाट्य-गुरुणासि पाठितः।
यद्विचित्र-गतिचर्ययाञ्चित-
श्चित्रयस्यहह चारणानपि॥ (६५)

[त्वं कलासु विमुखः अपि, प्रेमनाट्यगुरुणा नर्तनं पाठितः असि, यत् विचित्रगतिचर्यया अञ्चितः अहह! चारणान् अपि चित्रयसि॥]

अथ सात्त्विकाः—

३७. स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः। (६६)

[सर्वे स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः प्रीतादित्रितये मताः॥]

यथा—

३०. गोकुलेन्द्र-गुणगान-रसेन
स्तम्भमद्भुतमसौ भजमानः।
पश्य भक्तिरसमण्डपमूल-
स्तम्भतां वहति वैष्णववर्यः॥ (६७)

[पश्य! गोकुलेन्द्रगुणगानरसेन अद्भुतस्तम्भं भजमानः असौ वैष्णववर्यः भक्तिरसमण्डपमूलस्तम्भतां वहति॥]

श्रीदशमे (१०/८५/३८)—

३१. स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप! गद्गदाक्षरम्॥ (६८)

[नृपः सः इन्द्रसेनः भगवत्पदाम्बुजं प्रेमविभिन्नया धिया मुहुः बिभ्रत् आनन्दजलाकुलेक्षणः, प्रहृष्टरोमा गद्गदाक्षरम् उवाच ह॥]

इनमें से नृत्य, यथा श्रीदशम में (भा. १०/८६/३८)—

२८. *श्री अच्युत को अपने घर आये हुए देखकर श्रुतदेव जनक की भाँति उन्हें तथा (उनके साथ आये) मुनिजनों को प्रणाम करके अतीव हर्ष-विभोर होकर (कम्प से) वस्त्रों को भी झटक डालता हुआ नाचने लगा।* ।६४।

और भी, यथा—

२९. *कलाओं से विमुख होते हुए भी तुम को प्रेमरूपी नाट्यगुरु के द्वारा नर्तनकला सिखा दी गयी है; जिससे कि विचित्र-गति-चर्याओं से खँचे (भरे) हुए तुम चारणों को भी आश्चर्य-चकित चित्रलिखे से बना दे रहे हो।* ।६५।

अब सात्त्विकभाव—

३७. प्रीत आदि तीन रसों में सभी स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव माने गये हैं। ।६६।

यथा—

३०. *गोकुलेन्द्र श्रीकृष्ण के गुणगान के रस से मत्त होकर अद्‌भुत स्तम्भ-दशा में पहुँचा हुआ यह वैष्णवश्रेष्ठ देखो! मानो भक्तिरस रूपी मण्डप का मूल-स्तम्भ ही बना हुआ है।* ।६७।

श्रीदशम में भी (भा. १०/८५/३८)—

३१. *हे राजन्! वह इन्द्रसेन (बलि) भगवान् (वामन) के चरणकमल को मस्तक पर धारण किये हुए, प्रेम-आवेग से बिंधी हुई बुद्धि वाला एवं आनन्द-अश्रुओं से आकुल नयनों वाला होकर, सर्वाङ्ग में हर्ष रोमाञ्च से भरा गद्‌गद अक्षरों से बोलने लगा।* ।६८।

अथ व्यभिचारिणः—

३८. हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र[१७] निर्वेदोऽथ विषण्णता।
दैन्यं चिन्ता स्मृतिः [१८]शङ्का मतिरौत्सुक्यचापले॥ (६९)

[अत्र हर्षः, गर्वः, धृतिः च, निर्वेदः अथ विषण्णता, दैन्यम्, चिन्ता, स्मृतिः, शङ्का, मतिः, औत्सुक्य-चापले॥]

३९. वितर्कावेग-ह्री-जाड्य[१९]-मोहोन्मादावहित्थिकाः।
बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः॥ (७०)

[वितर्कावेग-ह्री-जाड्य-मोहोन्मादावहित्थिकाः, बोधः, स्वप्नः, क्लमः, व्याधिः, मृतिः च व्यभिचारिणः॥]

४०. इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत्।
योगे त्रयः स्युर्धृत्यन्ता[२०] अयोगे तु क्लमादयः।
उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्याः सतां मताः॥ (७१)

[इतरेषां मदादीनाम् अति-पोषकता न भवेत्। योगे धृत्यन्ताः त्रयः स्युः, अयोगे तु क्लमादयः। उभयत्र निर्वेदाद्याः परे शेषाः सतां मता॥]

तत्र हर्षो, यथा प्रथमे (भा० १/११/५)—

३२. प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्ष-गद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः॥ (७२)

[प्रीत्युत्फुल्लमुखाः हर्षगद्गदया गिरा सर्वसुहृदं पितरम् अवितारम् अर्भकाः इव प्रोचुः॥]

यथा वा—

३३. हरिमवलोक्य पुरो भुवि
पतितो दण्डप्रणाम-शतकामः।
प्रमदविमुग्धो नृपतिः
पुनरुत्थानं विसस्मार॥ (७३)

[हरिं पुरः अवलोक्य दण्डप्रणामशतकामः प्रमदविमुग्धः भुवि पतितः नृपतिः पुनरुत्थानं विसस्मार॥]

अब व्यभिचारीभाव—

३८-३९. यहाँ-हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शङ्का, मति, औत्सुक्य, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जडता, मोह (मूर्च्छा), उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लान्ति (थकान), व्याधि, मरण—ये व्यभिचारीभाव होते हैं। ।६९-७०।

४०. अन्य मद आदि में अतिपोषकता नहीं होती। वे हों तो हर्ष, गर्व, धृति ये तीन होते हैं, वे (मद आदि) न हों तो क्लम आदि होते हैं। दोनों ही स्थितियों में अन्य शेष निर्वेद आदि का होना सज्जनों ने माना है। ।७१।

इनमें से हर्ष, यथा प्रथम में (भा. १/११/५)—

३२. प्रीति (प्रसन्नता) से खिले-खिले मुखवाले वे सब हर्ष से गद्गद हुई वाणी से सब के रक्षक एवं मित्र (श्रीकृष्ण) से ऐसे बोले जैसे बालक पिता से बोलते हैं। ।७२।

अथवा यथा—

३३. सामने ही श्रीहरि को देखकर शत-शत दण्डवत् प्रणाम करने की इच्छा से राजा भूमि पर गिरा, अतिशय आनन्द के प्रचुर मद से विमुग्ध हुआ वह फिर उठना भूल ही गया। ।७३।

क्लमो, यथा स्कान्दे—

३४. अशोषयन्मनस्तस्य म्लापयन्मुखपङ्कजम्।
आधिस्त्वद्विरहे देव! ग्रीष्मे सर इवांशुमान्॥ (७४)

[देव! त्वद्विरहे आधिः ग्रीष्मे सरः इव अंशुमान् तस्य मनः अशोषयत्, मुखपङ्कजं म्लापयत् (च)॥]

निर्वेदो, यथा—

३५. धन्याः स्फुरन्ति तव सूर्य! कराः सहस्रं
ये सर्वदा यदुपतेः पदयोः पतन्ति।
वन्ध्या दृशां दशशती ध्रियते ममासौ[२१]
दूरे मुहूर्तमपि या न विलोकते तम्॥ (७५)

[सूर्य! तव सहस्रं कराः धन्याः स्फुरन्ति, ये सर्वदा यदुपतेः पदयोः पतन्ति। मम असौ दृशां दशशती वन्ध्या ध्रियते या तं दूरे मुहूर्तम् अपि न विलोकते॥]

अथ स्थायी—

४१. सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते।
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः॥ (७६)

[प्रभुताज्ञानात् सम्भ्रमः, चेतसि सादरः कम्पः, अनेन ऐक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिः उच्यते। एषा अत्र रसे बुधैः स्थायिभावतया कथिता॥]

४२. आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि।
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः॥ (७७)

[आश्रितादेः रतिजन्मनि प्रकारः पुरा एव उक्तः, तत्र पारिषदादेः तु हेतुः संस्कारः एव हि। तस्य दर्शनश्रवणादयः संस्कारोद्बोधकाः॥]

४३. एषा[२२] तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा॥ (७८)

[एषा तु सम्भ्रमप्रीतिः ततः (सा) प्रेमा, ततः स्नेहः ततः रागः इति त्रिधा उत्तरोत्तरां वृद्धिं प्राप्नुवति।]

क्लम (क्लान्ति)यथा स्कन्दपुराण में—

३४. *हे देव! आपके विरह में उत्पन्न आधि (मनोरोग) ने उसके मुखकमल को म्लान करते हुए उसके मनको उसी प्रकार सोख लिया जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में सूर्य सरोवर को सोख लेता है।* ।७४।

निर्वेद, यथा स्कन्दपुराण में—

३५. *हे सूर्य! तुम्हारे ये सहस्र हाथ (किरणें) धन्य स्फुरित होते हैं, जो सर्वदा यदुपति के चरणों पर गिरते हुए उन्हें प्रणाममय स्पर्श करते हैं। मैं तो ये सहस्र नयन व्यर्थ ही धारण किये हुए हूँ जो दूर से भी, मुहूर्त्त भर को भी उन्हें देख नहीं पाते।* ।७५।

अब स्थायिभाव—

४१. श्रीहरि की प्रभुता के बोध से संभ्रम (घबराहट भरा सम्मान-भाव), चित्त में आदरपूर्ण कम्प,—इनसे अभिन्न हुई प्रीति सम्भ्रमप्रीति कहलाती है। उसी को बुधजनों ने इस रस का स्थायीभाव कहा है। ।७६।

४२. आश्रित आदि के प्रकार पहले (भावसामान्य-प्रकरण में) ही कहे जा चुके हैं। पार्षद आदि की श्रीहरि में रति के जन्म में हेतु तो उनका संस्कार ही है। उस संस्कार के उद्बोधक होते हैं श्रीहरि का दर्शन (उनके नाम-गुण-लीला आदि का) श्रवण इत्यादि। ।७७।

४३. यह सम्भ्रमप्रीति उत्तरोत्तर वृद्धि पाती हुई क्रमशः प्रेम, स्नेह फिर राग—ऐसे तीन प्रकार की होती है। ।७८।

तत्र सम्भ्रमप्रीतिः, यथा श्रीदशमे (भा० १०/३८/६)—

३६. ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्॥ (७९)

[अद्य मे अमङ्गलं नष्टम्, भवः च मे फलवान्, यतः भगवतः योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजं नमस्ये॥]

यथा वा—

३७. कलिन्द-नन्दिनीकूल-कदम्बवनवल्लभम्।
कदा नमस्करिष्यामि गोपरूपं तमीश्वरम्॥ (८०)

[कलिन्दनन्दिनीकूलकदम्बवनवल्लभं तं गोपरूपम् ईश्वरं कदा नमस्यामि॥]

अथ प्रेमा—

४४. [23]ह्रासशङ्काच्युता बद्धमूला प्रेमेयमुच्यते।
अस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनितादयः। (८१)

[इयं ह्रासशङ्काच्युता बद्धमूला प्रेमा उच्यते। तत्र व्यसनितादयः अस्य अनुभावाः कथिताः॥]

यथा—

३८. अणिमादि-सौख्यवीची-
मवीचिदुःखप्रवाहं वा।
नय मां विकृतिर्नहि मे
त्वत्पदकमलावलम्बस्य॥ (८२)

[माम् अणिमादि-सौख्य-वीचीम् अवीचिदुःखप्रवाहं वा नय, त्वत्पदकमलावलम्बस्य मे विकृतिः न हि॥]

यथा वा—

३९. रुषा[24]ज्वलितबुद्धिना भृगुसुतेन शप्तोऽप्यलं
मया हृत-जगत्त्रयोऽप्यतनुकैतवं तन्वता।
विनिन्द्य कृतबन्धनोऽप्युरगराजपाशैर्बला-
दरज्यत स मय्यहो द्विगुणमेव वैरोचनिः॥ (८३)

[रुषा ज्वलितबुद्धिना भृगुसुतेन अलं शप्तः अपि सः वैरोचनिः हतजगत्त्रयः अतनुकैतवं तन्वता मया विनिन्द्य उरगराजपाशैः बलात् कृतबन्धनः अपि अहो! मयि द्विगुणम् एव अरज्यत॥]

इनमें, सम्भ्रमप्रीति, यथा श्रीदशम में (भा. १०/३८/६)—

३६. *आज मेरा अमङ्गल नष्ट हो गया, मेरा जन्म सफल हो गया, जो कि आज मैं योगियों के ध्येय भगवान् के चरणकमलों को प्रणाम करूँगा।* ।७९।

अथवा यथा—

३७. *अहो! कलिन्दतनया (यमुना) के तटवर्त्ती कदम्ब-वन के वल्लभ उन गोपालरूपी ईश्वर को मैं कब प्रणाम करूँगा?* ।८०।

प्रेम—

४४. प्रीति जब बद्धमूल होकर ह्रास की शङ्का से भी रहित होती है तब प्रेम कहलाती है। उन्हीं (श्रीहरि) का ही व्यसन (निरन्तर लौ लगना) आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं। ।८१।

यथा—

३८. *हे प्रभो! मुझे चाहे अणिमा आदि सिद्धियों के सुख की तरङ्गों में झुलाइये, चाहे अवीचि जैसे नरकों के दुःख-प्रवाह में डुबोइये, पर आपके चरण-कमलों का अवलम्ब पाये हुए मेरे चित्त में कोई विकार नहीं हो सकता।* ।८२।

अथवा यथा—

३९. *क्रोध से धधकती बुद्धि वाले भार्गव शुक्राचार्य के द्वारा बहुत भर्त्सना किये जाने पर भी, मेरे द्वारा भारी छल से तीनों लोक छीन लिये जाने पर भी, बार-बार निन्दा करते हुए नागराजपाशों द्वारा बाँधा जाने पर भी, वह विरोचनसुत बलि मेरे प्रति दुगना अनुरक्त ही हुआ; मेरे प्रति उसका प्रेम ही बढ़ा।* ।८३।

अथ स्नेहः—

४५. सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता॥ (८४)

[सान्द्रः प्रेमा चित्तद्रवं कुर्वन् स्नेहः इति ईर्यते। इह क्षणिकस्य अपि विश्लेषस्य सहिष्णुता न॥]

यथा—

४०. दम्भेन बाष्पाम्बुझरस्य केशवं
वीक्ष्य द्रवच्चित्तमसुस्नुवत्तव।[२५]
इत्युच्चकैर्धारयतो विचित्ततां
चित्रा न ते दारुक! दारुकल्पता॥ (८५)

[दारुक! केशवं वीक्ष्य बाष्पाम्बुझरस्य दम्भेन तव द्रवच्चित्तम् असुस्नुवत् इति विचित्तताम् उच्चैः धारयतः ते दारुकल्पता न चित्रा॥]

यथा वा—

४१. पत्नीं रत्ननिधेः परामुपहरन् पूरेण बाष्पाम्भसां
रज्यन्मञ्जुलकण्ठगर्भलुठितस्तोत्राक्षरोपक्रमः।
चुम्बन् फुल्लकदम्बडम्बरतुलामङ्गैः समीक्ष्याच्युतं
स्तब्धोऽप्यभ्यधिकां श्रियं प्रणमतां वृन्दाद्दधारोद्धवः॥ (८६)

[बाष्पाम्भसां पूरेण रत्ननिधेः परां पत्नीम् उपहरन् रज्यन्मञ्जुलकण्ठगर्भलुठितस्तोत्राक्षरोपक्रमः उद्धवः अच्युतं समीक्ष्य अङ्गैः फुल्लकदम्बडम्बरतुलां चुम्बन् स्तब्धः अपि प्रणमतां वृन्दात् अभ्यधिकं श्रियं दधार॥]

अथ रागः—

४६. स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम्।
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि॥ (८७)

[सः स्नेहः रागः येन दुःखम् अपि स्फुटं सुखं स्यात्। प्राणव्ययैः अपि अत्र तत्सम्बन्धलवे अपि प्रीतिः॥]

स्नेह—

४५. चित्त को द्रवित करता हुआ सान्द्र (सघन) प्रेम स्नेह कहलाता है। इसमें क्षण-भर का भी वियोग सहन नहीं होता। ।८४।

यथा—

४०. *केशव को देखकर नयनवारि (अश्रु) के प्रवाह के बहाने तुम्हारा द्रवीभूत चित्त ही बह चला, इस कारण सर्वथा चित्तशून्य दशा में पहुँचे हुए हे दारुक! तुम्हारा दारु (लकड़ी) जैसा अचेतनवत् हो जाना युक्त ही है।* ।८५।

अथवा यथा—

४१. *प्रेमाश्रुओं के प्रवाह से श्रेष्ठ सागरपत्नी गङ्गा नदी को प्रकट करते हुए, स्तवगान के लिये स्नेहजनित विशेष माधुर्य से युक्त एवं स्वभाव से ही मञ्जुल कण्ठ के गर्भ (मध्यभाग) में ही इतस्ततः लुढ़कते स्तोत्राक्षरों के उपक्रम वाले (अर्थात् गला रुँध आने से स्वरभङ्ग से युक्त) (रोमाञ्च से भरा होने से) जिस का शरीर फूले हुए कदम्ब के अतिशय तुल्य हो रहा था, ऐसे उद्धव स्तब्ध खड़े हुए भी प्रणतों के समूह से भी अधिक सुशोभित हुए।* ।८६।

राग—

४६. वह स्नेह राग कहलाता है जिससे दुःख भी स्फुट सुख हो जाता है; प्राण त्यागने पर भी यदि श्रीहरि का सम्बन्ध-लेश मिलता हो तो उसे प्रसन्नता होती है। ।८७।

यथा—

४२. गुरुरपि भुजगाद्भीस्तक्षकात् प्राज्यराज्य-
च्युतिरतिशयिनी च प्रायचर्या च गुर्वी।
अतनुत मुदमुच्चैः कृष्णलीलासुधान्तर्-
विहरणसचिवत्वादौत्तरेयस्य राज्ञः॥ (८८)

[तक्षकात् भुजगात् गुरुः अपि भीः, अतिशयिनी च प्राज्यराज्यच्युतिः, गुर्वी च प्रायचर्या, कृष्णलीलासुधान्तर्विहरणसचिवत्वात् औत्तरेयस्य राज्ञः उच्चैः मुदम् अतनुत॥]

यथा वा—

४३. केशवस्य करुणालवोऽपि चेद्
बाडवोऽपि किल षाडवो मम।
अस्य यद्यदयता कुशस्थली
पूर्णसिद्धिरपि मे कुशस्थली॥ (८९)

[केशवस्य करुणालवः अपि चेत्, बाडवः अपि किल मम षाडवः, अस्य यदि अदयता, पूर्णसिद्धिः अपि कुशस्थली मे कुशस्थली॥]

४७. प्राय आद्यद्वये प्रेमा स्नेहः पारिषदेष्वसौ।
परीक्षिति भवेद् रागो दारुके च तथोद्धवे॥ (९०)

[प्रायः आद्यद्वये (अधिकृताश्रितयोः) प्रेमा, पारिषदेषु असौ स्नेहः, परीक्षिति दारुके तथा उद्धवे च रागः भवेत्॥]

४८. व्रजानुगेष्वनेकेषु रक्तकप्रमुखेषु च।
अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रायः स्यात् सख्यलेशभाक्॥ (९१)

[रक्तकप्रमुखेषु अनेकेषु व्रजानुगेषु च अस्मिन् अभ्युदिते प्रायः सख्यलेशभाक् भावः स्यात्॥]

यथा—

४४. शुद्धान्तान्मिलितं बाष्परुद्धवागुद्धवो हरिम्।
किञ्चित्कुञ्चितनेत्रान्तः स्वान्तेन परिषस्वजे॥ (९२)

[बाष्परुद्धवाक् उद्धवः किञ्चित्कुञ्चितनेत्रान्तः शुद्धान्तात् मिलितं हरिं स्वान्तेन परिषस्वजे॥]

यथा—

४२. भयङ्कर तक्षक नाग के दंश का घोर भय, प्रचुर-सुखद चक्रवर्त्ती-साम्राज्य सदा के लिये छूट जाना, प्राणान्त पर्यन्त का अनशन व्रत—सभी अतिशयित कष्टों-विपत्तियों ने उत्तरा (अभिमन्यु) के पुत्र राजा परीक्षित् को महान् आनन्द ही दिया क्योंकि इस सब के साथ मिल रहा था श्रीकृष्णलीला-श्रवणामृतसागर में अनवरत विहार। ।८८।

अथवा यथा—

४३. केशव की करुणा का लेश या कण भी मिले तो मेरे लिये वडवानल भी षड्रसभरा मीठा पेय है, और यदि उनकी दया न हो तो सम्पूर्ण सिद्धियों से समृद्ध द्वारिका नगरी भी मेरे लिये तीखी कुशायें बिछी हुई भूमि है। ।८९।

४७. प्रायः पहले दो (अधिकृत एवं आश्रित) में प्रेम होता है, पार्षदों में स्नेह होता है, परीक्षित्, दारुक तथा उद्धव में राग है। ।९०।

४८. व्रज में श्रीकृष्ण के अनुचरों में, जिनमें रक्तक प्रमुख है, यह राग उदित होने पर सख्य-लेश से युक्त भाव बन जाता है। ।९१।

यथा—

४४. अन्तःपुर से आते हुए श्रीहरि के मिलने पर उमड़े राग से रुँधी वाणी वाले उद्धव ने नेत्रकोण थोड़ा-सा सिकोड़ते हुए उन्हें (श्रीहरि को) हृदय से आलिङ्गन किया। ।९२।

४९. अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ। (९३)

[अयोगयोगौ उभौ एतस्य प्रभेदौ कथितौ॥]

तत्र अयोगः—

५०. सङ्गाभावो हरेर्धीरैरयोग इति कथ्यते।
अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसन्धयः॥ (९४)

[हरेः सङ्गाभावः अयोगः इति धीरैः कथ्यते। अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसन्धयः॥]

५१. तत्प्राप्त्युपायचिन्ताद्याः सर्वेषां कथिताः क्रियाः।
उत्कण्ठितं वियोगश्चेत्ययोगोऽपि द्विधोच्यते॥ (९५)

[तत्प्राप्त्युपायचिन्ताद्याः सर्वेषां क्रियाः कथिताः, उत्कण्ठितं वियोगः च इति अयोगः अपि द्विधा उच्यते॥]

तत्र उत्कण्ठितम्—

५२. अदृष्टपूर्वस्य हरेर्दिदृक्षोत्कण्ठितं मतम्। (९६)

[अदृष्टपूर्वस्य हरेः दिदृक्षा उत्कण्ठितं मतम्।]

यथा नारसिंहे—

४५. चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानरतिं नृपः।
पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तद्दृशि॥ (९७)

[नृपः तद्वर्णे पक्षपातेन मेघे, तन्नाम्नि (पक्षपातेन कृष्ण-) मृगे, तद्दृशि च (पक्षपातेन) पद्मे बहुमानरतिं चकार॥]

यथा वा श्रीदशमे (भा० १०/३८/१०)—

४६. अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः॥ (९८)

[भुवः भारावताराय निजेच्छया मनुजत्वम् ईयुषः लावण्यधाम्नः विष्णोः अपि अद्य उपलम्भनं भविता मह्यं दृशः फलम् अञ्जसा न न स्यात्॥]

४९. इस (भक्ति रस) के दो भेद कहे गये हैं—योग और अयोग। ।९३।

अयोग—

५०-५१. श्रीहरि के सङ्ग का अभाव धीर जनों द्वारा अयोग कहा जाता है। अयोग में उन्हीं में मन लगा रहना, उन के ही गुण आदि का अनुसन्धान, उन की प्राप्ति के उपायों का चिन्तन आदि सभी (भक्तों) की क्रियायें कही गई हैं।

यह अयोग फिर दो प्रकार का कहा गया है—उत्कण्ठा और वियोग। ।९४-९५।

उत्कण्ठा—

५२. पहले न देखे हुए श्रीहरि के दर्शन की इच्छा ही उत्कण्ठा मानी गई है। ।९६।

यथा नृसिंहपुराण में—

४५. *नृप (इक्ष्वाकु) मेघ के प्रति बहुत आदर और प्रीति रखते थे क्योंकि उस का वर्ण श्रीहरि जैसा है, पक्षपात-पूर्वक उनके नामवाले (कृष्णसार)हरिण (कस्तूरीमृग) पर तथा उनके नयनों जैसे दिखनेवाले पद्म पर अतिशय प्रीति रखते थे। ।९७।*

अथवा यथा श्रीदशम में (भा. १०/३८/१०)—

४६. *भूमि का भार उतारने के लिये अपनी इच्छा से ही मनुजतनु में प्रकाशमान लावण्य के धामस्वरूप स्वयं विष्णु (भगवान्) की आज मुझे प्राप्ति होगी, उनका दर्शन होगा; अब मेरे नयन किसी भी प्रकार फलहीन नहीं रहेंगे। (दृष्टि आज सफल होगी)। ।९८।*

५३. अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे।
औत्सुक्य-दैन्य-निर्वेद-चिन्तानां चापलस्य च।
जडतोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्तता॥ (९९)

[अत्र अयोगप्रसक्तानां सर्वेषाम् सम्भवे अपि औत्सुक्य-दैन्य-निर्वेद-चिन्तानां चापलस्य च जडतोन्मादमोहानाम् अपि अतिरिक्तता स्यात्॥]

तत्र औत्सुक्यं, यथा कृष्णकर्णामृते—

४७. अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
हरे! त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो
हा हन्त हा हन्त कथं नयामि? (१००)

[हरे! अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो! त्वदालोकनम् अन्तरेण हा हन्त! हा हन्त! अमूनि अधन्यानि दिनान्तराणि कथं नयामि॥

यथा वा—

४८. विलोचन-सुधाम्बुधेस्तव पदारविन्दद्वयी-
विलोचन-रसच्छटामनुपलभ्य विक्षुभ्यतः।
मनो मम मनागपि क्वचिदनाप्नुवन्निर्वृतिं
क्षणार्धमपि मन्यते व्रजमहेन्द्र! वर्षव्रजम्॥ (१०१)

[व्रजमहेन्द्र! विलोचनसुधाम्बुधेः तव पादारविन्दद्वयी-विलोचनरसच्छटाम् अनुपलभ्य विक्षुभ्यतः मम मनः क्वचित् मनाक् अपि निर्वृतिम् अनाप्नुवन् क्षणार्धम् अपि वर्षव्रजं मन्यते॥]

दैन्यं, यथा तत्रैव (कृष्णकर्णामृते)—

४९. निबद्ध-मूर्धाञ्जलिरेष याचे
नीरन्ध्र-दैन्योन्नतिमुक्तकण्ठम्।[२६]
दयाम्बुधे! देव! भवत्कटाक्ष-
दाक्षिण्यलेशेन सकृन्निषिञ्च॥ (१०२)

[एषः (अहं) निबद्धमूर्धाञ्जलिः दैन्योन्नतिमुक्तकण्ठं याचे "दयाम्बुधे! देव! भवत्कटाक्षदाक्षिण्यलेशेन सकृत् निषिञ्च।" (इति)॥]

५३. यहाँ अयोग में प्रसङ्गप्राप्त (हो सकने वाले) सभी व्यभिचारीभावों की सम्भावना होने पर भी, औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद और मोह इन का उद्रेक या प्रमुखता है। ।९९।

उत्सुकता, यथा श्रीकृष्णकर्णामृत में—

४७. *हे हरि! हे अनाथों के बन्धु! हे करुणा के एक मात्र सिन्धु! तुम्हारे दर्शन के बिना हाय! मैं ये अभागे दिन-रात कैसे बिताऊँ?* *।१००।*

अथवा यथा—

४८. *हे व्रज के महेन्द्र! नयनों के लिये आनन्दसुधासागरतुल्य आपके चरणकमलों के दर्शन-रस की छटा के बिना अतीव क्षुब्ध होता हुआ मेरा मन कहीं भी थोड़ी भी चैन नहीं पाता, ऐसी स्थिति के क्षण भर को भी अनेकों वर्षों जितना लम्बा एवं असह्य मान रहा है।* *।१०१।*

दैन्य, यथा श्रीकृष्णकर्णामृत में ही—

४९. *हे दयासागर! देव! मस्तक पर अञ्जलि बाँधे हुए यह मैं छिद्ररहित दैन्य की पराकाष्ठा से खुले कण्ठ (अतीव कातर स्वर) से माँग रहा हूँ कि एक बार आपका कटाक्ष-लेश मात्र देने की कृपा से मुझे सींच दीजिये।* *।१०२।*

यथा वा—

५०. असि शशिमुकुटाद्यैरप्यलभ्येक्षणस्त्वं
लघुरघहर! कीटादप्यहं कूटकर्मा।
इति विसदृशतापि प्रार्थने प्रार्थयामि
स्नपय कृपणबन्धो! मामपाङ्गच्छटाभिः॥ (१०३)

[अघहर! अहं कीटात् अपि लघुः कूटकर्मा, त्वं शशिमुकुटाद्यैः अपि अलभ्येक्षणः असि इति प्रार्थने अपि विसदृशता, प्रार्थयामि कृपणबन्धो! माम् अपाङ्गच्छटाभिः स्नपय॥]

निर्वेदो, यथा—

५१. स्फुटं श्रितवतोरपि श्रुतिनिषेवया श्लाघ्यतां
ममाभवनिरेतयोर्भवतु नेत्रयोर्मन्दयोः।
भवेन्न हि ययोः पदं मधुरिमश्रियामास्पदं
पदाम्बुजनखाङ्कुरादपि विसारि रोचिस्तव॥ (१०४)

[श्रुतिनिषेवया स्फुटं श्लाघ्यतां श्रितवतोः अपि मम एतयोः मन्दयोः नेत्रयोः अभवनिः भवतु, तव पदाम्बुजनखाङ्कुरात् विसारि मधुरिमश्रियाम् आस्पदं रोचिः अपि ययोः पदं न हि भवेत्॥

चिन्ता, यथा—

५२. हरिपदकमलावलोकतृष्णा
तरलमतेरपि योग्यतामवीक्ष्य।
अवनतवदनस्य चिन्तया मे
हरि हरि निःश्वसतो निशाः प्रयान्ति॥ (१०५)

[हरिपदकमलावलोकतृष्णातरलमतेः अपि योग्यताम् अवीक्ष्य अवनतवदनस्य मे चिन्तया निःश्वसतः हरि हरि निशाः प्रयान्ति॥]

चापलं, यथा कृष्णकर्णामृते—

५३. त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम्? (१०६)

[त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतम् इति अवेहि, मच्चापलं च तव वा मम वा अधिगम्यम्, मुरलीविलासि! (तव) विरलं मुग्धं मुखाम्बुजम् ईक्षणाभ्यां वीक्षितुं तत् किं करोमि॥]

अथवा यथा—

५०. *हे अघहर! (अघासुर या पाप समूह को समाप्त करने वाले हरि) अवश्य ही चन्द्रमौलि (शिव) आदि (देव-महादेवों) को भी आपका दर्शन अलभ्य है, और मैं तो बुरे कर्मों के ढेर से दबा अतीव छोटा-सा जीव हूँ। इसलिये प्रार्थना के भी योग्य नहीं, फिर भी माँगता हूँ कि हे कृपण (दीनों) के बन्धु! अपने कटाक्ष की छटाओं से मुझे नहला दीजिये।* ।१०३।

निर्वेद, यथा—

५१. *श्रुतियों के भली-भाँति सेवन (कानों तक पहुँचे हुए अर्थात् सुदीर्घ होने) से अतिशय प्रशंसनीय बने हुए भी मेरे इन मन्दभागी नेत्रों का न होना ही भला, या नाश हो इनका! आपके मधुरिमा भरी शोभा वाले चरण-कमलों के नखों के अङ्कुर (अग्रभाग) से प्रसृत होती (फैलती) हुई ज्योतिर्मय छबि जिन के गोचर न हो सकी।* ।१०४।

चिन्ता, यथा—

५२. *श्रीहरि के चरणकमलों के दर्शन की प्यास से मेरी मति तरल (आकुल, द्रवीभूत) हो रही है, फिर भी उसके लिये अपनी योग्यता न देखकर झुके हुए मुख-वाला हूँ। ऐसे मेरी रात्रियाँ हाय! चिन्ता से दीर्घ निःश्वास लेते हुए ही बीत रही हैं।* ।१०५।

चपलता, यथा श्रीकृष्णकर्णामृत में—

५३. *तुम्हारा बालपन (जिसमें कैशोर भी मिला हुआ है) त्रिभुवन में अद्भुत है, और मेरी चञ्चलता (तुम्हारे प्रति उत्सुकता) तुम्हारे या मेरे ही समझने की बात है। (ऐसी स्थिति में) हे मुरलीविलासी! तुम्हारा यह सर्वथा विरल मुखकमल इन नयनों से देखने के लिये मैं क्या करूँ? यह तुम ही बताओ!* ।१०६।

यथा वा—

५४. ह्रियमघहर! मुक्त्वा दृक्पतङ्गी ममासौ
भयमपि दमयित्वा भक्तवृन्दात्तृषार्ता[२७]।
निरवधिमविचार्य स्वस्य च क्षोदिमानं
तव चरण-सरोजं लेढुमन्विच्छतीश॥ (१०७)

[अघहर! ह्रियं मुक्त्वा मम असौ तृषार्ता दृक्पतङ्गी भक्तवृन्दात् भयम् अपि दमयित्वा, स्वस्य च निरवधिं क्षोदिमानम् अविचार्य, ईश! तव चरणसरोजं लेढुम् इच्छति॥]

जडता, यथा सप्तमे (भा०७/४/३७)—

५५. न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥ (१०८)

[न्यस्तक्रीडनकः बालः कृष्णग्रहगृहीतात्मा तन्मनस्तया जडवत् ईदृशं जगत् न वेद॥]

यथा वा—

५६. निमेषोन्मुक्ताक्षः कथमिह परिस्पन्दविधुरां
तनुं बिभ्रद्भव्यः प्रतिकृतिरिवास्ते द्विजपतिः।
अये ज्ञातं वंशीरसिक-नवरागव्यसनिना
पुरः श्यामाम्भोदे बत विनिहिता दृष्टिरमुना॥ (१०९)

[भव्यः द्विजपतिः निमेषोन्मुक्ताक्षः परिस्पन्दविधुरां तनुं बिभ्रत् कथम् इह प्रतिकृतिः इव अस्ति? अये! ज्ञातम्, वंशीरसिकनवरागव्यसनिना अमुना पुरः श्यामाम्भोदे बत दृष्टिः विनिहिता॥]

उन्मादो, यथा सप्तमे (भा०७/४/४०)—

५७. नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥ (११०)

[क्वचित् उत्कण्ठः नदति, क्वचित् विलज्जः नृत्यति, क्वचित् तद्भावनायुक्तः तन्मयः अनुचकार ह॥]

अथवा यथा—

५४. *हे अघहर! मेरी आँख या दृष्टि रूपी मधुमक्खी (अपनी अयोग्यता की) लज्जा छोड़कर, भक्त (रूपी भ्रमर)-समूह का भय भी दबा कर, (बस तुम्हारे चरण-सेवन की) प्यास से आर्त्त होकर, अपनी असीम क्षुद्रता का भी विचार न करती हुई, हे सर्वसमर्थ ईश्वर! तुम्हारे चरण-कमल को चाटना (चखना-आस्वादन करना) चाहती है।* ।१०७।

जड़ता, यथा सप्तम में (भा. ७/४/३७)—

५५. *श्रीकृष्ण-रूपी ग्रह से ग्रसा हुआ वह बालक (प्रह्लाद) उन्हीं में मन लगा होने से खिलौने छोड़कर इस जगत् को ऐसा (नाना वैचित्र्ययुक्त) नहीं देखता था (सब कुछ श्रीहरिमय देखता था)।* ।१०८।

अथवा यथा—

५६. *अहो! यह सभी का श्लाघनीय ब्राह्मण श्रेष्ठ स्पन्दनशून्य शरीर लिये हुए, पलकें भी न झपकाते हुए प्रतिमा जैसे क्यों यहाँ खड़ा है? अरे! समझ में आया, इसे तो वंशीरसिक श्रीकृष्ण के प्रति नये-नये राग (प्रीति-विशेष) का व्यसन हो गया है, इसीलिये उनके जैसे वर्णवाले श्याम मेघ पर इसने अपलक दृष्टि लगा रखी है।* ।१०९।

उन्माद, यथा सप्तम में (भा. ७/४/४०)—

५७. *कभी उच्चस्वर से नाद करता, कभी लज्जारहित होकर नाचने लगता; उन्हीं (श्रीहरि) की भावना से युक्त हुआ वह (प्रह्लाद) तन्मयता से उनका अनुकरण करने लगता था।* ।११०।

यथा वा—

५८. क्वचिन्नटति निष्पटं क्वचिदसम्भवं स्तम्भते
क्वचिद्विहसति स्फुटं क्वचिदमन्दमाक्रन्दति।
लसत्यनलसं क्वचित् क्वचिदपार्थमार्तायते
हरेरभिनवोद्धुरप्रणयसीधुमत्तो मुनिः॥ (१११)

[हरेः अभिनवोद्धुरप्रणयसीधुमत्तो मुनिः क्वचित् निष्पटं नटति, क्वचित् असम्भवं स्तम्भते, क्वचित् स्फुटं विहसति, क्वचित् अमन्दम् आक्रन्दति, क्वचित् अनलसं लसति, क्वचित् अपार्थम् आर्तायते॥]

मोहो, यथा हरिभक्तिसुधोदये—

५९. अयोग्यमात्मानमितीशदर्शने
स मन्यमानस्तदनाप्तिकातरः।
उद्वेलदुःखार्णवमग्नमानसः
स्रुताश्रुधारो द्विज! मूर्च्छितोऽपतत्॥ (११२)

[हे द्विज! सः ईशदर्शने आत्मानम् अयोग्यम् इति मन्यमानः, तदनाप्तिकातरः, उद्वेलदुःखार्णवमग्नमानसः स्रुताश्रुधारः, मूर्च्छितः अपतत्॥]

यथा वा—

६०. हरिचरण-विलोकालब्धि-तापावलीभिर्
र्बत विधुतचिदम्भस्यत्र नस्तीर्थवर्ये।
श्रुतिपुटपरिवाहेनेशनामामृतानि
क्षिपत ननु सतीर्थ्याश्चेष्टतां प्राणहंसः॥ (११३)

[हरिचरण-विलोकालब्धि-तापावलीभिः बत नः तीर्थवर्ये अत्र विधुतचिदम्भसि ईशनामामृतानि श्रुतिपुटपरिवाहेन सतीर्थ्याः क्षिपत, ननु प्राणहंसः चेष्टताम्॥]

अथ वियोगः—

५४. वियोगो लब्धसङ्गेन विच्छेदो दनुजद्विषा। (११४)

[दनुजद्विषा लब्धसङ्गेन विच्छेदः वियोगः॥]

अथवा यथा—

५८. *श्रीहरि के प्रति नवीन उत्कट प्रणय-सुधामद से उन्मत्त होकर मुनि (नारद) कभी गिरते वस्त्र की भी सुध के बिना नाचते हैं, कभी असम्भव स्तब्धता से खम्भे जैसे खड़े रह जाते हैं, कभी खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी जोर से रोने लगते हैं, कभी निरन्तर खेलते हैं, कभी अकारण ही आर्त्त (दुःखी) हो जाते हैं। ।१११।*

मोह, यथा हरिभक्तिसुधोदय में—

५९. *हे ब्राह्मणवर! ईश्वर के दर्शन के लिये अपने को अयोग्य मानते हुए, उनकी प्राप्ति के लिये कातर हुआ वह (बालक प्रह्लाद) सीमा लाँघते हुए दुःखसागर में निमग्न चित्तवाला होकर अश्रुधारायें बहाता हुआ मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। ।११२।*

अथवा यथा—

६०. *हे सतीर्थ भाईयो! बन्धुओ! श्रीहरि के चरण-दर्शन न पाने के तापसमूह से जिसका चैतन्य-जल झड़ (सूख) गया है (अचेतन हो गये हैं) ऐसे हमारे कानों में, इस श्रेष्ठ तीर्थ में, ईश्वर के नाम रूपी अमृत-कणों का प्रवाह सींचिये, या उनके छींटे दीजिये, जिससे कि भीतर प्राण रूपी हंस स्पन्दित होता रहे। (शरीर अचेतन हो रहा है, प्राण चलते रहें इतनी कृपा कीजिये।) ।११३।*

अब वियोग—

५४. जिन का सङ्ग मिल चुका था उन दानवध्वंसी (श्रीहरि) से बिछुड़ना ही वियोग कहलाता है। ।११४।

यथा—

६१. बलिसुतभुजदण्ड[२८]-खण्डनाय
क्षतजपुरं पुरुषोत्तमे प्रयाते।
विधुत-विधुरबुद्धिरुद्धवोऽयं
विरहनिरुद्धमना निरुद्धवोऽभूत्॥ (११५)

[बलिसुत-भुजदण्ड-खण्डनाय पुरुषोत्तमे क्षतजपुरं प्रयाते, विधुतविधुरबुद्धिः अयम् उद्धवः विरहनिरुद्धमनाः निरुद्धवः अभूत्॥]

५५. अङ्गेषु तापः कृशता जागर्यालम्बशून्यता।
अधृतिर्जडता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिः।
वियोगे सम्भ्रमप्रीतेर्दशावस्थाः प्रकीर्तिताः॥ (११६)

[अङ्गेषु तापः, कृशता, जागर्या, आलम्बशून्यता, अधृतिः, जडता, व्याधिः, उन्मादः, मूर्च्छितम्, मृतिः (इति) सम्भ्रमप्रीतेः वियोगे दश अवस्थाः प्रकीर्त्तिताः॥]

५६. अनवस्थितिराख्याता चित्तस्यालम्बशून्यता।
अरागिता तु सर्वस्मिन्नधृतिः कथिता बुधैः।
अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात्तापाद्या न हि लक्षिताः॥ (११७)

[चित्तस्य अनवस्थितिः आलम्बशून्यता आख्याता, सर्वस्मिन् अरागिता तु बुधैः अधृतिः कथिता अन्ये अष्टौ तापाद्याः प्रकटार्थत्वात् न हि लक्षिताः॥]

तत्र तापो, यथा—

६२. अस्मान् दुनोति[२९] कमलं तपनस्य मित्रं
रत्नाकरश्च बडवानलगूढमूर्तिः।
इन्दीवरं विधुसुहृत् कथमीश्वरं वा
तं[३०] स्मारयन्मुनिपते! दहतीह सभ्यान्॥ (११८)

[मुनिपते! अस्मान् तपनस्य मित्रं कमलं दुनोति, रत्नाकरः च बडवानलगूढमूर्तिः, विधुसुहृत् इन्दीवरं वा कथम् तम् ईश्वरं स्मारयन् इह सभ्यान् दहति॥]

यथा—

६१. बलि के पुत्र बाणासुर के भुजदण्ड काटने के लिये पुरुषोत्तम जब शोणितपुर चले गये तब क्षुब्ध और दुःखित बुद्धिवाला यह उद्धव विरह से मन निरुद्ध होने के कारण उत्सवरहित हो गया। ।११५।

५५. वियोग में सम्भ्रमप्रीति की दस दशायें होती हैं-अङ्गों में ताप, कृशता, जागरण, आलम्ब रहित हो जाना, अधीरता, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मरण। ।११६।

५६. चित्त की आलम्बशून्यता का अर्थ है अनवस्थिति (आलम्ब एकमात्र श्रीहरि हैं, वे प्रकट दृश्य नहीं, अतः अन्य कहीं ठहर न पाना), अन्यत्र कहीं भी राग न होना अधृति का अर्थ है। अन्य आठ का तात्पर्य स्पष्ट होने के कारण उनकी व्याख्या नहीं कही जा रही है। ।११७।

ताप, यथा—

६२. हे मुनीश्वर! तपन (सूर्य) का मित्र होने से कमल भी हमें ताप की पीड़ा दे रहा है, समुद्र जलधि है तो क्या, उसके शरीर में वडवानल छिपा है, इसलिये वह भी शीतल नहीं, जलाता ही है, इन्दीवर (कुमुद, नीलकमल) चन्द्रमा का मित्र है फिर भी उस ईश्वर (शिव) का स्मरण कराता है जिनके ललाट में वह्नि है—ये सभी उन (कमल-लोचन नीलवर्ण श्रीकृष्णचन्द्र) का स्मरण दिलाते हुए क्यों यहाँ सभी सभ्यों को जला रहे हैं? ।११८।

कृशता, यथा—

६३. दधति तव तथाद्य सेवकानां
भुजपरिघाः कृशताञ्च पाण्डुताञ्च।
पतति बत यथा मृणालबुद्ध्या
स्फुटमिह पाण्डवमित्र! पाण्डुपक्षः॥ (११९)

[पाण्डवमित्र! सेवकानां भुजपरिघाः अद्य कृशतां च पाण्डुतां च तथा दधति, (यत्) पाण्डुपक्षः स्फुटम् इह बत मृणालबुद्ध्या पतति॥]

जागर्या, यथा—

६४. विरहान्मुरविद्विषश्चिरं
विधुराङ्गे परिखिन्नचेतसि।
क्षणदाः क्षणदायितोज्झिता
बहुलाश्वे बहुलास्तदाभवन्॥ (१२०)

[मुरविद्विषः चिरं विरहात् तदा विधुराङ्गे बहुलाश्वे परिखिन्नचेतसि क्षणदाः क्षणदायितोज्झिताः बहुलाः अभवन्॥]

आलम्बशून्यता, यथा—

६५. विजयरथ-कुटुम्बिना विनान्यन् —
न किल कुटुम्बमिहास्ति नस्त्रिलोक्याम्।
भ्रमदिदमनवेक्ष्य यत्पदाब्जं
क्वचिदपि न व्यवतिष्ठतेऽद्य चेतः॥ (१२१)

[विजयरथकुटुम्बिना विना किल नः अन्यत् कुटुम्बम् इह त्रिलोक्यां न अस्ति यत्पदाब्जम् अनवेक्ष्य भ्रमत् इदं चेतः अद्य क्वचित् अपि न व्यवतिष्ठते॥]

अधृतिः, यथा—

६६. प्रेक्ष्य पिञ्छकुलमक्षि पिधत्ते
नैचिकीनिचयमुज्झति दूरे।
वष्टि यष्टिमपि नाद्य मुरारे
रक्तकस्तव पदाम्बुजरक्तः[३१]॥ (१२२)

[मुरारे! तव पदाम्बुजरक्तः रक्तकः पिच्छकुलं प्रेक्ष्य अक्षि पिधत्ते, नैचिकीनिचयं दूरे उज्झति, यष्टिम् अपि अद्य न वष्टि॥]

कृशता, यथा—

६३. *हे पाण्डव मित्र! (पाण्डवों के सहाय के लिये आप द्वारिका से दूर चले गये हैं तब) आज तुम्हारे सेवकों के फौलादी सुदृढ़ भुजदण्ड ऐसे कृश और श्वेत पड़ गये हैं (दुर्बल, शक्तिहीन हो गये हैं) कि इन्हें स्पष्ट ही मृणाल (कमलनाल) समझकर हंस इन पर आ रहा है। ।११९।*

जागरण, यथा—

६४. *श्रीकृष्ण के विरह से खिन्न अङ्गों वाले अतिशय क्षीण चित्त वाले राजा बहुलाश्व के लिये विश्राम व उत्सव प्रदान करने वाली रात्रियाँ (दिन भी) क्षणिक ही ऊष्मा देनेवाली और बहुत लम्बी (शीघ्र न बीतनेवाली) हो गयीं। ।१२०।*

आलम्बनशून्यता, यथा—

६५. *अर्जुन के सारथि के बिना आज इन तीनों लोकों में कोई मेरा कुटुम्ब (अपना सगा-सम्बन्धी) नहीं है। उनके चरण-कमलों को न देख पाता हुआ मेरा चित्त चक्कर खाता हुआ घूम रहा है, कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। ।१२१।*

अधृति, यथा—

६६. *हे मुरारि! तुम्हारे चरणकमलों में अनुरक्त रक्तक आज (तुम्हारे बिना) मयूरपिच्छों को देखकर आँख मूँद लेता या ढक लेता है, गायों के समूह को दूर ही छोड़ देता है, लकुटी (गाय चराते समय हाथ में रखने वाली लाठी) को छूना भी नहीं चाहता। ।१२२।*

जडता, यथा—

६७. यौधिष्ठिरं पुरमुपेयुषि पद्मनाभे
खेदानलव्यतिकरैरतिविक्लवस्य।
स्वेदाश्रुभिर्न हि परं जलतामवापु-
रङ्गानि निष्क्रियतया च किलोद्धवस्य॥ (१२३)

[पद्मनाभे यौधिष्ठिरं पुरम् उपेयुषि खेदानलव्यतिकरैः अतिविक्लवस्य उद्धवस्य किल स्वेदाश्रुभिः निष्क्रियतया च अङ्गानि परं जलतां न हि (जडताम्) अवापुः॥]

व्याधिः, यथा—

६८. चिरयति मणिमन्वेष्टुं
चलिते मुरभिदि कुशस्थलीपुरतः।
समजनि धृतनव-व्याधिः
पवनव्याधिर्यथार्थाख्यः॥ (१२४)

[कुशस्थलीपुरतः मुरभिदि मणिम् अन्वेष्टुं चलिते चिरयति धृतनवव्याधिः पवनव्याधिः यथार्थाख्यः समजनि॥]

उन्मादो, यथा—

६९. प्रोषिते बत निजाधिदैवते
रैवते नवमवेक्ष्य नीरदम्।
भ्रान्तधीरयमधीरमुद्धवः
पश्य रौति[३२] रमते नमस्यति॥ (१२५)

[निजाधिदैवते रैवते प्रोषिते बत नवं नीरदम् अवेक्ष्य अयम् भ्रान्तधीः उद्धवः पश्य अधीरं रौति, रमते, नमस्यति॥]

मूर्च्छितं, यथा—

७०. समजनि दशा विश्लेषात्ते पदाम्बुजसेविनां
व्रजभुवि तथा नासीन्निद्रा-लवोऽपि यथा पुरा।
यदुवर! दरश्वासेनामी वितर्कितजीविताः
सततमधुना निश्चेष्टाङ्गास्तटान्यधिशेरते॥ (१२६)

[यदुवर! ते पदाम्बुजसेविनां विश्लेषात् व्रजभुवि तथा दशा समजनि, यथा पुरा निद्रालवः अपि न आसीत्, अधुना दरश्वासेन वितर्कितजीविताः निश्चेष्टाङ्गाः अमी सततं तटानि अधिशेरते॥]

जड़ता, यथा—

६७. *पद्मनाभ (विष्णु के सम्पूर्ण अवतार श्रीकृष्ण) युधिष्ठिर के नगर (इन्द्रप्रस्थ या हस्तिनापुर) जाने लगे तब खेद की वह्नि के विकार से अतिशय विंकल हुए उद्धव के अङ्ग ऐसे निष्क्रिय हो गये कि स्वेद या आँसुओं से भी भीगे नहीं (न पसीना चुआ, न आँसू बहे, बस सूखी लकड़ी से हो रहे।)* ।१२३।

व्याधि, यथा—

६८. *स्यमन्तक मणि खोजने के लिये मुरारि जब कुशस्थली (द्वारिका) नगरी से चले और फिर उन्हें लौटने में विलम्ब होने लगा तब उद्धव को नयी व्याधि हो गयी, और पहले (बालपन से ही श्रीहरि का प्रेम उनमें जाग्रत् होने से उन्मत्त या अतिशान्त आचरण था जिसे देखकर लोगों द्वारा) पवन-व्याधि वाला समझा जाना अब यथार्थ-नाम हो गया।* ।१२४।

उन्माद, यथा—

६९. *अपने अधिदैवत (श्रीकृष्ण) के प्रवास (दूर यात्रा) में चले जाने पर, रैवतक पर्वत पर नवीन मेघ को देखकर भ्रमित बुद्धिवाले ये उद्धव देखो कैसे अधीर होकर कभी चिल्ला कर पुकारते हैं, कभी आनन्दित होते हुए खेलते हैं और कभी उस मेघ को नमस्कार करते हैं।* ।१२५।

मूर्च्छित होना, यथा—

७०. *हे यदुवर! तुम्हारे विछोह से व्रजभूमि में तुम्हारे चरण-कमलों के सेवकों की पहले ऐसी दशा हो गयी थी कि निद्रा का लेश भी नहीं था, अब तो बस श्वास के आने-जाने से ही उनके जीवित होने का अनुमान होता है, अन्यथा सतत ही वे निश्चेष्ट अङ्गों वाले होकर यमुनातट पर पड़े रहते हैं; शरीर में श्वास के सिवा कोई हलचल नहीं है।* ।१२६।

मृतिः, यथा—

७१. दनुजदमन! याते जीवने त्वय्यकस्मात्
प्रचुरविरहतापैर्ध्वस्तहृत्पङ्कजायाम्।
व्रजमभि परितस्ते[३३] दासकासारपङ्क्तौ
न किल वसतिमार्ताः कर्तुमिच्छन्ति हंसाः॥ (१२७)

[दनुजदमन! त्वयि जीवने अकस्मात् याते, प्रचुरविरहतापैः ध्वस्तहृत्पङ्कजायां दासकासारपङ्क्तौ, ते किल आर्त्ताः हंसाः व्रजम् अभि परितः वसतिं कर्तुं न इच्छन्ति॥]

५७. अशिवत्वान्न घटते भक्ते कुत्राप्यसौ मृतिः।
क्षोभकत्वाद्वियोगस्य जातप्रायेति कथ्यते॥ (१२८)

[असौ मृतिः अशिवत्वात् भक्ते कुत्र अपि न घटते। वियोगस्य क्षोभकत्वात् जातप्राया इति कथ्यते॥]

अथ योगः—

५८. कृष्णेन सङ्गमो यस्तु स योग इति कीर्त्यते।
योगोऽपि कथितः सिद्धिस्तुष्टिः स्थितिरिति त्रिधा॥ (१२९)

[यः तु कृष्णेन सङ्गमः, सः योगः इति कीर्त्यते। योगः अपि सिद्धिः तुष्टिः स्थितिः इति त्रिधा कथितः॥]

तत्र सिद्धिः—

५९. उत्कण्ठिते हरेः प्राप्तिः सिद्धिरित्यभिधीयते। (१३०)

[उत्कण्ठिते हरेः प्राप्तिः सिद्धिः इति अभिधीयते॥]

यथा कृष्णकर्णामृते—

७२. मौलिश्चन्द्रकभूषणो मरकतस्तम्भाभिरामं[३४] वपु-
र्वक्त्रं चित्रविमुग्धहासमधुरं बाले विलोले दृशौ।
वाचः शैशवशीतला मदगजश्लाघ्या विलासस्थिति-
र्मन्दं मन्दमये क एष मथुरा-वीथीं मिथो गाहते? (१३१)

[चन्द्रकभूषणः मौलिः, मरकतस्तम्भाभिरामं वपुः, चित्रविमुग्धहासमधुरं वक्त्रं, शैशवशीतलाः वाचः, मदगजश्लाघ्या विलासस्थितिः, अये! कः एषः मन्दं मन्दं मथुरा-वीथीं मिथः गाहते॥]

मृति (मरण), यथा—

७१. *हे दनुजदमन सबके जीवन (जल) स्वरूप आपके अकस्मात् चले जाने पर, व्रज में चारों ओर तुम्हारे दासरूपी सरोवरों की पङ्क्ति के हृदयरूपी पङ्कज प्रचुर विरह के ताप से सूखकर नष्ट हो गये हैं, आर्त्त हुए हंस (प्राण) भी अब इन सरोवरों पर वास करना नहीं चाहते। ।१२७।*

५७. अशिव (अशुभ) होने के कारण वास्तविक भक्त का मरण कभी भी नहीं होता, वियोग अतिशय क्षोभजनक होता है। इसलिये मृतप्राय दशा को ही मरण कहा जाता है। ।१२८।

अब योग—

५८. श्रीकृष्ण के साथ मिलन ही योग कहा जाता है। वह योग भी तीन प्रकार का कहा गया है— १. सिद्धि, २. तुष्टि और ३. स्थिति। ।१२९।

सिद्धि—

५९. उत्कण्ठित दशा में श्रीहरि की प्राप्ति को सिद्धि कहा जाता है। ।१३०।

यथा श्रीकृष्णकर्णामृत में—

७२. *अरे! जिसका मुकुट मयूरपिच्छ के चन्द्रकों से सुशोभित है, मरकत (पन्ने) के स्तम्भ जैसा सुन्दर जिसका शरीर है, मुख सुन्दर विमुग्ध हास से मधुर है, नयन सुकोमल एवं चञ्चल हैं, बाल्यावस्था जैसी शीतल वाणी है, मदयुक्त गज के तुल्य जिसकी चाल-ढाल है—ऐसा कौन यह एकान्त में मथुरा की गली में चला आ रहा है? ।१३१।*

यथा वा श्रीदशमे (भा०१०/३८/३४)—

७३. रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः प्रेमविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥ (१३२)

[प्रेमविह्वलः सः अक्रूरः रथात् तूर्णम् अवप्लुत्य रामकृष्णयोः चरणोपान्ते दण्डवत् पपात॥]

तुष्टिः—

६०. जाते वियोगे कंसारेः सम्प्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते॥ (१३३)

[कंसारेः वियोगे जाते (पुनः) सम्प्राप्तिः तुष्टिः उच्यते॥]

यथा प्रथमे (भा०१/११/१०)—

७४. कथं वयं नाथ! चिरोषिते त्वयि
[३५]प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम्।
जीवाम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्? (१३४)

[नाथ! चिरोषिते त्वयि, प्रसन्नदृष्ट्या अखिलतापशोषणम् सुन्दरहासशोभितं मनोहरम् ते वदनम् अपश्यमाना वयं कथं जीवाम?॥]

यथा वा—

७५. समक्षमक्षमः प्रेक्ष्य हरिमञ्जलिबन्धने।
दारुको द्वारकाद्वारि तत्र चित्रदशां ययौ॥ (१३५)

[दारुकः द्वारकाद्वारि हरिम् समक्षम् प्रेक्ष्य अञ्जलिबन्धने अक्षमः तत्र चित्रदशां ययौ॥]

स्थितिः—

६१. सहवासो मुकुन्देन स्थितिर्निगदिता बुधैः। (१३६)

[मुकुन्देन सहवासः बुधैः स्थितिः निगदिता।]

अथवा यथा श्रीदशम में (भ. १०/३८/३४)—

७३. *रथ से शीघ्रता से उतर कर वे अक्रूर प्रेमविह्वल होकर बलराम और कृष्ण के चरणों के निकट दण्ड की भाँति गिर पड़े।* ।१३२।

तुष्टि—

६०. वियोग होने के पश्चात् कंसशत्रु (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति तुष्टि कहलाती है। ।१३३।

यथा प्रथम में (भा. १/११/१०)—

७४. *हे नाथ! आप जब चिरकाल के लिये दूर चले जाते हैं, तब प्रसन्न दृष्टि से अखिल तापों को सुखा देने वाले आप के मनोहर एवं सुन्दर हास से सुशोभित मुख को देखे बिना हम कैसे जियें?* ।१३४।

अथवा यथा—

७५. *द्वारका के द्वार पर हरि को (अचानक) अपने सामने खड़े देखकर दारुक हाथ जोड़ने में भी अक्षम होकर चित्रलिखित जैसी दशा में पहुँच गया।* ।१३५।

स्थिति—

६१. मुकुन्द के साथ सहनिवास को बुधजनों ने स्थिति कहा है। ।१३६।

यथा हंसदूते—

७६. पुरस्तादाभीरीगणभयद-नामा स कठिनो
मणिस्तम्भालम्बी कुरुकुलकथाः सङ्कथयिता[३६]।
स जानुभ्यामष्टापदभुवमवष्टभ्य भविता
गुरोः शिष्यो नूनं पदकमलसंवाहनरतः॥ (१३७)

[सः आभीरीगणभयदनामा कठिनः मणिस्तम्भालम्बी पुरस्तात् कुरुकुलकथाः सङ्कथयिता, सः नूनं जानुभ्याम् अष्टापदभुवम् अवष्टभ्य पदकमलसंवाहनरतः गुरोः शिष्यः भविता॥]

६२. निजावसर-शुश्रूषा-विधाने सावधानता।
पुरस्तस्य निवेशाद्या योगेऽमीषां क्रिया मताः॥ (१३८)

[योगे, निजावसरशुश्रूषाविधाने सावधानता, तस्य पुरः निवेशाद्याः अमीषां क्रियाः मताः॥]

६३. केचिदस्या रतेः कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः।
भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः॥ (१३९)

[केचित् कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः रतेः भावत्वम् एव निश्चित्य रसावस्थतां न जगुः॥]

६४. इति तावदसाधीयो यत् पुराणेषु केषुचित्।
श्रीमद्भागवते चैष प्रकटो दृश्यते रसः॥ (१४०)

[इति यत् केषुचित् पुराणेषु तावत् असाधीयः एषः रसः श्रीमद्भागवते च प्रकटः दृश्यते॥]

तथा हि एकादशे (भा०११/३/३२)—

७७. क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ (१४१)

[अलौकिकाः अच्युतचिन्तया क्वचित् रुदन्ति, क्वचित् हसन्ति, क्वचित् नन्दन्ति, वदन्ति, नृत्यन्ति, गायन्ति, अजम् अनुशीलयन्ति, परम् एत्य निर्वृताः तूष्णीं भवन्ति॥]

जैसे कि हंसदूत में—

७६. *[गोपियाँ हंस को श्रीकृष्ण की पहचान बता रही हैं-] (उनके) सामने गोपियों को भयभीत करने वाले नाम वाला अक्रूर कुरु-कुल की कथायें कह रहा होगा; (दूसरी ओर) देवगुरु बृहस्पति का शिष्य उद्धव सुवर्णमयी भूमि पर घुटने टेके हुए (श्रीकृष्ण के) पदकमल सहला रहा होगा॥*

।१३७।

६२. अपनी अवसर प्राप्त शुश्रूषा (सेवा) को सम्भालने में सावधानता और सेव्य (श्रीकृष्ण) के सम्मुख प्रस्तुति आदि का योग (कुल मिलाकर) क्रियायें कहलाती हैं। ।१३८।

६३. जो लोग कृष्णभक्ति के आस्वाद के प्रति बहिर्मुख हैं, वे इस रति को भाव ही मान कर इसकी रसावस्था की बात नहीं करते। ।१३९।

६४. किन्हीं-किन्हीं पुराणों में यह रस असाध्य कहा गया है किन्तु श्रीमद्भागवत में तो यह स्पष्ट ही रस के रूप में दिखाई देता है। ।१४०।

यथा एकादश में (भा. ११/३/३२)—

७७. *परतत्त्व को पाकर आनन्दित हुए लोग अच्युत का चिन्तन करते हुए कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी हर्षोत्फुल्ल होते हैं, अलौकिक बातें करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, अजन्मा का अनुशीलन करते हैं और कभी मौन हो जाते हैं। ।१४१।*

सप्तमे च (भा०७/७/३४)—

७८. निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीला-तनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥ इति। (१४२)

[लीलातनुभिः कृतानि वीर्याणि कर्माणि, अतुल्यान् गुणान् निशम्य यदा अतिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं प्रोत्कण्ठः उद्गायति, रौति, नृत्यति॥]

६५. एषात्र भक्तभावानां प्रायिकी प्रक्रियोदिता।
किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात् क्वचित् स्यात् सीमलङ्घनम्[37]॥
(१४३)

[भक्तभावानाम् एषा अत्र प्रायिकी प्रक्रिया उदिता। किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात् क्वचित् सीमलङ्घनं स्यात्॥]

अथ गौरवप्रीतिः—

६६. लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीतिरुच्यते॥ (१४४)

[लाल्याभिमानिनां कृष्णे गौरवोत्तरा प्रीतिः स्यात्। विभावादिभिः पुष्टा सा गौरवप्रीतिः उच्यते॥]

तत्र आलम्बनाः—

६७. हरिश्च तस्य लाल्याश्च भवन्त्यालम्बना इह। (१४५)

[इह हरिः च तस्य लाल्याः च आलम्बनाः भवन्ति॥]

तत्र हरिः, यथा—

७९. अयमुपहितकर्णः प्रस्तुते वृष्णिवृद्धै[38]-
र्यदुपतिरितिहासे मन्दहासोज्ज्वलास्यः।
उपदिशति सुधर्मा-मध्यमध्यास्य दीव्यन्
हितमिह निजयाग्रे चेष्टयैवात्मजान्नः॥ (१४६)

[वृष्णिवृद्धैः इतिहासे प्रस्तुते अयं यदुपतिः उपहितकर्णः मन्दहासोज्ज्वलास्यः सुधर्मामध्यम् अध्यास्य दीव्यन् निजया चेष्टया नः आत्मजान् इह हितम् उपदिशति इव॥]

सप्तम में भी (भा. ७/७/३४)—

> ७८. *उन के अतुल्य गुणों को सुनकर और लीला के लिये धारणा किये हुए शरीरों द्वारा किये गये कर्मों तथा पराक्रमों को सुनकर जब भक्त अत्यन्त हर्ष से पुलकित अश्रुओं से गद्गद कण्ठ वाला होकर उत्कण्ठा-सहित उच्च स्वर से गाता है, चिल्लाता है, नाचने लगता है।* ।१४२।

६५. भक्त के भावों की यह प्राय: होने वाली प्रक्रिया कही गई, किन्तु काल आदि की विशिष्टता से कभी-कभी सीमा का लङ्घन भी हो जाता है। ।१४३।

गौरवप्रीति—

६६. जो स्वयं को कृष्ण द्वारा लालन का पात्र समझते हैं उन में ऐसी प्रीति होती है जिस का पर्यवसान गौरव में होता है। वह विभाव आदि के द्वारा पुष्ट होने पर गौरवप्रीति कहलाती है। ।१४४।

इसमें आलम्बन—

६७. यहाँ हरि और उनके लाल्य (लालन के पात्र) आलम्बन होते हैं। ।१४५।

उनमें से हरि, यथा—

> ७९. *सुधर्मा सभा के मध्य बैठकर पासे खेलते हुए यदुपति (श्रीकृष्ण) वृष्णिकुल के वृद्धों द्वारा इतिहास कहे जाने पर मन्दस्मित से उज्ज्वल मुख वाले होकर उधर कान लगा कर सुनने लगे हैं; इस प्रकार वे अपनी इस चेष्टा के द्वारा हम आत्मजों को हित का उपदेश दे रहे हैं (कि अपना खेल छोड़कर बड़ों की बातें ध्यान से सुननी चाहियें।)* ।१४६।

६८. महागुरुर्महाकीर्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः।
रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः॥ (१४७)

[हरिः महागुरुः, महाकीर्तिः, महाबुद्धिः, महाबलः, रक्षी, लालकः इत्याद्यैः गुणैः आलम्बनः॥]

अथ लाल्याः—

६९. लाल्याः किल कनिष्ठत्व-पुत्रत्वाद्यभिमानिनः।
कनिष्ठाः सारण-गद-सुभद्रा-प्रमुखाः स्मृताः।
प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः॥ (१४८)

[लाल्याः किल कनिष्ठत्व-पुत्रत्वादि-अभिमानिनः, कनिष्ठाः सारण-गद-सुभद्रा-प्रमुखाः स्मृताः। प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याः च कुमारकाः॥]

एषां रूपं, यथा—

८०. अपि मुरान्तक-पार्षदमण्डला-
दधिकमण्डनवेशगुणश्रियः[39]।
असित-पीत-सित-द्युतिभिर्युता
यदुकुमारगणाः [40]पुरि रेमिरे॥ (१४९)

[अपि मुरान्तकपार्षदमण्डलात् अधिकमण्डनवेशगुणश्रियः असित-पीत-सित-द्युतिभिर्युताः यदुकुमारगणाः पुरि रेमिरे॥]

एषां भक्तिः—

८१. सग्धिं भजन्ति हरिणा मुखमुन्नमय्य
ताम्बूलचर्वितमदन्ति च दीयमानम्।
[41]घ्राताश्च मूर्ध्नि परिरभ्य भवन्त्युदस्राः
साम्बादयः कति पुरा विदधुस्तपांसि॥ (१५०)

[मुखम् उन्नमय्य हरिणा सग्धिं भजन्ति, दीयमानं च चर्वितं ताम्बूलम् अदन्ति, परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राताः च उदस्राः भवन्ति, (अमी) साम्बादयः पुरा कति तपांसि विदधुः ?]

७०. रुक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः। (१५१)

[तेषु लाल्येषु रुक्मिणीनन्दनः प्रवरः मतः।]

६८. महागुरु, महाकीर्त्तिशाली, महाबुद्धिमान्, महाबली, रक्षक, लालक (लालन करने वाला)—ऐसे गुणों के द्वारा हरि आलम्बन बनते हैं। ।१४७।

लाल्य—

६९. अपने आपको कनिष्ठ (छोटा) पुत्र आदि समझने वाले लाल्य (लालन के पात्र) होते हैं। सुभद्रा, सारण, गद आदि कनिष्ठ माने गये हैं। प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, साम्ब आदि कुमार (पुत्र) हैं। ।१४८।

इनका रूप यथा—

८०. मुरारि के पार्षद-मण्डल से भी अधिक आभूषण, वेष गुण एवं शोभा से युक्त, कृष्ण-पीत-श्वेत द्युतियों वाले, यदुकुमारगण द्वारिकापुरी में खेलते थे। ।१४९।

इनकी भक्ति यथा—

८१. साम्ब आदि (कुमारों) ने कितने तप किये होंगे (कि) वे हरि के साथ भोजन करते हैं, उनका चबाया हुआ ताम्बूल दिये जाने पर मुख उठाकर खाते हैं; गले लगाकर माथा सूँघा जाने पर मृदुल एवं विनीत हो रहते हैं। ।१५०।

७०. लाल्यों में रुक्मिणी का पुत्र (प्रद्युम्न) श्रेष्ठ माना गया है। ।१५१।

६८. महागुरुर्महाकीर्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः ।
रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः ॥ (१४७)

[हरिः महागुरुः, महाकीर्तिः, महाबुद्धिः, महाबलः, रक्षी, लालकः इत्याद्यैः गुणैः आलम्बनः ॥]

अथ लाल्याः—

६९. लाल्याः किल कनिष्ठत्व-पुत्रत्वाद्यभिमानिनः ।
कनिष्ठाः सारण-गद-सुभद्रा-प्रमुखाः स्मृताः ।
प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः ॥ (१४८)

[लाल्याः किल कनिष्ठत्व-पुत्रत्वादि-अभिमानिनः, कनिष्ठाः सारण-गद-सुभद्रा-प्रमुखाः स्मृताः । प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याः च कुमारकाः ॥]

एषां रूपं, यथा—

८०. अपि मुरान्तक-पार्षदमण्डला-
दधिकमण्डनवेशगुणश्रियः[३९] ।
असित-पीत-सित-द्युतिभिर्युता
यदुकुमारगणाः [४०]पुरि रेमिरे ॥ (१४९)

[अपि मुरान्तकपार्षदमण्डलात् अधिकमण्डनवेशगुणश्रियः असित-पीत-सित-द्युतिभिर्युताः यदुकुमारगणाः पुरि रेमिरे ॥]

एषां भक्तिः—

८१. सग्धिं भजन्ति हरिणा मुखमुन्नमय्य
ताम्बूलचर्वितमदन्ति च दीयमानम् ।
[४१]घ्राताश्च मूर्ध्नि परिरभ्य भवन्त्युदस्राः
साम्बादयः कति पुरा विदधुस्तपांसि ॥ (१५०)

[मुखम् उन्नमय्य हरिणा सग्धिं भजन्ति, दीयमानं च चर्वितं ताम्बूलम् अदन्ति, परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राताः च उदस्राः भवन्ति, (अमी) साम्बादयः पुरा कति तपांसि विदधुः ?]

७०. रुक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः । (१५१)

[तेषु लाल्येषु रुक्मिणीनन्दनः प्रवरः मतः ।]

६८. महागुरु, महाकीर्त्तिशाली, महाबुद्धिमान्, महाबली, रक्षक, लालक (लालन करने वाला)—ऐसे गुणों के द्वारा हरि आलम्बन बनते हैं। ।१४७।

लाल्य—

६९. अपने आपको कनिष्ठ (छोटा) पुत्र आदि समझने वाले लाल्य (लालन के पात्र) होते हैं। सुभद्रा, सारण, गद आदि कनिष्ठ माने गये हैं। प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, साम्ब आदि कुमार (पुत्र) हैं। ।१४८।

इनका रूप यथा—

> ८०. *मुरारि के पार्षद-मण्डल से भी अधिक आभूषण, वेष गुण एवं शोभा से युक्त, कृष्ण-पीत-श्वेत द्युतियों वाले, यदुकुमारगण द्वारिकापुरी में खेलते थे। ।१४९।*

इनकी भक्ति यथा—

> ८१. *साम्ब आदि (कुमारों) ने कितने तप किये होंगे (कि) वे हरि के साथ भोजन करते हैं, उनका चबाया हुआ ताम्बूल दिये जाने पर मुख उठाकर खाते हैं; गले लगाकर माथा सूँघा जाने पर मृदुल एवं विनीत हो रहते हैं। ।१५०।*

७०. लाल्यों में रुक्मिणी का पुत्र (प्रद्युम्न) श्रेष्ठ माना गया है। ।१५१।

तस्य रूपम्—

८२. स जयति शम्बरदमनः सुकुमारो यदुकुमारकुलमौलिः।
जनयति जनेषु जनकभ्रान्तिं यः सुष्ठु रूपेण॥ (१५२)

[सः शम्बरदमनः सुकुमारः, यदुकुमारकुलमौलिः जयति, यः रूपेण जनेषु जनकभ्रान्तिं सुष्ठु जनयति॥]

अस्य भक्तिः—

८३. प्रभावति! समीक्ष्यतां दिवि कृपाम्बुधिर्मादृशां
स एष परमो गुरुर्गरुडगो यदूनां पतिः।
यतः किमपि लालनं वयमवाप्य दर्पोद्धुराः
पुरारिमपि सङ्गरे गुरुरुषं तिरस्कुर्महे॥ (१५३)

[प्रभावति! समीक्ष्यताम्, दिवि स एष मादृशां कृपाम्बुधिः परमः गुरुः गरुडगः यदूनां पतिः, यतः किम् अपि लालनम् अवाप्य दर्पोद्धुराः वयं सङ्गरे गुरुरुषं पुरारिम् अपि तिरस्कुर्महे॥]

७१. उभयेषां सदाराध्यधियैव भजतामपि।
सेवकानामिहैश्वर्यज्ञानस्यैव प्रधानता।
लाल्यानान्तु स्वसम्बन्ध[४२]-स्फूर्तेरेव समन्ततः॥ (१५४)

[सदा आराध्यधिया एव भजताम् उभयेषाम् अपि सेवकानाम् इह ऐश्वर्यज्ञानस्य एव प्रधानता; लाल्यानां तु स्वसम्बन्धस्फूर्तेः एव समन्ततः प्रधानता॥]

७२. व्रजस्थानां परैश्वर्यज्ञानशून्यधियामपि।
अस्त्येव बल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्यवेदनम्॥ (१५५)

[परैश्वर्यज्ञानशून्यधियाम् अपि व्रजस्थानां बल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्यवेदनम् अस्ति एव॥]

अथ उद्दीपनाः—

७३. उद्दीपनास्तु वात्सल्य-स्मितप्रेक्षादयो हरेः। (१५६)

[हरेः वात्सल्य-स्मितप्रेक्षादयः तु उद्दीपनाः॥]

उसका रूप, यथा—

८२. शम्बर असुर का दमन करनेवाला वह सुकुमार (प्रद्युम्न) यदुकुमारों के समूह का मुकुट है, वह अपने उत्तम रूप से लोगों में अपने पिता का भ्रम उत्पन्न करता है। ।१५२।

इनकी भक्ति यथा—

८३. हे प्रभावति देखो! वे जो आकाश में गरुड पर चढ़े हुए जा रहे हैं वे यदुपति हमारे परम गुरु हैं। जिनसे थोड़ा-सा लालन पा कर हम दर्प से ऐसे भर गये हैं कि युद्ध में यदि पुरारि (शिव) भी हमारे गुरु पर रोष करें तो हम उन (शिव) का भी तिरस्कार करते हैं। ।१५३।

७१. (सेवक और लाल्य) ये दोनों ही यद्यपि सदा आराध्यबुद्धि से (श्रीकृष्ण को) भजते हैं, फिर भी सेवकों में यहाँ (श्रीकृष्ण के प्रति) ऐश्वर्यज्ञान की ही प्रधानता है। लाल्यों में अपने सम्बन्ध की स्फूर्त्ति की ही सब ओर से प्रधानता है। ।१५४।

७२. व्रज में स्थित (सेवकों) में यद्यपि परम-ऐश्वर्य ज्ञान नहीं है, फिर भी गोपों के अधीश्वर (नन्दराय) के वे पुत्र हैं ऐसा ऐश्वर्य-ज्ञान तो है ही। ।१५५।

उद्दीपन—

७३. हरि का वात्सल्य, स्मित और प्रेक्षा (देखना) इत्यादि उद्दीपन है। ।१५६।

यथा—

८४. अग्रे सानुग्रहं पश्यन्नग्रजं व्यग्रमानसः।
गदः पदाविन्देऽस्य विदधे दण्डवन्नतिम्॥ (१५७)

[व्यग्रमानसः गदः अग्रे सानुग्रहम् अग्रजम् पश्यन् अस्य पदारविन्दे दण्डवत् नतिं विदधे॥]

अथ अनुभावाः—

७४. अनुभावास्तु तस्याग्रे नीचासननिवेशनम्।
गुरोर्वर्त्मानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः।
स्वैराचार-विमोक्षाद्याः शीता[४३] लाल्येषु कीर्तिताः॥ (१५८)

[लाल्येषु शीताः अनुभावाः तु तस्य अग्रे नीचासननिवेशनम्, गुरोः वर्त्मानुसारित्वम्, तस्य धुरः परिग्रहः, स्वैराचार-विमोक्षाद्याः (इति) कीर्त्तिताः॥]

तत्र नीचासननिवेशनं, यथा—

८५. यदुसदसि सुरेन्द्रैर्द्रागुपव्रज्यमानः
सुखद-करकवार्भिर्ब्रह्मणाभ्युक्षिताङ्गः।
मधुरिपुमभिवन्द्य स्वर्णपीठानि मुञ्चन्
भुवमभि मकराङ्को राङ्कवं स्वीचकार॥ (१५९)

[सुरेन्द्रैः यदुसदसि द्राक् उपव्रज्यमानः सुखदकरकवार्भिः ब्रह्मणा अभ्युक्षिताङ्गः मकराङ्कः मधुरिपुम् अभिवन्द्य स्वर्णपीठानि मुञ्चन् भुवम् अभि राङ्कवं स्वीचकार॥]

७५. [४४]दासैः साधारणाश्चान्ये प्रोच्यन्तेऽमीषु केचन।
प्रणामो मौनबाहुल्यं सङ्कोचः प्रश्रयाढ्यता।
निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञा-परिपालनम्॥ (१६०)

[केचन दासैः साधारणाः च अन्ये (विभावाः) अमीषु प्रोच्यन्ते—प्रणामः, मौनबाहुल्यम्, सङ्कोचः, प्रश्रयाढ्यता, निजप्राणव्ययेन अपि तदाज्ञापरिपालनम्॥]

७६. अधोवदनता स्थैर्यं कास-हासादि वर्जनम्।
तदीयातिरहः-केलिवार्ताद्युपरमादयः[४५]॥ (१६१)

[अधोवदनता, स्थैर्यम्, कास-हासादि-वर्जनम्, तदीयातिरहःकेलिवार्तादि-उपरमादयः॥]

यथा—

८४. सामने अनुग्रहयुक्त बड़े भाई (श्रीकृष्ण) को देखकर (संभ्रम से) व्यग्र चित्तवाले गद ने उनके चरण-कमलों में दण्डवत् प्रणाम किया। ।१५७।

अनुभाव—

७४. उनके सामने नीचे आसन पर बैठना, गुरु के मार्ग का अनुसरण करना, उनके कार्यों का भार ले लेना, मनमाना आचरण छोड़ देना इत्यादि लाल्यों के शीतल अनुभाव कहे गये हैं। ।१५८।

इनमें से नीचे आसन पर बैठना, यथा—

८५. सुरेन्द्र अगुआनी करते है, जिसके अङ्गों पर ब्रह्मा अपने कमण्डल से सुखद जलकण छिड़कते हैं, उस मकराङ्क (कामदेव के अवतार प्रद्युम्न) ने यदुसभा में मधुरिपु (श्रीकृष्ण) को प्रणाम करके स्वर्णपीठ को छोड़कर मृगछाल का आसन स्वीकार किया। ।१५९।

७५-७६. जो अनुभाव दासों में भी पाये जाते हैं उनमें से कुछ अब कहे जा रहे हैं। वे हैं—प्रणाम, मौन की बहुलता, सङ्कोच, सम्मान एवं विनय से पूर्ण होना, अपने प्राण व्यय करके भी प्रभु की आज्ञा का परिपालन, नीचा मुख किये रहना, खाँसी-हँसी आदि का वर्जन, प्रभु की अति रहस्यमयी लीला आदि की वार्ता से उपरत रहना। ।१६०-१६१।

अथ सात्त्विकाः—

८६. कन्दर्प! विन्दति मुकुन्दपदारविन्द-
द्वन्द्वे दृशोः पदमसौ किल निष्प्रकम्पा।
प्रालेयबिन्दुनिचितं धृतकण्टका ते
स्विन्नाद्य कण्टकिफलं तनुरन्वकार्षीत्॥ (१६२)

[कन्दर्प! मुकुन्दपदारविन्दद्वन्द्वे दृशोः पदं विन्दति, निष्प्रकम्पा धृतकण्टका स्विन्ना असौ ते तनुः किल अद्य प्रालेयबिन्दुनिचितं कण्टकिफलम् अनु-अकार्षीत्॥]

अथ व्यभिचारिणः—

७७. अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः॥ (१६३)

[अनन्तरोक्ताः सर्वे अत्र व्यभिचारिणः भवन्ति॥]

तत्र हर्षो, यथा—

८७. दूरे दरेन्द्रस्य नभस्युदीर्णे
ध्वनौ स्थितानां यदुराजधान्याम्।
तनूरुहैस्तत्र कुमारकाणां
नटैश्च हृष्यद्भिरकारि नृत्यम्॥ (१६४)

[यदुराजधान्यां दरेन्द्रस्य ध्वनौ नभसि उदीर्णे दूरे स्थितानां कुमारकाणां तनुरुहैः हृष्यद्भिः नटैः च तत्र नृत्यम् अकारि॥]

निर्वेदो, यथा—

८८. धन्यः साम्ब! भवान् सरिङ्गणमयन् पार्श्वे रजःकर्बुरो
यस्तातेन विकृष्य वत्सलतया स्वोत्सङ्गमारोपितः।
धिङ् मां दुर्भगमत्र शम्बरमयैर्दुर्दैव-विस्फूर्जितैः
प्राप्ता न क्षणिकापि लालनरतिः सा येन बाल्ये पितुः॥
(१६५)

[साम्ब! भवान् धन्यः, यः रजःकर्बुरः सरिङ्गणं पार्श्वे अयन् तातेन विकृष्य वत्सलतया स्वोत्सङ्गम् आरोपितः, मां दुर्भगम् अत्र धिक् येन शम्बरमयैः दुर्दैवविस्फूर्जितैः क्षणिका अपि सा पितुः लालनरतिः बाल्ये न प्राप्ता॥]

सात्त्विक भाव—

८६. *हे कन्दर्प! मुकुन्द के चरण-कमल-युगल पर जब तुम्हारी दृष्टि पड़ी तब तुम्हारा यह शरीर निश्चल हो गया, पसीने के कणों से भर गया, रोमाञ्चित होने से ओसकणों से भरे ककरौंदे के फल जैसा कँटीला दिखने लगा। ।१६२।*

व्यभिचारिभाव—

७७. अब यहाँ कहे जा रहे सब भाव व्यभिचारी हैं। ।१६३।

उनमें से हर्ष, यथा—

८७. *दूर से शङ्खराज (पाञ्चजन्य) की ध्वनि आकाश में गूँजने पर यदुराजधानी द्वारिका में स्थित कुमारों के रोम एवं हर्ष-भरे नट नृत्य कर उठे। ।१६४।*

निर्वेद, यथा—

८८. *हे साम्ब! तुम धन्य हो, जोकि धूल से चितकबरे होकर (घुटनों से) रेंगकर पास पहुँचते हुए तुम्हें पिता द्वारा वात्सल्य से खींचकर गोद में बैठा लिया गया। मुझ अभागे को धिक्कार है कि (शैशव में ही) शम्बर-रूपी दुर्दैव के फलस्वरूप मुझे बचपन में पिता की लालनरति क्षण भर भी प्राप्त न हुई। ।१६५।*

अथ स्थायी—

७८. देहसम्बन्धितामानाद्[४६]-गुरुधीरत्र गौरवम्।
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते॥ (१६६)

[अत्र देहसम्बन्धितामानात् गुरुधीः गौरवम्, लालके तन्मयी प्रीतिः गौरवप्रीतिः उच्यते॥]

७९. स्थायिभावोऽत्र सा चैषामामूलात् स्वयमुच्छ्रिता[४७]।
कञ्चिद्विशेषमापन्ना प्रेमेति स्नेह इत्यपि।
राग इत्युच्यते चात्र गौरवप्रीतिरेव सा॥ (१६७)

[एषां स्थायिभावः च अत्र सा आमूलात् स्वयम् उच्छ्रिता, कञ्चित् विशेषम् आपन्ना प्रेमा इति स्नेहः इति रागः इति अपि उच्यते। अत्र सा गौरवप्रीतिः एव॥]

तत्र गौरवप्रीतिः, यथा—

८९. मुद्रां भिनत्ति न रदच्छदयोरमन्दां
वक्त्रञ्च नोन्नमयति स्रवदस्रकीर्णम्।
धीरः परं किमपि सङ्कुचतीं झषाङ्को
दृष्टिं क्षिपत्यघभिदश्चरणारविन्दे॥ (१६८)

[धीरः झषाङ्कः रदच्छदयोः अमन्दां मुद्रां न भिनत्ति, स्रवदस्रकीर्णं वक्त्रं च न उन्नमयति, परं किम् अपि सङ्कुचतीं दृष्टिम् अघभिदः चरणारविन्दे क्षिपति॥]

प्रेमा, यथा—

९०. द्विषद्भिः क्षोदिष्ठैर्जगदविहतेच्छस्य[४८] भवतः
करादाकृष्येव प्रसभमभिमन्यावपि हते।
सुभद्रायाः प्रीतिर्दनुजदमन! त्वद्विषयिका
प्रपेदे कल्याणी न हि मलिनिमानं लवमपि॥ (१६९)

[क्षोदिष्ठैः द्विषद्भिः जगदविहतेच्छस्य भवतः करात् आकृष्य इव अभिमन्यौ प्रसभं हते अपि, दनुजदमन! सुभद्रायाः त्वद्विषयिका कल्याणी प्रीतिः लवम् अपि मलिनिमानम् न प्रपेदे॥]

स्थायी भाव—

७८. देह के सम्बन्ध के अनुसार गुरुबुद्धि अर्थात् बड़ा मानना ही यहाँ गौरव कहा गया है। लालन करने वाले के प्रति ऐसे गौरव से युक्त प्रीति गौरवप्रीति कहलाती है। ।१६६।

७९. वही प्रीति यहाँ स्थायी भाव है। वह इन भक्तों के मूल से ही अर्थात् हृदय को व्याप्त किये हुए स्वयं ही प्रादुर्भूत होती है। वही कुछ विशेष अवस्था को प्राप्त होते हुए क्रमशः प्रेम, स्नेह और राग कहलाती है। वह गौरवप्रीति ही है। ।१६७।

गौरवप्रीति, यथा—

८९. मकरचिह्नित धीर कामदेव (प्रद्युम्न) होठों की सुन्दर मुद्रा को नहीं तोड़ते अर्थात् मौन हैं, बहते हुए आंसुओं से भीगे मुख को ऊपर नहीं उठाते, किन्तु कुछ-कुछ सङ्कोचभरी दृष्टि अघनाशक (श्रीकृष्ण) के चरण-कमल पर डाले हुए हैं। ।१६८।

प्रेम, यथा—

९०. हे दनुजदमन! जगत् में जिसकी इच्छा अप्रतिहत है ऐसे आपके हाथ से क्षुद्र शत्रुओं द्वारा मानों बलपूर्वक खींचकर अभिमन्यु के मारे जाने पर भी (उसकी माँ) सुभद्रा की आपके प्रति कल्याणी प्रीति लेशमात्र भी मलिनता को प्राप्त नहीं हुई। ।१६९।

स्नेहो, यथा—

९१. विमुञ्च पृथु-वेपथुं विसृज कण्ठकुण्ठायितं
विमृज्य मयि निक्षिप प्रसरदश्रुधारे दृशौ।
करञ्च मकरध्वज! प्रकट-कण्टकालङ्कृतं
निधेहि सविधे पितुः कथय वत्स! कः सम्भ्रमः? (१७०)

[मकरध्वज! पृथुवेपथुं विमुञ्च, कण्ठकुण्ठायितं विसृज, प्रसरदश्रुधारे विमृज्य दृशौ मयि निक्षिप, प्रकटकण्टकालङ्कृतं करं च (मयि) पितुः सविधे निधेहि। वत्स! कथय, कः सम्भ्रमः?]

रागो, यथा—

९२. विषमपि सहसा[४९] सुधामिवायं
निपिबति चेत् पितुरिङ्गितं झषाङ्कः।
विसृजति तदसम्मतिर्यदि स्याद्-
विषमिव तान्तु सुधां स एष सद्यः॥ (१७१)

[अयं झषाङ्कः, पितुः इङ्गितं चेत् विषम् अपि सहसा सुधाम् इव निपिबति, यदि तु तदसम्मतिः स्यात् तां सुधां सः एव विषम् इव सद्यः विसृजति॥]

८०. त्रिष्वेवायोगयोगाद्या भेदाः पूर्ववदीरिताः॥ (१७२)

[अयोगयोगाद्याः भेदाः त्रिषु एव पूर्ववत् ईरिताः॥]

तत्र उत्कण्ठितम्—

९३. शम्बरः सुमुखि! लब्ध-दुर्विपड्-
डम्बरः स रिपुरम्बरायितः[५०]।
अम्बुराजमहसं कदा गुरुं
कम्बुराजकरमीक्षितास्महे॥ (१७३)

[सुमुखि! लब्धदुर्विपड्डम्बरः सः शम्बरः रिपुः अम्बरायितः। कदा अम्बुराजमहसं कम्बुराजकरं गुरुम् ईक्षितास्महे॥]

अथ वियोगः—

९४. मनो ममेष्टामपि गेण्डुलीलां[५१]
न वष्टि योग्याञ्च तथास्त्रयोग्याम्।
गुरौ पुरं कौरवमभ्युपेते
कारामिव द्वारवतीमवैति॥ (१७४)

[मम मनः इष्टाम् अपि गेण्डुलीलां तथा योग्यां अस्त्रयोग्यां च न वष्टि, गुरौ कौरवं पुरम् अभ्युपेते काराम् इव द्वारवतीम् अवैति।]

स्नेह, यथा—

९१. *हे वत्स! मकरध्वज! (प्रद्युम्न) अत्यधिक काँपना छोड़ दो। गले का रुँधना भी त्याग दो, बहते अश्रुओं वाले नयन पोंछकर मेरी ओर देखो! स्फुट रोमाञ्च से भरा हाथ समीप ही स्थित मुझ पिता पर रखो, कहो तो! क्यों घबरा रहे हो?* ।१७०।

राग, यथा—

९२. *यह मकरचिह्न वाला (प्रद्युम्न) पिता का सङ्केत पाकर विष को भी अमृत की तरह पूरी तरह पी जाता है, और पिता की सम्मति न होने पर सुधा को भी विष की भाँति तत्काल त्याग देता है।* ।१७१।

८०. इन तीनों (प्रेम, स्नेह, राग) के ही अयोग, योग आदि भेद पहले की भाँति ही कहे गये हैं। ।१७२।

उनमें से उत्कण्ठित—

९३. *हे सुमुखि! भारी विपत्ति-ग्रस्त शम्बर को तो (मैंने) अम्बर (शून्य) बना (मिटा) दिया है, अब नीलकमल जैसी कान्ति-युक्त एवं शङ्खराज (पाञ्चजन्य) हाथ में लिये हुए (अपने पिता) गुरु को कब देखेंगे?* ।१७३।

वियोग—

९४. *गेंद खेलना मुझे प्रिय है पर मन उसे नहीं चाहता, अस्त्रों का अभ्यास उचित है, पर उसे भी मन नहीं चाहता, पिता (श्रीकृष्ण) कौरवपुर (हस्तिनापुर) चले जाते हैं तब मन द्वारवती (द्वारिका नगरी) को कारागार ही समझने लगता है।* ।१७४।

सिद्धिः—

९५. मिलितः शम्बरपुरतो
मदनः पुरतो विलोकयन् पितरम्।
कोऽहमिति एवं प्रमदा-
न्न धीरधीरप्यसौ वेद॥ (१७५)

[शम्बरपुरतः मिलितः मदनः पुरतः पितरं विलोकयन्, प्रमदात् कः अहम् इति असौ धीरधीः अपि स्वं न वेद॥]

तुष्टिः—

९६. मिलितमधिष्ठित-गरुडं
प्रेक्ष्य युधिष्ठिर-पुरान्मुरारातिम्।
अजनि मुदा यदुनगरे
सम्भ्रमभूमा कुमाराणाम्॥ (१७६)

[युधिष्ठिरपुरात् अधिष्ठितगरुडं मिलितं मुरारातिं प्रेक्ष्य यदुनगरे कुमाराणां सम्भ्रमभूमा मुदा अजनि॥]

स्थितिः—

९७. कुञ्चयन्नक्षिणी किञ्चिद्बाष्पनिस्यन्दि[५२]-पक्ष्मणी।
वन्दते[५३] पादयोर्द्वन्द्वं पितुः प्रतिदिनं स्मरः॥ (१७७)

[किञ्चिद् बाष्पनिस्यन्दिपक्ष्मणी अक्षिणी कुञ्चयन् स्मरः प्रतिदिनं पितुः पादयोः द्वन्द्वं वन्दते॥]

८१. उत्कण्ठितवियोगाद्ये[५४] यद्यद्विस्तारितं न हि।
सम्भ्रम-प्रीतवज्ज्ञेयं तत्तदेवाखिलं बुधैः॥ (१७८)

[उत्कण्ठितवियोगाद्ये यत् यत् न हि विस्तारितं तत् तत् अखिलम् एव बुधैः सम्भ्रमप्रीतवत् ज्ञेयम्॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे
मुख्य-भक्तिरसपञ्चक-निरूपणे प्रीतभक्तिरस-लहरी द्वितीया॥

सिद्धि—

९५. *शम्बरपुर से (द्वारिका) आने पर पिता (श्रीकृष्ण) को सामने देखते हुए कामदेव (प्रद्युम्न) धीरबुद्धिवाले होने पर भी प्रकृष्ट मद (अतिशय आनन्द) के कारण "मैं कौन हूँ"- यह न जान सके। (दोनों का रूप समान होने के कारण आनन्दमय भ्रम में पड़कर मानों पहचान नहीं पा रहे थे कि मैं कौन हूँ और पिता कौन हैं?) ।१७५।*

तुष्टि—

९६. *युधिष्ठिर के नगर (इन्द्रप्रस्थ) से (द्वारिका) पहुँचे हुए, गरुड़ पर आरूढ़ मुरारि को देखकर यदुनगर (द्वारिका) में कुमारों को आनन्द से महान् संभ्रम हो गया। ।१७६।*

स्थिति—

९७. *कामदेव (प्रद्युम्न) प्रेमाश्रु बहाती पलकों वाले अपने नयन थोड़े सिकोड़ कर (अर्धनिमीलित नयनों से) प्रतिदिन पिता के चरणयुगल में वन्दन, प्रणाम करते हैं। ।१७७।*

८१. उत्कण्ठित वियोग में जिस-जिस विषय का विस्तार नहीं किया गया है, उसे बुद्धिशील जनों द्वारा सम्भ्रमप्रीति (में किये गये विस्तार) के समान ही समझ लेना चाहिये। ।१७८।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिम विभाग में मुख्य पाँच भक्तिरसों के निरूपण में दूसरी प्रीतभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

प्रेयोभक्तिरसाख्या तृतीयलहरी

१. स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥ (१)

[इह सख्यम् स्थायी भावः आत्मोचितैः विभावाद्यैः सतां चित्ते पुष्टिं नीतः प्रेयान् रसः उदीर्यते॥]

तत्र आलम्बनाः—

२. [1]हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः। (२)

[हरिः च तद्वयस्याः च तस्मिन् आलम्बनाः मताः॥]

तत्र [2]हरिः—

३. द्विभुजत्वादि-भागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः ॥ (३)

[द्विभुजत्वादिभाक् हरिः अत्र प्राग्वत् आलम्बनः॥]

तत्र व्रजे, यथा—

१. महेन्द्रमणिमञ्जुलद्युतिरमन्दकुन्दस्मितः
स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः।
स्रगुल्लसदुरःस्थलः क्वणितवेणुरत्राव्रजन्
व्रजादघहरो हरत्यहह नः सखीनां मनः॥ (४)

[महेन्द्रमणिमञ्जुलद्युतिः, अमन्दकुन्दस्मितः, स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः, स्रगुल्लसदुरःस्थलः क्वणितवेणुः व्रजात् अत्र आव्रजन् अघहरः अहह! नः सखीनां मनः हरति॥]

अन्यत्र यथा—

२. चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयं कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यं चतुर्भिर्भुजैः।
दृष्ट्वा हारिहरिन्मणिद्युतिहरं शौरिं हिरण्याम्बरं
जग्मुः पाण्डुसुताः प्रमोदसुधया नैवात्मसम्भावनाम्॥ (५)

[कौमोदकीचक्रयोः तथा जलजयोः सख्येनोज्ज्वलितैः चतुर्भिर्भुजैः आढ्यं चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयं हारिहरिन्मणिद्युतिहरं हिरण्याम्बरं शौरिं दृष्ट्वा पाण्डुसुताः प्रमोदसुधया आत्मसम्भावनां न एव जग्मुः॥]

तृतीय लहरी—प्रेयोभक्तिरस

१. सख्य स्थायिभाव जब अपने उचित विभावादिकों के साथ चित्त में पुष्ट होता है, तब वह यहाँ प्रेयान् रस कहलाता है। ।१।

उसके आलम्बन—

२. हरि और उनके वयस्य (सखा) इसमें आलम्बन माने गये हैं। ।२।

उनमें से हरि—

३. यहाँ द्विभुजत्व आदि से युक्त हरि पहले की भाँति आलम्बन हैं। ।३।

यथा व्रज में—

१. *महेन्द्रमणि (नीलम) के समान जिनकी सुन्दर द्युति है, जिनका स्मित उज्ज्वल कुन्द के समान है; जिनके रेशमी वस्त्र चमकते हुए स्वर्ण एवं केतकी-पुष्प के सदृश हैं, जिनके वक्षःस्थल पर पुष्पमाला सुशोभित है, ऐसे अघहर वेणुनाद करते हुए व्रज से यहाँ आते हुए हम सखाओं का मन हर रहे हैं।* *।४।*

अन्यत्र यथा—

२. *जिनके कौस्तुभमणि की कान्ति का पुञ्ज इधर-उधर फैल रहा है। जिनकी चार भुजायें-कौमोदकी (गदा), चक्र (सुदर्शन) के साथ दो जलज (शङ्ख तथा कमल) के सख्य से सुशोभित हैं, जो (वर्ण से) मनोहर हरे मणि (पन्ने) की कान्ति का हरण करते हैं, स्वर्णिम पीताम्बर धारण किये हुए हैं ऐसे शौरि (वासुदेव) को देखकर सभी पाण्डव प्रमोद-सुधा (आनन्द-मद) के कारण अपनी सुध-बुध खो बैठे।* *।५।*

४. सुवेषः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः।
विविधाद्भुतभाषाविद्वावदूकः सुपण्डितः॥ (६)

[सुवेषः, सर्वलक्ष्मलक्षितः, बलिनां वरः, विविधाद्‌भुतभाषावित् वावदूकः, सुपण्डितः॥]

५. विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः।
विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान्।
सुखी वरीयानित्याद्या गुणास्तस्येह कीर्तिताः॥ (७)

[विपुलप्रतिभः, दक्षः, करुणः, वीरशेखरः, विदग्धः, बुद्धिमान्, क्षन्ता, रक्तलोकः, समृद्धिमान्, सुखी, वरीयान् इत्याद्याः तस्य गुणाः इह कीर्तिताः॥]

अथ तद्वयस्याः—

६. रूपवेषगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः।
विश्रम्भसम्भृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्तिताः॥ (८)

[तस्य वयस्याः रूप-वेष-गुणाद्यैः तु समाः सम्यग् अयन्त्रिताः विश्रम्भसम्भृतात्मानः कीर्त्तिताः॥]

यथा—

३. साम्येन भीतिविधुरेण विधीयमान-
भक्तिंप्रपञ्चमनुदञ्चदनुग्रहेण[3]।
विश्रम्भसारनिकुरम्बकरम्बितेन
वन्देतरामघहरस्य वयस्यवृन्दम्[4]॥ (९)

[भीतिविधुरेण साम्येन, विश्रम्भसारनिकुरम्बकरम्बितेन अन्-उदञ्चदनुग्रहेण (च) विधीयमानभक्तिप्रपञ्चम् अघहरस्य वयस्यवृन्दं वन्देतराम्॥]

७. ते पुरव्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः। (१०)

[ते प्रायः पुर-व्रज-सम्बन्धात् द्विविधाः ईरिताः॥]

तत्र पुरसम्बन्धिनः—

८. अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च।
श्रीदाम-भूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः॥ (११)

[अर्जुनः भीमसेनः च द्रुपदस्य दुहिता च, श्रीदाम-भूसुराद्याः च पुरसंश्रयाः सखायः॥]

४-५. सुन्दर वेशवाला, अच्छे लक्षणों से युक्त, बलवान् व्यक्तियों में श्रेष्ठ, विविध अद्भुत भाषाओं का ज्ञाता, वाक्चतुर, सुपण्डित, विपुल-प्रतिभाशाली, दक्ष (कुशल), करुण, वीरश्रेष्ठ, विदग्ध, बुद्धिमान्, क्षमाशील, लोक-रञ्जक, समृद्धिमान्, सुखी, श्रेष्ठ—इत्यादि उनके गुण यहाँ कहे गये हैं। ।६-७।

उनके वयस्य—

६. रूप वेश गुण आदि से (श्रीकृष्ण के) समान, भली-भाँति अयन्त्रित अर्थात् स्वतन्त्र, विश्रम्भ से सम्पन्न चित्त वाले, पुरवासी (मथुरा-द्वारकावासी) सखा होते हैं। ।८।

३. अघहर (श्रीकृष्ण) के ऐसे वयस्यवृन्द को मैं वंन्दन करता हूँ जो भयरहित समानता से विश्रम्भसार के पुञ्ज से मिश्रित एवं अनावृत अनुग्रह से भक्ति का विस्तार सम्पन्न करते रहते हैं। ।९।

७. वे (वयस्य) पुर और व्रज के सम्बन्ध से प्रायः द्विविध कहे गये हैं। ।१०।

उनमें से पुरसम्बन्धी—

८. अर्जुन, भीमसेन, और द्रौपदी, तथा श्रीदामा (सुदामा)-ब्राह्मण आदि पुर-संश्रित वयस्य हैं। ।११।

एषां सख्यं, यथा—

४. शिरसि नृपतिर्द्रागघ्रासीदघारिमधीरधी-
भुर्जपरिघयोः शिलष्टौ भीमार्जुनौ पुलकोज्ज्वलौ।
पदकमलयोः सास्रौ दस्रात्मजौ च निपेततु-
स्तमवशधियः प्रौढानन्दादरुन्धत पाण्डवाः॥ (१२)

[अधीरधीः नृपतिः अघारिं शिरसि द्राक् अघ्रासीत्, भीमार्जुनौ भुजपरिघयोः शिलष्टौ, पुलकोज्ज्वलौ सास्रौ दस्रात्मजौ च पदकमलयोः निपेततुः। अवशधियः पाण्डवाः तं प्रौढानन्दात् अरुन्धत॥]

९. श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः॥ (१३)

[पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः श्रेष्ठः॥]

अस्य रूपं, यथा—

५. गाण्डीवपाणिः करिराजशुण्डा-
रम्योरुरिन्दीवरसुन्दराभः[५]।
रथाङ्गिना रत्नरथाधिरोही
स रोहिताक्षः[६] सुतरामराजीत्॥ (१४)

[सः गाण्डीवपाणिः करिराजशुण्डारम्भोरुः, इन्दीवरसुन्दराभः रोहिताक्षः, रत्नरथाधिरोही रथाङ्गिना सुतराम् अराजीत्॥]

सख्यं, यथा—

६. पर्यङ्के महति सुरारिहन्तुरङ्के
निःशङ्क-प्रणय-निसृष्ट-पूर्वकायः।
उन्मीलन्नव-नव-नर्म-कर्मठोऽयं
गाण्डीवी स्मितवदनाम्बुजो व्यराजीत्॥ (१५)

[महति पर्यङ्के सुरारिहन्तुः अङ्के निःशङ्कप्रणय-निसृष्टपूर्वकायः, स्मितवदनाम्बुजः, उन्मीलन्नव-नव-नर्म-कर्मठः अयं गाण्डीवी व्यराजीत्॥]

इनका सख्य, यथा—

४. *अधीर-बुद्धि वाले राजा (युधिष्ठिर) ने अघारि (श्रीकृष्ण) के मस्तक को झट सूँघा, पुलकावलि से सुशोभित भीम एवं अर्जुन उन की भुजाओं में भर गये (आलिङ्गन किया) अश्विनीकुमारों के पुत्र नकुल-सहदेव आनन्दाश्रुभरे नयनों से उनके चरणों में गिर पड़े। विवश-बुद्धि वाले पाण्डवों ने प्रौढ़ आनन्द से उन्हें थाम लिया। ।१२।*

९. पुर के वयस्यों में श्रेष्ठ है—कपिध्वज भगवान् अर्जुन। ।१३।

अर्जुन का रूप, यथा—

५. *हाथों में गाण्डीव लिये, श्रेष्ठ हाथी की सूँड जैसे सुन्दर ऊरुओं वाला, नीलकमल जैसी सुन्दर आभा वाला, रक्त-नेत्रों वाला, रत्नजटित रथ पर चढ़ा हुआ वह (अर्जुन) चक्रधारी (श्रीकृष्ण) के साथ भली-भाँति सुशोभित हुआ। ।१४।*

उसका सख्य, यथा—

६. *यह गाण्डीवधारी बड़े पलँग पर असुरसंहारक श्रीकृष्ण के अङ्क में निःशङ्क होकर, प्रेम से शरीर का ऊपरी भाग ढाले हुए, स्मितपूर्ण मुखकमल-वाला, नये-नये हासोपहासमय वचन कहता हुआ, सुशोभित था। ।१५।*

अथ व्रजसम्बन्धिनः—

१०. क्षणादर्शनतो दीनाः सदा सह-विहारिणः।
तदेकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः।
अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी॥ (१६)

[व्रजवासिनः वयस्याः क्षणात् अदर्शनतः दीनाः, सदा सहविहारिणः, तदेकजीविताः, प्रोक्ताः। अतः अमी सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्ति॥]

एषां रूपं, यथा—

७. बलानुजसदृग्वयो-गण-विलास-वेष-श्रियः
प्रियङ्करण-"वल्लकीदल-विषाण"-वेण्वङ्किताः।
महेन्द्रमणिहाटकस्फटिकपद्मरागत्विषः
सदा प्रणयशालिनः सहचरा हरेः पान्तु वः॥ (१७)

[बलानुज-सदृग्-वयोगुण-विलास-वेष-श्रियः, प्रियङ्करण-वल्लकीदल-विषाण-वेण्वङ्किताः, महेन्द्रमणि-हाटक-स्फटिक-पद्मरागत्विषः, सदा प्रणयशालिनः हरेः सहचराः वः पान्तु॥]

सख्यं, यथा—

८. उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे! श्रीदामपाणौ गिरिम्।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्॥ (१८)

[तव उन्निद्रस्य अत्र तिष्ठतः सप्त क्षपाः विरतिं ययुः, हन्त! श्रान्तः इव असि, सखे! श्रीदामपाणौ गिरिं निक्षिप, किं वा दक्षिणे करे क्षणम् अर्पय, आधिः नः विध्यति, ते सव्यस्य दोष्णः अधुना कामं संवाहनं करवाम॥]

यथा वा श्रीदशमे (भा०१०/१२/११)—

९. इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
सार्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥ (१९)

[इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां परदैवतेन, मायाश्रितानां नरदारकेण सार्धं कृतपुण्यपुञ्जाः विजह्रुः॥]

अब व्रजसम्बन्धी वयस्य—

१०. क्षणभर भी (श्रीकृष्ण को) न देख पाने से जो दीन हो जाते हैं, जो सदा उनके साथ विहार करते हैं, जिनके प्राण उन्हीं में बसते हैं- ऐसे व्रजवासी वयस्य कहे गये हैं। इसलिये ये सभी वयस्यों में प्रधान हैं। ।१६।

उनका रूप, यथा—

७. हरि के (वे) सहचर आप लोगों की रक्षा करें, जो बलदेव के छोटे भाई (श्रीकृष्ण) के सदृश वयस्, गुण, विलास और वेश से सुशोभित है, जो प्रियकारी वल्लकीदल (पत्ते से बने सुषिर वाद्य) सींगे तथा वेणु लिये हुए हैं, जो महेन्द्रमणि (नीलम) सुवर्ण, स्फटिक तथा माणिक जैसी कान्तियों से युक्त हैं तथा जो सदा प्रेमशील हैं। ।१७।

उनका सख्य, यथा—

८. हे सखे! उनींदे रहते हुए तुम्हें सात रात्रियाँ बीत चुकी हैं, हाय! थके-से लग रहे हो, सखे! श्रीदामा के हाथ पर पर्वत रख दो, हमें चिन्ता हो रही है, अथवा क्षण-भर इसे दाहिने हाथ पर रख दो, ताकि हम तुम्हारे बाँये हाथ को जी भर कर सहला दें, या दबा दें। ।१८।

अथवा यथा श्रीदशम में (भा. १०/१२/११)—

९. इस प्रकार, सत्पुरुषों के लिये जो ब्रह्मसुखानुभव स्वरूप हैं, दास्यभाव-वालों के लिये जो परम दैवत हैं, मायाश्रित लोगों के लिये जो मनुष्य-बालक-मात्र हैं—ऐसे श्रीकृष्ण के साथ अनेक पुण्य किये हुए (ये सखा-गण) विहार करते थे। ।१९।

एषु श्रीकृष्णस्य सख्यं, यथा—

१०. सहचर-निकुरम्बं भ्रातरार्य! प्रविष्टं
द्रुतमघ़जठरान्तः कोटरे प्रेक्षमाणः।
स्खलदशिशिरबाष्पक्षालित-क्षामगण्डः
क्षणमहमवसीदन् शून्यचित्तस्तदासम्॥ (२०)

[भ्रातः आर्य! सहचरनिकुरम्बं द्रुतम् अघजठरान्तः कोटरे प्रविष्टं प्रेक्षमाणः अहं स्ख़लदशिशिरबाष्प-क्षालित-क्षामगण्डः क्षणम् अवसीदन् तदा शून्यचित्तः आसम्॥]

११. सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे।
प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः॥ (२१)

[गोष्ठे सुहृदः च सखायः च तथा परे प्रियसखाः प्रियनर्मवयस्याः च इति चतुर्विधाः उक्ताः॥]

तत्र सुहृदः—

१२. वात्सल्यगन्धि-सख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाधिकाः।
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षा-परायणाः॥ (२२)

[ते वात्सल्यगन्धिसख्याः तु वय़सा किञ्चित् अधिकाः, दुष्टेभ्यः तस्य रक्षा-परायणाः सदा सायुधाः॥]

१३. सुभद्र-मण्डलीभद्र-भद्रवर्धन-गोभटाः।
यक्षेन्द्रभट[१]-भद्राङ्ग-वीरभद्रा महागुणाः।
विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्तिताः॥ (२३)

[सुभद्र-मण्डलीभद्र-भद्रवर्धन-गोंभटाः, यक्षेन्द्रभट-भद्राङ्ग-वीरभद्राः विजयः, बलभद्राद्याः महागुणाः, तस्य सुहृदः कीर्तिताः॥]

एषां सख्यं, यथा—

११. धुन्वन् धावसि मण्डलाग्रममलं त्वं मण्डलीभद्र! किं
गुर्वीं नार्य! गदां गृहाण विजय! क्षोभं वृथा मा कृथाः।
शक्तिं न क्षिप भद्रवर्धन! पुरो गोवर्धनं गाहते
गर्जन्नेष़ घनो बली न तु बलीवर्दाकृतिर्दानवः॥ (२४)

[मण्डलीभद्र! त्वं किम् अमलं मण्डलाग्रं धुन्वन् धावसि! आर्य! गुर्वीं गदां न गृहाण। विजय! वृथा क्षोभं मा कृथाः! भद्रवर्धन! शक्तिं मा क्षिप। पुरः गर्जन् एषः बली घनः गोवर्धनं गाहते, न तु बलीवर्दाकृतिः दानवः॥]

इनके प्रति श्रीकृष्ण का सख्य, यथा—

१०. *हे बड़े भैया, मैंने जब सहचरों के समूह को अघासुर के जठर (पेट) के भीतरी कोटर में घुसे हुए देखा, तब बहते हुए उष्ण आँसुओं से मेरे कुम्हलाये हुए गाल धुलने लगे; उस समय मैं दुःखी होता हुआ शून्यचित्त-वाला हो गया।* *।२०।*

११. व्रज में चार प्रकार के (वयस्य) कहे गये हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्मवयस्य। ।२१।

उनमें से सुहृद्—

१२. वयस् में किञ्चिद् अधिक, वात्सल्यगन्धि सखा (सुहृद्) हैं, जोकि आयुध-युक्त हैं और दुष्टों से उन श्रीकृष्ण की रक्षां में सदा तत्पर हैं। ।२२।

१३. सुभद्र, मण्डलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, और वीरभद्र विजय तथा बलभद्र आदि-ये महान्-गुणशाली उनके सुहृद् हैं। ।२३।

इनका सख्य यथा—

११. *हे मण्डलीभद्र! तुम निर्मल (स्वच्छ) खड्ग को घुमाते हुए क्यों दौड़ रहे हो? आर्य! भारी गदा को मत उठाइये! विजय! वृथा क्षोभ न करो! भद्रवर्धन 'शक्ति' (अस्त्र-विशेष) मत फेंको! सामने गरजता हुआ बादल ही गोवर्धन पर छा रहा है, यह बैल की आकृति वाला दानव (अरिष्टासुर) नहीं है।* *।२४।*

१४. सुहृत्सु मण्डलीभद्र-बलभद्रौ किलोत्तमौ॥ (२५)

[मण्डलीभद्र-बलभद्रौ किल सुहृत्सु उत्तमौ॥]

तत्र मण्डलीभद्रस्य रूपं, यथा—

१२. पाटलपटलसदङ्गो
लकुटकरः[10] शेखरी शिखण्डेन।
द्युतिमण्डलीमलिनिभां
भाति दधन्मण्डलीभद्रः॥ (२६)

[पाटलपटलसदङ्गः, लकुटकरः, शिखण्डेन शेखरी, अलिनिभां द्युतिमण्डलीं दधत् मण्डलीभद्रः भाति॥]

अस्य सख्यं, यथा—

१३. वनभ्रमणकेलिभिर्गुरुभिरह्नि खिन्नीकृतः
सुखं स्वपितु नः सुहृद् व्रज-निशान्तमध्ये निशि।
अहं शिरसि मर्दनं मृदु करोमि कर्णे कथां
त्वमस्य विसृजन्नलं सुबल! सक्थिनी लालय॥ (२७)

[गुरुभिः वनभ्रमणकेलिभिः अह्नि खिन्नीकृतः, नः सुहृद् निशि व्रजनिशान्तमध्ये सुखं स्वपितु। अहं शिरसि मृदु मर्दनं करोमि, सुबल! त्वम् अस्य कर्णे कथां विसृजन् अलं सक्थिनीं लालय॥]

बलदेवस्य रूपं, यथा—

१४. गण्डान्तः स्फुरदेककुण्डलमलिच्छन्नावतंसोत्पलं
कस्तूरीकृत-चित्रकं[11] पृथुहृदिभ्राजिष्णुगुञ्जास्रजम्।
तं वीरं शरदम्बुदद्युतिभरं[12] संवीतकालाम्बरं
गम्भीरस्वनितं, प्रलम्बभुजमालम्बे प्रलम्बद्विषम्॥ (२८)

[गण्डान्तः स्फुरदेक-कुण्डलम् अलिच्छन्नावतंसोत्पलम्, कस्तूरीकृतचित्रकम्, पृथुहृदिभ्राजिष्णुगुञ्जास्रजम्, शरदम्बुदद्युतिभरम्, संवीतकालाम्बरम् प्रलम्बद्विषम्, प्रलम्बभुजम्, गम्भीरस्वनितम्, तं वीरम् आलम्बे॥]

१४. सुहृदों में मण्डलीभद्र और बलभद्र उत्तम हैं। ।२५।

उनमें से मण्डलीभद्र का रूप, यथा—

१२. जिसका शरीर गुलाबी वस्त्रों से सुशोभित है, जो हाथ में लाठी लिये है, जो माथे पर मयूरपंख लगाये हैं, जो भ्रमर जैसी काली द्युतिमण्डली धारण किये है, ऐसा मण्डलीभद्र सुशोभित है। ।२६।

इनका सख्य, यथा—

१३. भारी वन-भ्रमण-क्रीड़ाओं से थका हुआ हमारा सुहृद् अब रात में व्रज के महल में सुख से सोये। मैं (उसके सिर) में हल्की मालिश करता हूँ। सुबल! तुम इसके कानों में बात करना छोड़कर इसकी पिण्डलियों (पैरों के ऊपर घुटने से नीचे के भाग) को भली-भाँति सहलाओ-मलते हुए दबाओ।

।२७।

बलदेव का रूप, यथा—

१४. जिनके गाल पर एक कुण्डल चमक रहा है (और दूसरे कान में) नीलकमल-रूप अवतंस पर भौरें छाये हुए हैं, कस्तूरी-तिलक लगाये हैं, पुष्ट वक्षःस्थल पर गुञ्जामाला है, शरद् ऋतु के बादल जैसी (शुभ्र) द्युति वाले एवं काला (नीला) वस्त्र पहने हुए, गम्भीर कण्ठस्वर वाले लम्बी भुजाओं वाले उन (बलदेव) का मैं आश्रय लेता हूँ जो प्रलम्बासुर के शत्रु हैं। ।२८।

अस्य सख्यं, यथा—

१५. जनितिथिरिति पुत्रप्रेमसंवीतयाहं
स्नपयितुमिह सद्मन्यम्बया स्तम्भितोऽस्मि।
इति सुबल! गिरा मे सन्दिश त्वं मुकुन्दं
फणिपतिह्रदकच्छे नाद्य गच्छेः कदापि॥ (२९)

[सुबल! जनितिथिः इति पुत्रप्रेमसंवीतया अम्बया अहं स्नपयितुम् इह सद्मनि स्तम्भितः अस्मि, त्वं मे गिरा मुकुन्दं सन्दिश यत् फणिपतिह्रदकच्छे अद्य कदापि न गच्छेः इति॥]

अथ सखायः—

१५. कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना।
[१३]विशाल-वृषभौजस्वि-देवप्रस्थ-वरूथपाः॥ (३०)

[प्रीतिगन्धिना सख्येन सम्बद्धाः; विशाल-वृषभौजस्वि-देवप्रस्थ-वरूथपाः कनिष्ठकल्पाः॥]

१६. मरन्द-कुसुमापीड-मणिबन्ध-करन्धमाः।
इत्यादयः सखायोऽस्य सेवा-सौख्यैकरागिणः॥ (३१)

[मरन्द-कुसुमापीड-मणिबन्ध-करन्धमाः इत्यादयः सखायः अस्य सेवा-सौख्यैकरागिणः॥]

एषां सख्यं, यथा—

१६. विशाल! बिसिनीदलैः कलय वीजनप्रक्रियां
वरूथप! विलम्बितालकवरूथमुत्सारय।
मृषा वृषभ! जल्पितं त्यज भजाङ्गसंवाहनं
यदुग्रभुजसङ्गरे गुरुमगात् क्लमं नः सखा॥ (३२)

[विशाल! बिसिनीदलैः वीजनप्रक्रियां कलय, वरूथप! विलम्बितालकवरूथम् उत्सारय। वृषभ! वृथा जल्पितं त्यज, अङ्गसंवाहनं भज, यत् उग्रभुजसङ्गरे नः सखा गुरुं क्लमम् अगात्॥]

१७. सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः॥ (३३)

[अयं देवप्रस्थः सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठः ईरितः॥]

इनका सख्य, यथा—

१५. *जन्मदिन के कारण पुत्र प्रेम से अभिभूत माता के द्वारा (विशेष) स्नान कराने के लिये मैं यहाँ घर में रोक लिया गया हूँ। हे सुबल! मेरी ओर से तुम मुकुन्द को सन्देश दे दो कि तुम आज कालियह्रद के तट पर बिल्कुल मत जाना।* *।२९।*

सखा-गण—

१५-१६. जो कनिष्ठों के समान हैं और दास्यगन्धि सख्य से युक्त सम्बन्ध रखते हैं, जिनके नाम हैं—विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, और वरूथप, वे मरन्दपुष्पों के मुकुट और कलाई के आभूषण पहने हैं—इत्यादि प्रकार के इनके सखा हैं, जोकि एकमात्र सेवा-सौख्य के अनुरागी हैं। ।३०-३१।

इनका सख्य, यथा—

१६. *हे विशाल! तुम कमलिनी के पत्तों से पंखा झलो; हे वरूथप! लटकते हुई लटों के समूह को ऊँचा करके समेटो; वृषभ! वृथा बकवास छोड़ दो, शरीर दबाओ! क्योंकि भुजाओं द्वारा उग्र-युद्ध करने (लड़ाई के खेल) में हमारे सखा को बहुत थकान हो गयी है।* *।३२।*

१७. सभी सखाओं में से यह देवप्रस्थ श्रेष्ठ माना गया है। ।३३।

तस्य रूपं, यथा—

१७. बिभ्रद् गेण्डुं[१४] पाण्डुरोद्भास-वासाः
पाशाबद्धोत्तुङ्ग-मौलिर्बलीयान्।
बन्धूकाभः सिन्धुरस्पर्धिनीलो
देवप्रस्थः कृष्णपार्श्वं प्रतस्थे॥ (३४)

[पाण्डुरोद्भासवासाः पाशाबद्धोत्तुङ्गमौलिः बलीयान् बन्धूकाभः सिन्धुरस्पर्धिलीलः देवप्रस्थः गेण्डुं बिभ्रद् कृष्णपार्श्वं प्रतस्थे॥]

अस्य सख्यं, यथा—

१८. श्रीदाम्नः पृथुलां भुजामभि शिरो विन्यस्य विश्रामिणं
दाम्नः सव्यकरेण[१५] रुद्धहृदयं शय्याविराजत्तनुम्।
मध्ये [१६]सुन्दरि! कन्दरस्य पदयोः संवाहनेन प्रियं
देवप्रस्थ इतः कृती सुखयति प्रेम्णा व्रजेन्द्रात्मजम्॥ (३५)

[सुन्दरि! कृती देवप्रस्थः इतः कन्दरस्य मध्ये, श्रीदाम्नः पृथुलां भुजाम् अभि शिरः विन्यस्य विश्रामिणम्, दाम्नः सव्यकरेण रुद्धहृदयं शय्याविराजत्तनुम्, प्रियं व्रजेन्द्रात्मजं प्रेम्णा पदयोः संवाहनेन सुखयति।]

अथ प्रियसखाः—

१८. वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः।
श्रीदामा च सुदामा च दामा च वसुदामकः॥ (३६)

[वयस्तुल्याः प्रियसखाः केवलं सख्यम् आश्रिताः। श्रीदामा सुदामा च, दामा च, वसुदामकः च]

१९. किङ्किणिस्तोककृष्णाशु-भद्रसेन-विलासिनः।
पुण्डरीकविटङ्काक्ष-कलविङ्कादयोऽप्यमी॥ (३७)

[किङ्किणि-स्तोककृष्णांशु-भद्रसेन-विलासिनः, पुण्डरीक-विटङ्काक्ष-कलविङ्कादयः अपि अमी॥]

२०. रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदा।
नियुद्धं-दण्डयुद्धादि-कौतुकैरपि केशवम्॥ (३८)

[प्रियसखाः विविधैः केलिभिः नियुद्ध-दण्डयुद्धादि-कौतुकैः अपि सदा केशवं रमयन्ति॥]

उनका रूप, यथा—

१७. *उसके वस्त्र श्वेत-कान्ति वाले हैं, रस्सी से बालों का ऊँचा-सा जूड़ा बाँधा हुआ है। वह बलवान् है, उसकी आभा (वर्ण) रक्त है, उसकी चाल-ढाल हाथी को भी मात देती है। ऐसा देवप्रस्थ गेंद लिये हुए श्रीकृष्ण की ओर चला।* ।३४।

उसका सख्य, यथा—

१८. *हे सुन्दरी! देवप्रस्थ पुण्यशाली है, जो कि इधर कन्दरा के बीच, श्रीदामा की पुष्ट भुजा पर सिर रखकर विश्राम करते हुए, दामा का बाँया हाथ हृदय पर रखे हुए, शय्या पर शरीर टिकाये हुए प्रिय व्रजेन्द्रनन्दन (श्रीकृष्ण) को, प्रेम से पाँव दबाता हुआ सुखी कर रहा है।* ।३५।

प्रिय सखा—

१८-१९. **प्रिय सखा वयस् में समान हैं और केवल सख्य के आश्रय हैं, उनके नाम हैं—श्रीदामा, सुदामा, दामा और वसुदामा, किंकिणि, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्काक्ष, कलविङ्क आदि।** ।३६-३७।

२०. **ये प्रियसखागण नाना प्रकार की क्रीड़ाओं द्वारा और मल्लयुद्ध, दण्डयुद्ध आदि कौतुकों द्वारा केशव को खेल-खिलाते हैं।** ।३८।

एषां सख्यं, यथा—

१९. सगद्गदपदैर्हरिं हसति कोऽपि वक्रोदितैः
प्रसार्य भुजयोर्युगं पुलकि कश्चिदाश्लिष्यति।
करेण चलता दृशौ निभृतमेत्य रुन्धे परः[१७]
कृशाङ्गि! सुखयन्त्यमी प्रियसखाः सखायं तव॥ (३९)

[कः अपि सगद्गदपदैः वक्रोदितैः हरिं हसति, कश्चित् पुलकि भुजयोः युगं प्रसार्य आश्लिष्यति, परः निभृतम् एत्य चलता करेण दृशौ रुन्धे। कृशाङ्गि! अमी प्रियसखाः तव सखायं सुखयन्ति॥]

२१. एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरो मतः (४०)

[एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरः मतः॥]

तस्य रूपम्—

२०. वासः पिङ्गं बिभ्रतं शृङ्गपाणिं
बद्धस्पर्धं सौहृदान्माधवेन।
ताम्रोष्णीषं श्यामधामाभिरामं
श्रीदामानं दामभाजं भजामि॥ (४१)

[पिङ्गं वासः बिभ्रतं शृङ्गपाणिम्, सौहृदात् माधवेन बद्धस्पर्धम्, ताम्रोष्णीषम्, श्यामधामाभिरामम् दामभाजं श्रीदामानं भजामि॥]

सख्यं, यथा—

२१. त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर! यामुनतटे कस्मादकस्माद् गतो
दिष्ट्या दृष्टिमितोऽसि हन्त निबिडाश्लेषैः सखीन् प्रीणय।
ब्रूमः सत्यमदर्शने तव मनाक् का धेनवः के वयं
किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्यस्यति॥ (४२)

[कठोर! त्वं नः प्रोज्झ्य कस्मात् अकस्मात् यामुनतटे गतः? दिष्ट्या दृष्टिम् इतः असि। हन्त! निबिडाश्लेषैः सखीन् प्रीणय। सत्यं ब्रूमः, तव मनाक् अदर्शने का धेनवः, के वयम्, किं गोष्ठम् किम् अभीष्टम् इति अचिरतः सर्वं विपर्यस्यति॥]

इनका सख्य यथा—

१९. *कोई वक्रोक्ति-भरे गद्‌गद् वाक्य बोलता हुआ हरि पर हँस रहा है, और कोई पुलक से भरी दोनों भुजायें पसार कर आलिङ्गन कर रहा है, और कोई एकान्त में चुपचाप आकर हाथ बढ़ाकर आँखे मूँद देता है; हे कृशाङ्गि! ये प्रियसखागण तुम्हारे सखा (श्रीकृष्ण) को सुखी कर रहे हैं।* ।३९।

२१. प्रिय वयस्यों में से यह श्रीदामा श्रेष्ठ माना गया है। ।४०।

उसका रूप, यथा—

२०. *पीला वस्त्र पहने हुए, हाथ में सींगा लिये हुए, सख्य के कारण माधव से स्पर्धा ठाने हुए, ताँबे के रंग की पगड़ी पहने हुए, श्याम-कान्ति से मनोरम, माला पहने हुए श्रीदामा का मैं स्मरण करता हूँ।* ।४१।

उसका सख्य, यथा—

२१. *हे कठोर! तुम हमें छोड़कर यमुना-तट पर क्यों अकस्मात् चले गये? हाय! बड़े भाग्य से तुम दृष्टिगोचर हो गये, अब घने आलिङ्गन से सखाओं को प्रसन्न करो। हम तो कहते हैं कि तुम्हारे तनिक भी अदर्शन (दिखाई न देने) से क्या गायें, क्या गोष्ठ, क्या हम लोग, क्या हमारी प्रिय वस्तुएँ सभी कुछ तुरन्त उलट-पुलट हो जाता है।* ।४२।

अथ प्रियनर्मवयस्याः—

२२. प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः।
आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः।
सुबलार्जुन-गन्धर्वास्ते वसन्तोज्ज्वलादयः।। (४३)

[प्रियनर्मवयस्याः तु पूर्वतः अपि अभितः वराः, भावविशेषिणः आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ताः। ते सुबलार्जुनगन्धर्वाः वसन्तोज्ज्वलादयः॥]

एषां सख्यं, यथा—

२२. राधासन्देशवृन्दं कथयति सुबलः पश्य कृष्णस्य कर्णे
श्यामाकन्दर्पलेखं निभृतमुपहरत्युज्ज्वलः[१८] पाणिपद्मे।
पालीताम्बूलमास्ये वितरति चतुरः कोकिलो मूर्ध्नि धत्ते
तारादामेति नर्मप्रणयि-सहचरास्तन्वि! तन्वन्ति सेवाम्॥
(४४)

[पश्य! कृष्णस्य कर्णे सुबलः राधासन्देशवृन्दं कथयन्ति, उज्ज्वलः निभृतं श्यामाकन्दर्पलेखं पाणिपद्मे उपहरति। चतुरः पाली-ताम्बूलम् आस्ये वितरति। कोकिलः तारा-दाम मूर्ध्नि धत्ते, इति तन्वि! नर्म-प्रणयिसहचराः सेवां तन्वन्ति॥]

२३. प्रियनर्मवयस्येषु प्रबलौ[१९] सुबलोज्ज्वलौ। (४५)

[सुबलोज्ज्वलौ प्रियनर्मवयस्येषु प्रबलौ॥]

तत्र सुबलस्य रूपं, यथा—

२३. तनुरुचिविजितहिरण्यं
हरिदयितं हारिणं हरिद्वसनम्।
सुबलं कुवलयनयनं
नयनन्दितबान्धवं वन्दे॥ (४६)

[तनुरुचिविजितहिरण्यम्, हरिदयितम्, हारिणम्, हरिद्वसनम्, कुवलयनयनम्, नय-नन्दित-बान्धवं सुबलं वन्दे॥]

प्रिय नर्मसखा—

२२. प्रिय नर्मसखा पूर्वोक्त सभी सखाओं से सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं। भाव विशेष से युक्त वे लोग अत्यन्त रहस्य (की लीलाओं) में नियुक्त रहते हैं; वे हैं—सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल आदि। ।४३।

इनका सख्य यथा—

२२. *देखो कृष्ण के कान में सुबल राधा के सन्देश कह रहा है। उज्ज्वल एकान्त में श्यामा का कन्दर्पलेख (प्रेमपत्र) करकमल पर रख रहा है। चतुर पाली का दिया हुआ ताम्बूल (श्रीकृष्ण के) मुख में डाल रहा है। कोकिल तारा की माला (उनके) सिर पर रख रहा है। हे तन्वि! (माधव के) प्रिय नर्मसखा सेवा का विस्तार कर रहे हैं। (अपनी-अपनी सेवा अर्पित कर रहे हैं।)* ।४४।

२३. प्रिय नर्म-सखाओं में से सुबल और उज्ज्वल प्रबल हैं। ।४५।

उनमें से सुबल का रूप, यथा—

२३. *शरीर की कान्ति से जिसने स्वर्ण को जीत लिया है, जो श्रीहरि का प्रिय है, जो हार पहने हैं, हरे वस्त्र धारण किये हुए है—ऐसे कमलनयन सुबल को मैं वन्दना करता हूँ जो नीति द्वारा अपने बान्धव श्रीकृष्ण को आनन्दित करता है।* ।४६।

अस्य सख्यं, यथा—

२४. वयस्य गोष्ठ्यामखिलेङ्गितेषु
विशारदायामपि माधवस्य।
अन्यैर्दुरूहा सुबलेन सार्धं
संज्ञामयी कापि बभूव वार्ता॥ (४७)

[अखिलेङ्गितेषु विशारदायाम् अपि वयस्यगोष्ठ्यां माधवस्य सुबलेंन सार्द्धम् अन्यैः दुरूहा का अपि संज्ञामयी वार्ता बभूव॥]

उज्ज्वलस्य रूपं, यथा—

२५. अरुणाम्बरमुच्चलेक्षणं
मधुपुष्पावलिभिः प्रसाधितम्।
हरिनील-रुचिं हरिप्रियं
मणिहारोज्ज्वलमुज्ज्वलं भजे॥ (४८)

[अरुणाम्बरम्, उच्चलेक्षणम्, मधुपुष्पावलिभिः प्रसाधितम्, हरिनीलरुचिम्, हरिप्रियम्, मणिहारोज्ज्वलम् उज्ज्वलं भजे॥]

अस्य सख्यं, यथा—

२६. शक्तास्मि मानमवितुं कथमुज्ज्वलोऽयं
दूतः समेति सखि! यत्र मिलत्यदूरे।
सापत्रपापि कुलजापि पतिव्रतापि
का वा वृषस्यति न गोपवृषं किशोरी[१०]? (४९)

[मानम् अवितुं कथम् शक्ता अस्मि। अयं दूतः उज्ज्वलः समेति। सखि! यत्र (सः) अदूरे मिलति, (तत्र) सापत्रपा अपि, कुलजा अपि, पतिव्रता अपि, का अपि वा किशोरी गोपवृषं न वृषस्यति?]

२४. उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नर्मोक्तिलालसः॥ (५०)

[अयम् उज्ज्वलः सदा विशेषेण नर्मोक्तिलालसः॥]

उसका सख्य, यथा—

२४. *सभी इङ्गितों (संकेतों) में निपुण सखाओं की गोष्ठी में भी माधव की सुबल के साथ कुछ ऐसी सङ्केतमयी वार्ता हुई जो अन्यों के लिये दुरूह रही।* *।४७।*

उज्ज्वल का रूप, यथा—

२५. *अरुण वस्त्र पहने हुए, अति चञ्चल दृष्टि वाले, मधुभरी पुष्पावलि से अलङ्कृत, श्रीहरि जैसी नीलकान्ति वाले, श्रीहरि के प्रिय, मणिहारों से उज्ज्वल सखा उज्ज्वल का मैं स्मरण करता हूँ।* *।४८।*

उसका सख्य, यथा—

२६. *हे सखि! मैं मान की रक्षा करने में कैसे समर्थ होऊँ? जबकि यह उज्ज्वल नाम का दूत सामने चला आ रहा है, वह समीप उपस्थित हो तो, लज्जा से युक्त होने पर भी, कुलीना होने पर भी, पतिव्रता होने पर भी कौन ऐसी किशोरी होगी जो गोपश्रेष्ठ (श्रीकृष्ण) को न चाहेगी।* *।४९।*

२४. यह उज्ज्वल विशेष रूप से सदा नर्म-वचन कहने की लालसा रखता है। ।५०।

यथा—

२७. स्फुरदतनुतरङ्गावर्धितानल्पवेलः
सुमधुररसरूपो दुर्गमावारपारः[21]।
जगति युवति-जातिर्निम्नगा त्वं समुद्र-
स्तदियमघहर! त्वामेति सर्वाध्वनैव॥ (५१)

[स्फुरदतनुतरङ्गावर्धितानल्पवेलः, सुमधुररसरूपः, दुर्गमावारपारः त्वं समुद्रः। जगति युवतिजातिः निम्नगा, तद् अघहर! इयं सर्वाध्वना एव त्वाम् एति॥]

२५. एतेषु केऽपि शास्त्रेषु, केऽपि लोकेषु विश्रुताः॥ (५२)

[एतेषु के अपि शास्त्रेषु, के अपि लोकेषु विश्रुताः]

२६. नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा।
केचिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते॥ (५३)

[नित्यप्रियाः, सुरचराः, साधकाः च, इति ते त्रिधा। एषु केचित् जात्या स्थिराः तं मन्त्रिवत् उपासते॥]

२७. तं हासयन्ति चपलाः केचिद्वैहासिकोपमाः।
केचिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम्[22]॥ (५४)

[केचित् वैहायसिकोपमाः चपलाः तं हासयन्ति, केचित् सरलाः आर्जवसारेण तं शीलयन्ति॥]

२८. वामा वक्रिमचक्रेण केचिद् विस्माययन्त्यमुम्।
केचित् प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम्।
सौम्याः सूनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे॥ (५५)

[केचित् वामाः वक्रिमचक्रेण अमुं विस्माययन्ति, केचित् प्रगल्भाः अमुना समं वितण्डां कुर्वन्ति। परे सौम्याः धन्या सूनृतया वाचा तं धिन्वन्ति॥]

२९. एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी।
पवित्र-मैत्रीवैचित्री-चारुतामुपचिन्वते॥ (५६)

[एवम् अमी सर्वे मधुराः विविधया प्रकृत्या पवित्र-मैत्री-वैचित्री-चारुताम् उपचिन्वते॥]

यथा—

२७. हे अघहर! तुम ऐसे सुमधुर रसरूप समुद्र हो जिसकी विशाल तरङ्गों ने समस्त तटभूमि को छिन्नं कर दिया है, जिसका ओर-छोर पाना कठिन है। जगत् में युवती-जाति नदी के समान है जो सभी मार्गों से तुम्हारी ओर ही आती है। ।५१।

२५. इनमें से कोई तो शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, कोई लोक में प्रसिद्ध हैं। ।५२।

२६. वे (वयस्य) (अन्य रीति से) तीन प्रकार के हैं—नित्यप्रिय, सुरचर और साधक। इनमें से कुछ स्वभाव से ही स्थिर हैं और मन्त्री के समान उन (श्रीकृष्ण) की उपासना करते हैं। ।५३।

२७. कोई-कोई विदूषक की भाँति चपल हैं और उन्हें (श्रीकृष्ण को) हँसाते हैं। कोई स्वभाव से ही सीधे-सरल हैं और उनका सम्मान करते हैं। ।५४।

२८. कोई वाम अर्थात् टेढ़े हैं और वक्रता के चक्र से उनको अचरज या भुलावे में डाल देते हैं। कोई प्रगल्भ हैं और उनके साथ वाद-विवाद करते हैं। अन्य जो सौम्य हैं, ये सभी धन्य हैं वे सत्य-सुखद वाणी के द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हैं। ।५५।

२९. इस प्रकार ये सब विविध प्रकृति वाले मधुर हैं जो पवित्र मैत्री के वैचित्र्य की चारुता को बढ़ाते हैं। ।५६।

अथ उद्दीपनाः—

३०. उद्दीपना वयोरूप-शृङ्ग-वेणु-दरा हरेः।
विनोद-नर्म-विक्रान्ति-गुणाः प्रेष्ठजनास्तथा।
राज-देवावतारादि-चेष्टानुकरणादयः॥ (५७)

[हरेः वयः-रूप-शृङ्ग-वेणु-दराः (शङ्खाः), विनोद-नर्म-विक्रान्तिगुणाः प्रेष्ठजनाः, तथा राजदेवावतारादि-चेष्टानुकरणादयः उद्दीपनाः॥]

तत्र वयः-

३१. वयः कौमार-पौगण्ड-कैशोरञ्चेह सम्मतम्।
गोष्ठे कौमार-पौगण्डे कैशोरं पुरगोष्ठयोः॥ (५८)

[वयः इह कौमार-पौगण्ड-कैशोरं च सम्मतम्। गोष्ठे कौमार-पौगण्डे, पुरगोष्ठयोः कैशोरम्॥]

तत्र कौमारं, यथा—

३२. कौमारं वत्सले वाच्यं ततः संक्षिप्य लिख्यते॥ (५९)

[वत्सले कौमारं वाच्यम्, ततः संक्षिप्य लिख्यते॥]

यथा श्रीदशमे (भा०१०/१३/११)—

२८. बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥ (६०)

[जठरपट्योः वेणुं कक्षे च शृङ्गवेत्रे, वामे पाणौ मसृणकवलम्, अङ्गुलीषु तत्फलानि बिभ्रत् मध्ये तिष्ठन् स्वैः नर्मभिः स्वपरिसुहृदः हासयन् स्वर्गे लोके मिषति बालकेलिः यज्ञभुक् बुभुजे॥]

अथ पौगण्डम्—

३३. आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डञ्च त्रिधा भवेत्॥ (६१)

[पौगण्डं च आद्यं मध्यं तथा शेषम् (इति) त्रिधा भवेत्॥]

उद्दीपन विभाव—

३०. हरि के वयस्, रूप, सींगा, वेणु, शङ्ख, विनोद, सरस-परिहास, विक्रम आदि गुण और उनके प्रियजन तथा राजा, देवता, अवतार आदि की चेष्टाओं का अनुकरण उद्दीपन हैं। ।५७।

उनमें से वयस्—

३१. कौमार, पौगण्ड और कैशोर-ये वयस् यहाँ सम्मत हैं। व्रज में कौमार तथा पौगण्ड, तथा पुर और व्रज दोनों में कैशोर अभिमत है। ।५८।

उनमें से कौमार, यथा—

३२. वत्सल में कौमार कहा जाता है, इसलिये संक्षेप में वह वर्णित है— ।५९।

यथा श्रीदशम में (भा. १०/१३/११)—

२८. पेट पर बँधे पीताम्बर और फेंटे में वेणु खोंसे हुए, सींगा और बेंत काँख (बगल) में दबाये हुए, बाँये हाथ में स्निग्ध (दही-भात का) कौर और उँगलियों में (उस कौर से चूते हुए) उसके रस को लिये हुए, अपने सखाओं के बीच में बैठे हुए, अपने विनोदपूर्ण वचनों से उन्हें हँसाते हुए, बाललीला करते हुए (वस्तुतः) यज्ञभोक्ता (श्रीकृष्ण) (वन में) भोजन कर रहे थे, जबकि आकाश में देव-गण उन्हें देख रहे थे। ।६०।

पौगण्ड—

३३. आदिम (पहला), मध्य तथा अन्तिम—इस प्रकार पौगण्ड तीन प्रकार का होता है। ।६१।

तत्र आद्यं पौगण्डम्—

३४. अधरादेः सुलौहित्यं जठरस्य च तानवम्।
कम्बुग्रीवोद्गमाद्यञ्च पौगण्डे प्रथमे सति॥ (६२)

[प्रथमे पौगण्डे सति अधरादेः सुलौहित्यम् जठरस्य च तानवम् कम्बुग्रीवोद्गमाद्यं च (दृश्यते)॥]

यथा—

२९. तुन्दं विन्दति ते मुकुन्द! शनकैरश्वत्थपत्रश्रियं!
[23]कण्ठः कम्बुवदम्बुजाक्ष! भजते रेखात्रयीमुज्ज्वलाम्।
आरुन्धे कुरुविन्द-कन्दलरुचिं भूचन्द्र! दन्तच्छदो
लक्ष्मीराधुनिकी धिनोति सुहृदामक्षीणि सा[24] काप्यसौ॥
(६३)

[मुकुन्द! ते तुन्दं शनकैः अश्वत्थपत्रश्रियं विन्दति। अम्बुजाक्ष! कण्ठः कम्बुवत् उज्ज्वलां रेखात्रयीं भजते। भूचन्द्र! दन्तच्छदः कुरुविन्दकन्दलरुचिम् आरुन्धे। सा का अपि आधुनिकी लक्ष्मीः सुहृदाम् अक्षीणि धिनोति॥]

३५. पुष्पमण्डन-वैचित्री चित्राणि गिरिधातुभिः।
पीतपट्टदुकूलाद्यमिह प्रोक्तं प्रसाधनम्॥ (६४)

[पुष्पमण्डन-वैचित्री, गिरिधातुभिः चित्राणि, पीतपट्ट-दुकूलाद्यम् इह प्रसाधनं प्रोक्तम्॥]

३६. सर्वाटवी-प्रचारेण नैचिकीचयचारणम्
नियुद्ध-केलि-नृत्यादि-शिक्षारम्भोऽत्र चेष्टितम्॥ (६५)

[अत्र चेष्टितम्-सर्वाटवीप्रचारेण नैचिकीचयचारणम्, नियुद्धकेलि-नृत्यादि-शिक्षारम्भः (इति)॥]

यथा—

३०. वृन्दारण्ये समन्तात् सुरभिणि सुरभीवृन्द-रक्षाविहारी
गुञ्जाहारी शिखण्ड-प्रकटितमुकुटः पीतपट्टाम्बर-श्रीः।
कर्णाभ्यां कर्णिकारे दधदलमुरसा फुल्लमल्लीकमाल्यं[25]
नृत्यान् दोर्युद्धरङ्गे नटवदिह सखीन्नन्दयत्येष कृष्णः॥ (६६)

[शिखण्डप्रकटितमुकुटः, पीतपट्टाम्बरश्रीः कर्णाभ्यां कर्णिकारे (दधत्), उरसा अलं फुल्लमल्लीकमाल्यं दधत्, दोर्युद्धरङ्गे नटवन् नृत्यत् एषः कृष्णः सखीन् नन्दयति॥]

उनमें से आदिम पौगण्ड—

३४. अधर आदि का भली-भाँति लाल होना और पेट की कृशता शङ्ख जैसी ग्रीवा निकल आना इत्यादि प्रथम पौगण्ड में होते हैं। ।६२।

यथा—

२९. *हे मुकुन्द! तुम्हारा पेट धीरे-धीरे पीपल के पत्ते की शोभा पा रहा है; हे कमलनयन! तुम्हारा कण्ठ (गर्दन) शङ्ख के समान उज्ज्वल रेखात्रयी से युक्त हो रहा है। हे धरती के चाँद! तुम्हारे ओंठ कुरुविन्द (लाल माणिक) और नई कोंपलों की कान्ति को भी फीका बना रहे हैं, इस समय की तुम्हारी यह जो कोई विलक्षण शोभा है वह (हम) मित्रों के नयनों को आनन्द दे रही है। ।६३।*

३५. यहाँ फूलों के आभूषणों का वैचित्र्य, पर्वत से निकले गेरु आदि धातुओं से विभिन्न अङ्गों पर बने चित्र, पीले रेंशमी वस्त्र आदि प्रसाधन कहे गये हैं। ।६४।

३६. सभी वनों में घूमते हुए उत्तम गायों के समूह को चराना, नियुद्ध (कुश्ती), खेल, नृत्य आदि की शिक्षा का आरम्भ—ये सब यहाँ चेष्टायें हैं। ।६५।

यथा—

३०. *सुगन्ध से भरे वृन्दावन में सब ओर गो-समूह की रक्षा के लिये विहार करने वाला, गुञ्जाओं का हार पहने हुए, मोरपंखों से बना मुकुट लगाये हुए, पीले रेशमी वस्त्र से सुशोभित, कानों में कनेर के फूल धारण किये हुए, वक्षःस्थल पर फूली हुई मल्लिका की माला पहने हुए, बाहु-युद्ध की रङ्गशाला में नट के समान नाचते हुए यह कृष्ण सखाओं को आनन्दित कर रहा है। ।६६।*

अथ मध्यपौगण्डम्-

३७. नासा सुशिखरा तुङ्गा कपोलौ मण्डलाकृती।
पार्श्वाद्यङ्गं सुवलितं पौगण्डे सति मध्यमे॥ (६७)

[मध्यमे पौगण्डे सति नासा सुशिखरा तुङ्गा, कपोलौ मण्डलाकृती, पार्श्वादि-अङ्गं सुवलितम्॥]

यथा—

३१. तिलकुसुमविहासि-नासिकाश्री-
नवमणि-दर्पण-दर्पनाशि गण्डः।
हरिरिह परिमृष्ट-पार्श्वसीमा
सुखयति सुष्ठु सखीन् स्वशोभयैव॥ (६८)

[तिलकुसुमविहासि-नासिकाश्रीः, नवमणिदर्पण-दर्पनाशि-गण्डः, परिमृष्ट-पार्श्वसीमा हरिः स्वशोभया एव सखीन् सुष्ठु सुखयति॥]

३८. उष्णीषं पट्टसूत्रोत्थ-पाशेनात्र तडित्त्विषा।
यष्टिः श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रेत्यादिमण्डनम्।
भाण्डीरे क्रीडनं शैलोद्धारणाद्यञ्च चेष्टितम्॥ (६९)

[तडित्त्विषा पट्टसूत्रोत्थपाशेन अत्र उष्णीषम् श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रा यष्टिः, भाण्डीरे क्रीडनम्, शैलोद्धारणाद्यं च चेष्टितम्॥]

यथा—

३२. यष्टिं हस्तत्रयपरिमितां प्रान्तयोः स्वर्णबद्धां
[26]बिभ्रन्नीलां चटुलचमरीचारु-चूडोज्ज्वलश्रीः।
[27]बद्धोष्णीषः पुरटरुचिना पट्टपाशेन पार्श्वे
पश्य क्रीडन् सुखयति सखे! मित्रवृन्दं मुकुन्दः॥ (७०)

[सखे! पश्य हस्तत्रयपरिमितां नीलां प्रान्तयोः स्वर्णबद्धां यष्टिं बिभ्रत्, चटुलचमरीचारु-चूडोज्ज्वलश्रीः, पुरटरुचिना पट्टपाशेन बद्धोष्णीषः मुकुन्दः पार्श्वे क्रीडन् मित्रवृन्दं सुखयति॥]

३९. पौगण्ड-मध्य एवायं हरिर्दीव्यन् विराजते।
माधुर्याद्भुतरूपत्वात् कैशोराग्रांशभागिव॥ (७१)

[पौगण्डमध्ये एव अयं हरिः माधुर्याद्भुतरूपत्वात् कैशोराग्रांशभाक् इव दीव्यन् विराजते॥]

मध्य पौगण्ड—

३७. तीखी और ऊँची नासिका, गोल कपोल, पार्श्व आदि अङ्गों में सुन्दर मोड़—यह सब मध्य पौगण्ड में होता है। ।६७।

यथा—

३१. जिनकी नासिका की शोभा तिल के पुष्प का परिहास करती है, कपोल नवीन मणि-निर्मित दर्पण के दर्प को नष्ट करते हैं, सुन्दर भराव से जिनके पार्श्व की सीमा सुघड़ मोड़ों से युक्त हैं—ऐसे हरि यहाँ अपनी शोभा से ही सखाओं को भली-भाँति सुखी बना रहे हैं। ।६८।

३८. विद्युत् जैसी चमक वाली रेशमी डोर की लपेटों से पगड़ी बनी है, तीन हाथ ऊँची, सोने की मूठ वाली काली लाठी-इत्यादि आभूषण हैं; भाण्डीर वन में खेलना और पर्वत (गोवर्धन) को उठाना आदि (उनके) मण्डन (आभूषण) हैं। ।६९।

यथा—

३२. देखो सखे! दोनों छोरों पर सोने से मढ़ी हुई, तीन हाथ लम्बी लाठी धारण किये हुए, चञ्चल मञ्जरियों से सुन्दर ऊँचे जूड़े से उज्ज्वल शोभा वाला, सुनहले रेशम के पेंचों की पगड़ी बाँधे हुए, खेलते हुए मुकुन्द मित्र-मण्डली को सुखी कर रहा है। ।७०।

३९. पौगण्ड के मध्य में ही ये खेलते हुए हरि माधुर्य से भरे अद्भुत रूप के कारण ऐसे विराज रहे हैं मानो कैशोर के प्रारम्भ में पहुँच गये हों। ।७१।

अथ शेषपौगण्डम्—

४०. वेणी नितम्ब-लम्बाग्रा लीलालक-लता-द्युतिः ।
अंसयोस्तुङ्गतेत्यादि पौगण्डे चरमे सति॥ (७२)

[चरमे पौगण्डे सति नितम्बलम्बाग्रा वेणी, लीलालकलताद्युतिः, अंसयोस्तुङ्गता इत्यादि (लक्ष्यते)॥]

यथा—

३३. अग्रे लीलालकलतिकयालङ्कृतं बिभ्रदास्यं
चञ्चद्वेणीशिखरशिखया चुम्बितश्रोणिबिम्बः ।
उत्तुङ्गांसच्छविरघहरो रङ्गमङ्गश्रियैव
न्यस्यन्नेष प्रियसवयसां गोकुलान्निर्जिहीते॥ (७३)

[अग्रे लीलालकलतिकया अलङ्कृतम् आस्यं बिभ्रत्, चञ्चद्वेणीशिखरशिखया चुम्बितश्रोणिबिम्बः, उत्तुङ्गांसच्छबिः, एषः अघहरः अङ्गश्रिया एव प्रियसवयसां रङ्गं न्यस्यन् गोकुलात् निर्जिहीते॥]

४१. उष्णीषे वक्रिमा लीला-सरसीरुहपाणिता।
काश्मीरेणोर्ध्वपुण्ड्राद्यमिह मण्डनमीरितम्॥ (७४)

[उष्णीषे वक्रिमा, लीलासरसीरुहपाणिता, काश्मीरेण ऊर्ध्वपुण्ड्राद्यम् इह मण्डनम् ईरितम्॥]

यथा—

३४. उष्णीषे दरवक्रिमा करतले व्याजृम्भिलीलाम्बुजं
गौरश्रीरलिके किलोर्ध्वतिलकः कस्तूरिकाबिन्दुमान्।
वेषः केशव! पेशलः सुबलमप्याघूर्णयत्यद्य ते
विक्रान्तं किमुत स्वभावमृदुलां गोष्ठाबलानां ततिम्॥ (७५)

[उष्णीषे दरवक्रिमा, करतले व्यांजृम्भिलीलाम्बुजम्, अलिके गौरश्रीः, कस्तूरिकाबिन्दुमान् किल ऊर्ध्वतिलकः केशव! ते पेशलः वेषः अद्य विक्रान्तं सुबलम् अपि आघूर्णयति, किम् उत स्वभावमृदुलां गोष्ठाबलानां ततिम्?॥]

४२. अत्र भङ्गी गिरां नर्मसखैः कर्णकथारसः।
एषु गोकुलबालानां श्रीश्लाघेत्यादि-चेष्टितम्[२८]॥ (७६)

[अत्र गिरां भङ्गी, नर्मसखैः कर्णकथारसः, एषु गोकुलबालानां श्रीश्लाघा इत्यादि चेष्टितम्॥]

चरम पौगण्ड—

४०. वेणी का अग्रभाग नितम्ब-पर्यन्त लटका होना, सौन्दर्य के लिये लटकाई हुई लटों से सुशोभित होना, कन्धों में उच्चता आना-इत्यादि चरम पौगण्ड में होते हैं। ।७२।

यथा—

३३. जो मुख पर सामने सौन्दर्य के लिये लटकाई हुई लटों की लताओं से सुशोभित हैं, जिनके नितम्ब पर हिलती हुई वेणी के अग्रभाग का छोर झूल रहा है, जिनके कन्धे ऊँचे हैं, ऐसी छवि वाले अघहर (श्रीकृष्ण) अपनी अङ्गशोभा से सखाओं को आनन्द देते हुए गोकुल से बाहर निकल रहे हैं। ।७३।

४१. पगड़ी में बाँकापन, हाथ में लीलाकमल, केसर से बना हुआ ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊँचा तिलक) आदि यहाँ आभूषण कहे गये हैं। ।७४।

यथा—

३४. पगड़ी में थोड़ा-सा बाँकापन, हथेली में खिलता हुआ कमल, माथे पर केशरी वर्ण का ऊँचा तिलक, जिसमें कस्तूरी का बिन्दु लगा हुआ है—हे केशव! तुम्हारा यह सुन्दर वेश पराक्रमी सुबल को भी चक्कर खिला रहा है, तो फिर स्वभाव से ही मृदुल व्रज-सुन्दरियों की पंक्ति का तो कहना ही क्या? ।७५।

४२. यहाँ नर्मसखाओं के साथ गोलमोल बातें, कानों में फुस-फुसाकर बातें करने का रस, उन (सखाओं) के प्रति गोकुल-बालाओं की शोभा की प्रशंसा इत्यादि चेष्टायें हैं। ।७६।

यथा—

३५. धूर्तस्त्वं यदवैषि हृद्गतमतः कर्णे तव व्याहरे
केयं मोहनता समृद्धिरधुना गोधुक्कुमारीगणे।
अत्रापि द्युतिरत्नरोहणभुवो बालाः सखे! पञ्चषाः
पञ्चेषुर्जगतां जये निजधुरां यत्रार्पयन्माद्यति॥ (७७)

[त्वं धूर्तः यत् हृद्गतम् अवैषि, अतः तव कर्णे व्याहरे-गोधुक्कुमारीगणे अधुना का इयं मोहनता-समृद्धिः? सखे! अत्र अपि द्युतिरत्नरोहणभुवः पञ्चषाः बालाः, यत्र पञ्चेषुः जगतां जये निजधुराम् अर्पयन् माद्यति॥]

अथ कैशोरम्—

४३. कैशोरं पूर्वमेवोक्तं संक्षेपेणोच्यते ततः॥ (७८)

[कैशोरं पूर्वम् एव उक्तम् ततः संक्षेपेण उच्यते॥]

यथा—

३६. पश्योत्सिक्तवलीत्रयीवरलते वासस्तडिन्मञ्जुले
प्रोन्मीलद्वनमालिका-परिमलस्तोमे तमालत्विषि।
उक्षत्यम्बक-चातकान् स्मितरसैर्दामोदराम्भोधरे
श्रीदामा रमणीय-रोम-कलिकाकीर्णाङ्गशाखी बभौ॥ (७९)

[पश्य! उत्सिक्तवलीत्रयीवरलते वासस्तडिन्मञ्जुले, प्रोन्मीलद्वनमालिका-परिमलस्तोभे तमालत्विषि दामोदराम्भोधरे स्मितरसैः अम्बक-चातकान् उक्षति (सति) श्रीदामा रमणीय-रोमकलिकाकीर्णाङ्गशाखी बभौ॥]

४४. प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते।
तेन यौवनशोभास्य नेह काचित् प्रपञ्चिता॥ (८०)

[अयं प्रायः किशोरः एव सर्वभक्तेषु भासते। तेन अस्य काचित् यौवनशोभा इह न प्रपञ्चिता॥]

अथ रूपं, यथा—

३७. अलङ्कारमलङ्कृत्वा तवाङ्गं पङ्कजेक्षण!
सखीन् केवलमेवेदं धाम्ना धीमन्! धिनोति नः॥ (८१)

[पङ्कजेक्षण! धीमन्! तव इदम् अङ्गम् अलङ्कारम् अलङ्कृत्वा केवलं धाम्ना एव नः सखीन् धिनोति॥]

यथा—

३५. *तुम धूर्त हो, जो कि हृदय की बात जान लेते हो, तुम्हारे कान में कहता हूँ कि गोपकुमारियों में यह कौन-सी मोहनता की समृद्धि आ गई है? इनमें से पाँच-छ: तो कान्तिरूपी रत्न की खान जैसी बालायें हैं, जिनमें पञ्चबाण (कामदेव) जगत् को जीतने के लिये अपना भार सौंप कर मदमत्त हो रहा है; हर्ष से फूला हुआ है।* ।७७।

कैशोर—

४३. कैशोर पहले ही कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ संक्षेप में कहा जा रहा है। ।७८।

यथा—

३६. देखो! *जिसके उदर पर त्रिवली (तीन रेखा) रूपी सुन्दर लता उभर रही है, जिस के सुन्दर वस्त्र बिजली जैसे वर्णवाले हैं। जिसमें खिलती हुई वनमाला के परिमल का समुच्चय है, जिसकी कान्ति तमाल जैसी श्यामल है—ऐसा दामोदर रूपी मेघ जब अपने स्मित रूपी रस से सभी के नेत्र रूपी चातकों को सींचने लगा, तब श्रीदामा रमणीय रोम रूपी कलिकाओं से भरे बाहु आदि अङ्गरूपी शाखाओं वाले वृक्ष जैसा सुशोभित हुआ।* ।७९।

४४. ये श्रीकृष्ण प्राय: सब भक्तों को किशोर ही भासित होते हैं, इसलिये यहाँ उनकी किसी यौवन-शोभा का वर्णन-विस्तार नहीं किया गया है। ।८०।

उनका (किशोर) रूप, यथा—

३७. *हे कमलनयन धीमान्! अलङ्कारों को व्यर्थ बनाकर तुम्हारा यह शरीर केवल अपनी ज्योति-मात्र से हम सखाओं को आनन्द दे रहा है।* ।८१।

अथ शृङ्गं, यथा—

३८. व्रजनिजवळभीवितर्दिकाया-
मुषसि विषाणवरे रुवत्युदग्रम्[२९]।
अहह सवयसां तदीयरोम्णा-
मपि निवहाः सममेव जाग्रति स्म॥ (८२)

[व्रजनिजवळ(ल)भी-वितर्दिकायाम् उषसि विषाणवरे उदग्रं ब्रुवति, अहह! सवयसां तदीयरोम्णाम् अपि निवहाः समम् एव जाग्रति स्म॥]

वेणुर्यथा—

३९. सुहृदो न हि यात कातरा
हरिमन्वेष्टुमितः सुतां रवेः।
कथयन्नमुमत्र वैणव-
ध्वनिदूतः शिखरे धिनोति नः॥ (८३)

[सुहृदः! कातराः! हरिम् अन्वेष्टुम् इतः रवेः सुतां (प्रति) हि न यात! वैणवध्वनिदूतः अमुम् अत्र शिखरे कथयन् नः धिनोति॥]

शङ्खो, यथा—

४०. पाञ्चालीपतयः श्रुत्वा पाञ्चजन्यस्य निःस्वनम्।
पञ्चास्य! पश्य मुदिताः पञ्चास्यप्रतिमां ययुः॥ (८४)

[पञ्चास्य! पश्य! पाञ्चालीपतयः पाञ्चजन्यस्य निःस्वनं श्रुत्वा मुदिताः पञ्चास्यप्रतिमां ययुः॥]

विनोदो, यथा—

४१. स्फुरदरुणदुकूलं जागुडैर्गौरगात्रं
कृतवर-कबरीकं रत्नताटङ्ककर्णम्।
मधुरिपुमिह राधा-वेषमुद्वीक्ष्य साक्षात्
प्रियसखि सुबलोऽभूद्विस्मितः सस्मितश्च॥ (८५)

[प्रियसखि! स्फुरदरुणदुकूलम्; जागुडैः गौरगात्रम्, कृतवरकबरीकम्, रत्नताटङ्ककर्णम्, राधावेषं मधुरिपुम् इह साक्षात् उद्वीक्ष्य सुबलः विस्मितः सस्मितः च अभूत्॥]

शृङ्ग (सींगा), यथा—

३८. *भोर में व्रज में अपनी अटारी के छज्जे में श्रेष्ठ सींगों के उच्च स्वर से बोलने पर, अहो, सखा-गण और उनके रोमसमूह भी साथ-साथ ही जाग जाते थे (अर्थात् जागते ही सखाओं को रोमाञ्च (हर्ष से) हो आता था।) ।८२।*

वेणु, यथा—

३९. *हे मित्रो! कातर होकर हरि को खोजने के लिये यहाँ से यमुना की ओर मत जाओ! वेणु-ध्वनि-रूपी दूत उसको यहीं शिखर पर बताता हुआ हमें आनन्द दे रहा है। ।८३।*

शङ्ख, यथा—

४०. *हे पञ्चमुख (शिव!) देखो! पाञ्चाली (द्रौपदी) के पाँचों पति (पाण्डव) पाञ्चजन्य (श्रीकृष्ण के शङ्ख) के घोष को सुनकर मुदित होकर पाँच मुखवाली प्रतिमा जैसे हो गये। ।८४।*

विनोद, यथा—

४१. *हे प्रियसखि! जिसके अरुण वस्त्र चमक रहे हैं, चन्दन-केशर-लेप से जिसका शरीर गौर वर्ण हो गया है, जिसने कानों में सुन्दर जूड़ा (केशपाश) बना रखा है, जिसने रत्नजटित कुण्डल पहन रखे हैं, ऐसे राधावेशधारी मधुरिपु (श्रीकृष्ण) को यहाँ साक्षात् देखकर सुबल विस्मित हो गया और मुस्कान से भर उठा। ।८५।*

अथानुभावाः—

४५. नियुद्ध-कन्दुकद्यूतवाह्यवाहादिकेलिभिः।
लगुडालगुडि-क्रीडा-सङ्गरैश्चास्य तोषणम्॥ (८६)

[नियुद्ध-कन्दुक-द्यूत-वाह्यवाह-आदिकेलिभिः लगुडा-लगुडि-क्रीडा-सङ्गरैः च अस्य तोषणम्॥]

४६. पल्यङ्कासनदोलासु सह-स्वापोपवेशनम्।
चारुचित्रपरीहासो विहारः[३०] सलिलाशये॥ (८७)

[पल्यङ्क-आसन-दोलासु सहस्वाप-उपवेशनम्, चारुचित्र-परीहासः, सलिलाशये विहारः॥]

४७. युग्मत्वे[३१] लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः॥ (८८)

[युग्मत्वे लास्य-गान-आद्याः क्रियाः सर्वसाधारणाः॥]

तत्र नियुद्धेन तोषणं, यथा—

४२. अघहर! जितकाशी युद्धकण्डूलबाहु-
स्त्वमटसि सखि-गोष्ठ्यामात्मवीर्यं स्तुवानः।
कथय किमु ममोच्चैश्चण्डदोर्दण्डचेष्टा-
विरमितरणरङ्गो निःसहाङ्गः स्थितोऽसि॥ (८९)

[अघहर! जितकाशी युद्धकण्डूलबाहुः त्वं सखिगोष्ठ्याम् आत्मवीर्यं स्तुवानः अटसि। कथय! किम् उ मम उच्चैः चण्डदोर्दण्डचेष्टाविरमित-रणरङ्गः निःसहाङ्गः स्थितः असि?]

४८. युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्तनम्।
प्रायः पुरःसरत्वाद्याः सुहृदामीरिताः क्रियाः॥ (९०)

[युक्त-अयुक्त-आदि-कथनम्, हितकृत्ये प्रवर्त्तनम्, प्रायः पुरःसरत्वम्-इत्याद्याः सुहृदां क्रियाः ईरिताः॥]

४९. ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया।
पत्राङ्कुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्तितम्॥ (९१)

[वक्त्रे ताम्बूलाद्यर्पणम्, तिलक-स्थासकक्रिया, पत्राङ्कुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्तितम्॥]

अनुभाव—

४५-४७. मल्लयुद्ध, गेंद, जुआ, परस्पर सवारी बनना-बनाना, लाठी के खेल, अन्य खेल, लड़ाई आदि से श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करना, पलंग-आसन-झूले आदि पर उनके साथ सोना-बैठना, सुन्दर विविध प्रकार के परिहास, जलाशय में विहार, जोड़े बनाकर नृत्य-गान आदि—ये सर्वसाधारण (सब सखाओं की) क्रियायें हैं। ।८६-८८।

नियुद्ध से तोषण, यथा—

४२. *हे अघहर! अपनी विजय का अभिमान करते हुए युद्ध के लिये खुजलाती बाँहे लेकर, सखाओं की मण्डली में अपने पराक्रम की डींग हाँकते हुए घूमते हो! कहो तो! मेरे प्रचण्ड भुजदण्डों की चेष्टाओं से जिसका रणकौतुक शान्त हो गया है ऐसे तुम निःसह (शिथिल) शरीर वाले होकर कैसे बैठे हो?* *।८९।*

४८. उचित-अनुचित आदि कहना, हितकर्म में प्रवृत्त करना, प्रायः आगे-आगे चलना-इत्यादि सुहृदों की क्रियायें कही गयी हैं। ।९०।

४९. मुख में ताम्बूल आदि देना, तिलक एवं सुगन्धित लेप करना मुख आदि पर पत्र-अङ्कुर चित्रित करना—ये सखाओं के कर्म हैं। ।९१।

५०. निर्जितीकरणं युद्धे वस्त्रे धृत्वास्य कर्षणम्।
पुष्पाद्याच्छेदनं हस्तात्[32] कृष्णेन स्वप्रसाधनम्।
हस्ताहस्ति-प्रसङ्गाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः[33]॥ (९२)

[युद्धे निर्जितीकरणम्, वस्त्रे धृत्वा अस्य कर्षणम्, हस्तात् पुष्पाद्याच्छेदनम्, कृष्णेन स्वप्रसाधनम् हस्ताहस्तिप्रसङ्गाद्याः प्रियसखिक्रियाः प्रोक्ताः॥]

५१. दूत्यं व्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता।
ताभिः केलिकलौ साक्षात् सख्युः पक्षपरिग्रहः॥ (९३)

[व्रजकिशोरीषु दूत्यम्, तासां प्रणयगामिता, ताभिः केलिकलौ साक्षात् सख्युः पक्षपरिग्रहः॥]

५२. असाक्षात् स्वस्वयूथेशापक्ष[34]-स्थापनचातुरी।
कर्णाकर्णिकथाद्याश्च प्रियनर्मसखक्रियाः॥ (९४)

[असाक्षात् स्वस्वयूथेशा-पक्ष-स्थापन-चातुरी, कर्णाकर्णिकथाद्याः च प्रियनर्मसखक्रियाः॥]

५३. वन्यरत्नाद्यलङ्कारैर्माधवस्य प्रसाधनम्।
पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य गवां सम्भालनक्रियाः॥ (९५)

[वन्यरत्नाद्यलङ्कारैः माधवस्य प्रसाधनम्, तस्य पुरः तौर्यत्रिकम्, गवां सम्भालनक्रियाः॥]

५४. अङ्गसंवाहनं माल्यगुम्फनं वीजनादयः।
एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः।
पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ज्ञेया धीरैर्यथोचितम्॥ (९६)

[अङ्गसंवाहनं माल्यगुम्फनं वीजनादयः-एताः वयस्यानां दासैः सह साधारणाः क्रिया मताः पूर्वोक्तेषु (अनुभावेषु) अपराः च अत्र धीरैः यथोचितं ज्ञेयाः॥]

अथ सात्त्विकाः; तत्र स्तम्भो, यथा—

४३. निष्क्रामन्तं नागमुन्मथ्य कृष्णं
श्रीदामायं द्राक् परिष्वक्तुकामः।
लब्धस्तम्भौ सम्भ्रमारम्भशाली
बाहुस्तम्भौ पश्य नोत्क्षेप्तुमीष्टे॥ (९७)

[पश्य! नागम् उन्मथ्य निष्क्रामन्तं कृष्णं द्राक् परिष्वक्तुकामः अयं सम्भ्रमारम्भशाली श्रीदामा लब्धस्तम्भौ बाहुस्तम्भौ उत्क्षेप्तुं न ईष्टे॥]

५०. युद्ध में जीत लेना, कपड़ा पकड़ कर खींचना, हाथ से पुष्प आदि झटक लेना, श्रीकृष्ण से अपना प्रसाधन करवाना, उनसे हाथापाई करते हुए परस्पर खींच-तान—ये प्रिय सखाओं की क्रियायें कही गई हैं। ।९२।

५१-५२. व्रजकिशोरियों के प्रति दूतकर्म, उनके प्रणय का अनुमोदन, उनके साथ केलि-कलह में अपने साक्षात् सखा (श्रीकृष्ण) का पक्ष लेना पीछे से अपनी यूथेश्वरी का पक्ष स्थापित करने की चतुराई, कानों में बात करना—ये सब प्रिय नर्म-सखाओं की क्रियायें हैं। ।९३-९४।

५३-५४. वन में प्राप्त रत्न (गुंजा) आदि से बने अलङ्कारों से माधव का प्रसाधन, उनके सामने गीत-वाद्य-नृत्य आदि करना, गायों को संभालने की क्रियायें, शरीर दबाना, माला गूँथना, पंखा झलना आदि—ये वयस्यों की ऐसी क्रियायें हैं जो दासों में भी होती हैं। ये तथा अन्य भी, पूर्वोक्त अनुभावों में कही गई क्रियायें धीर जनों द्वारा यथोचित रूप से जान ली जायें। ।९५-९६।

सात्त्विक भाव—

उनमें से स्तम्भ, यथा—

४३. देखो! नाग को मथित (युद्ध में पराजित) कर निकलते हुए कृष्ण को तुरन्त आलिङ्गन करने की इच्छा वाले एवं अतिशय उत्साह से उतावले इस श्रीदामा के बाहुरूपी खम्भे स्तब्ध हो रहे, इसलिये वह उन्हें उठाने में असमर्थ है (आलिङ्गन के लिये बाँहे उठा ही नहीं पा रहा है।) ।९७।

स्वेदो, यथा—

४४. क्रीडोत्सवानन्दरसं मुकुन्दे
स्वात्यम्बुदे वर्षति रम्यघोषे।
श्रीदाममूर्तिर्वरशुक्तिरेषा
स्वेदाम्बुमुक्तापटलीं प्रसूते॥ (९८)

[रम्यघोषे स्वात्यम्बुदे मुकुन्दे क्रीडोत्सवानन्दरसं वर्षति (सति) एषा श्रीदाममूर्त्तिः वरशुक्तिः स्वेदाम्बुमुक्तापटलीं प्रसूते॥]

रोमाञ्चो, यथा दानकेलिकौमुद्याम्—

४५. अपि गुरुपुरस्त्वं दोःस्तम्भौ प्रसार्य निरर्गलं
विपुलपुलको धन्यः स्वैरी परिष्वजसे हरिम्।
प्रणयति तव स्कन्धे चासौ भुजं भुजगोपमं
क्व सुबल! पुरा सिद्धक्षेत्रे चकर्थ कियत्तपः? (९९)

[गुरुपुरः अपि त्वं दोःस्तम्भौ निरर्गलं प्रसार्य धन्यः विपुलपुलकः स्वैरी हरिं परिष्वजसे, असौ च तव स्कन्धे भुजगोपमं भुजं प्रणयति। सुबल! पुरा क्व सिद्धक्षेत्रे कियत् तपः चकर्थ?]

स्वरभेदादि-चतुष्कं, यथा—

४६. प्रविष्टवति माधवे भुजगराजभाजं ह्रदं
तदीयसुहृदस्तदा पृथुलवेपथुव्याकुलाः।
विवर्णवपुषः क्षणाद्विकट-घर्घरध्मायिनो
निपत्य निकटस्थलीभुवि सुषुप्तिमारेभिरे॥ (१००)

[भुजगराजभाजं ह्रदं प्रविष्टवति माधवे तदीयसुहृदः तदा वेपथुव्याकुलाः, विवर्णवपुषः क्षणात् विकटघर्घरध्मायिनः, निकटस्थलीभुवि निपत्य सुषुप्तिम् आरेभिरे॥]

अश्रु, यथा—

४७. दावं समीक्ष्य विचरन्तमिषीकतूलै-
स्तस्य क्षयार्थमिव बाष्पझरं किरन्ती।
स्वामप्युपेक्ष्य तनुमम्बुजमालभारि-
ण्याभीरवीथिरभितो हरिमावरिष्ट॥ (१०१)

[इषीकतूलैः विचरन्तं दावं समीक्ष्य, तस्य क्षयार्थम् इव बाष्पझरं किरन्ती अम्बुजमालभारिणी आभीरवीथिः स्वां तनुम् अपि उपेक्ष्य अभितः हरिम् आवरिष्ट॥]

स्वेद, यथा—

४४. *(सींगे का) सुन्दर घोष करते हुए मुकुन्दरूपी स्वाति-नक्षत्रकालीन मेघ जब क्रीड़ा-उत्सव का आनन्दरस बरसाने लगा तब श्रीदामा-रूपी यह श्रेष्ठ शुक्ति स्वेद-बिन्दुरूपी मोतियों की लड़ी उपजाने लगी।* ।९८।

रोमाञ्च, यथा दानकेलिकौमुदी में—

४५. *गुरुजनों के सामने भी तुम भुजारूपी खम्भे स्वच्छन्द रूप से फैलाये हुए, अतिशय पुलक से भरे, निरङ्कुश होकर श्रीहरि का आलिङ्गन कर रहे हो, और वे भी प्रेम से अपनी भुजग जैसी बाँह तुम्हारे स्कन्ध पर रख रहे हैं; हे सुबल तुम धन्य हो! पहले किस सिद्धक्षेत्र में तुमने कितना तप किया है?* ।९९।

स्वरभेद आदि चतुष्टय, यथा—

४६. *माधव ने जब नागराज से युक्त ह्रद (कालिय-दह) में प्रवेश किया तब उनके मित्र भारी कम्प से व्याकुल हो गये, उनके शरीर विवर्ण हो गये (फीके पड़ गये), क्षण-भर को उनकी घिघ्घी बँध गयी (गले से घर्घर ध्वनि होने लगी) समीप की भूमि पर गिरकर वे सुषुप्ति में जाने लगे, अर्थात् निश्चेष्ट, मूर्च्छित जैसे हो गये।* ।१००।

अश्रु, यथा—

४७. *सरकण्डों के गुच्छों के द्वारा आगे-बढ़ते फैलते दावाग्नि को देखकर, मानो उसे बुझाने के लिये आँसू (रूपी जल) छिड़कती हुई, कमलमालाओं से लदी, ग्वालों की मण्डली ने अपने शरीर की भी उपेक्षा करते हुए चारों ओर से हरि को ढक लिया।* ।१०१।

अथ व्यभिचारिणः—

५५. औग्र्यं त्रासं तथालस्यं वर्जयित्वाखिलाः परे।
रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः॥ (१०२)

[औग्र्यं त्रासं तथा आलस्यं वर्जयित्वा अखिलाः परे व्यभिचारिणः प्रेयसि रसे भावज्ञैः कथिताः॥]

५६. तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना।
योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनापस्मृति-दीनते[३५]॥ (१०३)

[तत्र अयोगे-मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना, योगे (च) मृतिं क्लमं व्याधिम् अपस्मृति-दीनते विना॥]

तत्र हर्षो, यथा—

४८. निष्क्रमय्य किल कालियोरगं
वल्लभेश्वरसुते समीयुषि।
सम्मदेन सुहृदः स्खलत्पदा-
स्तद्गिरश्च विवशाङ्गतां दधुः[३६]॥ (१०४)

[कालियोरगं निष्क्रमय्य किल बल्लवेश्वरसुते समीयुषि सुहृदः सम्मदेन स्खलत्पदाः, तद्गिरः च विवशाङ्गतां दधुः॥]

अथ स्थायी—

५७. विमुक्तसम्भ्रमा या स्याद्विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्॥ (१०५)

[प्रायः समानयोः द्वयोः विमुक्तसम्भ्रमा या विश्रम्भात्मा रतिः, सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्॥]

५८. विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पञ्च-भिदोदिता॥ (१०६)

[विश्रम्भः यन्त्रणोज्झितः गाढविश्वासविशेषः, एषा सख्यरतिः वृद्धिं गच्छन्ती क्रमात् प्रणयः, प्रेमा, स्नेहः तथा रागः इति पञ्चभिदा उदिता॥]

व्यभिचारिभाव-

५५. उग्रता, त्रास और आलस्य को छोड़कर शेष सभी व्यभिचारीभाव प्रेयान् रस में भाव के ज्ञाताओं ने कहे हैं। ।१०२।

५६. उनमें से वियोग में मद हर्ष, गर्व, निद्रा, धृति को छोड़कर और संयोग में मृति, ग्लानि, व्याधि, अपस्मार को छोड़कर शेष सभी रहते हैं। ।१०३।

उनमें से हर्ष, यथा—

४८. कालियनाग को (कालिन्दी-ह्रद से) निकालकर जब गोपराज (नन्द) का पुत्र सब सुहृदों के निकट आ गया, तब अत्यन्त हर्ष से उनके पाँव लड़खड़ाने लगे, अथवा वाणी अस्फुट होने लगी और वाणी तथा शरीर विवश हो गये। ।१०४।

स्थायिभाव—

५७. सम्भ्रम (सम्मान जनित विक्षोभ) छोड़कर जो विश्रम्भमयी (अन्तरङ्ग घनिष्ठताभरी) रति दो प्रायः समान जनों के बीच होती है, वह सख्य स्थायी शब्द से कहा जाता है, अर्थात् वह रति ही सख्य नामक स्थायीभाव है।

।१०५।

५८. गाढ़-विश्वास-विशेष ही विश्रम्भ है जोकि नियन्त्रण या प्रतिबन्ध से रहित है। यह सख्य-रति जब वृद्धि को प्राप्त होती है (बढ़ती जाती है) तो क्रमशः प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा राग—ऐसे पाँच प्रकार से कही जाती है। ।१०६।

तत्र सख्यरतिः, यथा—

४९. मुकुन्दो गान्दिनीपुत्र! त्वया सन्दिश्यतामिति।
गरुडाङ्क! गुडाकेशस्त्वां कदा परिरप्स्यते? (१०७)

[गान्दिनीपुत्र! मुकुन्दः त्वया सन्दिश्यताम्-गरुडाङ्क! त्वां गुडाकेशः कदा परिरप्स्यते इति॥]

प्रणयः—

५९. प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्।
तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते॥ (१०८)

[सम्भ्रमादीनां योग्यतायां प्राप्तायाम् अपि स्फुटम् असंस्पृष्टा रतिः प्रणयः उच्यते॥]

यथा—

५०. सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरपि विधीयमानस्तुते-
रपि प्रथयतः परामधिक-पारमेष्ठ्यश्रियम्।
दधत्पुलकिनं हरेरधिशिरोधि सव्यं भुजं
समस्कुरुत [३७]पांशुलान् शिरसि चन्द्रकानर्जुनः[३८]॥ (१०९)

[त्रिपुरजिन्मुखैः अपि सुरैः विधीयमांनस्तुतेः, पराम् अधिकपारमेष्ठ्यश्रियं प्रथयतः हरेः अधिशिरोधि पुलकिनं सव्यं भुजं दधत् अर्जुनः पांशुलान् चन्द्रकान् शिरसि समस्कुरुत॥]

प्रेम, यथा—

५१. भवत्युदयतीश्वरे सुहृदि हन्त राज्यच्युति-
र्मुकुन्द! वसतिर्वने परगृहे च दास्यक्रिया।
इयं स्फुटममङ्गला भवतु पाण्डवानां गतिः
परन्तु ववृधे त्वयि द्विगुणमेव सख्यामृतम्॥ (११०)

[मुकुन्द! भवति ईश्वरे सुहृदि उदयति हन्त! राज्यच्युतिः, वने वसतिः, परगृहे दास्यक्रिया च, इयं स्फुटम् अमङ्गला गतिः पाण्डवानां भवतु, परन्तु त्वयि सख्यामृतं द्विगुणम् एव ववृधे॥]

उनमें से सख्यरति, यथा—

४९. *हे अक्रूर! तुम मुकुन्द को यह सन्देश देना-"हे गरुडाङ्क! (जिनकी ध्वजा पर गरुड़ अङ्कित है) गुडाकेश (अर्जुन) कब तुम्हें आलिङ्गन करेगा?"* ।१०७।

प्रणय—

५९. सम्भ्रम आदि की सम्भावना उठने पर भी, उसकी गन्ध से भी जो रति अस्पृष्ट रहती है, वह प्रणय कहलाती है। ।१०८।

यथा—

५०. *त्रिपुरजयी (शिव) आदि द्वारा जिनकी स्तुति की जा रही थी, परमेष्ठि (ब्रह्मा) से भी बढ़कर जिनकी परम श्री (समृद्धिशोभा) प्रकाशित हो रही थी—ऐसे श्रीकृष्ण की ग्रीवा पर पुलकभरी बाँयी भुजा रखकर अर्जुन (व्रज में जो नर्मसखाओं में से एक है) ने सिर पर धारण किये धूलभरे मोरपंखों को सँवार दिया।* ।१०९।

प्रेम, यथा—

५१. *हे मुकुन्द! आप (स्वयं) ईश्वर सुहृद के रूप में उदित हुए, तब (भी) पाण्डवों का राज्य से च्युत होना, वन में वास करना, दूसरे के घर में दासता करना—यह सब अमङ्गल गति भले ही हुई, किन्तु आपके प्रति उनका सख्यामृत दुगना ही बढ़ता गया।* ।११०।

स्नेहो, यथा श्रीदशमे (भा०१०/१५/१८)—

५२. अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज़! स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥ (१११)

[महाराज! स्नेहक्लिन्नधियः अन्ये महात्मनः तदनुरूपाणि मनोज्ञानि शनैः गायन्ति स्म॥]

यथा वा—

५३. आर्द्राङ्गस्खलदच्छधातुषु सुहृद्गोत्रेषु लीलारसं
वर्षत्युच्छ्वसितेषु कृष्णमुदिरे व्यक्तं बभूवाद्भुतम्।
या प्रागास्त सरस्वती द्रुतमसौ लीनोपकण्ठस्थले
या नासीदुदगाद्दृशोः पथि सदानीरोरुधारात्र सा॥ (११२)

[आर्द्राङ्गस्खलदच्छधातुषु उच्छ्वसितेषु सुहृद्गोत्रेषु कृष्णमुदिरे लीलारसं वर्षति अद्भुतं व्यक्तम् अभूत्। या सरस्वती प्राग् आस्त असौ द्रुतम् उपकण्ठस्थले लीना, या न आसीत् सा अत्र दृशोः पथि सदानीरा उरुधारा उदगात्॥]

रागो, यथा—

५४. अस्त्रेण दुष्परिहरा हरये व्यकारि
या पत्रिपङ्क्तिरकृपेण कृपीसुतेन।
उत्प्लुप्य गाण्डिवभृता हृदि गृह्यमाणा
जातास्य सा कुसुमवृष्टिरिवोत्सवाय॥ (११३)

[अकृपेण कृपीसुतेन अस्त्रेण दुष्परिहरा या पत्रिपंक्तिः हरये व्यकारि, गाण्डिवभृता उत्प्लुत्य हृदि गृह्यमाणा सा अस्य कुसुमवृष्टिः इव उत्सवाय जाता॥]

यथा वा—

५५. कुसुमान्यवचिन्वतः समन्ताद्-
वनमालारचनोचितान्यरण्ये।
वृषभस्य वृषार्कजा मरीचि-
र्दिवसार्धेऽपि बभूव कौमुदीव॥ (११४)

[अरण्ये वनमालारचनोचितानि कुसुमानि समन्तात् अवचिन्वतः वृषभस्य दिवसार्धे अपि वृषार्कजा मरीचिः कौमुदी इव बभूव॥]

स्नेह, यथा श्रीदशम में (भा. १०/१५/१८)—

५२. *हे महाराज! जिनकी बुद्धि स्नेह से भीगी है ऐसे अन्य लोग उन महात्मा के अनुरूप एवं मनोज्ञ यशोमयी लीलाओं का गान कर रहे थे।* ।१११।

और भी, यथा—

५३. *श्रीकृष्ण रूपी मेघ जब लीलारस बरसने लगा, तब जिनके भीगे शरीर से, गेरु आदि स्वच्छ धातुएँ (जिन्हें अङ्गराग बनाया गया था) बह रही थीं, ऐसे सखारूपी पर्वतों के उच्छ्वसित होने पर (सखाओं के पक्ष में उत्साह से ऊँचे श्वास, और पर्वत के पक्ष में वृक्ष आदि वनस्पति का बढ़ना) कुछ अद्‌भुत घटना हुई, कि-जो सरस्वती (वाणी या नदी) पहले कण्ठ में लीन थी (नदी के पक्ष में तल में छिपी थी) वह द्रुत गति से ऊपर उठ आयी (सखा हर्ष से बोलने लगे, नदी ऊपर बह चली) और जो दिखाई नहीं दे रही थी वह जल से भरी विशालधारा होकर आँखों के मार्ग में आँसू बन कर प्रकट हो गयी।* ।११२।

राग, यथा—

५४. *निष्करुण कृपीसुत अश्वत्थामा ने जो बाणों की पंक्ति श्रीहरि की ओर फेंकी, उसका परिहार अस्त्रों से नहीं हो सकता था, गाण्डीवधारी अर्जुन ने उसे अपनी छाती पर ले लिया, और उसके लिये वह पुष्पवृष्टि के समान आनन्दप्रद हो गयी।* ।११३।

अथवा, यथा—

५५. *वन में वनमाला बनाने के लिये उपयुक्त फूलों को चारों ओर से चुनते हुए वृषभ नामक सखा को ज्येष्ठ मास के मध्याह्न की सूर्यकिरणें चन्द्रिका जैसी (शीतल) लगीं।* ।११४।

अथ अयोगे उत्कण्ठितं, यथा-

५६. धनुर्वेदमधीयानो मध्यमस्त्वयि पाण्डवः।
बाष्पसंकीर्णया कृष्ण! गिराश्लेषं व्यजिज्ञपत्॥ (११५)

[कृष्ण! धनुर्वेदम् अधीयमानः मध्यमः पाण्डवः त्वयि बाष्पसङ्कीर्णया गिरा आश्लेषं व्यजिज्ञपत्॥]

अथ वियोगे, यथा—

५७. अघस्य जठरानलात् फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतो,
दवस्य कवलादपि त्वमविताऽत्र येषामभूः।
इतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरधाटीधरात्
कथं न विरहज्वरादवसितान् सखीनद्य नः? (११६)

[अघस्य जठरानलात्, फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतः, दवस्य कवलात् अपि त्वं येषाम् अविता अत्र अभूः, अतः इतः त्रितयतः अपि अतिघोरधाटीधरात् विरहज्वरात् तान् नः सखीन् अद्य कथं न अवसि?]

६०. अत्रापि पूर्ववत् प्रोक्तास्तापाद्यास्ता दशा दश॥ (११७)

[अत्र अपि पूर्ववत् तापाद्याः ताः दश दशाः प्रोक्ताः॥]

तत्र तापः-

५८. प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभरं
तुषारेऽपि प्रौढिं दिनकरसुतास्रोतसि गतः।
अपूर्वः कंसारे! सुबलमुखमित्रावलिमसौ
बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति॥ (११८)

[अधिकशिशिरे भाण्डीरे चण्डिमभरं प्रपन्नः, दिनकरसुतास्रोतसि तुषारे अपि प्रौढिं गतः तव विरहजन्मा अपूर्वः असौ बलीयान् उत्तापः, कंसारे! सुबलमुखमित्रावलिं ज्वलयति॥]

कृशता—

५९. त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं
गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम्।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो
समीरस्य घ्राणाध्वनि[३९] पृथुलता केवलमभूत्॥ (११९)

[दानवरिपो! कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं प्राप्ते त्वयि गभीरात् खेदात् आभीरावलितनुषु चतुर्णां भूतानां तनिमा अजनि, केवलं घ्राणाध्वनि समीरस्य पृथुलता अभूत्॥]

अयोग में उत्कण्ठा, यथा—

५६. *हे श्रीकृष्ण! धनुर्वेद का अध्ययन करते हुए मध्यम पाण्डव (अर्जुन) ने अश्रुपूर्ण (गद्गद) वाणी से तुम्हारे प्रति आलिङ्गन निवेदित किया। ।११५।*

वियोग में, यथा—

५७. *अघासुर के जठरानल से, (कालिय) नाग के विषैले ह्रद से, दावाग्नि के ग्रास से तुम जिनके रक्षक बने थे, उन तीनों से भी अत्यन्त घोर आक्रामक भाव से भरे विरहज्वर से ग्रस्त हम सखाओं को आज क्यों नहीं बचा रहे हो? ।११६।*

६०. यहाँ भी पूर्ववत् ताप से आरम्भ होने वाली वे दस दशायें कही गई हैं। ।११७।

उनमें से ताप, यथा—

५८. *हे कंसशत्रु (श्रीकृष्ण) अधिक शीत भाण्डीर वन में जो ताप प्रचण्ड हो उठा है, वह यमुना के शीतल स्रोत में भी प्रबल हो गया है, तुम्हारे विरह से जनित यह अपूर्व बलवान् ताप सुबल आदि मित्रमण्डली को जला रहा है। ।११८।*

कृशता, यथा—

५९. *हे दानवों के शत्रु! तुम जब राजा कंस का अन्त करने के लिए मथुरा नगरी में पहुँचे तब गहरे खेद से गोपमण्डली के शरीरों में दिन-पर-दिन चार महाभूतों की कृशता हो गई, केवल नासिका के मार्ग से पवन की ही पृथुलता (अधिकता) हुई (श्वास दीर्घ हो गये)। ।११९।*

जागर्या, यथा—

६०. नेत्राम्बुज-द्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्णं
बाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र
निर्विद्य निद्रा-मधुपी मुमोच॥ (१२०)

[यादवेन्द्र! वरूथपस्य नेत्राम्बुजद्वन्द्वं बाष्पपूरेण पूर्णम् अवेक्ष्य, निद्रामधुपी निर्विद्य किल तत्र अनुवृत्तिं मुमोच॥]

आलम्बनशून्यता—

६१. गते वृन्दारण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि।
न हि भ्रामं भजति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्वचिदपि विलम्बं लवमपि॥ (१२१)

[प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते वृन्दारण्यात् गते लघुभूतं मे चटुलं चेतः निरालम्बं सद्यः पतत् अतितराम् उत्पतत् अपि भ्रामं भ्रामं तूलम् इव क्वचिद् अपि लवम् अपि विलम्बं न हि भजति॥]

अधृतिः—

६२. रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिं
कलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम्।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते
यदुवर! विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः॥ (१२२)

[यदुवर! ते विरहात् बन्धुवर्गः अद्य निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिं रचयति, कलानां च विस्मृतौ यत्नकोटिं कलयति, किम् अपरम् इह वाच्यम्! जीविते अपि अर्थितां न धत्ते॥]

जडता—

६३. अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षाङ्गकाः[४०]
सदा विफलवृत्तयो विरहिताः किलच्छायया।
विराव[४१]-परिवर्जितास्तव मुकुन्द! गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदां गणाः शिखरजातवृक्षा इव[४२]॥ (१२३)

[मुकुन्द! अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षाङ्गकाः, सदा विफलवृत्तयः छायया किल विरहिताः, विराव-परिवर्जिताः तव सुहृदां गणाः गोष्ठान्तरे शिखरजातवृक्षाः इव स्फुरन्ति॥]

जागरण, यथा—

६०. *हे यादवेन्द्र! वरूथप (सखा) के दोनों नयनकमलों को आँसुओं की बाढ़ से भरे देखकर, निद्रारूपी भ्रमरी ने उदास होकर वहाँ जाना ही छोड़ दिया।* ।१२०।

आलम्बनशून्यता, यथा—

६१. *व्रजेश (नन्द) के नन्दन (श्रीकृष्ण) जब वृन्दावन से चले गये तब मेरा चञ्चल असहाय चित्त हल्का होकर तत्काल गिरता-उठता, चक्कर खाता हुआ रुई की भाँति, कहीं भी, क्षणभर भी टिकता नहीं।* ।१२१।

अधृति, यथा—

६२. *हे यदुवर! तुम्हारा मित्रवर्ग अपनी पशुपालन-वृत्ति के प्रति निवृत्ति धारण कर रहा है, कलाओं को भूल जाने के लिये कोटि-कोटि यत्न करता है, और क्या कहा जाय! तुम्हारे विरह से ये अपने जीवन का भी कोई प्रयोजन नहीं देख रहे हैं।* ।१२२।

जड़ता, यथा—

६३. *हे मुकुन्द! तुम्हारे मित्रों के समूह, वेश आदि को त्यागे हुए कृश, कुम्हलाये हुए और रूखे अङ्गों वाले, जिन की सभी वृत्तियाँ विफल हो गयी हैं, जो कान्ति से रहित हैं, कोलाहल छोड़ चुके हैं—ऐसे होकर व्रज के भीतर इस तरह दिखाई दे रहे हैं जैसे पर्वत के शिखर पर उगे हुए वृक्ष हों। (वृक्ष के पक्ष में पत्तों से रहित, कृश, कुम्हलाये हुए, रूखे, फलों से रहित शाखाओं वाले, छाया रहित, पक्षियों के कलरव से शून्य—ऐसा समझना चाहिये।)* ।१२३।

व्याधिः—

६४. विरहज्वर-संज्वरेण ते
ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर! तटे विचेष्टते
चिरमाभीर-कुमारमण्डली॥ (१२४)

[यदुवीर! ते विरहज्वरसंज्वरेण ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना आभीरकुमारमण्डली चिरं तटे विचेष्टते॥]

उन्मादः—

६५. विना भवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
जगद्व्यवहृति-क्रमं निखिलमेव विस्मारिताः।
लुठन्ति भुवि शेरते बत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते! किमपि बल्लवानां गणाः॥ (१२५)

[मथुरापते! अमी बल्लवानां गणाः भवदनुस्मृतिं विना विरहविभ्रमेण अधुना निखिलम् एव जगद्व्यवहृतिक्रमं विस्मारिताः, किम् अपि भुवि लुठन्ति, बत शेरते, हसन्ति, धावन्ति, रुदन्ति॥]

मूर्च्छितम्—

६६. दीव्यतीह मधुरे मथुरायां
प्राप्य राज्यमधुना मधुनाथे।
विश्वमेव मुदितं रुदितान्धे
गोकुले तु मुहुराकुलताभूत्॥ (१२६)

[राज्यं प्राप्य इह मथुरायां मधुरे मधुनाथे दीव्यति अधुना विश्वम् एव मुदितम्, रुदितान्धे गोकुले तु मुहुः आकुलता अभूत्॥]

मृतिः—

६७. कंसारेर्विरहज्वरोर्मिजनित-ज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचन-जलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥ (१२७)

[कंसारेः विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जराः तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः गोपाः शैलतटे शेरते। परिचयस्निग्धाः कुरङ्गाः अपि वारं वारम् अखर्वलोचनजलैः तान् निश्चलान् आप्लाव्य अद्य शोचन्ति॥]

व्याधि, यथा—

६४. *हे यदुवीर! तुम्हारे विरह-ज्वर से जिनके शरीर के जोड़ शिथिल हो गये हैं, ऐसी गोप-कुमारों की मण्डली तट पर लोट-पोट हो रही है।* ।१२४।

उन्माद, यथा—

६५. *हे मथुरेश! आपके विरह से विभ्रम में पड़े हुए ये गोपगण आपके अनुस्मरण के सिवा अब समस्त जगद्-व्यवहार का क्रम भुला बैठे हैं, बस किसी तरह धरती पर लोटते हैं, सोये रहते हैं, कभी हँसते हैं, रोते हैं या (इधर-उधर) दौड़ने लगते हैं।* ।१२५।

मूर्च्छा, यथा—

६६. *अब मधुर मधुनाथ (माधव) राज्य प्राप्त करके यहाँ मथुरा में क्रीड़ा करने लगे तो सारा विश्व ही मुदित हुआ, किन्तु रोने से अन्धे हुए गोकुल में तो आकुलता ही बढ़ गई।* ।१२६।

मृति (मरण), यथा—

६७. *कंसरिपु (श्रीकृष्ण) के विरहज्वर की लहरियों से उत्पन्न ज्वालावली से जर्जर तथा शिथिल श्वास लेते हुए गोप (गोवर्धन) पर्वत की तलहटी में सो रहे हैं, (श्रीकृष्ण एवं गोपों के) परिचय से स्निग्ध हरिण भी आज निश्चल पड़े हुए उनको बारम्बार विपुल अश्रुजल से भिगोकर शोकमग्न हो रहे हैं।* ।१२७।

६१. प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्ट-लीलानुसारतः।
कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम्॥ (१२८)

[इयं विरहावस्था स्पष्टलीलानुसारतः प्रोक्ता। व्रजवासिनां कृष्णेन वियोगः न जातु स्यात्॥]

तथा च स्कान्दे मथुराखण्डे—

६८. वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीडति माधवः।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः॥ (१२९)

[बालकैः वृतः सरामः माधवः वृन्दावनान्तरगतः वत्सैः वत्सतरीभिः च सदा क्रीडति॥]

अथ योगे सिद्धिर्यथा—

६९. पाण्डवः पुण्डरीकाक्षं प्रेक्ष्य चक्रिनिकेतने।
चित्राकारं भजन्नेव मित्राकारमदर्शयत्॥ (१३०)

[पाण्डवः पुण्डरीकाक्षं चक्रनिकेतने प्रेक्ष्य चित्राकारं भजन् एव मित्राकारम् अदर्शयत्॥]

तुष्टिः यथा श्रीदशमे (भा०१०/७१/२७)—

७०. तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम्॥ (१३१)

[प्रेमजवाकुलेन्द्रियः भीमः स्मयन् तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतः, यमौ किरीटी च प्रवृद्धबाष्पाः सुहृत्तमम् अच्युतं मुदा परिरेभिरे॥]

यथा वा—

७१. कुरुजाङ्गले हरिमवेक्ष्य पुरः
प्रियसङ्गमं व्रजसुहृन्निकराः।
भुजमण्डलेन मणिकुण्डलिनः
पुलकाञ्चितेन परिषष्वजिरे॥ (१३२)

[कुरुजाङ्गले प्रियसङ्गमं हरिं पुरः अवेक्ष्य मणिकुण्डलिनः व्रजसुहृन्निकराः पुलकाञ्चितेन भुजमण्डलेन परिषष्वजिरे॥]

६१. यह विरहावस्था स्पष्ट (प्रकट) लीला के अनुसार कही है। (वास्तव में) श्रीकृष्ण के साथ व्रजवासियों का वियोग कभी-भी नहीं होता। ।१२८।

यथा-स्कन्दपुराण के मथुराखण्ड में—

६८. *वृन्दावन के भीतर, बलराम के साथ माधव बालकों से घिरा रहता हुआ बछड़ों-बछड़ियों के साथ सदा क्रीड़ा करता है। ।१२९।*

संयोग में सिद्धि, यथा—

६९. *कुम्हार के घर में पुण्डरीकाक्ष (श्रीकृष्ण) को देखकर अर्जुन चित्रलिखित से रह गये, इस प्रकार मित्र का आकार (अवस्था) दिखा दिया। ।१३०।*

तुष्टि, यथा श्रीदशम में (भा. १०/७१/२७)—

७०. *उस ममेरे भाई का आलिङ्गन करके भीम मुस्कुराता हुए प्रेम के वेग से व्याकुल इन्द्रियों वाला होकर हर्षित हुआ, जुड़वाँ भाई नकुल-सहदेव तथा मुकुटधारी अर्जुन ने आनन्द से उमड़ते हुए आँसू से भरकर अच्युत (श्रीकृष्ण) का आलिङ्गन किया। ।१३१।*

अथवा, यथा—

७१. *जिन का मिलन प्रिय है ऐसे श्रीहरि को कुरुक्षेत्र में सामने देखकर मणिकुण्डल पहने व्रज के सुहृत्-समूह ने पुलक भरे भुजमण्डल से (उनका) आलिङ्गन किया। ।१३२।*

स्थितिः यथा श्रीदशमे (भा० १०/१२/१२)-

७२. यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः[४३]।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः[४४]
किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्? (१३३)

[यत्पादपांशुः बहुजन्मकृच्छ्रतः धृतात्मभिः योगिभिः अपि अगम्यः, सः एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः (एषां) व्रजौकसाम् अहो किं वर्ण्यते॥]

६२. द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ।
प्रेयान् कामपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम्॥ (१३४)

[द्वयोः अपि एकजातीयभावमाधुर्यभाक् असौ प्रेयान् रसः काम् अपि चित्तचमत्कृतिं पुष्णाति॥]

६३. प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः।
द्वयोरन्योऽन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत्॥ (१३५)

[प्रीते च वत्सले च अपि पुनः कृष्णतद्भक्तयोः द्वयोः अन्योन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत्॥]

६४. प्रेयानेव भवेत् प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम्।
सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते॥ (१३६)

[प्रेयान् एव प्रेयान् भवेत् अतः सर्वरसेषु अयं सख्यसम्पृक्तहृदयैः सद्भिः एव अनुबुध्यते॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे
मुख्य-भक्तिरसपञ्चक-निरूपणे प्रेयोभक्तिरस-लहरी तृतीया॥

स्थिति, यथा श्रीदशम में (भा. १०/१२/१२)—

> ७२. *अनेक जन्मों की तपश्चर्या, योगसाधना द्वारा जिन्होंने अपने मन को वश में किया है ऐसे योगियों को भी जिनके चरणों की रज (धूलिकण) भी प्राप्त नहीं होती—वही स्वयं (श्रीकृष्ण) इन व्रजवासियों के सामने दृष्टिगोचर होकर स्थित हैं- अहो! इनके सौभाग्य का कैसे वर्णन (बखान) किया जाय?* *।१३३।*

६२. श्रीकृष्ण और सखा दोनों का एकजातीय भाव होने के कारण यह प्रेयान् रस विशेष माधुर्य का भाजन है और किसी अपूर्व चमत्कार को पुष्ट करता है। ।१३४।

६३. प्रीत और वत्सल दोनों में श्रीकृष्ण और उनके भक्तों (इन दोनों) के बीच परस्पर भाव भिन्नजातीय होता है। ।१३५।

६४. इसलिये प्रेयान् रस ही सब रसों में से प्रियतर है। जिनका हृदय सख्य के सम्पर्क से समृद्ध है ऐसे सज्जनों को ही इसका अनुभव होता है, अर्थात् वे ही इसे समझ सकते हैं। ।१३६।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिमविभाग में मुख्य पाँच भक्तिरसों के निरूपण में तीसरी प्रेयोभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

वत्सलभक्तिरसाख्या चतुर्थलहरी

१. विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलनामात्र[१] प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः॥ (१)

[वात्सल्यं स्थायी, विभावाद्यैः तु पुष्टिम् आगतः एषः अत्र बुधैः वत्सलनामा भक्तिरसः प्रोक्तः॥]

तत्र आलम्बनाः—

२. कृष्णं तस्य गुरूँश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः॥ (२)

[अत्र बुधाः कृष्णं तस्य गुरून् च आलम्बनान् प्राहुः॥]

तत्र कृष्णो, यथा—

१. नवकुवलयदाम-श्यामलं कोमलाङ्गं
विचलदलक-भृङ्ग-क्रान्त-नेत्राम्बुजान्तम्।
व्रजभुवि विहरन्तं पुत्रमालोकयन्ती
व्रजपतिदयितासीत्[२] प्रस्नवोत्पीडदिग्धा॥ (३)

[नवकुवलयदामश्यामलम्, कोमलाङ्गम्, विचलदलकभृङ्गक्रान्तनेत्राम्बुजान्तम्, व्रजभुवि विहरन्तं पुत्रम् आलोकयन्ती व्रजपतिदयिता प्रस्नवोत्पीडदिग्धा आसीत्॥]

३. श्यामाङ्गो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः।
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत्।
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इति[३] कथ्यते॥ (४)

[श्यामाङ्गः, रुचिरः, सर्वसल्लक्षणयुतः, मृदुः, प्रियवाक्, सरलः, ह्रीमान्, विनयी, मान्यमानकृत्, दाता-इत्यादिगुणः कृष्णः विभावः इति कथ्यते॥]

४. एवंगुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्तिता।
प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता॥ (५)

[एवंगुणस्य अस्य वेद्यस्य च अत्र अनुग्राह्यत्वात् एव प्रभावानास्पदतया विभावता कीर्त्तिता॥]

चतुर्थलहरी-वत्सलभक्तिरस

१. वात्सल्य-नामक स्थायीभाव अपने विभाव आदि से पुष्टि पाकर स्वयं ही यहाँ विद्वज्जनों द्वारा वत्सलभक्तिरस नाम से कहा गया है। ।१।

इसके आलम्बन—

२. यहां (इस वत्सलभक्तिरस में) श्रीकृष्ण एवं उनके गुरुजन आलम्बन हैं, ऐसा विद्वान् जनों ने कहा है। ।२।

उनमें से श्रीकृष्ण, यथा—

१. *नवीन नीलकमलों की माला के सदृश श्यामल, कोमल अङ्गोंवाले, चञ्चल अलकों रूपी भ्रमरों से घिरे नयनंकमलोंवाले पुत्र को व्रजभूमि में खेलते हुए देखती हुई व्रजेशप्रिया नन्दरानी यशोदा पुत्र-स्नेह से उमड़े दूध से गीले वक्षवाली हो रही थी। ।३।*

३. श्याम अङ्गकान्ति वाले, रुचिर, सभी सद्लक्षणों से युक्त, मृदु स्वभाव वाले, प्रिय वाणी वाले, सरल, ह्री (लज्जा सौजन्य) से सम्पन्न, विनयी, सम्मान्यों को सम्मान देने वाले, दाता इत्यादि गुणों से समृद्ध श्रीकृष्ण को ही यहाँ विभाव कहा गया है। ।४।

४. ऐसे गुणों वाले ये (श्रीकृष्ण) जो प्रभाव के अनाश्रय के रूप में वेद्य हैं, यहाँ अनुग्रह के पात्र हैं, अतएव उनमें विभावता कही गई। ।५।

तथा श्रीदशमे (भा०१०/८/४५)—

२. त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥ (६)

[त्रय्या उपनिषद्भिः च, साङ्ख्ययोगैः सात्वतैः च उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सा आत्मजम् अमन्यत॥]

यथा वा—

३. विष्णुर्नित्यमुपास्यते सखि! मया तेनात्र नीताः क्षयं
शङ्के पूतनिकादयः क्षितिरुहौ तौ वात्ययोन्मूलितौ।
प्रत्यक्षं गिरिरेष गोष्ठपतिना रामेण सार्धं धृत-
स्तत्तत् कर्म दुरन्वयं मम शिशोः केनास्य संभाव्यते? (७)

[सखि! मया नित्यं विष्णुः उपास्यते इति अत्र शङ्के तेन पूतनिकादयः क्षयं नीताः, तौ क्षितिरुहौ वात्यया उन्मूलितौ, एष गिरिः प्रत्यक्षं गोष्ठपतिना रामेण सार्धं धृतः, अस्य मम शिशोः तत् तत् दुरन्वयं कर्म केन सम्भाव्यते?॥]

अथ गुरवः—

५. अधिकम्मन्यभावेन शिक्षाकारितयापि च।
लालकत्वादिनाप्यत्र विभावा गुरवो मताः॥ (८)

[अधिकम्मन्यभावेन, अपि च शिक्षाकारितया, लालकत्वादिना अपि अत्र गुरवः विभावाः मताः॥]

यथा—

४. भूर्यनुग्रहचितेन चेतसा
लालनोत्कमभितः कृपाकुलम्।
गौरवेण गुरुणा जगद्गुरोर्
गौरवं गणमगण्यमाश्रये॥ (९)

[भूरि-अनुग्रहचितेन चेतसा अभितः कृपाकुलम्, लालनोत्कम्, जगद्गुरोः अगण्यं गौरवं गणम् गुरुणा गौरवेण आश्रये॥]

६. ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः।
रोहिणी ताश्च बल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः॥ (१०)

[व्रजराज्ञी, व्रजेश्वरः, रोहिणी, या पद्मजहृतात्मजाः ताः बल्लव्यः च—ते तु अत्र तस्य (गुरुजनाः) कथिताः॥]

यथा श्री दशम में (भा. १०/८/४५)—

२. *वेदों द्वारा, उपनिषदों द्वारा, सांख्ययोगों (दर्शनों) के द्वारा तथा वैष्णवों के द्वारा जिनका माहात्म्य गाया जाता है ऐसे हरि को वह (नन्दरानी) अपना बेटा मानती थी।* ।६।

अथवा—

३. *सखि! मैं नित्य ही विष्णु की उपासना करती हूँ, इसलिये लगता है कि (इस शिशु पर आई हुई) पूतना आदि विपत्तियाँ क्षय पाईं, वे दोनों विशाल वृक्ष आँधी से गिरे (भी तो यह शिशु बच गया), फिर यह पर्वत (गोवर्धन) गोष्ठपति (नन्द) ने बलराम के साथ प्रत्यक्ष ही उठाया-धारण किया। (मेरी विष्णु-उपासना के फल के सिवा) मेरे बालक के वे सब अद्भुत कर्म अन्यथा भला कैसे सम्भव हो सकते थे?* ।७।

गुरुजन—

५. स्वयं को अधिक, बड़ा मानने से, शिक्षा देनेवाले होने से, तथा लालन-पालन-दुलार आदि करने वाले होने से भी यहां गुरुजनों को विभाव माना गया है। ।८।

यथा—

४. *बहुत अनुग्रह भरे चित्त से सब ओर से दुलार करने को उत्सुक, कृपा (रक्षण की इच्छा) से आकुल, अतिशय गौरव (बड़प्पन) से जगद्गुरु के असङ्ख्य गुरुवर्ग का मैं आश्रय लेता हूँ।* ।९।

६. यहाँ हरि के गुरुजनों में व्रजरानी (यशोदा), व्रजेश्वर (नन्द), रोहिणी तथा वे गोपियाँ कही गई हैं जिनके पुत्रों को ब्रह्मा ने हरण किया था (तब हरि ने ही उन गोपबालकों का रूप धारण करके उन गोपियों को अपूर्व वात्सल्य का आनन्द दिया था।) ।१०।

७. देवकी तत्सपत्न्यश्य कुन्ती चानकदुन्दुभिः।
सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः।
व्रजेश्वरी-व्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ॥ (११)

[देवकी, तत्सपत्न्यः च, कुन्ती, आनकदुन्दुभिः च, सान्दीपनिमुखाः, अन्ये च—अमी यथापूर्वं वराः, व्रजेश्वरी-व्रजाधीशौ इमौ गुरुजनेषु श्रेष्ठौ॥]

तत्र व्रजेश्वर्या रूपं, यथा श्रीदशमे (भा०१०/९/३)—

५. क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥ (१२)

[पृथुकटितटे सूत्रनद्धं क्षौमं वासः, पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं च जातकम्पम्, रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले, स्विन्नं वक्त्रं च बिभ्रती, कबरविगलन्मालती सुभ्रूः निर्ममन्थ॥]

यथा वा—

६. डोरी-जूटित-वक्रकेशपटला सिन्दूरबिन्दूल्लसत्-
सीमन्तद्युतिरङ्गभूषणविधिं नातिप्रभूतं श्रिता।
गोविन्दास्य-निसृष्टसाश्रुनयनद्वन्द्वा[४] नवेन्दीवर-
श्याम-श्यामरुचिर्विचित्रसिचया गोष्ठेश्वरी पातु वः॥ (१३)

[डोरी-जूटित-वक्रकेशपटला, सिन्दूरबिन्दूल्लसत्सीमन्तद्युतिः न अतिप्रभूतं अङ्गभूषणविधिं श्रिता, गोविन्दास्यनिसृष्टसाश्रुनयनद्वन्द्वा, नवेन्दीवरश्यामश्यामरुचिः विचित्रसिचया गोष्ठेश्वरी वः पातु॥]

वात्सल्यं, यथा—

७. तनौ मन्त्रन्यासं प्रणयति हरेर्गद्गदमयी
सबाष्पाक्षी रक्षा-तिलकमलिके कल्पयति च।
स्नुवाना प्रत्यूषे दिशति च भुजे कार्मणमसौ
यशोदा मूर्तेव स्फुरति सुतवात्सल्यपटली॥ (१४)

[हरेः तनौ मन्त्रन्यासं प्रणयति, गद्गदमयी सबाष्पाक्षी अलिके रक्षातिलकं च कल्पयति। प्रत्यूषे च असौ स्नुवाना भुजे कार्मणं दिशति। यशोदा मूर्ता इव सुतवात्सल्यपटली स्फुरति॥]

७. देवकी तथा उनकी सपत्नियाँ, कुन्ती, वसुदेव, तथा सान्दीपनि आदि एवं अन्य भी गुरुजन हैं। ये सब कहे गये क्रम में पहले-पहले (यथापूर्व) श्रेष्ठ हैं, सभी गुरुजनों में व्रजेश्वरी एवं व्रजेश्वर श्रेष्ठ हैं। ।११।

इनमें से व्रजेश्वरी का रूप-

यथा श्रीदशम में (भा. १०/९/३)—

५. *जिसके भारी कटि तट पर डोरी से बँधा रेशमी वस्त्र है, पुत्र के स्नेह से उमड़ते दूध वाले स्तनयुगल काँप रहे हैं, दोनों भुजाओं से मथने की डोरी खींचने के श्रम से कङ्कण एवं कुण्डल हिल-डोल रहे हैं, मुखमण्डल स्वेद (पसीने) से भरा है, हिलते केशपाश (जूड़े) से मालती पुष्प झड़ रहे हैं—ऐसी, सुन्दर भौंहोवाली यशोदा दही मथ रही थीं। ।१२।*

यथा वा—

६. *डोरी से घुंघराले बालों का जूड़ा बाँधे हुए हैं, सिन्दूर-बिन्दी से माँग तथा भाल उल्लसित, सुशोभित हैं, थोड़े-से आभूषण धारण किये हुए हैं। (स्वयं ही धमकाये हुए) गोविन्द के मुख पर (वात्सल्य करुणा से) आँसू भरे नयन टिकाये हुए हैं, नवीन नीलकमल जैसा वर्ण एवं साँवली कान्ति है, बहुरंगी सुन्दर वस्त्र पहने हुए हैं—ऐसी व्रजेश्वरी यशोदा आपकी रक्षा करें। ।१३।*

वात्सल्य, यथा—

७. *हरि (बालकृष्ण) के शरीर पर गद्‌गद कण्ठ से मन्त्रन्यास (प्रति अङ्ग की रक्षा के लिये) करती हैं, भावाश्रुभरे नयन लिये (हरि के) माथे पर रक्षातिलक लगाती हैं, भोर में स्नेह से उमड़ते दूध वाली (यह अपने बालक की) भुजा पर टोटका बाँध देती है—ऐसी यह यशोदा मानो मूर्तिमती पुत्रवात्सल्य की पुतली हैं। ।१४।*

व्रजाधीशस्य रूपं, यथा—

८. तिलतण्डुलितैः कचैः स्फुरन्तं
नवभाण्डीरपलाशचारुचेलम्।
अतितुन्दिलमिन्दुकान्तिभाजं
व्रजराजं वरकूर्चमर्चयामि॥ (१५)

[तिलतण्डुलितैः कचैः स्फुरन्तम्, नवभाण्डीरपलाशचारुचेलम्, अतितुन्दिलम्, इन्दुकान्तिभाजम् वरकूर्चम् व्रजराजम् अर्चयामि॥]

वात्सल्यं, यथा—

९. अवलम्ब्य कराङ्गुलिं निजां
स्खलदङ्घ्रि प्रसरन्तमङ्गने।
उरसि स्रवदश्रुनिर्झरो[५]
मुमुदे प्रेक्ष्य सुतं व्रजाधिपः॥ (१६)

[निजां कराङ्गुलिम् अवलम्ब्य स्खलदङ्घ्रि अङ्गने प्रसरन्तं सुतं प्रेक्ष्य उरसि स्रवदश्रुनिर्झरः व्रजाधिपः मुमुदे॥]

अथ उद्दीपनाः—

८. कौमारादि-वयो-रूप-वेशाः शैशवचापलम्।
जल्पित-स्मित-लीलाद्या बुधैरुद्दीपनाः स्मृताः॥ (१७)

[कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशवचापलं जल्पित-स्मित-लीलाद्याः बुधैः उद्दीपनाः स्मृताः॥]

तत्र कौमारम्—

९. आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम्। (१८)

[आद्यं मध्यं तथा शेषं त्रिविधं कौमारं मतम्॥]

तत्र आद्यम्—

१०. स्थूलमध्योरुतापाङ्ग-श्वेतिमा स्वल्पदन्तता।
प्रव्यक्त[६]-मार्दवत्वञ्च कौमारे प्रथमे सति॥ (१९)

[स्थूलमध्योरुता, अपाङ्गश्वेतिमा, स्वल्पदन्तता प्रव्यक्तमार्दवत्वं च प्रथमे कौमारे सति॥]

व्रजाधीश (नन्द) का रूप, यथा—

८. तिल (काले) और तण्डुल (श्वेत) वर्ण के (अधपके) केशों से शोभित, भाण्डीर (वट) की कोंपलों जैसे लाल वस्त्र पहने हुए, बड़ी तोंद वाले (स्थूल काया), चन्द्रमा जैसे गौरवर्ण, लम्बी भरावदार मूँछ वाले व्रजेश्वर (नन्दराय) की मैं पूजा करता हूँ। ।१५।

(नन्दबाबा का) वात्सल्य, यथा—

९. अपनी अंगुली पकड़ कर लटपटाते चरणों से आँगन में पग-पग बढ़ते चलते हुए (अपने) बेटे को देख-देख आनन्दाश्रु के झरने जिनके वक्षःस्थल तक बह रहे थे ऐसे व्रजेश्वर (नन्दराय) अतीव मुदित हुए। ।१६।

अब उद्दीपन (कहे जाते हैं)—

८. कौमार आदि वयस्, वैसे रूप, वेश, शैशवोचित चपलता, वैसा ही बोलना-मुस्कुराना, खेलना आदि को तत्त्वज्ञों ने उद्दीपन माना है। ।१७।

इनमें कौमार—

९. यह कौमार तीन प्रकार का माना गया है-आद्य, मध्य तथा शेष। ।१८।

इनमें से आद्य (प्रथम)—

१०. पहले कौमार वयस् में (तनु का) मँझला भाग तथा ऊरु स्थूल होते हैं, चितवन श्वेत होती है, नन्हें-नन्हें थोड़े से दाँत होते हैं, मृदुता भली-भाँति व्यक्त होती है। ।१९।

यथा—

१०. त्रिचतुरदशनस्फुरन्मुखेन्दुः
पृथुतरमध्यकटिरङ्कोरुसीमा।
नवकुवलयकोमलः कुमारो
मुदमधिकां व्रजनाथयोर्व्यतानीत्॥ (२०)

[त्रिचतुरदशनस्फुरन्मुखेन्दुः पृथुतरमध्यकटिः अङ्कोरुसीमा, नवकुवलयकोमलः कुमारः व्रजनाथयोः अधिकां मुदं व्यतानीत्॥]

११. अस्मिन् मुहुः पदक्षेपः क्षणिके रुदितस्मिते।
स्वाङ्गुष्ठपानमुत्तानशयनाद्यञ्च चेष्टितम्॥ (२१)

[अस्मिन् क्षणिके रुदितस्मिते मुहुः पदक्षेपः, स्वाङ्गुष्ठपानम्, उत्तानशयनाद्यं च चेष्टितम्॥]

यथा—

११. मुखपुट-कृतपादाम्भोरुहाङ्गुष्ठमूर्ध्व-
प्रचलचरणयुग्मं पुत्रमुत्तान-सुप्तम्।
क्षणमिह विरुदन्तं स्मेरवक्त्रं क्षणं सा
तिलमपि विरतासीन्नेक्षितुं गोष्ठराज्ञी॥ (२२)

[मुखपुटकृतपादाम्भोरुहाङ्गुष्ठयुग्मम्, ऊर्ध्वप्रचलचरणयुग्मम् उत्तानसुप्तं क्षणं विरुदन्तं क्षणं स्मेरवक्त्रं सुतम् इह ईक्षितुं सा गोष्ठराज्ञी तिलम् अपि विरता न आसीत्॥]

१२. अत्र व्याघ्रनखः कण्ठे रक्षातिलकमञ्जनम्।
पट्टडोरी कटौ हस्ते सूत्रमित्यादि मण्डनम्॥ (२३)

[अत्र कण्ठे व्याघ्रनखः, रक्षातिलकम्, अञ्जनम्, कटौ पट्टडोरी, हस्ते सूत्रम् इत्यादि मण्डनम्॥]

यथा—

१२. तरक्षुनखमण्डनं नवतमालपत्रद्युतिं
शिशुं रुचिर-रोचना-कृत-तमालपत्रश्रियम्।
धृतप्रतिसरं कटिस्फुरितपट्टसूत्रस्रजं
व्रजेशगृहिणी सुतं न किल वीक्ष्य तृप्तिं ययौ॥ (२४)

[तरक्षुनखमण्डनम्, नवतमालपत्रद्युतिम्, रुचिररोचनाकृततमालपत्रश्रियम्, धृतप्रतिसरम्, कटिस्फुरितपट्टसूत्रस्रजं सुतं वीक्ष्य व्रजेशगृहिणी किल तृप्तिं न ययौ॥]

यथा—

१०. *तीन-चार दँतुलियों से शोभायमान जिसका मुखचन्द्र है, मध्यभाग, कटि, ऊरु की सीमा-पर्यन्त फूला-फूला है, नवकुवलय (पहले-पहले खिलते हुए से नील-कमल) जैसा सुकोमल तनु है ऐसा कुमार व्रजेश्वरी व्रजेश (यशोदा-नन्द) को अतीव मुदित कर रहा था। ।२०।*

११. इसमें बारम्बार पाँव चलाना, क्षण में हँसना क्षण में रोना, अपना अंगूठा चूसना, सीधे लेटना आदि चेष्टायें (देखी जाती) हैं। ।२१।

यथा—

११. *(कभी) चरण कमल के अंगूठे को (हाथ से पकड़कर) मुख्य में डाले हुए, (कभी) दोनों पाँव ऊपर की ओर उछाल-उछाल कर निरन्तर चलाते हुए; सीधे पीठ के बल लेटे-सोये हुए, क्षण में रोते-क्षण में मुस्कुराते मुख वाले अपने बेटे को निरखती हुई नन्दरानी तिलभर भी हटती या क्षणभर भी रुकती न थीं। ।२२।*

१२. यहाँ कण्ठ में बघनखा, भाल में रक्षातिलक, नयनों में अञ्जन, कटि में रेशम की डोर, कलाइयों में (भी) डोरे-इत्यादि अलङ्करण होते हैं। ।२३।

यथा—

१२. *छोटे बाघ के नखवाला पदिक गले में सुशोभित है, तमाल के कोंपल जैसी कोमल-साँवली आभा है, गोरोचना से रुचिर तमालपत्र जैसा रक्षातिलक लगाया हुआ है, (हाथों कलाइयों में) 'पहुँची' पहने, कटि में रेशमी डोर एवं माला शोभायमान है, ऐसे अपने 'लाल' को निरख-निरख कर नन्दरानी अघाती न थीं। ।२४।*

अथ मध्यम्—

१३. दृक्तटी[७]-भागलकतानग्रताच्छिद्रिकर्णता।
कलोक्तिरिङ्गणाद्यञ्च कौमारे सति मध्यमे॥ (२५)

[दृक्तटीभाक्-अलकता, आनग्रता, छिद्रिकर्णता कलोक्तिरिङ्गणाद्यं च मध्यमे कौमारे सति॥]

यथा—

१३. विचलदलकरुद्ध[८]-भ्रूतटी-चञ्चलाक्षं
कलवचनमुदञ्चन्नूतन-श्रोत्ररन्ध्रम्।
अलघुरचितरिङ्गं गोकुले दिग्दुकूलं
तनयममृतसिन्धौ प्रेक्ष्य माता न्यमाङ्क्षीत्॥ (२६)

[विचलदलकरुद्धभ्रूतटीचञ्चलाक्षम्, कलवचनम्, उदञ्चन्नूतनश्रोत्ररन्ध्रम्, अलघुरचितरिङ्गम् दिग्दुकूलं तनयं गोकुले प्रेक्ष्य माता अमृत-सिन्धौ न्यमाङ्क्षीत्॥]

१४. घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे।
किङ्किण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम्॥ (२७)

[घ्राणस्य शिखरे मुक्ता, कराम्बुजे नवनीतम्, कट्यादौ च किङ्किण्यादि प्रसाधनम् इह उदितम्॥]

यथा—

१४. क्वणितकनककिङ्किणीकलापं
स्मितमुखमुज्ज्वल[९]-नासिकाग्रमुक्तम्।
करधृतनवनीतपिण्डमग्रे
तनयमवेक्ष्य ननन्द नन्दपत्नी॥ (२८)

[क्वणितकनककिङ्किणीकलापं स्मितमुखम्, उज्ज्वलनासिकाग्रमुक्तम्, करधृतनवनीतपिण्डम् तनयम् अग्रे अवेक्ष्य नन्दपत्नी ननन्द॥]

अथ शेषम्—

१५. अत्र किञ्चित्कृशं मध्यमीषत्प्रथिम[१०]-भागुरः।
शिरश्च काकपक्षाढ्यं कौमारे चरमे सति॥ (२९)

[अत्र किञ्चित् कृशं मध्यम्, ईषत्प्रथिमभाग् उरः, काकपक्षाढ्यं च शिरः-चरमे कौमारे सति॥]

अब मध्य—

१३. मध्यम कौमार आने पर नयनों तक झुल आती अलकें, अधखुला मध्यभाग (कभी ढका कभी उघड़ा) प्रायः नग्रता, छिदे हुए कान, तोतली वाणी, घुटनों रेंगना आदि दिखते हैं। ।२५।

यथा—

१३. जिसकी चञ्चल अलकें भौंहों एवं चञ्चल नयनों तक झुकी आ रही हैं, उन्हें ढक दे रही हैं, सुहावनी तोतली बोली में कुछ-कुछ कहना चलता रहता है, छोटे-छोटे कान नई-नई ध्वनियाँ सुनते हुए उठे रहते हैं, ऐसे अपने बेटे को दिग्वसन (नग्न) ही त्वरित गति से गोकुल में घुटनों रेंगते-भागते-फिरते हुए देखकर माता यशोदा अमृतसिन्धु में निमग्न थी। ।२६।

१४. यहाँ नासिका के अग्रभाग में मुक्ता, करकमल में नवनीत, कटि आदि में किङ्कणी (कौंधनी) आदि यथोचित विविध आभरण-ये प्रसाधन कहे गये हैं। ।२७।

यथा—

१४. रुनझुन करती स्वर्णमयी करधनी (कटिमेखला) और वैसे ही रुनझुनाते कंगन तथा पैंजनी से सुशोभित, मुस्कुराते-मुखवाले ऊँची सुन्दर नासिका में उज्ज्वल मुक्ता पहने हुए, हथेली में ताजे माखन का गोला लिये हुए अपने बेटे को सामने देखकर नन्दरानी यशोदा आनन्दित हो रही थी। ।२८।

अब शेष—

१५. यहाँ कौमार की चरम अवस्था में, मध्यभाग (कटि) थोड़ा-सा कृश होता है, वक्षःस्थल कुछ भरा हुआ, और मस्तक काकपक्ष से सुशोभित होता है। ।२९।

यथा—

१५. स मनागपचीयमानमध्यः
प्रथिमोपक्रमशिक्षणार्थिवक्षाः।
दधदाकुलकाकपक्षलक्ष्मीं
जननीं स्तम्भयति स्म दिव्यडिम्भः॥ (३०)

[सः दिव्यडिम्भः मनाक् अपचीयमानमध्यः, प्रथिमोपक्रमशिक्षणार्थिवक्षाः आकुलकाकपक्ष-लक्ष्मीं दधत् जननीं स्तम्भयति स्म॥]

१६. धटी फणपटी चात्र किञ्चिद्वन्यविभूषणम्।
लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्तितम्॥ (३१)

[अत्र धटी फणपटी च, किञ्चिद् वन्यविभूषणम्, लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्तितम्॥]

१७. वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम्।
पावशृङ्गदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम्॥ (३२)

[अत्र चेष्टितम्-वत्सरक्षा, व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम्, पाव-शृङ्गदलादीनां-वादनादि॥]

यथा—

१६. शिखण्डकृतशेखरः फणपटीं कटीरे दधत्
करे च लगुडीं लघुं सवयसां [११]कुलैरावृतः।
अवन्निह शकृत्करीन् परिसरे व्रजस्य प्रिये
सुतस्तव कृतार्थयत्यहह पश्य नेत्राणि नः॥ (३३)

[शिखण्डकृतशेखरः, कटीरे फणपटीं करे च लघुं लगुडीं दधत्, सवयसां कुलैः आवृतः, व्रजस्य प्रिये परिसरे इह शकृत्करीन् अवन् तव सुतः पश्य! अहह नः नेत्राणि कृतार्थयति॥]

अथ पौगण्डम्—

१८. पौगण्डादि पुरैवोक्तं तेन संक्षिप्य लिख्यते। (३४)

[पौगण्डादि पुरा एव उक्तम्। तेन संक्षिप्य लिख्यते॥]

यथा—

१५. *वह दिव्य बालक थोड़े क्षीण होते हुए मध्यभाग (कमर) से युक्त, कुछ फूलना सीखना चाहते हुए से (थोड़ा-थोड़ा फूलते-भरते) वक्षःस्थल वाला, (शरीर की चञ्चलता से) हिलते हुए काकपक्ष (बच्चों के सिर पर बीचोबीच बाँधा जाने वाला सामने के बालों का जूड़ा जैसा) की शोभा लिये हुए अपनी माँ को (आनन्द से) स्तब्ध कर रहा था।* *।३०।*

१६. यहाँ धटी (छोटी-सी धोती) फणपटी (कछौटी-धोती को कमर पर कसे रखने के लिये बाँधा गया फेंटा), अङ्गों पर थोड़े से वन्य विभूषण, छोटी-सी लकुटी हाथ में लिये होना, इत्यादि मण्डन (अलङ्करण) कहे गये हैं। ।३१।

१७. बछड़े चराना, बछड़ों को संभालना, व्रज के आँगन में अपने जैसी वयस् के सखाओं-ग्वालबालकों से खेलना, पावा (छोटी वंशी) सींगी, पत्तों की पीपनी बजाना आदि यही यहाँ चेष्टायें हैं। ।३२।

यथा—

१६. *अहा! मस्तक पर मयूरपिच्छ का छोटा-सा मुकुट धारण किये हुए, कमर में काछनी काछे हुए छोटी-सी लकुटी हाथ में लिये हुए, समान वयस्वाले ग्वालबालों से घिरा हुआ, व्रज के परिसर (आँगन) में शिशु-मल जैसा गोबर करते हुए छोटे बछड़ों को सम्हालता हुआ तुम्हारा बेटा हमारे नेत्रों को कृतार्थ कर रहा है।* *।३३।*

अब पौगण्ड—

१८. पौगण्ड आदि का वर्णन पहले ही किया जा चुका है, अतः अब संक्षेप में लिखा जाता है। ।३४।

यथा—

१७. पथि पथि सुरभीणामंशुकोत्तंसिमूर्धा
धवलिमयुगपाङ्गो मण्डितः कञ्चुकेन।
लघु लघु परिगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरयुग्मं
व्रजभुवि मम वत्सः कच्छदेशादुपैति॥ (३५)

[अंशुकोत्तंसिमूर्धा, धवलितयुगपाङ्गः, कञ्चुकेन मण्डितः, मञ्जुमञ्जीरयुग्मं लघु-लघु परिगुञ्जन् मम वत्सः कच्छदेशात् व्रजभुवि सुरभीणां पथि-पथि उपैति॥]

अथ कैशोरम्—

१८. अरुणिमयुगपाङ्गस्तुङ्गवक्षःकपाटी-
विलुठदमलहारो रम्यरोमावलिश्रीः।
पुरुषमणिरयं मे देवकि! श्यामलाङ्ग-
स्त्वदुदरखनिजन्मा नेत्रमुच्चैर्धिनोति॥ (३६)

[देवकि! अयं अरुणिमयुगपाङ्गः तुङ्गवक्षःकपाटीविलुठदमलहारः, रम्यरोमावलिश्रीः श्यामलाङ्गः त्वदुदरखनिजन्मा पुरुषमणिः मे नेत्रम् उच्चैः धुनोति॥]

१९. नव्येन यौवनेनापि[१२] दीव्यन् गोष्ठेन्द्रनन्दनः[१३]।
भाति केवलवात्सल्यभाजां पौगण्डभागिव॥ (३७)

[नव्येन यौवनेन दीव्यन् अपि गोष्ठेन्द्रनन्दनः केवलवात्सल्यभाजां पौगण्डभाक् इव भाति॥]

२०. सुकुमारेण पौगण्डवयसा सङ्गतोऽप्यसौ।
किशोराभः सदा दासविशेषाणां प्रभासते॥ (३८)

[सुकुमारेण पौगण्डवयसा सङ्गतः अपि असौ दासविशेषाणां सदा किशोराभः प्रभासते॥]

अथ शैशव-चापलम्—

१९. पारीर्भिनत्ति विकिरत्यजिरे दधीनि
सन्तानिकां हरति कृन्तति मन्थदण्डम्।
वह्नौ क्षिपत्यविरतं नवनीतमित्थं
मातुः प्रमोदभरमेव हरिस्तनोति॥ (३९)

[पारीः भिनत्ति, अजिरे दधीनि विकिरति, सन्तानिकां हरति, मन्थदण्डं कृन्तति, वह्नौ अविरतं नवनीतं क्षिपति, इत्थं हरिः मातुः प्रमोदभरम् एव तनोति॥]

यथा—

१७. *मस्तक पर रत्न-जड़े आभूषग वाली छोटी-सी पगड़ी बाँधे हुए, कञ्चुक (वागा या जामा) पहने हुए, धवल चितवन वाला, कमर की किंकिणी और चरणों के नूपुरों की धीमी-धीमी रुनझुन ध्वनि गुँजाता हुआ मेरा बेटा गोचर-भूमि या कछार से व्रजभूमि की ओर आती हुई गायों के पीछे-पीछे उसी पथ पर चला आ रहा है। ।३५।*

अब कैशोर, यथा—

१८. *देवकि! (देखो!) यह अरुणिम नयनों वाला, जिसके चौड़े-उभरे वक्षःस्थल पर शुभ्र हार डोल रहे हैं, रम्य रोमावलि की शोभा सब अङ्गों पर है, साँवला शरीर है, ऐसा तुम्हारे उदर रूपी खान से उत्पन्न पुरुषमणि मेरे नेत्रों को अतीव आनन्दित कर रहा है। ।३६।*

१९. नवीन यौवन से उज्ज्वल शोभायमान भी गोष्ठराज नन्द का नन्दन केवल वात्सल्यभरी दृष्टि वालों को पौगण्डवयस् वाला ही प्रतीत होता है। ।३७।

२०. सुकुमार पौगण्ड-वयस् से युक्त भी यह अपने दास-विशेषों के प्रति सदा किशोर-आभा वाला प्रभासित होता है। ।३८।

अब शैशव की चपलता—

यथा—

१९. *कुल्हड़ शकोरे (दूध-दही के पात्र) फोड़ता रहता है, आँगन में इधर-उधर दही-दूध बिखरा देता है, दूध-दही पर से मलाई निकाल लेता है; मथने का डण्डा (बड़ी मथनी) काट डालता है, चूल्हे (की आग) में मक्खन फेंकता रहता है—इस प्रकार की चपलतायें करते हुए हरि (श्रीकृष्ण) माँ (यशोदा) का प्रमोद बढ़ाते रहते हैं। ।३९।*

यथा वा—

२०. प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य दिशः सशङ्कमसकृन्मन्दं पदं निक्षिप-
न्नायात्येष लतान्तरे स्फुटमितो गव्यं हरिष्यन् हरिः।
तिष्ठ स्वैरमजानतीव मुखरे! चौर्यभ्रमद्भ्रूलतं
त्रस्यल्लोचनमस्य शुष्यदधरं रम्यं दिदृक्षे मुखम्॥ (४०)

[सशङ्कं दिशः प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य, लतान्तरे असकृत् मन्दं पदं निक्षिपत् एषः हरिः गव्यं हरिष्यन् स्फुटम् इतः आयाति। मुखरे! स्वैरम् अजानती इव तिष्ठ। अस्य रम्यं चौर्यभ्रमद्भ्रूलतम् त्रस्यल्लोचनं मुखं दिदृक्षे॥]

अथ अनुभावाः—

२१. अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणाङ्गाभिमार्जनम्।
आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम्।
हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्तिताः॥ (४१)

[शिरोघ्राणम्, करेण अङ्गाभिमार्जनम्, आशीर्वादः, निदेशः, लालनं प्रतिपालनम् च, हितोपदेशदानाद्याः अनुभावाः वत्सले परिकीर्त्तिताः॥]

तत्र शिरोघ्राणं, यथा श्रीदशमे (भा०१०/१३/३३)—

२१. तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया[१४]
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदूह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते। (४२)

[तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशयाः जातानुरागाः गतमन्यवः ते अर्भकान् उदूह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि घ्राणैः परमां मुदम् अवापुः॥]

यथा वा—

२२. दुग्धेन दिग्धा कुचविच्युतेन
समग्रमाघ्राय[१५] शिरः सपिच्छम्।
करेण गोष्ठेशितुरङ्गनेय-
मङ्गानि पुत्रस्य मुहुर्ममार्ज॥ (४३)

[कुचविच्युतेन दुग्धेन दिग्धा (स्निग्धा) इयं गोष्ठेशितुः अङ्गना पुत्रस्य समग्रं सपिच्छम् शिरः आघ्राय अङ्गानि मुहुः ममार्ज॥]

यथा वा—

२०. *मुखरे! यह देखो! सब दिशाओं में शङ्का भरी दृष्टि से ताकते हुए, लता की ओट में धीमे-धीमे पाँव बढ़ाते हुए यह हरि (कन्हैया) माखन चुराने के लिये स्पष्ट ही इस ओर आ रहा है। तुम जानबूझ कर न जानती हुई जैसी चुपचाप बैठी रहो, चोरी के लिये इधर-उधर घूमती-हुई चञ्चल भौंहों वाले, भयभीत नयनों वाले इस के रमणीय मुख को मैं देखना चाहती हूँ। ।४०।*

अब अनुभाव—

२१. सिर सूँघना, हाथ से अङ्गों की धूल पोंछना, आशीर्वाद देना, आज्ञा या निर्देश देना, लाड़-दुलार करना, रक्षा करना, हितोपदेश देना, समझाना-बुझाना- आदि अनुभाव वत्सल-भक्ति में कहे गये हैं। ।४१।

इनमें से मस्तक सूँघना—

यथा श्रीदशम (भा. १०/१३/३३) में—

२१. *उन बालकों को देखने से उमड़े प्रेमरस से भरपूर अन्तःकरण वाले, उमगते-अनुराग भरे, छूट चुके क्रोध वाले (अनुराग के कारण जिनका रोष शान्त पड़ गया था ऐसे) उन सब (गोप-गोपियों) ने अपने-अपने बालकों को गोद में उठाकर, बाँहों में भरते हुए, सिर सूँघते हुए परम मोद (आनन्द) प्राप्त किया। ।४२।*

यथा वा—

२२. *(उमड़ते स्नेह से) स्तनों से झरते दूध से भीगी व्रजेश (नन्द) की रानी अपने बेटे का समूचा मस्तक मोरपंख सहित बारम्बार सूँघकर उस (बालक) के अङ्ग पोंछने लगी। ।४३।*

२२. चुम्बाश्लेषौ तथाह्वानं नामग्रहणपूर्वकम्।
उपालम्भादयश्चात्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः॥ (४४)

[चुम्बाश्लेषौ तथा नामग्रहणपूर्वकम् आह्वानम्, उपालम्भादयः च अत्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः॥]

अथ सात्त्विकाः—

२३. नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते॥ (४५)

[स्तन्यस्रावः, ते स्तम्भादयः च नव अत्र सात्त्विकाः॥]

तत्र स्तन्यस्रावो, यथा श्रीदशमे (भा०१०/१३/२२)-

२३. तन्मातरो वेणुरव-त्वरोत्थिता
उत्थाप्य[१६] दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयः सुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्॥ (४६)

[वेणुरवत्वरोत्थिताः तन्मातरः दोर्भिः उत्थाप्य निर्भरं परिरभ्य सुतान् परं ब्रह्म मत्वा स्नेहस्नुतस्तन्यपयः सुधासवम् अपाययन्॥]

यथा वा ललितमाधवे—

२४. निचुलित-गिरिधातु-स्फीतपत्रावलीका-
नखिलसुरभिरेणून् क्षालयद्भिर्यशोदा।
कुचकलसविमुक्तैः स्नेहमाध्वीकमेध्यै-
स्तव नवमभिषेकं दुग्धपूरैः करोति॥ (४७)

[निचुलित-गिरिधातु-स्फीत-पत्रावलीकान् अखिलसुरभिरेणून् क्षालयद्भिः कुचकलसविमुक्तैः स्नेहमाध्वीकमध्यैः दुग्धपूरैः यशोदा तव नवम् अभिषेकं करोति॥]

स्तम्भादयो, यथा—

२५. कथमपि परिरब्धुं न क्षमा स्तब्धगात्री
कलयितुमपि नालं बाष्पपूरप्लुताक्षी।
न च सुतमुपदेष्टुं रुद्धकण्ठी समर्था
दधतमचलमासीद्व्याकुला गोकुलेशा॥ (४८)

[स्तब्धगात्री गोकुलेशा अचलं दधतं सुतं परिरब्धुं कथम् अपि न क्षमा, बाष्पपूरप्लुताक्षी कलयितुं न अलम्, रुद्धकण्ठी च उपदेष्टुं न समर्था व्याकुला आसीत्॥]

२२. चुम्बन, आलिङ्गन, नाम लेकर बुलाना, उलाहना देना, आदि यहाँ मित्रों की साधारण क्रियायें हैं। ।४४।

अब सात्त्विकभाव—

२३. यहाँ स्तब्ध हो जाना आदि पूर्वोक्त (आठ) तथा स्तन्य (दूध)-झरना ऐसे कुल नौ सात्त्विकभाव हैं। ।४५।

इनमें से दूध झरना, यथा श्री दशम में (भा. १०/१३/२२)—

२३. *वेणु की ध्वनि सुनकर (बछड़े चराने गये हुए बालकों को लौटकर निकट आये हुए जानकर) त्वरा से उठ खड़ी हुई उनकी माताओं ने अपने बालकों को बाँहों से उठाकर, गोद में भली-भाँति चिपका कर, (वस्तुतः) परम ब्रह्म श्रीकृष्ण को अपना-अपना बेटा ही मान कर, उमड़े स्नेह से स्वयं स्तनों से झरता हुआ दूध रूपी सुधासव (अमृतरस) पिलाया। ।४६।*

यथा वा ललितमाधव में—

२४. *(हे कृष्ण!) गोवर्धन गिरि के धातु (पत्थरों के रंग) से (सखाओं द्वारा) बनाई गई सुन्दर पत्रावली (चेहरे और भुजाओं आदि पर किया गया चित्राङ्कन) पर छाई हुई गायों की उड़ाई धूल को धोते हुए स्तन-कलशों से छलक कर बाहर आये हुए, स्नेह रूपी माध्वीक (मीठी सुरा) मिले हुए दूध की बाढ़ जैसी फुहारों से यशोदा तुम्हारा नवीन अभिषेक कर रही हैं। ।४७।*

स्तम्भ आदि यथा—

२५. *गोवर्धन-गिरि धारण किये हुए अपने पुत्र को देखकर यशोदा-सम्पूर्ण शरीर स्तब्ध हो जाने के कारण किसी भी प्रकार अँकवार न भर सकी, नेत्रों में अश्रु छा जाने से देख नहीं पा रही थी, कण्ठ रुँध जाने से कुछ कह भी न पा रही थी-इस प्रकार सर्वथा व्याकुल हो रही। ।४८।*

अथ व्यभिचारिणः—

२४. अत्रापस्मारसहिताः[१७] प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः॥ (४९)

[अत्र व्यभिचारिणः अपस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः॥]

तत्र हर्षो, यथा श्रीदशमे (भा०१०/१७/१९)-

२६. यशोदापि[१८] महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥ (५०)

[महाभागा यशोदा अपि नष्टलब्धप्रजा सती (सुतम्) अङ्कम् आरोप्य परिष्वज्य मुहुः अश्रुकलां मुमोच॥]

यथा वा विदग्धमाधवे—

२७. जितचन्द्रपरागचन्द्रिका-
नलदेन्दीवर-चन्दनश्रियम्।
परितो मयि शैत्यमाधुरीं
वहति स्पर्शमहोत्सवस्तव॥ (५१)

[तव स्पर्शमहोत्सवः जितचन्द्रपरागचन्द्रिकानलदेन्दीवरचन्दनश्रियम् शैलमाधुरीं मयि परितः वहति॥]

अथ स्थायी—

२५. सम्भ्रमादि-च्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते॥ (५२)

[सम्भ्रमादिच्युता या अनुकम्पितुः अनुकम्पा स्यात् सा एव रतिः वात्सल्यम् अत्र स्थायीभावः निगद्यते॥]

२६. यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः।
प्रेमवत् स्नेहवद्भाति कदाचित् किल रागवत्॥ (५३)

[यशोदादेः वात्सल्यरतिः तु निसर्गतः प्रौढा। प्रेमवत् स्नेहवत् कदाचित् किल रागवत् भाति॥]

अब व्यभिचारी भाव—

२४. यहाँ अपस्मारसहित प्रीत-भक्ति में कहे गये सब व्यभिचारी भाव होते हैं। ।४९।

उनमें से हर्ष, यथा श्री दशम में (भा. १०/१७/१९)—

२६. *महाभाग्यशालिनी यशोदा भी अपने खोये हुए बालक को पुनः पाकर उसे गोद में लेकर भली-भाँति अँकवार भरकर, बारम्बार अश्रुधारा बहने लगी।* ।५०।

यथा वा विदग्धमाधव में—

२७. *तुम्हारे स्पर्श का महोत्सव-चन्द्रपराग (कर्पूर) और चन्द्रिका को भी जीतनेवाली, खस-कमल-चन्दन की श्री जैसी शीतलताकी माधुरी-मुझमें सब ओर से ला रहा है।* ।५१।

अब स्थायी भाव—

२५. अनुकम्प्य (अनुकम्पा के विषय, पात्र) पर अनुकम्पा के आश्रय (करने वाले, आलम्बन) की जो सम्भ्रम (गौरव-बोध से उत्पन्न अन्तराय) से रहित रति होती है उसे ही यहां वात्सल्य नामक स्थायी भाव कहा जाता है। ।५२।

२६. यशोदा आदि की वात्सल्यरति निसर्ग से ही प्रौढ़ है, वह कभी प्रेम की भाँति, कभी स्नेह-जैसी और कभी राग-जैसी दिखाई देती है। ।५३।

तत्र वात्सल्यरतिर्यथा श्रीदशमे (भा०१०/६/४३)—

२८. नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः।
मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह! (५४)

[कुरूद्वह! प्रोष्य आगतः उदारधीः नन्दः स्वपुत्रम् आदाय मूर्ध्नि आघ्राय परमां मुदं लेभे॥]

यथा वा—

२९. विन्यस्त-श्रुति-पालिरद्य मुरलीनिस्वानशुश्रूषया
भूयः प्रस्रववर्षिणी[१९] द्विगुणितोत्कण्ठा प्रदोषोदये।
गेहादङ्गनमङ्गनात् पुनरसौ गेहं विशन्त्याकुला
गोविन्दस्य मुहुर्व्रजेन्द्रगृहिणी पन्थानमालोकते॥ (५५)

[अद्य प्रदोषोदये मुरली-निस्वान-शुश्रूषया विन्यस्तश्रुतिपालिः, भूयः प्रस्रववर्षिणी, द्विगुणितोत्कण्ठा आकुला असौ व्रजेन्द्रगृहिणी गेहात् अङ्गनम् अङ्गनात् पुनः गेहं विशन्ती मुहुः गोविन्दस्य पन्थानम् आलोकते॥]

प्रेमवद्, यथा—

३०. प्रेक्ष्य तत्र मुनिराजमण्डलैः
स्तूयमानमपि मुक्तसम्भ्रमा।
कृष्णमङ्कमभि गोकुलेश्वरी
प्रस्नुता कुरुभुवि[२०] न्यवीविशत्॥ (५६)

[तत्र मुनिराजमण्डलैः स्तूयमानं कृष्णम् प्रेक्ष्य अपि मुक्तसम्भ्रमा गोकुलेश्वरी अङ्कम् अभि प्रस्नुता कुरुभुवि न्यवीविशत्॥]

यथा वा—

३१. देवक्या विवृत-प्रसूचरितयाप्युन्मृज्यमानानने
भूयोभिर्वसुदेवनन्दनतयाप्युद्घुष्यमाणे जनैः।
गोविन्दे मिहिरग्रहोत्सुकतया क्षेत्रं कुरोरागते
प्रेमा वल्लभनाथयोरतितरामुल्लासमेवाययौ॥ (५७)

[विवृतप्रसूचरितया देवक्या उन्मृज्यमानानने अपि, भूयोभिः जनैः वसुदेवनन्दनतया उद्घुष्यमाणे अपि, मिहिरग्रहोत्सुकतया कुरोः क्षेत्रम् आगते गोविन्दे बल्लवनाथयोः प्रेमा अतितराम् उल्लासम् एव आययौ॥]

इनमें वात्सल्यरति यथा श्रीदशम में (भा. १०/६/४३)—

२८. *हे कुरुवंशज (परीक्षित्)! प्रवास से लौटे हुए उदारधी वाले नन्द ने अपने बेटे को गोद में लेकर उसका मस्तक सूँघकर परम मोद का अनुभव किया।* ।५४।

यथा वा—

२९. *आज सन्ध्या हो आने पर (गोचारण से लौटते हुए पुत्र की) मुरली ध्वनि सुन पाने की इच्छा से कान लगाये हुए, आकुल हुई, दुगनी होती जाती उत्कण्ठा वाली, स्नेह से उमड़कर झरते दूधवाली यह व्रजेन्द्र (नन्द) की गृहिणी (यशोदा) बारम्बार आँगन से घर के भीतर और घर में से आँगन में आती-जाती हुई गोविन्द की राह देख रही है।* ।५५।

प्रेम से युक्त यथा—

३०. *वहाँ, कुरुक्षेत्र में मुनिवरों के समूहों द्वारा स्तुति किये जाते हुए श्रीकृष्ण को देखकर भी सम्भ्रम से मुक्त, उमड़ते दूध से भीगे अङ्कवाली गोकुलेश्वरी वहीं धरती पर बैठ गयी।* ।५६।

यथा वा—

३१. *सूर्यग्रहण के निमित्त से जब गोविन्द कुरुक्षेत्र आये हुए थे, तब प्रकट मातृभाव का आचरण करती हुई देवकी द्वारा मुख पोंछना आदि देखने पर भी, अनेकों जनसमूहों द्वारा बारम्बार वसुदेव-नन्दन या वासुदेव नाम से पुकारे जाने पर भी, वहाँ आये हुए गोपराज नन्द एवं यशोदा का गोविन्द के प्रति (वात्सल्य) प्रेम अधिक-अधिक उल्लास को ही प्राप्त हुआ।* ।५७।

स्नेहवद्, यथा—

३२. पीयूषद्युतिभिः स्तनाद्रिपतितैः क्षीरोत्करैर्जाह्नवी
कालिन्दी च विलोचनाब्जजनितै[21]-र्जाताञ्जनश्यामलैः।
आरान्मध्यमवेदिमापतितयोः क्लिन्ना तयोः सङ्गमे
वृत्तासि व्रजराज्ञि! तत्सुतमुखप्रेक्षां स्फुटं वाञ्छसि॥ (५८)

[वृत्तराज्ञि! स्तनाद्रिपतितैः पीयूषद्युतिभिः क्षीरोत्करैः जाह्नवी, विलोचनाब्जजनितैः अञ्जनश्यामलैः (अश्रुभिः) कालिन्दी च जाता। आरात् मध्यमवेदिम् आपतितयोः तयोः सङ्गमे क्लिन्ना वृत्ता असि, तत् (तस्मात्) स्फुटं सुतमुखप्रेक्षां वाञ्छसि॥]

रागवद्, यथा—

३३. तुषारति तुषानलोऽप्युपरि तस्य बद्धस्थिति-
र्भवन्तमवलोकते यदि मुकुन्द! गोष्ठेश्वरी।
सुधाम्बुधिरपि स्फुटं विकटकालकूटत्यलं
स्थिता यदि न तत्र ते वदनपद्ममुद्वीक्ष्यते॥ (५९)

[मुकुन्द! तुषानलः अपि तुषारति, यदि तस्य उपरि बद्धस्थितिः गोष्ठेश्वरी भवन्तम् अवलोकते। सुधाम्बुधिः अपि स्फुटम् अलं कालकूटति यदि तत्र स्थिता (सा) ते वदनपद्मं न उद्वीक्ष्यते॥]

अथ अयोगे उत्कण्ठितम्—

३४. वत्सस्य हन्त शरदिन्दुविनिन्दि-वक्त्रं
सम्पादयिष्यति कदा नयनोत्सवं नः?
इत्यच्युते विहरति व्रजवाटिकाया-
मुर्वी त्वरा जयति देवकनन्दिनीनाम्॥ (६०)

[हन्त! वत्सस्य शरदिन्दुविनिन्दिवक्त्रं कदा नः नयनोत्सवं सम्पादयिष्यति—इति व्रजवाटिकायां विहरति अच्युते देवकनन्दिनीनाम् उर्वी त्वरा जयति॥]

यथा वा—

३५. भ्रातस्तनयं भ्रातुर्मम सन्दिश गान्दिनीपुत्र!
भ्रातृव्येषु वसन्ती दिदृक्षते त्वां हरे! कुन्ती॥ (६१)

[भ्रातः गान्दिनीपुत्र! मम भ्रातुः तनयं सन्दिश-"हरे! भातृव्येषु वसन्ती कुन्ती त्वां दिदृक्षते॥"]

स्नेह से युक्त यथा—

३२. *हे व्रजरानी (यशोदा)! तुम्हारे स्तन-पर्वत से गिरते हुए पीयूष जैसी (श्वेत) द्युतिवाले क्षीर-निर्झरों से गङ्गा, नयन-कमलों से उत्पन्न अञ्जन से श्यामल हुए अश्रुओं से यमुना उत्पन्न हो गयी है; इन दोनों के साथ-साथ मध्यमवेदी (वक्षःस्थल) पर आ गिरने से हुए सङ्गम से तुम भीग गई हो, इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है बेटे का मुख देखना चाह रही हो।* ।५८।

राग से युक्त यथा—

३३. *मुकुन्द! तुषानल (जलते हुए भूसे के ढेर) के ऊपर बैठी हुई भी गोकुलेश्वरी (यशोदा) यदि तुम्हें देख लेती है तो वह भड़का हुआ अग्निपुञ्ज भी उसे तुषार (हिम) जैसा शीतल प्रतीत होता है, और सुधासागर भी उसके लिये प्रकट कालकूट बन जाता है यदि उसमें बैठी हुई वह तुम्हारा मुखकमल नहीं देख पाती।* ।५९।

अब अयोग में उत्कण्ठा, यथा—

३४. *अच्युत जब व्रजवाटिका में विहार कर रहे थे तब देवक की पुत्रियों (देवकी आदि) को अतीव त्वरा (शीघ्रता के लिये उत्कण्ठा) हो रही थी कि हाय! भला कब बेटे का शरच्चन्द्र को भी लजाने वाला मुख हमारे नयनों का उत्सव सम्पन्न करेगा? उस त्वरा की जय हो।* ।६०।

यथा वा—

३५. *भाई गान्दिनीपुत्र (अक्रूर)! मेरे भाई के पुत्र को मेरा यह सन्देश देना "हे हरि! भतीजों या शत्रुओं (अहितैषी परिवार) में रहती हुई कुन्ती (तुम्हारी बुआ) तुम्हारा दर्शन चाहती है।"* ।६१।

वियोगो, यथा श्रीदशमे (भा०१०/४६/२८)—

३६. यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य[22] चरितानि च।
श्रृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥ (६२)

[स्नेहस्नुतपयोधरा यशोदा च पुत्रस्य वर्ण्यमानानि चरितानि श्रृण्वन्ती अश्रूणि अवास्राक्षीत्॥]

यथा वा—

३७. याते राजपुरं हरौ मुखतटी-व्याकीर्ण-धूम्रालका
पश्य स्रस्ततनुः कठोरलुठनैर्देहे व्रणं कुर्वती।
क्षीणा गोष्ठमहीमहेन्द्रमहिषी हा पुत्र हा पुत्रेत्यसौ
क्रोशन्ती करयोर्युगेन कुरुते कष्टादुरस्ताडनम्॥ (६३)

[पश्य! हरौ राजपुरं याते मुखतटी-व्याकीर्ण-धूम्रालका, स्रस्ततनुः, कठोर लुठनैः देहे व्रणं कुर्वती, क्षीणा गोष्ठमहीमहेन्द्रमहिषी "हा पुत्र! पुत्र!" इति क्रोशन्ती करयोः युगेन कष्टात् उरस्ताडनं कुरुते॥]

२७. बहूनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु केचन।
चिन्ता-विषाद-निर्वेद-जाड्य-दैन्यानि चापलम्।
उन्माद-मोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी॥ (६४)

[बहूनाम् अपि सद्भावे, अत्र, वियोगे तु केचन चिन्ता-विषाद-निर्वेद-जाड्य-दैन्यानि चापलम् उन्मादमोहौ इत्याद्या अमी अत्युद्रेकं व्रजन्ति॥]

तत्र चिन्ता—

३८. मन्दस्पन्दमभूत् क्लमैरलघुभिः सन्दानितं मानसं
द्वन्द्वं लोचनयोश्चिरादविचल-व्याभुग्नतारं स्थितम्[23]।
निश्वासैः स्रवदेव पाकमयते स्तन्यञ्च तप्तैरिदं
नूनं वल्लभराज्ञि! पुत्रविरहोद्घूर्णाभिराक्रम्यसे॥ (६५)

[बल्लवराज्ञि! अलघुभिः क्लमैः मानसं सन्दानितं मन्दस्पन्दं (च) अभूत्, लोचनयोः द्वन्द्वं चिरात् अविरलव्याभुग्नतारं स्थितम्, तप्तैः निःश्वासैः इदं स्तन्यं च स्रवत एव पाकम् अवते, नूनं पुत्रविरहोद्घूर्णाभिः आक्रम्यसे॥]

वियोग में यथा श्रीदशम में (भा. १०/४६/२८)—

३६. *स्नेह से उमड़ा दूध झरने से भीगे वक्षःस्थल वाली यशोदा पुत्र के चरितों का वर्णन सुनती हुई आँसू बहाने लगी।*
।६२।

यथा वा—

३७. *हरि के राजपुर (मथुरा) चले जाने पर देखो यह गोकुलव्रज के महेन्द्र नन्दराय की रानी यशोदा 'हा पुत्र! हा पुत्र!' उच्च स्वर से पुकारती हुई, बिखरी अलकों और धूल से धूमिल मुख वाली, बेसुध होकर कठोर भूमि पर लोटने-छटपटाने से देह में घाव करती हुई, दुःख से दुर्बल क्षीण पड़ी हुई, असह्य कष्ट के कारण दोनों हाथों से वक्षःस्थल को पीट रही है।*
।६३।

२७. बहुत भावों के रहने पर भी यहाँ वियोग-दशा में कोई-कोई चिन्ता-विषाद-निर्वेद-जड़ता-दैत्य-चपलता-उन्माद और मोह इत्यादि अतिशय उद्रेक प्राप्त करते हैं। ।६४।

इनमें चिन्ता—

३८. *हे गोपेश्वरि! अतिशय खेद से तुम्हारा चित्त बँध गया है और शिथिल पड़ गया है, दोनों नेत्र लम्बे समय से चढ़े हुए स्थिर ताराओं वाले हो रहे हैं, तपे हुए निःश्वासों के कारण तुम्हारे स्तनों से झरते ही दूध उबल-सा जाता है अवश्य ही (गोचारण के लिये वन में गये) पुत्र के विरह से उत्पन्न चिन्ता-जन्य चक्करों से तुम आक्रान्त हो।* *।६५।*

विषादः—

३९. वदनकमलं पुत्रस्याहं निमीलति शैशवे
नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टं न रम्यमालोकयम्।
अभिनव-वधूयुक्तञ्चामुं न हर्म्यमावेशयं
शिरसि कुलिशं हन्त क्षिप्तं श्वफल्कसुतेन मे॥ (६६)

[पुत्रस्य निमीलति शैशवे अहं नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टं वदनकमलं रम्यं न आलोकयम् अभिनववधूयुक्तं च अमुं हर्म्यं न आवेशयम्, हन्त मे शिरसि श्वफल्कसुतेन कुलिशं क्षिप्तम्॥]

निर्वेदः—

४०. धिगस्तु हतजीवितं निरवधिश्रियोऽप्यद्य मे
यया[२४] न हि हरेः शिरः स्नुतकुचाग्रमाघ्रायते।
सदा नवसुधादुहामपि गवां परार्धञ्च धिक्
स लुञ्चति न चञ्चलः सुरभिगन्धि यासां दधि॥ (६७)

[अद्य निरवधिश्रियः अपि मे हतजीवितं धिक् अस्तु, यया स्नुतकुचाग्रं हरेः शिरः न आघ्रायते, सदा नवसुधादुहां गवां परार्धम् अपि धिक्, यासां सुरभिगन्धि दधि सः चपलः न लुञ्चति॥]

जाड्यम्—

४१. यः पुण्डरीकेक्षण! तिष्ठतस्ते
गोष्ठे कराम्भोरुहमण्डनोऽभूत्।
तं प्रेक्ष्य दण्डस्तिमितेन्द्रियाद्य
दण्डाकृतिस्ते जननी बभूव॥ (६८)

[पुण्डरीकेक्षण! गोष्ठे ते तिष्ठतः यः दण्डः कराम्भोरुहमण्डनः अभूत्, तं प्रेक्ष्य अद्य ते जननी स्तिमितेन्द्रिया दण्डाकृतिः बभूव॥]

दैन्यम्—

४२. याचते बत विधातरुदस्रा
त्वां रदैस्तृणमुदस्य यशोदा।
गोचरे सकृदपि क्षणमद्य
मत्सरं त्यज ममानय वत्सम्॥ (६९)

[विधातः! रदैः तृणम् उदस्य यशोदा बत उदस्रं त्वां याचते-''मत्सरं त्यज! मम वत्सं सकृत् अपि क्षणम् अद्य गोचरे आनय॥'']

विषाद—

३९. *बाल्यावस्था बीत जाने पर नवयौवन के आरम्भ से निखरा हुआ अपने बेटे का सुन्दर मुखकमल मैंने नहीं देखा, नई दुल्हन के साथ उसका कोहबर या अन्तःपुर में प्रवेश भी नहीं करा पाई, हाय श्वफल्क के पुत्र इस अक्रूर ने मेरे मस्तक पर वज्र ही गिरा दिया। ।६६।*

निर्वेद—

४०. *अपार श्री-वैभव से सम्पन्न भी मेरे इस निगोड़े जीवन को आज धिक्कार है, जोकि मैं स्नेह से झरते दूध सहित मेरे बालक हरि का मस्तक नहीं सूँघ पा रही हूँ। सदा नवीन अमृत दुहाने वाली इन कोटि-कोटि गायों के परार्ध-समूह को भी धिक्कार है जिनका सुगन्धित दही अब वह चञ्चल छीन-झपट कर खाता नहीं। ।६७।*

जड़ता—

४१. *हे कमलनयन! व्रज में तुम्हारे रहते जो डण्डा या लकुटी हाथों को सुशोभित करता था, उसे देखकर आज तुम्हारी माँ स्तब्ध इन्द्रियों वाली पथराई देहवाली स्वयं डण्डे के आकार वाली हो गयी। ।६८।*

दैन्य—

४२. *हे विधाता! दाँतों में तिनका लेकर यशोदा आँसुओं से डबडबाई आँखों से तुम से याचना कर रही है-"मत्सर छोड़ो! आज तो मेरे बेटे को, क्षण भर के लिये ही सही, दिखा दो!" ।६९।*

चापलम्—

४३. किमिव कुरुते हर्म्ये तिष्ठन्नयं निरपत्रपो
व्रजपतिरिति ब्रूते मुग्धोऽयमत्र मुदा जनः।
अहह तनयं प्राणेभ्योऽपि प्रियं परिहृत्य तं
कठिनहृदयो[25] गोष्ठे स्वैरी प्रविश्य सुखीयति॥ (७०)

["अयं निरपत्रपः व्रजपतिः हर्म्ये तिष्ठन् किम् इव कुरुते!"–इति अयं मुग्धः जनः अत्र मुदा ब्रूते। अहह! प्राणेभ्यः अपि प्रियं तनयं परिहृत्य कठिनहृदयः स्वैरी गोष्ठे प्रविश्य सुखीयति॥]

उन्मादः—

४४. क्व मे पुत्रो नीपाः! कथयत कुरङ्गाः! किमिह वः
स बभ्रामाभ्यर्णे भणत तदुदन्तं मधुकराः!
इति भ्रामं भ्रामं भ्रमभरविदूना यदुपते!
भवन्तं पृच्छन्ती दिशि दिशि यशोदा विचरति॥ (७१)

[हे नीपाः! कथयत क्व मे पुत्रः? कुरङ्गाः! किं सः इह वः (भवताम्) अभ्यर्णे बभ्राम? मधुकराः! तद्-(तस्य) उदन्तं भणत। यदुपते! भ्रमभरविदूना यशोदा इति भ्रामं भ्रामं भवन्तं पृच्छन्ती दिशि-दिशि विचरति॥

मोहः—

४५. कुटुम्बिनि! मनस्तटे विधुरतां विधत्से कथं
प्रसारय दृशं मनाक् तव सुतः पुरो वर्तते।
इदं गृहिणि! मे गृहं न कुरु शून्यमित्याकुलः
स शोचति तव प्रसूं यदुकुलेन्द्र! नन्दः पिता॥ (७२)

[कुटुम्बिनि! मनस्तटे विधुरतां कथं विधत्से? दृशं मनाक् प्रसारय, तव सुतः पुरः वर्तते। गृहिणि! इदं मे गृहं शून्यं न कुरु, यदुकुलेन्द्र! इति सः तव पिता नन्दः आकुलं शोचति॥]

अथ योगे सिद्धिः—

४६. विलोक्य रङ्गस्थललब्धसङ्गमं
विलोचनाभीष्टविलोकनं हरिम्।
स्तन्यैरसिञ्चन्नवकञ्चुकाञ्चलं[26]
देव्यः क्षणादानकदुन्दुभिप्रियाः॥ (७३)

[रङ्गस्थललब्धसङ्गमं विलोचनाभीष्टविलोकनं हरिं विलोक्य आनकदुन्दुभिप्रियाः देव्यः नवकञ्चुकाञ्चलं क्षणात् स्तन्यैः असिञ्चन्॥]

चपलता—

४३. *''अरे! यह निर्लज्ज व्रजपति (नन्द) घर के भीतर ही बैठा हुआ कर क्या रहा है?''-ऐसे यहाँ यह मूढ़ व्यक्ति चाहे जैसा बोलता है। हाय! प्राणों से भी प्यारे बेटे को (मथुरा) छोड़ आकर यह कठोर हृदयवाला स्वैरी (स्वच्छन्द आचरण करने वाला) घर में घुसा हुआ सुख मना रहा है। ।७०।*

उन्माद—

४४. *''हे कदम्बतरुओ! बताओ तो मेरा पुत्र कहाँ है? अरे हरिणो! क्या वह यहाँ (वन-प्राङ्गण में) तुम्हारे साथ घूम रहा था? मधुकरो! उसका वृत्तान्त कहो न!'' इस तरह श्रम की बाढ़ से दुःखित, क्षीण हुई यशोदा हे यदुपति! दिशा-दिशा में घूमकर आपको पूछती डोल रही है। ।७१।*

मोह—

४५. *''अयि कुटुम्बिनि! मन में अकेलापन या विरह क्यों लिये हुए हो? जरा आँख तो खोलो! दृष्टि पसारो! देखो तुम्हारा बेटा सामने ही तो है? गृहस्वामिनि! मेरे इस घर को खाली न करो (घर छोड़कर इधर-उधर भटको नहीं!)''-हे यदुकुलेन्द्र! इस प्रकार तुम्हारे पिता नन्द आकुल होकर सोचते-कहते रहते हैं। ।७२।*

अब योग में सिद्धि—

४६. *रङ्गस्थल में पहुँचे हुए, नयनों को अभीष्ट अभिराम दर्शन वाले हरि को देखकर वसुदेव की प्रियायें (देवकी आदि) तत्क्षण उमड़ आये दूध से अपने नये कञ्चुक एवं आँचल को भिगोने लगीं। ।७३।*

तुष्टिर्यथा प्रथमे (भा०१/११/३०)—

४७. ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः॥ (७४)

[स्नेहस्नुतपयोधराः हर्षविह्वलितात्मानः ताः पुत्रम् अङ्कम् आरोप्य नेत्रजैः जलैः सिषिचुः॥]

यथा वा ललितमाधवे—

४८. नयनयोः स्तनयोरपि युग्मतः
परिपतद्भिरसौ पयसाञ्झरैः।
अहह बल्लवराजगृहेश्वरी[२७]
स्वतनयं प्रणयादभिषिञ्चति॥ (७५)

[अहह! नयनयोः स्तनयोः अपि युग्मतः परिपतद्भिः पयसां झरैः असौ बल्लवराजगृहेश्वरी स्वतनयं प्रणयात् अभिषिञ्चति॥]

स्थितिर्यथा विदग्धमाधवे—

४९. अहह कमलगन्धेरत्र सौन्दर्यवृन्दे
विनिहितनयनेयं त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द!
कुचकलसमुखाभ्यामम्बरक्नोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम्॥ (७६)

[अहह! मुकुन्द! कमलगन्धेः त्वन्मुखेन्दोः सौन्दर्यवृन्दे विनिहितनयना इयं तव अम्बा कुचकलशमुखाभ्याम् अति हर्षात् अम्बरक्नोपम् मुहुः क्षीरधारां वर्षति॥]

२८. स्वीकुर्वते रसमिमं नाट्यज्ञा अपि केचन। (७७)

[केचन नाट्यज्ञाः अपि इमं रसं स्वीकुर्वते॥]

तथाहुः—

५०. "स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्"॥ (७८)

[स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। इह अस्य स्थायी वत्सलता, पुत्रादि आलम्बनं मतम्॥]

तुष्टि, यथा प्रथम में (भा. १/११/३०)—

४७. *स्नेह से जिनके स्तनों से दूध झरने लगा था, और जो हर्ष से विह्वल हो रही थीं ऐसी वे (वासुदेव-पत्नियाँ होने से मातायें) पुत्र (श्रीकृष्ण) को गोद में लेकर नयनों के जलों (आँसुओं) से सींचने लगीं।* ।७४।

यथा वा ललितमाधव में—

४८. *हाय! यह गोपराज नन्द की गृहिणी (यशोदा) आँखों से आँसू और स्तनों से दूध एक साथ बहाती हुई अपने बेटे को (प्रगाढ़) स्नेह से मानो नहला रही है—अभिषेक कर रही है।* ।७५।

स्थिति यथा विदग्धमाधव में—

४९. *अहह! (हाय) हे मुकुन्द! कमल जैसी सुगन्ध वाले तुम्हारे मुखचन्द्र के सौन्दर्य-समूह पर टिके हुए नयनों वाली यह तुम्हारी माँ (यशोदा) अत्यन्त हर्ष (के वेग) से अपने वक्षःस्थल से मानो आकाश को ढकते हुए कुच-कलशों के मुखों से बारम्बार दूध की धारा बरसा रही है।* ।७६।

२८. कुछ नाट्य के विशेषज्ञ भी इस रस को स्वीकार करते हैं। ।७७।

ऐसा कहा भी है—

५०. *प्रकट रूप से चमत्कारी होने के कारण वत्सल को भी रस-रूप जाना गया है। यहाँ इसका स्थायीभाव है वत्सलता, और आलम्बन हैं पुत्र आदि।* ।७८।

किञ्च—

२९. अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥ (७९)

[हरिरतेः अप्रतीतौ प्रीतस्य अपुष्टता स्यात्, प्रेयसः तु तिरोभावः, अस्य वत्सलस्य न क्षतिः॥]

३०. एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता।
तत्र केषुचिदप्यस्याः सङ्कुलत्वमुदीर्यते[२८]॥ (८०)

[एषा प्रीतादिः रसत्रयी परमाद्भुताः तत्र केषुचित् अस्याः सङ्कुलत्वम् अपि उदीर्यते॥]

३१. सङ्कर्षणस्य सख्यन्तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम्[२९]।
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम्॥ (८१)

[सङ्कर्षणस्य सख्यं तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम्। युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं सख्येन प्रीत्या च अन्वितम्॥]

३२. आहुकप्रभृतीनान्तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता।
जरदाभीरिकादीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम्॥ (८२)

[आहुकप्रभृतीनां प्रीतिः तु वात्सल्यमिश्रिता। जरदाभीरिकादीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम्॥]

३३. माद्रेय[३०]-नारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम्।
रुद्रताक्ष्योद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता॥ (८३)

[माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम्। रुद्रताक्ष्य-उद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता॥]

३४. अनिरुद्धादि-नप्तृणामेवं केचिद् बभाषिरे।
एवं केषुचिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम्॥ (८४)

[केचित् अनिरुद्धादि-नप्तृणां (प्रीतिः) एवं बभाषिरे। केषुचित् अन्येषु (अपि) एवं भावमिश्रणं विज्ञेयम्॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे
मुख्य-भक्तिरसपञ्चक-निरूपणे वत्सलभक्तिरस-लहरी चतुर्थी॥

और भी—

२९. हरि-रति की प्रतीति न हो तो प्रीति की पुष्टता नहीं होगी, प्रेयस् तो तिरोहित ही हो जायेगा, (किन्तु) इस वत्सल की क्षति नहीं होगी। ।७९।

३०. ये प्रीत आदि तीनों रस परम अद्भुत हैं; उनमें कहीं-कहीं इस रसत्रयी की सङ्कुलता (एकसाथ मिले-जुले की स्थिति) भी कही गयी है। ।८०।

३१. सङ्कर्षण (बलराम) का सख्य प्रीति तथा वात्सल्य से सङ्गत (मिला हुआ) है, और युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति एवं सख्य से युक्त है। ।८१।

३२. आहुक (उग्रसेन) आदि की प्रीति वात्सल्य से मिश्रित है और वृद्धा गोपियों (मुखरा) आदि का वात्सल्य सख्य से मिश्रित है। ।८२।

३३. माद्री के पुत्रों (नकुल-सहदेव) तथा नारद आदि का सख्य प्रीति (दास्य) से मिला-जुला है। रुद्र, गरुड, उद्धव आदि की प्रीति सख्य से मिश्रित है। ।८३।

३४. अनिरुद्ध आदि पौत्रों का भाव भी कुछ लोगों ने ऐसा ही कहा है। इसी प्रकार कुछ अन्यों में भी भावमिश्रण जानना चाहिये। ।८४।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिमविभाग में मुख्य पाँच भक्तिरसों के निरूपण में चौथी वत्सलभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

मधुरभक्तिरसाख्या पञ्चमलहरी

१. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥ (१)

[आत्मोचितैः विभावाद्यैः सतां हृदि पुष्टिं नीता असौ मधुरा रतिः मधुराख्यः भक्तिरसः भवेत्॥]

२. निवृत्तानुपयोगित्वाद्दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततात्गोऽपि लिख्यते॥ (२)

[निवृत्तानुपयोगित्वात्, दुरूहत्वात् रहस्यत्वात् च अयं रसः विततात्गः अपि संक्षिप्य लिख्यते॥]

तत्र आलम्बनाः—

३. अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः। (३)

[अस्मिन् कृष्णः आलम्बनः। तस्य सुभ्रुवः प्रियाः च॥]

तत्र कृष्णः—

४. असमानोर्ध्व-सौन्दर्य-लीला-वैदग्ध्यसम्पदाम्।
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः॥ (४)

[असमानोर्ध्व-सौन्दर्य-लीला-वैदग्ध्यसम्पदाम् आश्रयत्वेन हरिः मधुरे आलम्बनः मतः॥]

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

१. विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणी-श्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि! मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥(५)

[सखि! विश्वेषाम् अनुरञ्जनेन आनन्दं जनयन्, इन्दीवरश्रेणीश्यामलकोमलैः अङ्गैः अनङ्गोत्सवम् उपनयन्, व्रजसुन्दरीभिः अभितः स्वच्छन्दं प्रत्यङ्गम् आलिङ्गितः, मूर्त्तिमान् शृङ्गारः इव मुग्धो हरिः मधौ क्रीडति॥]

पञ्चमलहरी-मधुरभक्तिरस

१. अपने अनुरूप विभाव आदि के द्वारा सज्जनों के हृदय में पुष्ट करायी गयी यह मधुरा रति ही मधुर-नामक भक्तिरस कहलाती है। ।१।

२. निवृत्त के लिये अनुपयोगी होने के कारण, दुरूह होने के कारण और रहस्यमय होने के कारण यह रस विस्तीर्ण अङ्गों वाला होने पर भी संक्षेप से लिखा (कहा) ज़ा रहा है। ।२।

इसमें आलम्बन हैं—

३. इस मधुरभक्तिरस के आलम्बन श्रीकृष्ण एवं उनकी सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरी प्रियायें हैं। ।३।

उसमें श्रीकृष्ण—

४. असमान एवं अनूर्ध्व (जिसके कोई समान 'नहीं न कोई जिससे बढ़कर है ऐसे—) सौन्दर्य, लीला, विदग्धता आदि सम्पदाओं का आश्रय होने के नाते श्रीहरि स्वयं मधुर रस के आलम्बन हैं। ।४।

यथा श्रीगीतगोविन्द में—

१. *सम्पूर्ण विश्वों का, अथवा सभी का अनुरञ्जन करने से सभी में आनन्द का उद्भव कराते हुए, नीलकमलों की पंक्तियों के सदृश श्यामल एवं सुकोमल अङ्गों द्वारा (दर्शकों में) अनङ्ग (कामदेव) का उत्सव उपजाते हुए, व्रज की सुन्दरियों (गोपाङ्गनाओं) द्वारा चारों ओर से प्रत्येक अङ्ग में स्वच्छन्द (किसी भी अवरोधक के बिना) आलिङ्गित हरि (श्रीकृष्ण) मधुवन में, मधुमास (वसन्त) में मुग्ध हुए मूर्तिमान् शृङ्गार की भाँति क्रीडा कर रहे हैं! अर्थात् मानो वसन्त ऋतु में मुग्ध हुआ स्वयं शृङ्गार खेल रहा हो ऐसे ये श्री श्यामसुन्दर व्रजसुन्दरियों के मध्य आनन्द-क्रीड़ा कर रहे हैं। ।५।*

अथ तस्य प्रेयस्यः—

२. नव-नव-वरमाधुरीधुरीणाः
प्रणय-तरङ्गकरम्बितान्तरङ्गाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः
प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥ (६)

[ताः नव-नव-वरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरङ्गकरम्बितान्तरङ्गाः हरिं निजरमणतया भजन्तीः परमाद्‌भुताः किशोरीः प्रणमत॥]

५. प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी॥ (७)

[आसु हरेः प्रेयसीषु वार्षभानवी प्रवरा॥]

अस्या रूपम्—

३. मदचकितचकोरी[1]-चारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः।
अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा॥ (८)

[पश्य! मदचकितचकोरी-चारुताचोरदृष्टिः वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः, अविकलकलधौतोद्‌धूतिधौरेयकश्रीः मधुरिममधुपात्री राधा राजते॥]

अस्या रतिः—

४. नर्मोक्तौ मम निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि
श्रोत्रस्यान्तततटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी।
राधा लाघवमप्यनादरगिरां भङ्गीभिरातन्वती
मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणां मत्प्रीतिमेवादधे॥ (९)

[मम नर्मोक्तौ निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायाम् अपि, श्रोत्रस्य अन्तरतटीम् अनाधाय स्फुटम् उद्यन्मुखी, स्थिता अपि अनादरगिरां लाघवं भङ्गीभिः आतन्वती अपि असौ राधा मैत्रीगौरवतः शतगुणां मत्प्रीतिम् एव आदधे॥]

उनकी प्रेयसियाँ—

२. *नवीन-नवीन श्रेष्ठ माधुरी में धुरीण (प्रवीण), प्रणयतरङ्गों से मिश्रित अन्तरङ्गवाली, अपने रमण-भाव से श्रीहरि को भजती (सेवा करती) हुई इन परम अद्भुत/अद्‌भुत/किशोरियों को प्रणाम करो। ।६।*

५. श्रीहरि की प्रेयसियों में वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा प्रमुख हैं। ।७।

उनका रूप—

३. *मद से चकित चञ्चल चकोरी की चारुता को चुराने वाली दृष्टि है, पूर्णिमा के चन्द्र की कीर्त्ति को भी दमित करने वाला मुख है, शुद्ध खरे सुवर्ण की उत्तम ख्याति से भी उत्तम तनुकान्ति की शोभा है—ऐसी मधुरिमा रूपी मधु से भरे पात्र जैसी श्रीराधा विराजमान हैं—देखो!! ।८।*

श्रीराधा की रति—

४. *मेरे द्वारा नर्म (शृङ्गारगर्भित)-वचन कहे जाने पर हृदय में महान् परमानन्द का उत्सव निर्मित होने पर कानों तक फैलती हुई मुस्कानवाली होकर भी उसे प्रकट न करके (प्रणयभरे गर्व से) मुख ऊँचा उठाये भङ्गिमाओं से अनादरवृत्ति का लाघव व्यक्त करती हुई भी यह राधा मैत्री के गौरव से भी सौ गुनी मेरी प्रीति का ही आधान कर रही है। ।९।*

तत्र[2] कृष्णरतिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे—

५. कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः॥ (१०)

[कंसारिः अपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलां राधां हृदये निधाय व्रजसुन्दरीः तत्याज॥]

अथ उद्दीपनाः—

६. उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः। (११)

[मुरलीनिस्वनादयः इह उद्दीपनाः प्रोक्ताः॥]

यथा पद्यावल्याम्—

६. गुरुजनगञ्जनमयशो
गृहपतिचरितञ्च[3] दारुणं किमपि।
विस्मारयति समस्तं
शिव शिव मुरली मुराराते:॥ (१२)

[शिव-शिव! मुराराते: मुरली गुरुजनगञ्जनम्, अयशः, किम् अपि दारुणं गृहपतिचरितं च समस्तं विस्मारयति॥]

अथ अनुभावाः—

७. अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षा-स्मितादयः। (१३)

[दृगन्तेक्षा-स्मितादयः तु अनुभावाः प्रोक्ताः॥]

यथा ललितमाधवे—

७. कृष्णापाङ्गतरङ्गितद्युमणिज़ासम्भेदवेणी[4]-कृते
राधायाः स्मितचन्द्रिकासुरधुनीपूरे निपीयामृतम्।
अन्तस्तोषतुषारसंप्लवलवव्यालीढतापोद्गमाः[5]
क्रान्त्वा सप्त जगन्ति सम्प्रति वयं सर्वोर्ध्वमध्यास्महे॥
(१४)

[कृष्णापाङ्गतरङ्गित-द्युमणिजा-सम्भेदवेणीकृते राधायाः स्मितचन्द्रिकासुरधुनीपूरे अमृतं निपीय अंम्भस्तोय-तुषारसंप्लव-व्यालीढतापोद्गमाः वयं सप्त जगन्ति क्रान्त्वा सर्वोर्ध्वम् अध्यास्महे॥]

श्रीकृष्ण की रति-यथा श्रीगीतगोविन्द में—

५. *कंसरिपु (श्रीकृष्ण) ने भी संसारवासना से बाँधने वाली शृङ्खला-रूपिणी राधा को हृदय में धारण करके (अन्य) व्रजसुन्दरियों (गोपियों) को छोड़ दिया।* *।१०।*

उद्दीपन—

६. यहाँ मुरलीध्वनि आदि उद्दीपन कहे गये हैं। ।११।

यथा पद्यावली में—

६. *शिव! शिव! (अरे रे!) गुरुजनों की फटकार या अवहेलना, अयश, गृहस्वामी का किसी भी प्रकार का दारुण चरित (कठोर व्यवहार या ताड़न)-सभी कुछ भुला डालती है यह मुरारि की मुरली!* *।१२।*

अनुभाव—

७. नयनों की कोर (कटाक्ष) से देखना और मुस्कुराना आदि अनुभाव कहे गये हैं। ।१३।

यथा ललितमाधव में—

७. *श्रीकृष्ण के कटाक्ष (नयनकोर से देखना) चितवन रूपी तरङ्गों से चञ्चल सूर्यपुत्री (यमुना) के मिश्रण से त्रिवेणी बनी हुई, श्रीराधा की स्मित की चन्द्रिका रूपी गङ्गा, की बाढ़ में जी-भर अमृतपान करके अन्तस् की तुष्टि रूपी तुषार के संप्लव से जिनके तापों का स्रोत ही मिटा दिया गया या निगला गया है ऐसे हम सातों लोक लाँघ कर सबके ऊपर चढ़े बैठे हैं।* *।१४।*

अथ सात्त्विकाः, यथा पद्यावल्याम्—

८. कामं वपुः पुलकितं नयने धृतास्रे
वाचः सगद्गदपदाः सखि! कम्पि वक्षः।
ज्ञातं मुकुन्दमुरलीरवमाधुरी ते
चेतः सुधांशुवदने! तरलीकरोति॥ (१५)

[हे सुधांशुवदने सखि! (ते) वपुः कामं पुलकितम्, नयने धृतास्रे, वाचः सगद्गदपदाः, कम्पि वक्षः, ज्ञातम्, मुकुन्दमुरलीरवः ते चेतः तरलीकरोति॥]

अथ व्यभिचारिणः—

८. आलस्यौग्र्ये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः। (१६)

[आलस्य-औग्र्ये विना सर्वे व्यभिचारिणः विज्ञेयाः॥]

तत्र निर्वेदो, यथा पद्यावल्याम्—

९. मा मुञ्च पञ्चशर! पञ्चशरीं शरीरे
मा सिञ्च सान्द्र-मकरन्दरसेन वायो!
अङ्गानि तत्प्रणयभङ्गविगर्हितानि
नालम्बितुं कथमपि क्षमतेऽद्य[६] जीवः॥ (१७)

[पञ्चशर! शरीरे पञ्चशरीं मा मुञ्च! वायो! सान्द्रमकरन्दरसेन मा सिञ्च! अङ्गानि तत्प्रणयभङ्गविगर्हितानि, अद्य जीवः कथम् अपि आलम्बितुं न क्षमते॥]

हर्षो, यथा दानकेलिकौमुद्याम्—

१०. कुवलययुवतीनां लेहयन्नक्षिभृङ्गान्
-कुवलयदललक्ष्मी-लङ्घिमाः स्वाङ्गभासः।
मदकल-कलभेन्द्रोल्लङ्घि-लीला-तरङ्गः
कवलयति धृतिं मे क्ष्माधरारण्यधूर्तः॥ (१८)

[कुवलययुवतीनाम् अक्षिभृङ्गम् लेहयन्, कुवलयदललक्ष्मीलङ्घिमाः स्वाङ्गभासः, मदकलकलभेन्द्रोल्लङ्घिलीला-तरङ्गः क्ष्माधरारण्यधूर्तः मे धृतिं कवलयति॥]

सात्त्विकभाव-यथा पद्यावली में—

८. *हे चन्द्रवदनी सखी! (तुम्हारा) शरीर भली-भाँति पुलकित है, नयनों में आँसू भरे हैं, वचन गद्गद-शब्दों-वाले बोल रही हो, वक्षःस्थल में कम्प है-इससे प्रतीत होता है कि मुकुन्द की मुरलीध्वनि की माधुरी तुम्हारे चेतस् (चित्त) को तरल बना (पिघला) रही है।* ।१५।

व्यभिचारी भाव—

८. आलस्य और उग्रता को छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी भाव यहाँ समझे जायें। ।१६।

निर्वेद यथा पद्यावली में—

९. *हे कामदेव! इस शरीर पर अपने पाँच बाण न फेंको! हे वायुदेव! घने मकरन्द-रस से मुझे न सींचो! ये अङ्ग तो उन (श्रीकृष्ण) के प्रणय-भङ्ग से निन्दनीय हो चुके हैं। आज यह जीव किसी भी प्रकार ठहर नहीं पा रहा है; प्राण-धारण दुष्कर है।* ।१७।

हर्ष यथा दानकेलिकौमुदी में—

१०. *समस्त भूमण्डल की युवतियों के नयन रूपी भौरों को कमलदलों की शोभा को लाँघने वाली अपनी अङ्ग-ज्योति चटाये हुए, मदमत्त कलभ-राज से बढ़कर लीला-तरङ्गों वाला, गोवर्धन के अरण्य में गोचारण के लिये घूमता हुआ यह धूर्त मेरे धैर्य को निगल रहा है।* ।१८।

अथ स्थायी—

९. स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः। (१९)

[पूर्वोक्ता मधुरा रतिः अत्र स्थायी भावः भवति॥]

यथा पद्यावल्याम्—

११. भ्रूवल्लि-ताण्डवकला-मधुराननश्रीः
कङ्केल्लिकोरक-करम्बित-कर्णपूरः।
कोऽयं नवीन-निकषोपलतुल्यवेषो
वंशीरवेण सखि! मामवशीकरोति? (२०)

[सखि! भ्रूवल्लि-ताण्डवकला-मधुराननश्रीः, कङ्केलिकोरक-करम्बित-कर्णपूरः कः अयं नवीननिकषोपल-तुल्यवेषः, वंशीरवेण मां विवशीकरोति?॥]

१०. राधामाधवयोरेव क्वापि भावैः कदाप्यसौ।
सजातीय-विजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रतिः॥ (२१)

[असौ रतिः राधामाधवयोः एव सजातीयविजातीयैः भावैः क्व (चित्) अपि कदा अपि न एव विच्छिद्यते।।]

यथा—

१२. इतोऽदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः।
असव्ये राधायां कुसुमितलता-संवृततनौ
दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य वलते॥ (२२)

[इतः अदूरे राज्ञी, परितः मित्रपटली, दृशोः अग्रे चन्द्रावलिः, शैलस्य उपरि दनुजः स्फुरति, असव्ये कुसुमितलतासंवृततनौ राधायां मुकुन्दस्य लोला दृगन्तश्रीः तडित् इव वलते॥]

१३. घोरा खण्डितशङ्खचूडमजिरं रुन्धे शिवा तामसी
ब्रह्मिष्ठश्वसनः शमस्तुति-कथा-प्रालेयमासिञ्चति।
अग्रे रामसुधारुचिर्विजयते कृष्णप्रमोदोचितं
राधायास्तदपि प्रफुल्लमभजन् ग्लानिं न भावाम्बुजम्॥
(२३)

[खण्डितशङ्खचूडम् अजिरं घोरा तामसी शिवा रुन्धे, ब्रह्मिष्ठश्वसनः शमस्तुतिकथा प्रालेयम् आसिञ्चति, अग्रे सुधारुचिः रामः विजयते, तद् अपि राधायाः कृष्णप्रमोदोचितं प्रफुल्लं भावाम्बुजं ग्लानिं न अभजत्॥]

स्थायी भाव—

९. पहले कही गयी मधुरा रति ही यहाँ स्थायिभाव है.। ।१९।

यथा पद्यावली में—

११. हे सखि! भ्रूलताओं की ताण्डवकला (नचाना) से मधुर मुखशोभा वाला, अशोक-पुष्प की कली कान में खोंसे हुए, नये कसौटी के पत्थर जैसे उज्ज्वल नील वर्ण पर सुवर्णकान्ति वाला पीताम्बर पहने हुए यह कौन वंशीध्वनि द्वारा मुझे विवश बना रहा है? ।२०।

१०. यह रति श्रीराधा-माधव के ही सजातीय-विजातीय भावों से कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। ।२१।

यथा—

१२. यहाँ से समीप ही नन्दरानी स्थित हैं, चारों ओर मित्रमण्डली घेरे हुए है, आँखों के सामने ही चन्द्रावली है, पर्वत (गोवर्धन) पर अरिष्ट दानव है, बाँयी ओर फूली हुई लता के सदृश तनु वाली राधा की ओर मुकुन्द की बिजली जैसी चञ्चल-उज्ज्वल कटाक्ष-दृष्टि घूमी हुई है। ।२२।

१३. क्रीड़ा के आँगन में मारा हुआ शङ्खचूड़ पड़ा है, उस आँगन को डरावनी तामसी शृगाल जाति या रात्रि घेरे खड़ी है। अत्यधिक बढ़ा हुआ श्वसन या पवन है अथवा ब्रह्मनिष्ठ जनों की शमकारक स्तुतिकथा रूपी हिमसमूह है; सामने बलराम ही मानो अमृतमय छबि वाला चन्द्र है, फिर भी श्रीकृष्ण का प्रमोदास्पद श्रीराधा का प्रफुल्ल भावकमल नहीं मुरझाया या मुकुलित नहीं हुआ। ।२३।

११. स विप्रलम्भ-सम्भोगभेदेन द्विविधो मतः। (२४)

[सः विप्रलम्भ-सम्भोग-भेदेन द्विविधः मतः॥]

तत्र विप्रलम्भः—

१२. स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा।
विप्रलम्भो बहुविधो विद्वद्भिरिह कथ्यते॥ (२५)

[सः विप्रलम्भः इह पूर्वरागः, मानः तथा प्रवासादिमयः च विद्वद्भिः बहुविधः कथ्यते॥]

तत्र पूर्वरागः—

१३. प्रागसङ्गतयोर्भावः पूर्वरागो भवेद्द्वयोः। (२६)

[प्राक् असङ्गतयोः द्वयोः भावः पूर्वरागः भवेत्॥]

यथा पद्यावल्याम्—

१४. अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि! मया यामुनतटं
व्रजन्त्या दृष्टो यो॰ नवजलधर-श्यामलतनुः।
स दृग्भङ्ग्या किंवाऽकुरुत न हि जाने तत इदं
मनो मे व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न लगते॰॥ (२७)

[सखि! यमुनापथं व्रजन्त्या मया एकस्मिन् पथि अकस्मात् यः नवजलधरश्यामलतनुः दृष्टः, न हि जाने सः दृग्भङ्ग्या किं वा अकुरुत, ततः इदं मे व्यालोलं मनः क्वचन गृहकृत्ये न लगते॥]

यथा वा श्रीदशमे (भा०१०/५३/२)—

१५. यथा विनिद्रा मच्चित्ता रुक्मिणी कमलेक्षणा।
तथाहमपि तच्चित्तो निद्राञ्च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥ (२८)

[यथा मच्चित्ता कमलेक्षणा रुक्मिणी विनिद्रा तथा अहम् अपि तच्चित्तः निशि निद्रां च न लभे। रुक्मिणा द्वेषात् मम उद्वाहः निवारितः (इति) अहं वेद॥]

११. वह (मधुर भक्तिरस) विप्रलम्भ एवं संयोग ऐसे दो प्रकार का है। ।२४।

विप्रलम्भ—

१२. वह विप्रलम्भ भी विद्वज्जनों द्वारा अनेक प्रकार का कहा गया है— पूर्वराग, मान, प्रवासादिमय। ।२५।

पूर्वराग—

१३. पहले न मिले हुए उन (प्रेम के आश्रय-विषय) दोनों का परस्पर भाव ही पूर्वराग होता है। ।२६।

यथा पद्यावली में—

१४. *हे सखि! यमुनातट को जाती हुई मैंने अकस्मात् एक दिन एक ही पथ पर जो नवीन जलधर के समान श्यामल तनु वाला देखा, तब उसने अपनी दृष्टिभङ्गिमा या कटाक्ष से देखते हुए न जाने क्या किया कि (तब से) मेरा यह अधिक चञ्चल मन किसी भी गृहकार्य में लगता नहीं। ।२७।*

अथवा यथा श्रीदशम में (भा. १०/५३/२)—

१५. *जैसे मुझ में ही चित्त लगाये हुए कमलनयनी रुक्मिणी निद्रा से रहित है, वैसे ही उसी में लगे हुए चित्त वाला मैं भी रात्रि में निद्रा नहीं पाता। मैं जानता हूँ कि रुक्मी ने द्वेष के कारण मेरा (रुक्मिणी से) विवाह रोक दिया है। ।२८।*

अथ मानः—

१४. मानः प्रसिद्ध एवात्र। (२९)

[अत्र मानः प्रसिद्धः एव॥]

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

१६. विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गतान्युत[९]।
क्वचिदपि लताकुञ्जे गुञ्जन्मधुव्रतमण्डली-
मुखर-शिखरे लीना [१०]दीनान्युवाच रहः सखीम्॥ (३०)

[साधारणप्रणये हरौ वने विहरति, राधा क्वचित् अपि गुञ्जन्मधुव्रतमण्डली-मुखरशिखरे लताकुञ्जे लीना विगलित-निजोत्कर्षात् ईर्ष्यावशेन गतानि दीनानि सखीम् उवाच॥]

अथ प्रवासः—

१५. प्रवासः सङ्गविच्युतिः। (३१)

[सङ्गविच्युतिः प्रवासः॥]

यथा पद्यावल्याम्—

१७. हस्तोदरे विनिहितैक-कपोलपाले-
रश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः[११]।
प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य
निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः? (३२)

[हन्त! उदरे विनिहतैककपोलपालेः अश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः सरोरुहाक्ष्याः माधवस्य प्रस्थानमङ्गलदिनावधि निद्रालवः अपि कुतः एव?।]

यथा प्रह्लादसंहितायामुद्धववाक्यम्—

१८. भगवानपि गोविन्दः कन्दर्पशरपीडितः।
न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम्॥ (३३)

[गोविन्दः भगवान् अपि कन्दर्पशरपीडितः अहर्निशं हि वः चिन्तयन् न भुङ्क्ते, न स्वपिति च॥]

मान—

१४. मान तो यहाँ प्रसिद्ध ही है। ।२९।

यथा श्रीगीतगोविन्द में—

१६. *वृन्दावन में श्रीकृष्ण को अन्य गोपीसमूह के साथ प्रणय-विहार करते देखकर (राधा) इसके द्वारा अपना प्रणयोत्कर्ष विगलित होने से ईर्ष्या के वशीभूत हुए दीन वचन—कहीं एकान्त में गूँजते हुए भौंरों से मुखर शिखर वाले लताकुञ्ज में बैठी हुई राधा—अपनी सखी से कहने लगी। ।३०।*

प्रवास—

१५. सङ्ग छूट जाना ही प्रवास है। ।३१।

यथा पद्यावली में—

१७. *हाय ! माधव के प्रस्थानमङ्गल के दिन से आज तक, आँसुओं के जल से धुलते-कुम्हलाते मुखवाली, एक हाथ पर कपोल टिकाये, गोद में झुके मुखवाली कमलनयनी राधा को निद्रा का लेश भी कहाँ है? ।३२।*

और यथा प्रह्लादसंहिता में उद्धव का वचन—

१८. *वे भगवान् गोविन्द भी दिन-रात आप सबका ही चिन्तन करते हुए, कन्दर्प के बाणों से पीड़ित होकर न कुछ भोजन करते हैं, न ही सो पाते हैं। ।३३।*

अथ सम्भोगः—

१६. द्वयोर्मिलितयोर्भोगः सम्भोग इति कीर्त्यते। (३४)

[द्वयोः मिलितयोः भोगः सम्भोगः इति कीर्त्यते॥]

यथा पद्यावल्याम्—

१९. परमानुरागपरयाथ राधया
परिरम्भ-कौशल-विकाशिभावया।
स तया सह स्मरसभाजनोत्सवं
निरवाहयच्छिखिशिखण्डशेखरः॥ (३५)

[परमानुरागपरया परिरम्भ-कौशल-विकाशिभावया तया राधया सह सः शिखिशिखण्डशेखरः स्मरसभाजनोत्सवं निरवाहयत्॥]

१७. श्रीमद्भागवताद्यर्हशास्त्रदर्शितया दृशा।
इयमाविष्कृता मुख्यपञ्चभक्तिरसौ मया॥ (३६)

[श्रीमद्भागवतादि-अर्हशास्त्रदर्शितया दृशा इयम् असौ पञ्चभक्तिः मया आविष्कृता॥]

१८. गोपालरूप-शोभां
दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनात्मा
पश्चिम[१२]-भागे रसाम्बुनिधेः॥ (३७)

[गोपालरूपशोभां दधत् अपि रघुनाथभावविस्तारी सनातनात्मा रसाम्बुनिधेः पश्चिमभागे तुष्यतु॥]

। इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे
मुख्य-भक्तिरसपञ्चक-निरूपणे मधुराख्यभक्तिरस-लहरी पञ्चमी।

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ मुख्यभक्तिरस-निरूपको नाम
पश्चिमविभागः॥

सम्भोग—

१६. दोनों का मिलन के समय भोग ही सम्भोग है। ।३४।

यथा पद्यावली में—

> १९. *परम अनुराग से भरी, आलिङ्गन के कौशल का विकास करनेवाले भाव से भरी उस राधा के साथ मयूरपिच्छ-युक्त मुकुटवाले गोपाल ने कामदेव को आनन्दित करने वाला उत्सव मनाया।* ।३५।

१७. श्रीमद्भागवत आदि आधिकारिक शास्त्रों में दिखाई गई दृष्टि से यह पञ्चविधा भक्ति मैंने यहाँ प्रकट दिखाई है। ।३६।

१८. गोपाल-रूप की शोभा धारण किये हुए भी रघुनाथभाव का विस्तार करनेवाले सनातन-स्वरूप प्रभु रस-जलनिधि के इस पश्चिम भाग में सन्तुष्ट हों। (श्रीकृष्ण के विशेषणों में ही अपने गुरुजनों—श्री गोपाल भट्ट, श्रीरूप, श्रीसनातन, 'आत्मा' शब्द से श्रीजीव, तथा रघुनाथ नाम से श्री रघुनाथ भट्ट एवं श्री रघुनाथ दास दोनों का नामोल्लेख श्लेष द्वारा करके इसी श्लोक द्वारा उन्हें भी नमन किया गया)। ।३७।

। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिम विभाग में मुख्य पाँच भक्तिरसों के निरूपण में पाँचवीं मधुरभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई।

॥ इसी के साथ मुख्यभक्तिरस-निरूपक यह पश्चिम-विभाग भी समाप्त हुआ ॥

गौणभक्तिरस-निरूपकः

उत्तर-विभागः

हास्यभक्तिरसाख्या प्रथमलहरी

१. भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्नुररीकृत-व्रजासङ्गः।
तनुतां सनातनात्मा भगवान्मयि सर्वदा तुष्टिम्॥ (१)

[भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्, उररीकृतव्रजासङ्गः सनातनात्मा भगवान् मयि सर्वदा तुष्टिं तनुताम्॥]

२. रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तुरीये तूत्तराभिधे।
रसः सप्तविधो गौणो मैत्री वैरस्थितिर्मिथः॥ (२)

[रसामृताब्धेः उत्तराभिधे तुर्ये विभागे अत्र तु सप्तविधः गौणः रसः; मिथः मैत्री, वैरस्थितिः (च)॥]

३. रसाभासाश्च तेनात्र लहर्यो नव कीर्तिताः।
प्रागत्रानियताधाराः[1] कदाचित् क्वाप्युदित्वराः॥ (३)

[रसाभासाः च। तेन अत्र नव लहर्यः कीर्त्तिताः। अत्र प्राक् अनियताधाराः, कदाचित् क्व अपि उदित्वराः॥]

४. गौणाः भक्तिरसाः सप्त लेख्या हास्यादयः क्रमात्॥ (४)

[गौणाः सप्त हास्यादयः भक्तिरसाः क्रमात् लेख्याः॥]

५. भक्तानां पञ्चधोक्तानामेषां मध्यत एव हि।
क्वाप्येकः क्वाप्यनेकश्च गौणेष्वालम्बनो मतः॥ (५)

[एषां पञ्चधा उक्तानां भक्तानां मध्यतः एव हि क्व अपि एकः, क्व अपि अनेकः च गौणेषु (भक्तिरसेषु) आलम्बनः मतः॥]

तत्र हास्यभक्तिरसः—

६. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं हासरतिर्गता।
हास्यभक्तिरसो नाम बुधैरेष निगद्यते॥ (६)

[वक्ष्यमाणैः विभावाद्यैः पुष्टिं गता हासरतिः हास्यभक्तिरसः नाम एषः बुधैः निगद्यते॥]

गौण-भक्तिरस-निरूपक

उत्तर-विभाग

प्रथम लहरी-हास्यभक्तिरस

१. जिनका श्रीविग्रह सनातन (नित्य) है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण (अथवा श्री सनातन-प्रभु) भक्तों में स्थित भक्ति के अतिशय से प्रसन्न होते हुए, व्रज के समस्त सङ्ग को अथवा व्रज की प्रीति-आसक्ति को हृदय में लिये हुए सर्वदा मेरे प्रति सन्तुष्ट हों। ।१।

२-४. इस रसामृतसिन्धु के उत्तर-संज्ञक चौथे विभाग में सात प्रकार के गौण रस, उनकी परस्पर मैत्री, विरोध-स्थिति तथा रसाभास की निरूपिका नौ लहरियाँ हैं। दास्य आदि मुख्य रस तो पहले दास आदि में नियत-आधार वाले हैं। उन्हीं में उदित होते हैं, ह्रास आदि वैसे नहीं हैं, किन्तु कभी-कभी, कहीं भक्तों में उदित होते हैं। ये गौण भक्तिरस हास्य आदि सात लहरियों में क्रमशः उल्लिखित होंगे। ।२-४।

५. पाँच प्रकार से कहे गये इन (मुख्य) भक्तों में से ही किसी में कभी एक कभी अनेक भी गौण भक्तिरसों में आलम्बन माने गये हैं। ।५।

हास्यभक्तिरस—

६. आगे कहे जाने वाले विभाव आदि के द्वारा पुष्ट हुई हासरति ही बोधशील अनुभवियों द्वारा इस हास्य-भक्तिरस नाम से कही गयी है। ।६।

७. अस्मिन्नालम्बनः कृष्णस्तथाऽन्योऽपि तदन्वयी।
वृद्धाः शिशुमुखाः प्रायः प्रोक्ता धीरैस्तदाश्रयाः।
विभावनादि-वैशिष्ट्यात् प्रवराश्च क्वचिन्मताः॥ (७)

[अस्मिन् कृष्णः तथा अन्यद् अपि तदन्वयी आलम्बनः, वृद्धाः, शिशुमुखाः प्रायः धीरैः तदाश्रयाः प्रोक्ताः, क्वचित् विभावनादिवैशिष्ट्यात् प्रवराः च मताः॥]

तत्र कृष्णो, यथा—

१. यास्याम्यस्य[2] न भीषणस्य सविधं जीर्णस्य शीर्णाकृते-
र्मातर्नेष्यति मां पिधाय कपटादाधारिकायामसौ।
इत्युक्त्वा चकिताक्षमद्भुतशिशावुद्वीक्ष्यमाणे हरौ
हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितरां व्यक्तं तदासीन्मुनेः॥ (८)

["मातः! भीषणस्य जीर्णस्य शीर्णाकृतेः अस्य सविधं न यास्यामि, असौ मां कपटात् आधारिकायां पिधाय नेष्यति"—इति उक्त्वा चकिताक्षम् उद्वीक्ष्यमाणे अद्भुतशिशौ हरौ तस्य मुनेः हास्यं निरुद्धतः अपि अतितरां व्यक्तम् आसीत्॥]

अथ तदन्वयी—

८. यच्चेष्टा कृष्णविषया प्रोक्तः सोऽत्र तदन्वयी। (९)

[यच्चेष्टा कृष्णविषया सः अत्र तदन्वयी प्रोक्तः॥]

यथा—

२. ददामि दधि फ़ाणितं विवृणु वक्त्रमित्यग्रतो
निशम्य जरतीगिरं विवृतकोमलौष्ठे स्थिते।
तया कुसुममर्पितं नवमवेत्य[3] भुग्नानने
हरौ जहसुरुद्धुरं किमपि सुष्ठु गोष्ठार्भकाः॥ (१०)

["दधि-फाणितं ददामि, अग्रतः वक्त्रं विवृणु!"—इति जरतीगिरं निशम्य विवृतकोमलौष्ठे स्थिते हरौ तया भुग्नानने नवं कुसुमम् अर्पितम् अवेत्य गोष्ठार्भकाः सुष्ठु किम् अपि उद्धुरं जहसुः॥]

७. इसमें श्रीकृष्ण अथवा उनके अनुकूल अन्य जन भी आलम्बन होते हैं एवं वृद्ध तथा शिशुमुख (बाल्य-भाव वाले) प्रायः आश्रय होते हैं, विभावना आदि वैशिष्ट्य से कभी प्रवर (मध्यवयस्क) भी आश्रय माने गये हैं—ऐसा धीरजनों ने कहा है। ।७।

श्रीकृष्ण (आलम्बन) यथा—

१. *''मैया री! इस भयानक, बूढ़े गली हुई आकृति-वाले (बाबा-साधू) के पास मैं नहीं जाऊँगा। यह तो मुझे धोखे से झोले में डाल कर ले जायेगा।''—ऐसा कहकर अद्भुत-शिशु बने हुए हरि के चकित दृष्टि से टकटकी लगाये देखते रहने पर उस मुनि की हँसी रोकी जाने पर भी खुलकर भली-भाँति व्यक्त हो गयी। ।८।*

श्रीकृष्ण के अन्वयी—

८. जिसकी चेष्टा कृष्ण-विषयक हो वही यहाँ उनका अन्वयी कहा गया है। ।९।

यथा—

२. *''देख तुझे दही-बूरा (या मक्खन) दे रही हूँ—आगे मुँह खोल तो!''-वृद्ध गोपी द्वारा ऐसा कहे जाने पर उसकी बात सुनकर बालकृष्ण सुकोमल ओठ खोलकर खड़े रहे तब उस गोपी ने एक नया खिला पुष्प उनके मुँह में डाल दिया—यह जानकर व्रज के बालक जोर से भली-भाँति हँस पड़े। ।१०।*

यथा वा—

३. अस्य प्रेक्ष्य करं शिशोर्मुनिपते! श्यामस्य मे कथ्यतां
तथ्यं हन्त चिरायुरेष भविता किं धेनुकोटीश्वरः।
इत्युक्ते भगवन्! मयाद्य परितश्चीरेण किं चारुणा
द्रागाविर्भवदुद्धुरस्मितमिदं वक्त्रं त्वया[४] रुध्यते? (११)

["मुनिपते! अस्य शिशोः श्यामस्य करं प्रेक्ष्य मे कथ्यताम् हन्त एषः चिरायुः, धेनुकोटीश्वरः भविता किम्?"—इति मया उक्ते अद्य भगवन्! त्वया परितः चारुणा चीरेण द्रागाविर्भवदुद्धुरस्मितम् इदं वक्त्रं किं रुध्यते॥]

९. उद्दीपना हरेस्तादृग्वाग्वेषचरितादयः।
अनुभावास्तु नासौष्ठगण्डनिस्पन्दनादयः॥ (१२)

[हरेः तादृक् वाग्-वेष-चरितादयः उद्दीपनाः, अनुभावाः तु नासा-ओष्ठ-गण्ड-निस्पन्दनादयः॥]

१०. हर्षालस्यावहित्थाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः।
सा हासरतिरेवात्र स्थायिभावतयोदिता॥ (१३)

[हर्ष-आलस्य-अवहित्था-आद्याः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः। सा हासरतिः एव अत्र स्थायिभावतया उदिता॥]

११. षोढा हासरतिः स्यात्-स्मितहसिते
विहसितावहसितेच।
अपहसितातिहसितके
ज्येष्ठादीनां क्रमाद् द्वे द्वे॥ (१४)

[हासरतिः षोढा स्यात्-स्मित-हसिते, विहसितावहसिते, अपहसित-अतिहसितके च (इति) ज्येष्ठादीनां क्रमात् द्वे द्वे॥]

१२. विभावनादि-वैचित्र्यादुत्तमस्यापि कुत्रचित्।
भवेद्विहसिताद्यञ्च भावज्ञैरिति भण्यते॥ (१५)

[विभावनादि-वैचित्र्यात् उत्तमस्य अपि कुत्रचित् विहसिताद्यं च भवेत् इति भावज्ञैः भण्यते॥]

और भी यथा—

३. *"हे मुनिश्रेष्ठ! इस श्याम-शिशु का हाथ देखकर भला मुझे बताओ तो कि क्या यह चिरायु दीर्घजीवी, करोड़ों गायों का स्वामी होगा?"—मेरे ऐसा कहने पर हे भगवन्! आप सुन्दर चीर (वल्कल वस्त्र) से सब ओर से ढक कर हठात् फूटी पड़ती हुई-सी मुस्कान वाला अपना मुख क्यों छिपा रहे हैं?* ।११।

९. श्रीहरि (तथा उनके साथियों) के वैसे (हास्यजनक) वचन, वेष, चरित आदि उद्दीपन हैं और नासिका, होठ-कपोल का अधिक स्पन्दित होना आदि अनुभाव हैं। ।१२।

१०. हर्ष, आलस्य, अवहित्था आदि यहाँ व्यभिचारीभाव जाने जायें। वह हासरति ही यहाँ स्थायिभाव रूप से कही गयी है। ।१३।

११. हासरति छह प्रकार की है—स्मित-हसित, विहसित-अवहसित, अपहसित-अतिहसित, इस प्रकार दो-दो ज्येष्ठ आदि के क्रम से हैं। ।१४।

१२. विभावना आदि के वैचित्र्य से अत्तम के भी कभी विहसित आदि होते हैं—ऐसा भावज्ञ लोग कहते हैं। ।१५।

तत्र स्मितम्—

१३. स्मितं त्वलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डविकाशकृत्। (१६)

[स्मितं तु अलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डविकाशकृत्॥]

यथा—

४. क्व यामि जरती खला दधिहरं दिधीर्षन्त्यसौ
प्रधावति जवेन मां सुबल! मङ्क्षु रक्षां कुरु।
इति स्खलदुदीरिते द्रवति कान्दिशीके हरौ
विकस्वरमुखाम्बुजं कुलमभून्मुनीनां दिवि॥ (१७)

[“सुबल! क्व यामि, असौ खला जरती दधिहरं मां दिधीर्षन्ती जवेन प्रधावति, मङ्क्षु रक्षां कुरु!”—इति स्खलदुदीरिते कान्दिशीके हरौ द्रवति, दिवि मुनीनां कुलं विकस्वरमुखाम्बुजम् अभूत्॥]

हसितम्—

१४. तदेव दर-संलक्ष्य-दन्ताग्रं हसितं भवेत्। (१८)

[तत् एव दरसंलक्ष्यदन्ताग्रं हसितं भवेत्॥]

यथा—

५. मद्वेषेण पुरः स्थितो हरिरसौ पुत्रोऽहमेवास्मि ते
पश्येत्यच्युतजल्पविश्वसितया संरम्भरज्यद्दृशा।
मामेति स्खलदक्षरे जटिलया व्याक्रुश्य निष्कासिते
पुत्रे प्राङ्गणतः सखीकुलमभूद्दन्तांशुधौताधरम्॥ (१९)

[“मद्वेषेण पुरः स्थितः असौ हरिः, पश्य अहम् एव ते पुत्रः अस्मि”—इति अच्युतजल्पविश्वसितया संरम्भरज्यद्दृशा जटिलया “मा! मा!” इति स्खलदक्षरे व्याक्रुश्य प्राङ्गणतः निष्कासिते पुत्रे, सखीकुलं दन्तांशुधौताधरम् अभूत्॥]

विहसितम्—

१५. सस्वनं दृष्टदशनं भवेद्विहसितं तु तत्। (२०)

[सस्वनं दृष्टदशनं तु तत् विहसितं भवेत्॥]

स्मित—

१३. दाँत दिखाई न देते हुए नेत्रों एवं कपोलों में विकास (खिलापन एवं थोड़ा-सा फैलाना) लाने वाला हास्या स्मित (मुस्कान) होता है। ।१६।

यथा—

४. *"सुबल! अरे कहाँ भागूँ? जल्दी मुझे बचाओ! देखो! दही चुराकर खाते हुए मुझे डपटती हुई यह वृद्धा गोपी पीछे दौड़ी आ रही है!" शीघ्रता में ऐसा लटपटाते बोलते हुए, रुआँसे हुए, भांगे जाते हुए बालकृष्ण को देखकर आकाश में दिव्य मुनिगणों के मुख खिलना चाहते हुए कमल जैसे (मुस्कान भरे) हो गये।* ।१७।

हसित—

१४. जब दाँतों का अग्रभाग थोड़ा-सा दिखता हो तब वही (हास्य) हसित कहलाता है। ।१८।

यथा—

५. *"मेरा वेष बनाये हुए यह कृष्ण ही सामने खड़ा है"-हरि के इस कथन पर विश्वास करते हुए जब क्रोध भरी घबराहट से "नहीं! नहीं! ऐसा नहीं! माँ! ..." ऐसा चिल्लाते हुए अपने बेटे को ही जटिला (राधा रानी की सास) ने आँगन से निकाल-भगाया, तब सखियों का समूह दाँतों की किरणों से धुले ओठों वाला हो गया। (अर्थात् वे सब हँसने लगीं।)* ।१९।

विहसित—

१५. जो ध्वनियुक्त हो और दाँत दिखते हों-ऐसा हँसना विहसित होता है। ।२०।

यथा—

६. मुषाण दधि मेदुरं विफलमन्तरा शङ्कसे
सनिःश्वसित-डम्बरं जटिलयात्र निद्रायते।
इति ब्रुवति केशवे प्रकटशीर्णदन्तस्थलं
कृतं हसितमुत्स्वनं कपटसुप्तया वृद्धया॥ (२१)

["मेदुरं दधि मुषाण! अन्तरा विफलं शङ्कसे, सनिःश्वसितडम्बरं जटिलया अत्र निद्रायते"—इति ब्रुवति केशवे कपटसुप्तया वृद्धया कपटशीर्णदन्तस्थलम् उत्स्वनं हसितं कृतम्॥]

अवहसितम्—

१६. तच्चावहसितं फुल्लनासं कुञ्चितलोचनम्। (२२)

[फुल्लनासं कुञ्चितलोचनं तत् च अवहसितम्॥]

यथा—

७. लग्नस्ते नितरां दृशोरपि युगे किं धातुरागो घनः
प्रातः पुत्र! बलस्य वा किमसितं वासस्त्वयाङ्गे धृतम्?
इत्याकर्ण्य पुरो व्रजेशगृहिणीवाचं स्फुरन्नासिका
दूती सङ्कुचदीक्षणावहसितं जाता न रोद्धुं क्षमा॥ (२३)

अपहसितम्—

१७. तच्चापहसितं साश्रुलोचनं कम्पितांसकम्। (२४)

[साश्रुलोचनं कम्पितांसकं तत् च अपहसितम्॥]

यथा—

८. उदस्रं देवर्षिर्दिवि दरतरङ्गद्भुजशिरा
यदभ्राण्युद्दण्डो दशनरुचिभिः पाण्डुरयति।
स्फुटं ब्रह्मादीनां नटयितरि दिव्ये व्रजशिशौ
जरत्याः प्रस्तोभान्नटति तदनैषीद्दृशमसौ॥ (२५)

[दरतरङ्गद्भुजशिराः देवर्षिः यत् उदस्रं दशनरुचिभिः अभ्राणि पाण्डुरयति, तत् असौ जरत्याः प्रस्तोभात् नटति ब्रह्मादीनां नटयितरि दिव्ये व्रजशिशौ स्फुटं दृशम् अनैषीत्॥]

यथा—

६. *"सखे! घना जमा हुआ मलाई वाला दही चुरा लो! वृथा आशङ्का कर रहे हो (कि कोई देख लेगा)। बुढ़िया जटिला तो यहाँ जोर से खर्राटे भरती हुई सो रही है।"-कृष्ण के ऐसा कहने पर कपट से सोई (सोने का बहाना करती) हुई वृद्धा गिरे हुए दाँतों के मसूढ़े दिखाती हुई, ठठाकर हँस पड़ी। ।२१।*

अवहसित—

१६. जिस हँसने में ध्वनि होने, दाँत दिखने के साथ नासिका फूली हो, आँखे सिकुड़ी हों-वह अवहसित है। ।२२।

यथा—

७. *"पुत्र! तेरे नयनों पर क्या घना लाल धातुराग (रंग) लग गया है? और सुबह क्या तुम ने बलराम भैया का नीला वस्त्र ओढ़ लिया था?"-ऐसा व्रजरानी 'यशोदा का कहना सुनकर सामने खड़ी दूती (जो श्रीराधा से श्याम सुन्दर के मिलन की बात जानती थी) की नासिका फूलकर फरकने लगी, आँखें सिकुड़ गईं, किसी तरह न दबाई जा सकने वाली उसकी हँसी फूट पड़ी।' ।२३।*

अपहसित—

१७. उसी हास्य में जब आँखों में आँसू तक आ जायें और कन्धे काँपने लगें तब उसे अपहसित कहते हैं। ।२४।

यथा—

८. *ये देवर्षि नारद जो अतिशय हँस रहे हैं, हँसी के वेग से इनके कन्धे तरङ्गित हो (काँप) रहे हैं, आँखों में आँसू भरे हैं और खुले दाँतों की शुभ्रकान्ति से मेघ भी शुभ्र हुए जा रहे हैं- इससे ऐसा लगता है कि अवश्य ही इन्होंने व्रज में वृद्धागोपी द्वारा प्रलोभन दिये जाने पर नाचते हुए उस दिव्य शिशु (बालकृष्ण) को देख लिया है जो वस्तुतः ब्रह्मा को भी नचाने वाला है; (वही आज व्रज में नन्हा बालक बना हुआ माखन के लोभ में गोपी के नचाने से नाच रहा है।) ।२५।*

अतिहसितम्—

१८. सहस्ततालं क्षिप्ताङ्गं तच्चातिहसितं विदुः। (२६)

[तत् च सहस्ततालं क्षिप्ताङ्गम् अतिहसितं विदुः॥]

यथा—

९. वृद्धे त्वं वलितानानासि वलिभिः प्रेक्ष्य स्वयोग्यामत-
स्त्वामुद्वोढुमसौ बलीमुखवरो मां साधयत्युत्सुकः।
आभिर्विप्लुतधीर्वृणे न हि परं त्वत्तो बलिध्वंसना-
दित्युच्चैर्मुखरा-गिरा विजहसुः सोत्तालिका बालिकाः॥ (२७)

["वृद्धे त्वं वलिभिः वलितानना असि, अतः त्वां स्वयोग्यां प्रेक्ष्य उत्सुकः असौ बलीमुखवरः मां साधयति"—"आभिः विप्लुतधीः (अहं) बलिध्वंसनात् त्वत्तः परं न हि वृणे"—इति मुखरा-गिरा सोत्तालिका बालिकाः उच्चैः विजहसुः॥]

१९. यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते।
तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते॥ (२८)

[यस्य हासः सः चेत् क्व अपि साक्षात् न एव निबध्यते, तथापि एषः विभावादि-सामर्थ्यात् उपलभ्यते॥]

यथा—

१०. शिम्बीलम्बि-कुचासि दर्दुरवधूविस्पर्धि-नासाकृति-
स्त्वं जीर्यद्द्दुलिदृष्टिरोष्ठतुलिताङ्गारा मृदङ्गोदरी।
का त्वत्तः कुटिले! परास्ति जटिलापुत्रि! क्षितौ सुन्दरी
पुण्येन व्रजसुभ्रुवां तव धृतिं हर्तुं न वंशी क्षमा॥ (२९)

[त्वं शिम्बीलम्बि-कुचा, दर्दुरवधू-विस्पर्धि-नासाकृतिः, जीर्यद्द्दुलिदृष्टिः, ओष्ठतुलिताङ्गारा, मृदङ्गोदरी असि, जटिलापुत्रि कुटिले! त्वत्तः परा क्षितौ का सुन्दरी अस्ति? व्रजसुभ्रुवां पुण्येन तव धृतिं हर्तुं वंशी न क्षमा॥]

अतिहसित—

१८. उसी हास्य में जब हाथों से तालियाँ बजाते हुए अङ्ग-अङ्ग उछल रहे हों, तब उसे अतिहसित कहते हैं। ।२६।

यथा—

९. *"वृद्धे! तुम झुर्रियों से भरे मुँह वाली हो, इसलिये तुम्हें सुयोग्य देखकर यह श्रेष्ठ बन्दर उत्सुक होकर मुझे साठ रहा है कि तुम से उसका ब्याह करा दूँ।" "इन वलियों (झुर्रियों) से मारी हुई बुद्धि वाली मैं तो वलियों (बलियों बड़े-बड़े बलवान् असुरों) का ध्वंस करने वाले तुमको छोड़कर और किसी का वरण नहीं करूँगी।" पौगण्ड-कृष्ण और मुखरा नाम की वृद्धा गोपी का यह संवाद सुनकर तालियाँ बजा-बजाकर उछलती-कूदती हुई गोप-बालिकायें जोर से हँसने लगीं। ।२७।*

१९. जिसका हास हो वह साक्षात् कहीं न भी दिखाई दे, तो भी विभाव आदि के सामर्थ्य से वह उपलब्ध हो जाता है। ।२८।

यथा—

१०. *हे जटिला की बेटी कुटिले तुम्हारे कुच सेम जैसे लम्बे लटकते हैं, मेंढकी से स्पर्धा में जीतने वाली तेरी नासिका है, बूढ़ी कछुई जैसी तुम्हारी आँखें हैं, ओठ अङ्गारों जैसे हैं, तुमसे बढ़कर सुन्दरी भला धरती पर कौन होगी? किन्तु व्रज की अन्य सुन्दरियों के पुण्य से तुम्हारे धैर्य का हरण यह वंशी नहीं कर पाती। ।२९।*

२०. एष हास्यरसस्तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृतौ।
शृङ्गारादिरसोद्भेदो[६] बहुधैव प्रपञ्चितः॥ (३०)

[एषः हास्यरसः शृङ्गारादिरसोद्भेदः, तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृतौ बहुधा एव प्रपञ्चितः॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ उत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
हास्यभक्तिरस-लहरी प्रथमा॥

२०. यह हास्यरस शृङ्गार आदि रसों का ही भेद है, यह कैशिकीवृत्ति के विस्तार में अनेक प्रकार से खोलकर कहा गया है। ।३०।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में पहली हास्यभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

अद्भुतभक्तिरसाख्या—द्वितीय लहरी

१. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि।
सा विस्मय-रतिर्नीताद्भुतभक्तिरसो भवेत्॥ (१)

[आत्मोचितैः विभावाद्यैः (या) भक्तचेतसि स्वाद्यत्वं नीता, सा विस्मयरतिः अद्भुतभक्तिरसः भवेत्॥]

२. भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः॥ (२)

[अत्र सर्वविधः अपि भक्तः विस्मयाश्रयः घटते। तत्र लोकोत्तरक्रियाहेतुः केशवः विषयः॥]

३. तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुदीपना मताः।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः॥ (३)

[तस्य चेष्टाविशेषाद्याः तस्मिन् उद्दीपनाः मताः, क्रियाः तु नेत्रविस्तार-स्तम्भ-अश्रु-पुलकादयः॥]

४. आवेग-हर्ष-जाड्याद्यास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः।
स्थायी स्याद्विस्मयरतिः सा लोकोत्तरकर्मतः।
साक्षादनुमितश्चेति तच्च द्विविधमुच्यते॥ (४)

[तत्र आवेग-हर्ष-जाड्याद्याः व्यभिचारिणः स्युः। सा विस्मयरतिः लोकोत्तरकर्मतः स्थायी स्यात्। तत् च (कर्म) साक्षात् अनुमितं च इति द्विविधम् उच्यते॥]

तत्र साक्षात्, यथा—

५. साक्षादैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसंकीर्तितादिकम्॥ (५)

[दृष्टश्रुतसङ्कीर्तितादिकम् ऐन्द्रियकम् साक्षात्॥]

तत्र दृष्टं, यथा—

१. एकमेव विविधोद्यमभाजं
मन्दिरेषु युगपन्निखिलेषु।
द्वारकामभि समीक्ष्य मुकुन्दं
स्पन्दनोज्झिततनुर्मुनिरासीत्॥ (६)

[एकम् एव मुकुन्दं द्वारकाम् अभि निखिलेषु मन्दिरेषु विविधोद्यमभाजं समीक्ष्य मुनिः स्पन्दनोज्झिततनुः आसीत्॥]

द्वितीय लहरी—अद्भुतभक्तिरस

१. विभाव आदि के द्वारा भक्तों के चित्त में आस्वाद्यता को प्राप्त हुई विस्मयरति ही अद्भुत-भक्तिरस है। ।१।

२. सभी प्रकार के भक्त यहाँ विस्मय रति के आश्रय हैं। तथा लोकोत्तर (अलौकिक) क्रियाओं के हेतु केशव (श्रीकृष्ण) ही उस विस्मय रति के विषय हैं। ।२।

३. उन कृष्ण की विशेष चेष्टायें इस रस में उद्दीपन मानी गई हैं—नेत्रों का फैलना, स्तम्भ हो जाना, अश्रु और पुलक आदि प्रकट होना-ये क्रियायें इस रस को व्यक्त करती है। ।३।

४. यहाँ आवेग, हर्ष, जड़ता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। अलौकिक कर्म से होने वाली विस्मयरति ही स्थायिभाव है। वे कर्म साक्षात् और अनुमित ऐसे दो प्रकार के होते हैं। ।४।

साक्षात्—

५. इन्द्रियों के विषय में होने वाले,-दिखाई तथा सुनाई देने वाले एवं संकीर्तित होने वाले कर्म साक्षात् हैं। ।५।

दृष्ट यथा—

१. द्वारिका में एक ही मुकुन्द को सभी भवनों में विविध उद्यमों में लगे हुए देखकर श्रीनारद मुनि स्पन्दनरहित (निश्चेष्ट) शरीर वाले हो रहे। ।६।

यथोक्तं श्रीदशमे (भा०१०/६९/२)—

२. चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥ (७)

[चित्रं बत एतद् (यत्) एकेन वपुषा पृथक् गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रियः युगपत् एकः उदावहत्॥]

यथा वा—

३. क्व स्तन्यगन्धिवदनेन्दुरसौ शिशुस्ते
गोवर्धनः शिखररुद्धघनः क्व चायम्?
भोः पश्य सव्यकर-कन्दुकिताचलेन्द्रः
खेलन्निव स्फुरति हन्त किमिन्द्रजालम्? (८)

[क्व असौ ते स्तन्यगन्धिमुखेन्दुः शिशुः, क्व च अयं शिखररुद्धघनः गोवर्धनः। भोः पश्य! सव्यकर-कन्दुकिताचलेन्द्रः खेलन् इव स्फुरति। हन्त! किम् इन्द्रजालम्?॥]

श्रुतं, यथा—

४. यान्यक्षिपन् प्रहरणानि भटाः स देवः
प्रत्येकमच्छिनदमूनि शरत्रयेण।
इत्याकलय्य युधि कंसरिपोः प्रभावं
स्फारेक्षणः क्षितिपतिः पुलकी तदासीत्॥ (९)

[भटाः यानि प्रहरणानि अक्षिपन्; अमूनि प्रत्येकं शरत्रयेण सः देवः अच्छिनत्। इति कंसरिपोः युधि प्रभावम् आकलय्य क्षितिपतिः तदा स्फारेक्षणः पुलकी (च) आसीत्॥]

सङ्कीर्तितं, यथा—

५. डिम्भाः स्वर्णनिभाम्बरा घनरुचो जाताश्चतुर्बाहवो
वत्साश्चेति वदन् कृतोऽस्मि विवशः स्तम्भश्रिया पश्यत[१]।
आश्चर्यं कथयामि वः शृणुत भोः प्रत्येकमेकैकशः
स्तूयन्ते जगदण्डवद्भिरभितस्ते हन्त पद्मासनैः॥ (१०)

[डिम्भाः वत्साः च स्वर्णनिभाम्बराः घनरुचः चतुर्बाहवः च जाताः, इति वदन् (अहं) पश्यत स्तम्भश्रिया विवशः कृतः अस्मि। वः आश्चर्यं कथयामि, भोः! शृणुत, हन्त ते प्रत्येकम् एकैकशः जगदण्डवद्भिः पद्मासनैः अभितः स्तूयन्ते।]

यथा श्रीदशम में (भा. १०/६९/२)—

२. *अहो! कैसा आश्चर्य है! एक ही श्रीकृष्ण ने एक ही शरीर से पृथक्-पृथक् भवनों में (एक ही मुहूर्त्त में) सोलह हजार कन्याओं से विवाह किया।* ।७।

और भी यथा—

३. *कहाँ तो तुम्हारा यह दुधमुँहा बालक, जिसके मुख़चन्द्र से अभी माँ के दूध की सुगन्ध आती है, और कहाँ यह बादलों को रोकते हुए से शिखरों वाला महान् पर्वत गोवर्धन! अरे देखो तो! उस पर्वत को भी यह तो बाँये हाथ पर गेंद की तरह उठाये हुए मानो खेल रहा-सा दिखता है! हाय! क्या यह कोई इन्द्रजाल (जादू का खेल) है?* ।८।

श्रुत यथा—

४. *शत्रु योद्धाओं ने जो अस्त्र फेंके उन्हें उन देव (दिव्य शक्तिशाली श्रीकृष्ण) ने प्रत्येक को तीन-तीन बाणों से काट डाला—ऐसा कंसरिपु का (नरकासुर के साथ) युद्ध में पराक्रम-प्रभाव सुनकर राजा (परीक्षित्) की आँखें फैल गईं और पूरा शरीर पुलकित हो उठा।* ।९।

संकीर्त्तित यथा—

५. *"सभी ग्वाल-बालक तथा बछड़े भी सुनहरे पीताम्बर पहने हुए, मेघ जैसी कान्ति वाले, चार भुजाओं वाले हो गये"- ऐसा कहते हुए मैं स्तम्भ की शोभा से कैसा विवश हो रहा हूँ, देखो तो! अरे आप सब सुनो! बड़े आश्चर्य की बात कहता हूँ—अरे! प्रत्येक अलग-अलग ब्रह्माण्डों के पद्मासन-ब्रह्माओं द्वारा इन चतुर्भुज रूप में विराजमान गोप-बालकों की स्तुति की जा रही है। वे सुशोभित हो रहे हैं।* ।१०।

अनुमितं, यथा—

६. उन्मील्य व्रजशिशवो दृशं पुरस्ता-
द्भाण्डीरं पुनरतुलं विलोकयन्तः।
सात्मानं पशुपटलीञ्च तत्र दावाद्-
उन्मुक्तां मनसि चमत्क्रियामवापुः॥ (११)

[व्रजशिशवः दृशम् उन्मील्य पुरस्तात् पुनः अतुलं भाण्डीरं सात्मानं पशुपटलीं च दावाद् मुक्तां तत्र विलोकयन्तः मनसि चमत्क्रियाम् अवापुः॥]

६. अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यपि विस्मयम्।
असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा[२]॥ (१२)

[अप्रियादेः अलौकिकी क्रिया अपि विस्मयं न कुर्यात्, प्रियस्य मनाक् असाधारणी अपि सा (विस्मयं) करोति एव॥]

७. प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा।
इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रह-माधुरी॥ (१३)

[किम् उत प्रियात् प्रियस्य सर्वलोकोत्तरोत्तरा! इति अत्र विस्मये रत्यनुग्रहमाधुरी प्रोक्ता॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
अद्भुतभक्तिरसलहरी द्वितीया॥

अनुमित यथा—

६. *व्रज के ग्वाल-बालकों ने आँखें खोलकर अपने सामने पुनः अतुल भाण्डीर वन को, पशु-समूह को यथा अपने आप को दावानल से मुक्त देखा तो चित्त में अतीव चमत्कृत हो गये।* ।११।

६. अप्रिय लोगों की अलौकिक क्रिया भी चित्त में विस्मय उत्पन्न नहीं करती, और प्रिय व्यक्ति की थोड़ी भी असाधारण क्रिया विस्मित कर देती है। ।१२।

७. फिर प्रियों से भी अधिक प्रिय की सभी लोकोत्तरों से भी बढ़ी-चढ़ी अलौकिक दिव्य क्रियाओं का तो कहना ही क्या! इस प्रकार यहाँ विस्मयरति के अनुग्रह की माधुरी कही गई। ।१३।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में यह दूसरी अद्भुतभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

अनुमितं, यथा—

६. उन्मील्य व्रजशिशवो दृशं पुरस्ता-
द्भाण्डीरं पुनरतुलं विलोकयन्तः।
सात्मानं पशुपटलीञ्च तत्र दावाद्-
उन्मुक्तां मनसि चमत्क्रियामवापुः॥ (११)

[व्रजशिशवः दृशम् उन्मील्य पुरस्तात् पुनः अतुलं भाण्डीरं सात्मानं पशुपटलीं च दावाद् मुक्तां तत्र विलोकयन्तः मनसि चमत्क्रियाम् अवापुः॥]

६. अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यपि विस्मयम्।
असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा[2]॥ (१२)

[अप्रियादेः अलौकिकी क्रिया अपि विस्मयं न कुर्यात्, प्रियस्य मनाक् असाधारणी अपि सा (विस्मयं) करोति एव॥]

७. प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा।
इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रह-माधुरी॥ (१३)

[किम् उत प्रियात् प्रियस्य सर्वलोकोत्तरोत्तरा! इति अत्र विस्मये रत्यनुग्रहमाधुरी प्रोक्ता॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
अद्भुतभक्तिरसलहरी द्वितीया॥

अनुमित यथा—

> ६. *व्रज के ग्वाल-बालकों ने आँखें खोलकर अपने सामने पुनः अतुल भाण्डीर वन को, पशु-समूह को यथा अपने आप को दावानल से मुक्त देखा तो चित्त में अतीव चमत्कृत हो गये। ।११।*

६. अप्रिय लोगों की अलौकिक क्रिया भी चित्त में विस्मय उत्पन्न नहीं करती, और प्रिय व्यक्ति की थोड़ी भी असाधारण क्रिया विस्मित कर देती है। ।१२।

७. फिर प्रियों से भी अधिक प्रिय की सभी लोकोत्तरों से भी बढ़ी-चढ़ी अलौकिक दिव्य क्रियाओं का तो कहना ही क्या! इस प्रकार यहाँ विस्मयरति के अनुग्रह की माधुरी कही गई। ।१३।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में यह दूसरी अद्भुतभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

वीरभक्तिरसाख्या-तृतीय लहरी

१. सैवोत्साहरतिः स्थायी विभावाद्यैर्निजोचितैः।
आनीयमाना स्वाद्यत्वं वीरभक्तिरसो भवेत्॥ (१)

[सा एव उत्साहरतिः स्थायी, निजोचितैः विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं नीयमाना वीरभक्तिरसः भवेत्॥]

२. युद्ध-दान-दया-धर्मैश्चतुर्धा वीर उच्यते।
आलम्बन इह प्रोक्त एष एव चतुर्विधः॥ (२)

[वीरः युद्ध-दान-दया-धर्मैः चतुर्धा उच्यते। एषः एव चतुर्विधः वीरः इह आलम्बनः प्रोक्तः॥]

३. उत्साहस्त्वेष भक्तानां सर्वेषामेव सम्भवेत्॥ (३)

[एषः उत्साहः सर्वेषाम् एव भक्तानां सम्भवेत्॥]

तत्र युद्धवीरः—

४. परितोषाय कृष्णस्य दधदुत्साहमाहवे।
सखा बन्धुविशेषो वा युद्धवीर इहोच्यते॥ (४)

[कृष्णस्य परितोषाय आहवे उत्साहं दधत् सखा, बन्धुविशेषः वा इह युद्धवीरः उच्यते॥]

५. प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा तस्मिन् वा प्रेक्षके स्थिते।
तदीयेच्छावशेनात्र भवेदन्यः सुहृद्वरः॥ (५)

[प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा, तस्मिन् प्रेक्षके स्थिते वा, तदीयेच्छावशेन अत्र अन्यः सुहृद्वरः भवेत्॥]

तत्र कृष्णो, यथा—

१. अपराजितमानिनं हठा-
च्चटुलं त्वामभिभूय माधव!
धिनुयामधुना सुहृद्गणं
यदि न त्वं समरात् पराञ्चसि॥ (६)

[माधव! अपराजितमानिनं त्वां चटुलं हठात् अभिभूय अधुना सुहृद्गणं धिनुयाम्, यदि त्वं समरात् न पराञ्चसि॥]

तृतीय लहरी—वीरभक्तिरस

१. उत्साहरति ही स्वयं स्थायिभाव हुए अपने उचित विभाव आदि के द्वारा स्वाद्यता को प्राप्त करायी जाती हुई (आस्वाद्य बनती हुई) वीरभक्तिरस होती है। ।१।

२. वीरभक्तिरस युद्ध, दान, दया और धर्म से विशेषित होकर चार प्रकार का कहा जाता है, ऐसा चार प्रकारों का वीर यहाँ आलम्बन कहा गया है। ।२।

३. यह उत्साह (रति) सभी भक्तों में विद्यमान है। ।३।

युद्धवीर—

४. श्रीकृष्ण के परितोष के लिये युद्ध के प्रति उत्साह धारण करने वाला सखा या विशेष बन्धु यहाँ युद्धवीर कहा जाता है। ।४।

५. यहाँ स्वयं मुकुन्द प्रतियोद्धा होंगे अथवा यदि वे प्रेक्षक बने हों तो उनकी इच्छानुसार कोई दूसरा मित्र प्रतियोद्धा हो सकता है। ।५।

कृष्ण (प्रतियोद्धा)—

१. *माधव! अपने आप को अपराजित मानने वाले, बहुत बोलने वालें तुम्हें अभी हठात् हराकर मैं सब मित्रों को आनन्दित करता हूँ यदि तुम ही (डर के मारे) युद्ध से भाग न जाओ!* *।६।*

यथा वा—

२. संरम्भप्रकटीकृत-प्रतिभटारम्भ-श्रियोः साद्भुतं
कालिन्दीपुलिने वयस्यनिकरैरालोक्यमानस्तदा।
अव्युत्थापित-सख्ययोरपि वराहङ्कार[१]-विस्फूर्जितः
श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्च समराटोपः पटीयानभूत्॥ (७)

[संरम्भप्रकटीकृत-प्रतिभटारम्भ-श्रियोः अव्युत्थापितसख्ययोः अपि कालिन्दीपुलिने साद्भुतं विलोक्यमानः श्रीदाम्नः च बकीद्विषः च वराहङ्कारविस्फूर्जितः समराटोपः तदा पटीयान् अभूत्॥]

सुहृद्वरो[२], यथा-

३. सखिप्रकरमार्गणानगणितान् क्षिपन् सर्वत-
स्तथाद्य लगुडं क्रमाद् भ्रमयति स्म दामा कृती।
अमंस्त रचितस्तुतिर्व्रजपतेस्तनुजोऽप्यमुं
समृद्धपुलको यथा लगुडपञ्जरान्तः स्थितम्॥ (८)

[अगणितान् सखिप्रकरमार्गणान् सर्वतः क्षिपन् दामा कृती अस्य लगुडं तथा क्षिपति स्म यथा रचितस्तुतिः समृद्धपुलकः व्रजपतेः तनुजः अपि अमुं लगुडपञ्जरान्तः स्थितम् अमँस्त॥]

६. प्रायः प्रकृति-शूराणां स्वपक्षैरपि कर्हिचित्।
युद्धकेलिसमुत्साहो जायते परमाद्भुतः॥ (९)

[प्रकृतिशूराणां कर्हिचित् प्रायः स्वपक्षैः अपि परमाद्भुतः युद्धकेलि-समुत्साहः जायते॥]

तथा च हरिवंशे—

४. तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीडन्मधुसूदनः।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः॥ इति। (१०)

[मधुसूदनः विभुः तथा विक्रीडन् कुन्त्याः प्रमुखतः गाण्डीवधन्वानं भरतश्रेष्ठं जिगाय॥]

७. कत्थितास्फोट-विस्पर्धा-विक्रमास्त्रग्रहादयः।
प्रतियोधस्थिताः सन्तो भवन्त्युद्दीपना इह॥ (११)

[कत्थितास्फोट-विस्पर्धा-विक्रमास्त्रग्रहादयः प्रतियोधस्थिताः सन्तः अमी उद्दीपनाः भवन्ति॥]

और यथा—

२. *मैत्री अखण्डित रहते हुए भी संरम्भ (युद्धवीररस का स्वाभाविक कोप) से परस्पर प्रतियोद्धा की शोभा प्रकट करने वाले, श्रीदामा तथा पूतनारि श्रीकृष्ण का यमुना तट पर श्रेष्ठ अहङ्कार से विस्फूर्जित युद्ध का आटोप (विस्तार) बड़ी कुशलता से हुआ, जिसे सब सखा-गण बड़े आश्चर्य से देख रहे थे। ।७।*

सुहृद्वर (मित्र-प्रतियोद्धा) यथा—

३. *सखाओं के समूह द्वारा चारों ओर से एक साथ फेंके जाते हुए छोटे बाणों को अपना डण्डा वेग से घुमाता हुआ वीर श्रीदामा ऐसे दूर फेंक दे रहा था कि उसकी प्रशंसा करते हुए, पुलकित हुए नन्दकुमार भी उसे (श्रीदामा को) डण्डे के पिंजरे के भीतर स्थित जैसा मान रहे थे। ।८।*

६. प्रकृति से ही शूर लोगों में कभी-कभी अपने पक्षवालों के साथ भी युद्ध का खेल खेलने का परम अद्‌भुत समुत्साह उत्पन्न होता है। ।९।

यथा हरिवंश में—

४. *कुन्ती के सामने अर्जुन से युद्ध-खेल खेलते हुए विभु मधुसूदन ने गाण्डीव-धारी भरत-श्रेष्ठ को जीत लिया। ।१०।*

७. यहाँ प्रतियोद्धा में स्थित कत्थित (डींग मारना, शेखी बघारना) आस्फोट (ताल ठोकना), विस्पर्धा (विशेष प्रतिद्वन्द्विता, होड़) विक्रम, अस्त्रग्रहण आदि उद्दीपन होते हैं। ।११।

तत्र कत्थितम्, यथा—

५. पिण्डीशूरस्त्वमिह सुबलं कैतवेनाबलाङ्गं
जित्वा दामोदर! युधि वृथा मा कृथाः कत्थितानि।
माद्यन्नेष त्वदलघुभुजासर्प-दर्पापहारी
मन्द्रध्वानो नटति निकटे स्तोककृष्णः कलापी॥ (१२)

[दामोदर! पिण्डीशूरः त्वम् इह कैतवेन अबलाङ्गं सुबलं युधि जित्वा वृथा कत्थितानि मा कृथाः; त्वदलघुभुजासर्पदर्पापहारी मन्द्रध्वानः एषः स्तोककृष्णः कलापी निकटे नटति॥]

८. कत्थिताद्याः स्वसंस्थाश्चेदनुभावाः प्रकीर्तिताः।
तथैवाहोपुरुषिका क्ष्वेडिताक्रोशवल्गनम्॥ (१३)

[कत्थिताद्याः स्वसंस्थाः चेत् अनुभावाः प्रकीर्तिताः। आहोपुरुषिका क्ष्वेडिताक्रोशवल्गनं तथा एव॥]

९. असहायेऽपि युद्धेच्छा समरादपलायनम्।
भीताभयप्रदानाद्या विज्ञेयाश्चापरे बुधैः॥ (१४)

[असहाये अपि युद्धेच्छा, समरात् अपलायनम्, भीताभयप्रदानाद्याः च बुधैः अपराः (अनुभावाः) विज्ञेयाः॥]

तत्र कत्थितम्, यथा—

६. प्रोत्साहयस्यतितरां किमिवाग्रहेण
मां केशिसूदन! विदन्नपि भद्रसेनम्।
योद्धुं बलेन सममत्र सुदुर्बलेन
दिव्यार्गलाप्रतिभटस्त्रपते भुजो मे॥ (१५)

[केशिसूदन! मां भद्रसेनं विदन् अपि किम् इव आग्रहेण अतितराम् प्रोत्साहयसि। सुदुर्बलेन बलेन समम् अत्र योद्धुं मे दिव्या-अर्गला-प्रतिभटः भुजः त्रपते॥]

आहोपुरुषिका, यथा—

७. धृताटोपे गोपेश्वर-जलधिचन्द्रे परिकरं
निबध्नत्युल्लासाद् भुजसमरचर्यासमुचितम्।
सरोमाञ्चं क्ष्वेडा-निबिड-मुखबिम्बस्य नटतः
सुदाम्नः सोत्कण्ठं जयति मुहुराहोपुरुषिका॥ (१६)

[गोपेश्वर-जलधि-चन्द्रे धृताटोपे अत्युल्लासात् भुजसमरचर्यासमुचितं परिकरं निबध्नति सरोमाञ्चं नटतः क्ष्वेडा-निबिड-मुखबिम्बस्य सुदाम्नः आहोपुरुषिका सोत्कण्ठम् मुहुः जयति॥]

कत्थित (उद्दीपन) यथा—

५. *अरे खाने भरके शूर दामोदर! बलरहित या दुर्बल शरीर वाले इस सुबल को भी युद्ध में धोखे से हराकर व्यर्थ ही अपनी शेखी न जताओ! तुम्हारे समान ही भुजारूपी सर्पों का दर्प हरण करने वाला यह स्तोककृष्णरूपी मयूर मन्द्रध्वनि करता हुआ निकट ही घूम (नाच) रहा है।* ।१२।

८. कत्थित आदि अपने भीतर हो तो अनुभाव कहे गये हैं, उसी प्रकार आहोपुरुषिका (दर्प के कारण अपने को बंहुत मानना), क्ष्वेडित (सिंहनाद), आक्रोश, वल्गन (युद्ध के लिये पैंतरे बदलना) भी अनुभाव हैं। ।१३।

९. असहाय में भी युद्ध की इच्छा, समर से न भागना, भयभीत को अभय-प्रदान करना आदि अन्य भी अनुभाव बुधजनों ने कहे हैं। ।१४।

कत्थित (अनुभाव) यथा—

६. *हे केशिसूदन (केशी-दैत्य को मारने वाले कृष्ण)! मुझ भद्रसेन को भली-भाँति जानते हुए भी क्यों व्यर्थ ही आग्रह से मुझे अतिशय उकसा रहे हो! बहुत कम बल वाले बलराम के साथ युद्ध करने में मेरा दिव्य अर्गला का प्रतिद्वन्द्वी बाहु लज्जित होता है।* ।१५।

आहोपुरुषिका यथा—

७. *श्रीनन्द-यशोदा रूपी गोपेश्वर-जलधि में उत्पन्न श्रीकृष्णचन्द्र के "मैं ही सर्वोत्कृष्ट योद्धा हूँ, तुम सब छुटभैये मेरे सामने क्या हो?"—ऐसा आटोप धारण करने पर अद्भुत समरचर्या के लिये समुचित फेंटा कसते हुए और सिंह की तरह गर्जन से भरे मुखवाले, रोमाञ्च-सहित नाचते-कूदते हुए उत्कण्ठित सुदामा द्वारा वैसा ही दर्पयुक्त अपना बड़प्पन जताने की जय हो।* ।१६।

१०. चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्त्विकाः।
गर्वावेग-धृति-व्रीडा-मति-हर्षावहित्थिकाः।
अमर्षोत्सुकतासूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः॥ (१७)

[वीराणां चतुष्टये अपि निखिलाः एव सात्त्विकाः। गर्वावेग-धृति-व्रीडा-मति-हर्षावहित्थिकाः अमर्षोत्सुकता-असूया-स्मृति-आद्याः व्यभिचारिणः॥]

११. युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता।
या स्वशक्तिसहायाद्यैराहार्या सहजापि वा।
जिगीषा स्थेयसी युद्धे सा युद्धोत्साह ईर्यते॥ (१८)

[तस्मिन् युद्धोत्साहरतिः स्थायिभावतया उदिता, या स्वशक्तिसहायाद्यैः उदिता, अपि वा सहजा, युद्धे या स्थेयसी जिगीषा सा युद्धोत्साहः ईर्यते॥]

तत्र स्वशक्त्या आहार्योत्साहरतिर्यथा—

८. स्वतातशिष्ट्या स्फुटमप्यनिच्छ-
न्नाहूयमानः[3] पुरुषोत्तमेन।
स स्तोककृष्णो धृतशुद्धतृष्णः
प्रोद्यम्य दण्डं भ्रमयाञ्चकार॥ (१९)

[स्वतातशिष्ट्या स्फुटम् अनिच्छन् अपि पुरुषोत्तमेन आहूयमानः सः धृतशुद्धतृष्णः स्तोककृष्णः दण्डं प्रोद्यम्य भ्रमयाञ्चकार॥]

स्वशक्त्या सहजोत्साहरतिर्यथा—

९. शुण्डाकारं प्रेक्ष्य मे[4] बाहुदण्डं
मा त्वं भैषीः क्षुद्र रे भद्रसेन!
हेलारम्भेणाद्य निर्जित्य रामं
श्रीदामाहं कृष्णमेवाह्वयेय[5]॥ (२०)

[रे क्षुद्र भद्रसेन! त्वं मे शुण्डाकारं बाहुदण्डं प्रेक्ष्य मा भैषीः। अद्य हेलारम्भेण रामं निर्जित्य अहं श्रीदामा कृष्णम् एव आह्वयेय॥]

१०. वीरों का चतुष्टय (चार प्रकार) होने पर भी ये सभी सात्त्विक हैं। यहाँ गर्व, आवेग, धृति, व्रीड़ा (लज्जा), मति, हर्ष, अवहित्था; अमर्ष, उत्सुकता, असूया, स्मृति आदि व्यभिचारीभाव हैं। ।१७।

११. इस वीर भक्तिरस में युद्ध के लिये उत्साहरति स्थायीभाव के रूप से रहती है, जो अपनी शक्ति एवं सहाय आदि के द्वारा आहार्य होती है अथवा सहज भी होती है। युद्ध में स्थिर रहने वाली विजय की इच्छा को ही युद्ध का उत्साह कहा जाता है। ।१८।

अपनी शक्ति से आहार्य उत्साहरति यथा—

८. अपने पिता के आदेश ("किसी से युद्ध मत करना") के कारण प्रकट रूप से न चाहता हुआ भी वह स्तोककृष्ण पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) के द्वारा युद्ध के लिये उकसा कर बुलाया जाता हुआ, डण्डा उठाकर घुमाने लगा। ।१९।

अपनी शक्ति से सहज उत्साहरति यथा—

९. अरे क्षुद्र भद्रसेन! तुम मेरे सूँड जैसे बाहुदण्ड को देखकर मत डरो। आज तो मैं श्रीदामा खेल ही खेल में पहले ही बलराम को जीतकर (फिर) कृष्ण को भी ललकारने वाला हूँ। ।२०।

१०. चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्त्विकाः।
गर्वावेग-धृति-व्रीडा-मति-हर्षावहित्थिकाः।
अमर्षोत्सुकतासूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः॥ (१७)

[वीराणां चतुष्टये अपि निखिलाः एव सात्त्विकाः। गर्वावेग-धृति-व्रीडा-मति-हर्षावहित्थिकाः अमर्षोत्सुकता-असूया-स्मृति-आद्याः व्यभिचारिणः॥]

११. युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता।
या स्वशक्तिसहायाद्यैराहार्या सहजापि वा।
जिगीषा स्थेयसी युद्धे सा युद्धोत्साह ईर्यते॥ (१८)

[तस्मिन् युद्धोत्साहरतिः स्थायिभावतया उदिता, या स्वशक्तिसहायाद्यैः उदिता, अपि वा सहजा, युद्धे या स्थेयसी जिगीषा सा युद्धोत्साहः ईर्यते॥]

तत्र स्वशक्त्या आहार्योत्साहरतिर्यथा—

८. स्वतातशिष्ट्या स्फुटमप्यनिच्छ-
न्नाहूयमानः[3] पुरुषोत्तमेन।
स स्तोककृष्णो धृतशुद्धतृष्णः
प्रोद्यम्य दण्डं भ्रमयाञ्चकार॥ (१९)

[स्वतातशिष्ट्या स्फुटम् अनिच्छन् अपि पुरुषोत्तमेन आहूयमानः सः धृतशुद्धतृष्णः स्तोककृष्णः दण्डं प्रोद्यम्य भ्रमयाञ्चकार॥]

स्वशक्त्या सहजोत्साहरतिर्यथा—

९. शुण्डाकारं प्रेक्ष्य मे[4] बाहुदण्डं
मा त्वं भैषीः क्षुद्र रे भद्रसेन!
हेलारम्भेणाद्य निर्जित्य रामं
श्रीदामाहं कृष्णमेवाह्वयेय[5]॥ (२०)

[रे क्षुद्र भद्रसेन! त्वं मे शुण्डाकारं बाहुदण्डं प्रेक्ष्य मा भैषीः। अद्य हेलारम्भेण रामं निर्जित्य अहं श्रीदामा कृष्णम् एव आह्वयेय॥]

१०. वीरों का चतुष्टय (चार प्रकार) होने पर भी ये सभी सात्त्विक हैं। यहाँ गर्व, आवेग, धृति, व्रीड़ा (लज्जा), मति, हर्ष, अवहित्था; अमर्ष, उत्सुकता, असूया, स्मृति आदि व्यभिचारीभाव हैं। ।१७।

११. इस वीर भक्तिरस में युद्ध के लिये उत्साहरति स्थायीभाव के रूप से रहती है, जो अपनी शक्ति एवं सहाय आदि के द्वारा आहार्य होती है अथवा सहज भी होती है। युद्ध में स्थिर रहने वाली विजय की इच्छा को ही युद्ध का उत्साह कहा जाता है। ।१८।

अपनी शक्ति से आहार्य उत्साहरति यथा—

८. अपने पिता के आदेश ("किसी से युद्ध मत करना") के कारण प्रकट रूप से न चाहता हुआ भी वह स्तोककृष्ण पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) के द्वारा युद्ध के लिये उकसा कर बुलाया जाता हुआ, डण्डा उठाकर घुमाने लगा। ।१९।

अपनी शक्ति से सहज उत्साहरति यथा—

९. अरे क्षुद्र भद्रसेन! तुम मेरे सूँड जैसे बाहुदण्ड को देखकर मत डरो। आज तो मैं श्रीदामा खेल ही खेल में पहले ही बलराम को जीतकर (फिर) कृष्ण को भी ललकारने वाला हूँ। ।२०।

यथा वा—

१०. बलस्य बलिनो बलात् सुहृदनीकमालोडयन्
पयोधिमिव मन्दरः कृतमुकुन्दपक्षग्रहः।
जनं विकटगर्जितैर्बधिरयन् स धीरस्वरो
हरेः प्रमदमेककः समिति भद्रसेनो व्यधात्॥ (२१)

[बलिनः बलस्य सुहृदनीकं बलात् पयोधिं मन्दरः इव आलोडयन् कृतमुकुन्दपक्षग्रहः सः धीरस्वरः भद्रसेनः जनं विकटगर्जितैः बधिरयन् हरेः प्रमदं समिति व्यधात्॥]

सहायेनाहार्योत्साहरतिर्यथा—

११. मयि वल्गति भीमविक्रमे
भज भङ्गं न हि सङ्गरादितः।
इति मित्रगिरा वरूथपः
सविरूपं विरुवन् हरिं ययौ॥ (२२)

["मयि भीमविक्रमे वल्गति सङ्गरादितः भङ्गं न हि भज,"-इति मित्रगिरा वरूथपः सविरूपं विरुवन् हरिं ययौ॥].

सहायेन सहजोत्साहरतिर्यथा—

१२. संग्रामकामुकभुजः स्वयमेव कामं
दामोदरस्य विजयाय कृती सुदामा।
साहाय्यमत्र सुबलः कुरुते बली चे-
ज्जातो मणिः सुजटितो वरहाटकेन॥ (२३)

[सङ्ग्रामकामुकभुजः दामोदरस्य विजयाय कामं कृती सुदामा स्वयम् एव, बली सुबलः अत्र साहाय्यं कुरुते चेत् मणिः वरहाटकेन सुजटितः जातः॥]

१२. सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य न त्वरिः।
स भक्तक्षोभकारित्वाद् रौद्रे त्वालम्बनो रसे।
रागाभावो दृगादीनां रौद्रादस्य विभेदकः॥ (२४)

[प्रतिभटाः वीरे कृष्णस्य सुहृत् एव न तु अरिः। सः भक्तक्षोभकारित्वात् रौद्रे रसे तु आलम्बनः। दृगादीनां रागाभावः अस्य रौद्रात् विभेदकः॥]

अथवा यथा—

१०. *बलशाली बलराम की मित्रमण्डलीरूपी सेना को बलपूर्वक मन्दर पर्वत से क्षीरसागर की भाँति झकझोरते मथते हुए मुकुन्द का पक्ष लिये हुए उस धीर-स्वर-वाले भद्रसेन ने अपने विकट गर्जन से लोगों को बहरा-सा करते हुए युद्ध में हरि को आनन्द दिया। ।२१।*

सहाय के द्वारा आहार्य उत्साहरति यथा—

११. *"(शत्रु के लिये) भयङ्कर विक्रम वाले मेरे रहते तुम युद्ध आदि छोड़कर भागना नहीं!"-ऐसी मित्र की वाणी से (साहस पाकर) वह वरूथप नामक सखा घोर गर्जन करते हुए हरि (श्रीकृष्ण) की ओर बढ़े। ।२२।*

सहाय के कारण सहज उत्साहरति यथा—

१२. *संग्राम की इच्छुक भुजाओं वाला सुदामा (सखा) श्रीकृष्ण को जीतने में स्वयं ही समर्थ था, उसपर फिर बलशाली सुबल साहाय्य् करता हो तो अच्छा ही है, यह तो मणि का शुद्ध स्वर्ण में जटित होने जैसा हुआ। ।२३।*

१२. वीररस में सखा ही कृष्ण के प्रतिभट (युद्ध करनेवाला दूसरा पक्ष) होते हैं, शत्रु नहीं। शत्रु तो भक्त में क्षोभ उत्पन्न करता है इसलिये वह रौद्ररस में आलम्बन होता है। इसका रौद्र से भेद नेत्रों में लाली आदि के अभाव से होता है। ।२४।

अथ दानवीरः—

१३. द्विविधो दानवीरः स्यादेकस्तत्र बहुप्रदः।
उपस्थितदुरापार्थत्यागी चापर उच्यते॥ (२५)

[दानवीरः द्विविधः स्यात्, तत्र एकः बहुप्रदः, अपरः च उपस्थितदुरापार्थत्यागी उच्यते॥]

तत्र बहुप्रदः—

१४. सहसा दीयते येन स्वयं सर्वस्वमप्युत।
दामोदरस्य सौख्याय प्रोच्यते स बहुप्रदः॥ (२६)

[दामोदरस्य सौख्याय येन स्वयं सर्वस्वम् अपि सहसा दीयते, सः बहुप्रदः॥]

१५. सम्प्रदानस्य वीक्षाद्या अस्मिन्नुद्दीपना मताः।
वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम्॥ (२७)

[अस्मिन् सम्प्रदानस्य वीक्षाद्याः उद्दीपनाः मताः। वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम्॥]

१६. स्थैर्य-दाक्षिण्य-धैर्याद्या अनुभावा इहोदिताः।
वितर्कौत्सुक्यहर्षाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः॥ (२८)

[स्थैर्य-दाक्षिण्य-धैर्याद्याः अनुभावाः इह उदिताः। वितर्कौत्सुक्य-हर्षाद्याः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः॥]

१७. दानोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभावतयोदिता।
प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साह इतीर्यते॥ (२९)

[दानोत्साहरतिः तु अत्र स्थायिभावतया उदिता। प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साहः इति ईर्यते॥]

१८. द्विधा बहुप्रदोऽप्येष विद्वद्भिरिह कथ्यते।
स्यादाभ्युदयिकस्त्वेकः परस्तत्सम्प्रदानकः॥ (३०)

[एषः बहुप्रदः अपि इह विद्वद्भिः द्विधा कथ्यते। एकः तु आभ्युदयिकः परः तत् सम्प्रदानकः॥]

तत्र आभ्युदयिकः—

१९. कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते।
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत्॥ (३१)

[कृष्णस्य अभ्युदयार्थं येन ब्राह्मणादिभ्यः अर्थिभ्यः सर्वस्वम् अर्प्यते सः आभ्युदयिकः भवेत्॥]

दानवीर—

१३. दानवीर दो प्रकार का होता है; एक है बहुत प्रमाण में देने वाला, दूसरा-अपने पास की दुर्लभ वस्तु भी दे देने वाला। ।२५।

बहुप्रद—

१४. जिसके द्वारा दामोदर के सौख्य (सुख-सुविधा) के लिये अपना सर्वस्व भी सहसा दे दिया जाता है, वह बहुप्रद कहलाता है। ।२६।

१५-१६. इसमें सम्प्रदान की वीक्षा (विशेष ईक्षा) आदि उद्दीपन माने गये हैं। जितना चाहा गया हो उससे अधिक देना, मुस्कान के साथ सामने से स्वयं बोलना, स्थिरता, दाक्षिण्य (अनुकूलता युक्त कुशलता), धीरता आदि यहाँ अनुभाव कहे गये हैं। वितर्क, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारीभाव जानने चाहियें। ।२७-२८।

१७. यहाँ दान के प्रति उत्साह-रूपा रति स्थायीभाव मानी गई है। स्थिर एवं प्रगाढ़ देने की इच्छा ही दानोत्साह कहलाता है। ।२९।

१८. यह बहुप्रद भी विद्वद्जनों द्वारा दो प्रकार का कहा जाता है—एक आभ्युदयिक, दूसरा तत्-सम्प्रदानक। ।३०।

आभ्युदयिक—

१९. श्रीकृष्ण के अभ्युदय के लिये जिसके द्वारा ब्राह्मण आदि इच्छुक-याचकों को सर्वस्व दे डाला जाता है, वह आभ्युदयिक होता है। ।३१।

यथा—

१३. व्रजपतिरिह सूनोर्जातकार्थं तथासौ
व्यतरदमलचेताः सञ्चयं नैचिकीनाम्।
पृथुरपि नृगकीर्तिः साम्प्रतं संवृतासीद्
इति निजगदुरुच्चैर्भूसुरा येन तृप्ताः॥ (३२)

[अमलचेताः असौ व्रजपतिः इह सूनोः जातकार्थं नैचिकीनां सञ्चयं तथा व्यतरत येन "पृथुः अपि नृगकीर्त्तिः साम्प्रतं संवृता आसीत्" इति तृप्ताः भूसुरा उच्चैः निजगदुः॥]

अथ तत्सम्प्रदानकः—

२०. ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ताममतास्पदम्।
सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत्सम्प्रदानकः॥ (३३)

[येन ज्ञातये हरये स्वीयम् अहन्ताममतास्पदं सर्वस्वं दीयते, सः सम्प्रदानकः स्यात्॥]

२१. तद्दानं प्रीतिपूजाभ्यां भवेदित्युदितं द्विधा। (३४)

[तद् दानं प्रीति-पूजाभ्यां द्विधा भवेत् इति उदितम्॥]

तत्र प्रीतिदानम्—

२२. प्रीतिदानं तु तस्मै यद् दद्यात् बन्ध्वादिरूपिणे। (३५)

[यत् तु बन्धु-आदि रूपिणे तस्मै दद्यात् (तत्) प्रीतिदानम्॥]

यथा—

१४. चार्चिक्यं वैजयन्तीं पटमुरुपुरटोद्भासुरं भूषणानां
श्रेणिं माणिक्यभाजं गजरथतुरगान् कर्बुरान् कर्बुरेण।
दत्त्वा राज्यं कुटुम्बं स्वमपि भगवते दित्सुरप्यन्यदुच्चै-
र्देयं कुत्राप्यदृष्ट्वा मखसदसि तदा व्याकुलः पाण्डवोऽभूत्॥
(३६)

[मखसदसि पाण्डवः चार्चिक्यम्, माणिक्यभाजं वैजयन्तीम्, उरुपुरटोद्भासुरं पटम्, भूषणानां श्रेणिम्, कर्बुरेण कर्बुरान् गजरथतुरगान्, राज्यम्, स्वम् कुटुम्बम् अपि भगवते दत्वा उच्चैः अन्यत् अपि दित्सु कुत्र अपि देयम् अदृष्ट्वा तदा व्याकुलः अभूत्॥]

यथा—

१३. शुद्ध-स्वच्छ-चित्त-वाले इन व्रजपति (नन्द) ने यहाँ पुत्र के जातकर्म के उपलक्ष्य में अपनी उत्तम गायों का समूह ब्राह्मणों को ऐसा दे डाला कि तृप्त हुए द्विजों ने उच्च स्वर से कहा—महादानी नृग की विशाल कीर्त्ति भी अब (इसके सामने)संवृत (सिमटी हुई) हो गयी। ।३२।

तत्सम्प्रदानक—

२०. जिसके द्वारा बन्धु (सगे-सम्बन्धी) श्रीकृष्ण को अपना अहन्ताममता का आस्पद सर्वस्व ('यह मैं हूँ, यह मेरा है'-कहा जाने वाला सब-कुछ) दिया जाता है, वह तत्सम्प्रदानक होता है। ।३३।

२१. वह दान प्रीतिपूर्वक अथवा पूजाभाव से होता है इस प्रकार वह दो प्रकार का कहा गया है। ।३४।

प्रीतिदान—

२२. जो उन (श्रीकृष्ण) को अपना सगा-सम्बन्धी बन्धु मानते हुए (उस नाते से) दिया जाता है वह प्रीतिदान है। ।३५।

यथा—

१४. तनु पर लेप करने या लगाने योग्य सुगन्धमय शृङ्गारसामग्री-चन्दन-केशर-कस्तूरी आदि, माणिक-रत्न आदि से जटित वैजयन्ती माला, ज़री से सुनहले रेशमी वस्त्र, विविध आभूषणों की पंक्तियाँ, सोने के आभरणों से सुसज्जित हाथी-घोड़े, राज्य, कुटुम्ब तथा अपने आप को भी भगवान् को देकर फिर और भी कुछ उन्हें देने की इच्छा होने पर, किन्तु देने योग्य कुछ भी न देख पाकर राजसूय-यज्ञ की सभा में पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर व्याकुल हो गया। ।३६।

पूजादानम्—

२३. पूजादानन्तु तस्मै यद्विप्ररूपाय दीयते। (३७)

[विप्ररूपाय तस्मै यद् दीयते, तत् तु पूजादानम्॥]

यथा अष्टमे (भा०८/२०/११)—

१५. यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव[६] विष्णुर्वरदोऽस्तु वाऽपरो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने! (३८)

[मुने! आम्नायविधानकोविदाः भवन्तः आदृताः क्रतुभिः यं यज्ञं यजन्ति सः वरदः विष्णुः एव, अपरः वा अस्तु, अमुष्मै ईप्सितां क्षितिं दास्यामि॥]

यथा वा दशरूपके—

१६. लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्ग-कुङ्कुमारुणितो हरेः।
बलिनैव स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः॥ (३९)

[अस्य हरेः लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितः सः करः येन बलिना एव भिक्षापात्रीकृतः॥]

अथ उपस्थित-दुरापार्थत्यागी—

२४. उपस्थितदुरापार्थत्यागयसौ येन नेष्यते।
हरिणा दीयमानोऽपि सार्ष्ट्यादिस्तुष्यता वरः॥ (४०)

[असौ उपस्थितदुरापार्थत्यागी येन तुष्यता हरिणा दीयमानः सार्ष्टि-आदिः अपि न इष्यते॥]

२५. पूर्वतोऽत्र विपर्यस्तकारकत्वं द्वयोर्भवेत्।
अस्मिन्नुद्दीपनाः कृष्णकृपालाप-स्मितादयः॥ (४१)

[अत्र पूर्वतः द्वयोः विपर्यस्त-कारकत्वं भवेत्। कृष्णकृपालाप-स्मितादयः अस्मिन् उद्दीपनाः।।]

२६. अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णन-द्रढिमादयः।
अत्र सञ्चारिता भूम्ना धृतेरेव समीक्ष्यते॥ (४२)

[तदुत्कर्षवर्णन-द्रढिमादयः अनुभावाः, अत्र भूम्ना धृतेः एव सञ्चारिता समीक्ष्यते॥]

पूजादान—

२३. ब्राह्मण-रूपधारी श्रीकृष्ण को जो दिया जाय वह पूजादान है। ।३७।

यथा-अष्टम स्कन्ध में (भा० ८/२०/११)—

१५. *(बलि शुक्राचार्य से कहते हैं—) हे मुनि! वेद-शास्त्रों के विधान के तत्त्वज्ञ एवं प्रवीण आप आदरपूर्वक यज्ञों द्वारा जिनका पूजन करते हैं वे वर देने वाले विष्णु (सामने) हों अथवा अन्य कोई भी (याचक रूप में सामने खड़ा) हो, इसे इसके द्वारा चाही हुई भूमि अवश्य दूँगा। ।३८।*

अथवा दशरूपक में—

१६. *इन श्रीहरि का, लक्ष्मी के वक्षःस्थल में लगे कुङ्कुम के सङ्ग से अरुणवर्ण हुआ वह (दाहिना) हाथ जिस वस्तुतः बलवान् (दैत्यराज बलि) के द्वारा भिक्षापात्र बना दिया गया। ।३९।*

उपस्थित-दुरापार्थत्यागी—

२४. स्वयं श्रीहरि के द्वारा सन्तुष्ट होकर सालोक्य-सार्ष्टि आदि दुर्लभ वर दिये जाने पर भी जो उसे नहीं लेता, त्याग देता है, वह सामने आयी दुर्लभ वस्तु का भी त्याग करने वाला कहलाता है। ।४०।

२५. इसमें पहले की अपेक्षा विपरीत कारक होता है, अर्थात् भक्त सम्प्रदान (जिसे दिया जाता है) एवं भगवान अपादान (जहाँ से दिया जाता है) होते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण की कृपा, आलाप (बोलना), स्मित आदि उद्दीपन हैं। ।४१।

२६. यहां श्रीकृष्ण के उत्कर्ष का वर्णन, उनकी दृढ़ता आदि अनुभाव हैं। यहां धृति की ही अतिशय सहित सञ्चारिता है। ।४२।

२७. त्यागोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोदितः।
त्यागेच्छा[७] तादृशी प्रौढा त्यागोत्साह इतीर्यते[८]॥ (४३)

[इह धीरैः त्यागोत्साहरतिः स्थायी भावः उदितः। तादृशी प्रौढा त्यागेच्छा त्यागोत्साहः इति ईर्यते॥]

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

१७. स्थानाभिलाषी[९] तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान्[१०] देवमुनीन्द्रगुह्यम्[११]।
काचं विचिन्वन्नपि[१२] दिव्यरत्नं
स्वामिन्! कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे॥ (४४)

[(देव!) अहं स्थानाभिलाषी तपसि स्थितः काचं विचिन्वन् अपि दिवयरत्नम् (इव) त्वां देवमुनीन्द्रगुह्यं प्राप्तवान्, कृतार्थः अस्मि। स्वामिन्! वरं न याचे॥]

यथा वा तृतीये (भा०३/१५/४८)—

१८. नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥ (४५)

[अङ्ग! ये त्वदङ्घ्रिशरणाः, भवतः कीर्तन्य-तीर्थ-यशसः कथायाः कुशलाः रसज्ञाः, ते आत्यन्तिकम् अपि ते (तव) प्रसादम् न विगणयन्ति, किं नु ते भ्रुवः उन्नयैः अर्पितभयम् अन्यत्?]

२८. अयमेव भवन्नुच्चैः प्रौढभावविशेषभाक्।
धुर्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवीं व्रजेत्॥ (४६)

[अयम् एव उच्चैः प्रौढभावविशेषभाक् भवन् धुर्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवीं व्रजेत्॥]

अथ दयावीरः—

२९. कृपार्द्रहृदयत्वेन खण्डशो देहमर्पयन्।
कृष्णायाच्छन्नरूपाय दयावीर इहोच्यते॥ (४७)

[कृपार्द्रहृदयत्वेन आच्छन्नरूपाय कृष्णाय खण्डशः (स्व-)देहम् अर्पयन् इह दयावीरः उच्यते॥]

२७. धीर जनों ने यहाँ त्याग के उत्साह-रूपा रति को स्थायीभाव कहा है। उस प्रकार की प्रौढ़ त्याग की इच्छा को त्योगोत्साह कहा जाता है। ।४३।

यथा हरिभक्तिसुधोदय में:—

१७. हे भगवन्! मैं तो स्थान की अभिलाषा से तपस्या में लगा हुआ था, इसी में मुझे आप मिल गये जो कि बड़े-बड़े श्रेष्ठ मुनियों को भी दुर्लभ हैं, हे स्वामिन्! यह तो ऐसा ही हुआ मानो काँच ढूँढ़ते हुए को दिव्य रत्न मिल गया, इसीलिये मैं कृतार्थ हूँ, अब और कोई वर नहीं माँग रहा हूँ। ।४४।

अथवा यथा तृतीय स्कन्ध में (भा० ३/१५/४८)—

१८. हे प्रिय (भगवन्)! जो आपके चरणों की शरण लिये हुए हैं, जो कीर्तनीय आपके यश की कथा के कुशल रसज्ञ (रस को समझने वाले) हैं, वे आपके चरम प्रसाद (मोक्ष) को भी कुछ नहीं गिनते (यशोगान व कथारस की तुलना में मोक्ष को भी नगण्य मानते हैं), फिर अन्य (स्वर्ग-सम्पत्ति-राज्य आदि) की तो बात ही क्या?-जो आपके भौंह के उठने-गिरने (के इशारे) पर निर्भर हैं अर्थात् सीमित कालव्यापी हैं। ।४५।

२८. यहा प्राप्त हुई दुर्लभ वस्तु का त्याग करने वाला श्रीकृष्ण के प्रति (उच्च रूप से) प्रौढ़ (दास्य रूप) भावविशेष का पात्र होता हुआ, धुर्य आदि मे तृतीय वीर की पदवी प्राप्त करता है। ।४६।

दयावीर—

२९. कृपा (दया) से आर्द्र हृदय वाला होने से जो स्वरूप छिपाये हुए (किसी अन्य ही दयनीय रूप में सम्मुख स्थित) श्रीकृष्ण को अपना शरीर भी खण्ड-खण्ड करके दे देता है, उसे यहाँ दयावीर कहा जाता है। ।४७।

३०. उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदार्तिव्यञ्जनादयः।
निजप्राणव्ययेनापि विपन्नत्राणशीलता॥ (४८)

[तदार्तिव्यञ्जनादयः इह उद्दीपनाः प्रोक्ताः। निजप्राणव्ययेन अपि विपन्नत्राणशीलता (दयावीरस्य स्वरूपम्) ॥]

३१. आश्वासनोक्तयः स्थैर्यमित्याद्यास्तत्र विक्रियाः।
औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ज्ञेयाः सञ्चारिणो बुधैः॥ (४९)

[आश्वासनोक्तयः स्थैर्यमित्याद्याः तत्र विक्रियाः। औत्सुक्य-मति-हर्षाद्याः बुधैः सञ्चारिणः ज्ञेयाः ॥]

३२. दयोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभाव उदीर्यते।
दयोद्रेकभृदुत्साहो[13] दयोत्साह इहोदितः॥ (५०)

[दयोत्साहरतिः तु अत्र स्थायिभावः उदीर्यते। दयोद्रेकभृदुत्साहः इह दयोत्साहः उदितः ॥]

यथा—

१९. वन्दे कुड्मलिताञ्जलिर्मुहुरहं वीरं मयूरध्वजं
येनार्धं कपटद्विजाय वपुषः कंसद्विषे दित्सता॥
कष्टं गद्गदिकाकुलोऽस्मि कथनारम्भादहो धीमता
सोल्लासं क्रकचेन दारितमभूत् पत्नीसुताभ्यां शिरः॥ (५१)

[कुड्मलिताञ्जलिः अहं वीरं मयूरध्वजं मुहुः वन्दे, येन कपटद्विजाय कंसद्विषे वपुषः अर्धं धित्सता धीमता सोल्लासं क्रकथेन पत्नीसुताभ्यां शिरः दारितम् अभूत्। कष्टं कथनारम्भात् अहो! गद्गदिताकुलः अस्मि ॥],

३३. हरेश्चेत्तत्त्वविज्ञानं नैवास्य घटते दया।
तदभावे त्वसौ दानवीरेऽन्तर्भवति स्फुटम्॥ (५२)

[हरेः तत्त्वविज्ञानं चेत् अस्य दया न एव घटते, तदभावे तु असौ दानवीरे स्फुटम् अन्तर्भवति ॥]

३४. वैष्णवत्वाद् रतिः कृष्णे क्रियतेऽनेन सर्वदा।
कृतात्र द्विजरूपे च भक्तिस्तेनास्य भक्तता॥ (५३)

[वैष्णवत्वात् अनेन सर्वदा कृष्णे रतिः क्रियते। अत्र द्विजरूपे च भक्तिः कृता। तेन अस्य भक्तता ॥]

३०. उस (दयनीय रूप में स्थित भगवान्) के द्वारा आर्त्ति (करुण दशा या विपद्ग्रस्तता) व्यक्त किया जाना आदि यहाँ उद्दीपन कहे गये हैं। अपने प्राण भी खर्च करके विपद्ग्रस्त की रक्षा करने का शील होना (दयावीर का स्वरूप है।) ।४८।

३१. आश्वासन के वचन, स्थिरता इत्यादि इसमें विक्रियायें हैं। औत्सुक्य, मति, हर्ष आदि को सुज्ञ व्यक्तियों ने यहाँ सञ्चारी कहा है। ।४९।

३२. दया-उत्साह-रति यहाँ स्थायिभाव कहा जाता है, दया के उद्रेक से युक्त उत्साह ही दयोत्साह है। ।५०।

यथा—

१९. *अञ्जलि बाँधे हुए मैं वीर मयूरध्वज को बारम्बार वन्दन करता हूँ, जिस सुधीरबुद्धिशाली ने कपटवेष में ब्राह्मण बने हुए कंसशत्रु श्रीकृष्ण को अपने शरीर का आधा भाग देने की इच्छा से उल्लासपूर्वक आरे से पत्नी एवं पुत्र के द्वारा मस्तक चिरवा दिया था। अरे! यह कहना आरम्भ करते ही मैं कण्ठ गद्गद हो आने से आकुल हो उठा हूँ।* ।५१।

३३. यदि भक्त में श्रीहरि का तत्त्वविज्ञान हो (पहचान हो कि ये स्वयं भगवान् हैं) तो फिर दया नहीं हो सकती। दया न हो तो फिर वह दानवीर ही होगा यह स्पष्ट है। ।५२।

३४. वैष्णव होने के नाते भक्त की रति श्रीकृष्ण में सर्वदा होती है। यहाँ (मयूरध्वज के प्रसङ्ग) में ब्राह्मणरूप में भक्ति प्रकट हुई है, (वह भी श्रीहरि का ही रूप है) इसलिये वह भी भक्त ही है। ।५३।

३५. अन्तर्भावं वदन्तोऽस्य दानवीरे दयात्मनः।
वोपदेवादयो धीरा वीरमाचक्षते त्रिधा॥ (५४)

[दयात्मनः दानवीरे अन्तर्भावं वदन्तः बोपदेवादयः धीराः वीरं त्रिधा आचक्षते॥]

अथ धर्मवीरः—

३६. कृष्णैकतोषणे धर्मे यः सदा परिनिष्ठितः।
प्रायेण धीरशान्तस्तु धर्मवीरः स उच्यते॥ (५५)

[यः सदा कृष्णैकतोषणे परिनिष्ठितः, सः धीरः शान्तः तु धर्मवीरः उच्यते॥]

३७. उद्दीपना इह प्रोक्ताः सच्छास्त्रश्रवणादयः।
अनुभावा नयास्तिक्य-सहिष्णुत्व-यमादयः।
मति-स्मृति-प्रभृतयो विज्ञेया व्यभिचारिणः॥ (५६)

[सच्छास्त्रश्रवणादयः इह उद्दीपनाः प्रोक्ताः। नय-आस्तिक्य-सहिष्णुत्व-यमादयः अनुभावाः। मति-स्मृतिप्रभृतयः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः॥]

३८. धर्मोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोच्यते।
धर्मैकाभिनिवेशस्तु धर्मोत्साहो मतः सताम्॥ (५७)

[इह धीरैः धर्मोत्साहरतिः स्थायी भावः उच्यते। धर्मैकाभिनिवेशः तु सतां धर्मोत्साहः मतः॥]

यथा—

२०. भवदभि-रतिहेतून् कुर्वता सप्ततन्तून्
पुरमभि पुरुहूते नित्यमेवोपहूते।
दनुजदमन! तस्याः पाण्डुपुत्रेण गण्डः
सुचिरमरचि शच्याः सव्यहस्ताङ्कशायी॥ (५८)

[दनुजदमन! भवदभिरतिहेतून् सप्ततन्तून् कुर्वता पाण्डुपुत्रेण नित्यम् एव पुरम् अभि उपहूते पुरुहूते तस्याः शच्याः गण्डः सुचिरम् सव्यहस्ताङ्कशायी अरचि॥]

३९. यज्ञः पूजा-विशेषोऽस्य भुजाद्यङ्गानि वैष्णवैः।
ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन यदेष्वाहुतिरर्प्यते॥ (५९)

[यज्ञः अस्य पूजाविशेषः भुजादि-अङ्गानि इन्द्राद्याश्रयत्वेन ध्यात्वा यत् एषु वैष्णवैः आहुतिः अर्प्यते॥]

३५. दयात्मक वीर का दानवीर में अन्तर्भाव कहने वाले बोपदेव आदि धीर (बुद्धिशाली) वीर को तीन प्रकार का बताते हैं। ।५४।

धर्मवीर—

३६. जो सदा एकमात्र श्रीकृष्ण को ही सन्तोष देने में परिनिष्ठित रहता है वह धीरशान्त धर्मवीर कहलाता है। ।५५।

३७. यहा सत्-शास्त्रों का श्रवण आदि उद्दीपन कहे गये हैं; नय, आस्तिक्य, सहिष्णुता, यम आदि अनुभाव और मति, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव जानने चाहिये। ।५६।

३८. धीर व्यक्तियों ने यहां धर्मोत्साह-रति को स्थायी भाव कहा है। एकमात्र धर्म में अभिनिवेश ही सज्जनों के मत से धर्मोत्साह है। ।५७।

यथा—

२०. हे दनुजों का दमन करने वाले प्रभो! आपके प्रति रति कराने वाले यज्ञ करता रहता हुआ पाण्डव (युधिष्ठर) नित्य ही इन्द्र को अपने पुर (इन्द्रप्रस्थ) में बुला लेता है, इससे (प्रतीक्षारत) उस शची (इन्द्राणी) का कपोल बाँये हाथ पर ही बहुत समय से ठहर गया है। ।५८।

३९. यज्ञ ही भगवान् की विशेष पूजा है क्योंकि उनके भुजा आदि अङ्ग इन्द्र आदि के आश्रय हैं ऐसा ध्यान करते हुए ही वैष्णवों द्वारा उनमें आहुति दी जाती है। ।५९।

४०. अयन्तु साक्षात्तस्यैव निदेशात् कुरुते मखान्।
युधिष्ठिरोऽम्बुधिः[१४] प्रेम्णां महाभागवतोत्तमः॥ (६०)

[अयं महाभागवतोत्तमः प्रेम्णाम् अम्बुधिः युधिष्ठिरः तु साक्षात् तस्य एव निदेशात् मखान् कुरुते॥]

४१. दानादित्रिविधं वीरं वर्णयन्तः परिस्फुटम्[१५]।
धर्मवीरं न मन्यन्ते कतिचिद्धनिकादयः॥ (६१)

[कतिचित् धनिकादयः दानादि-त्रिविधं वीरं वर्णयन्तः धर्मवीरं न मन्यन्ते॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे वीरभक्तिरस-लहरी तृतीया॥

४०. यह उत्तम महाभागवत, प्रेम-प्रवाहों का सागर युधिष्ठिर तो साक्षात् उन (श्रीकृष्ण) के ही निदेश से अनेकों यज्ञ करता रहता है। ।६०।

४१. कुछ धनिक आदि (विद्वान) दानवीर आदि तीन ही प्रकार के वीरों का वर्णन करते हुए धर्मवीर (कोटि) को नहीं मानते हैं। ।६१।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में तीसरी वीरभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

करुणभक्तिरसाख्या-चतुर्थलहरी

१. आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसो हि[१] करुणाभिधः॥ (१)

[आत्मोचितैः विभावाद्यैः सतां हृदि पुष्टिं नीता शोकरतिः हि करुणाभिधः भक्तिरसः भवेत्॥]

२. अव्युच्छिन्न[२]-महानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः।
अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्य च प्रियः।। (२)

[एषः अव्युच्छिन्न-महानन्दः अपि प्रेमविशेषतः अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णः, अस्य प्रियः च॥]

३. तथानवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रियो जनः।
इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेया आलम्बनास्त्रिधा॥ (३)

[तथा-अनवाप्त-तद्भक्ति-सौख्यः च स्वप्रियः जनः, इति अस्य विषयत्वेन आलम्बनाः त्रिधा ज्ञेयाः॥]

४. तत्तद्वेदी, तद्भक्तः च आश्रयत्वेन च त्रिधा।
सोऽप्यौचित्येन विज्ञेयः प्रायः शान्तादिवर्जितः।
तत्कर्मगुणरूपाद्या भवन्त्युद्दीपना इह॥ (४)

[तत्तद्वेदी, तद्भक्तः च आश्रयत्वेन च त्रिधा। सः अपि औचित्येन प्रायः शान्त्यादिवर्जितः विज्ञेयः। तत्कर्मगुणरूपाद्याः उद्दीपनाः भवन्ति॥]

५. अनुभावा मुखे शोषो विलापः स्रस्तगात्रता।
श्वासक्रोशनभूपात-घातोरस्ताडनादयः॥ (५)

[(अत्र)—मुखे शोषः, विलापः, स्रस्तगात्रता, श्वास-क्रोशन-भूपात-घात-उरस्ताडनादयः अनुभावाः॥]

६. अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः।
चिन्ता विषाद औत्सुक्य-चापलोन्माद-मृत्यवः।
आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यभिचारिणः॥ (६)

[अत्र अष्टौ सात्त्विकाः, जाड्य-निर्वेद-ग्लानि-दीनताः, चिन्ता, विषादः, औत्सुक्य-चापल-उन्माद-मृत्यवः, आलस्य-अपस्मृति-व्याधि-मोहाद्याः व्यभिचारिणः।।]

चतुर्थ लहरी—करुणभक्तिरस

१. सज्जनों के चित्त में अपने अनुकूल विभाव आदि के साथ पुष्ट हुई शोकरति ही करुण-नामक भक्तिरस है। ।१।

२-३. इस करुण रस के विषय रूप से आलम्बन तीन प्रकार से बनते हैं-

१. स्वयं श्रीकृष्ण, कभी न मिटने वाला महान् आनन्द उनका स्वरूप होते हुए भी प्रेमविशेष के कारण भक्तों द्वारा उनका अनिष्ट होने की आशङ्का की जाती है अतः वे करुण रस के विषय हैं। ।२।

२. उनके प्रियजन

३. श्रीकृष्ण के भक्तों के प्रियजन (बन्धु-बान्धव) जिन्हें श्रीकृष्ण-भक्ति का सुख प्राप्त नहीं हुआ (उनके प्रति भक्तों को करुणा का अनुभव होता है।) ।३।

४. उक्त तीनों प्रकार से करुण-विषयालम्बनों को जानने के नाते श्रीकृष्णभक्त करुणरस के तीन प्रकार से आश्रय होते हैं। वह भी औचित्य के अनुसार शान्त आदि रसालम्बन को छोड़कर ही करुण रस के आश्रयालम्बन जानने चाहियें। श्रीकृष्ण के कर्म, गुण, रूप आदि यहाँ उद्दीपन होते हैं। ।४।

५. मुँह सूखना, विलाप, अङ्ग ढीले पड़ जाना, लम्बी साँसें लेना, चिल्लाना, धरती पर गिरना, धरती पर आघात करना, छाती पीटना आदि यहाँ अनुभाव होते हैं। ।५।

६. यहाँ आठों सात्त्विक भाव होते हैं। तथा जड़ हो जाना, निर्वेद, ग्लानि, दीनता, चिन्ता, विषाद, उत्सुकता, चपलता, उन्माद, मृत्यु, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि, मोह (मूर्च्छा) आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। ।६।

७. हृदि शोकतयांशेन³ गता परिणतिं रतिः।
उक्ता शोकरतिः सैव स्थायी भाव इहोच्यते॥ (७)

[शोकतया अंशेन हृदि परिणतिं गता रतिः शोकरतिः (इति) उक्ता; सा एव इह स्थायी भावः उच्यते॥]

तत्र कृष्णो, यथा श्रीदशमे (भा०१०/१६/१०)—

१. तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामाः
दुःखाभिशोकभयमूढधियो निपेतुः॥ (८)

[नागभोगपरिवीतम् अदृष्टचेष्टं तम् आलोक्य तत्प्रियसखाः भृशार्ताः कृष्णेऽर्पितात्मसुहृद्-अर्थ-कलत्र-कामाः दुःख-अभिशोक-भय-मूढधियः पशुपाः निपेतुः॥]

यथा वा—

२. फणिह्रदमवगाढे दारुणं पिञ्छचूडे
स्खलदशिशिर⁴-बाष्पस्तोम-धौतोत्तरीया।
निखिलकरणवृत्तिस्तम्भिनीमाललम्बे
विषमगतिमवस्थां गोष्ठराजस्य राज्ञी॥ (९)

[पिच्छचूडे दारुणं फणिह्रदम् अवगाढे स्खलदशिशिर-बाष्प-स्तोम-धौतोत्तरीया गोष्ठराजस्य राज्ञी निखिलकरणवृत्तिस्तम्भिनीं विषमगतिम् अवस्थाम् आललम्बे॥]

तस्य प्रियजनो, यथा—

३. कृष्णप्रियाणामाकर्षे शङ्खचूडेन निर्मिते।
नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुर्नीलिमानं मुहुर्दधे॥ (१०)

[शङ्खचूडेन कृष्णप्रियाणाम् आकर्षे निर्मिते नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुः मुहुः नीलिमानम् दधे॥]

७. शोक-दशा के कारण हृदय में अंशतः परिणत हुई रति शोकरति कही गई है। वही यहाँ स्थायीभाव है। ।७।

इसके दृष्टान्तरूप श्रीकृष्ण यथा दशम में (भा० १०/१६/१०)—

१. *(श्रीकृष्ण को) कालियनाग के फणों से घिरा हुआ, नागपाश में जकड़ा होने से जिसकी चेष्टायें (हिल-डोल) दिखाई नहीं दे रहीं ऐसा देखकर उनके प्रिय सखा-गण तथा गोप आतिशय आर्त होकर (उन) श्रीकृष्ण के प्रति ही अपनी समस्य कामनायें, मित्र, स्त्री-परिवार, धन अपने आप तक को अर्पित किये हुए, दुःखी, तन-मन सब में फैले शोक एवं भय से मूढ़-बुद्धि-वाले होकर धरती पर गिर पड़े। ।८।*

अथवा—

२. *मयूरपिच्छ जिनके मस्तक पर है ऐसे श्रीकृष्ण के भीषण कालीदह में कूद पड़ने पर, व्रजेश (नन्द) की रानी (यशोदा)-जिसके उष्ण अश्रुओं की झरने जैसी धारा से आँचल धुल रहा था—समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों को स्तम्भित करने वाली विषमगति उत्पन्न करती हुई अवस्था (मूर्च्छा) को पहुँच गई। ।९।*

उनके प्रियजन, यथा—

३. *शङ्खचूड (यक्ष) के द्वारा श्रीकृष्ण की प्रिया सखियों को बलपूर्वक खींच लिये जाने पर नीलवसनधारी (बलराम) का मुखचन्द्र बारम्बार नीला पड़ने लगा। ।१०।*

स्वप्रियो, यथा हंसदूते—

४. विराजन्ते यस्य व्रजशिशुकुलस्तेयविकल-
स्वयम्भूचूडाग्रैर्लुलितशिखराः पादनखराः।
क्षणं यानालोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः
स देवर्षिर्मुक्तानपि मुनिगणान् शोचति भृशम्॥ (११)

[यस्य पादनखराः व्रजशिशुकुलस्तेयविकलस्वयम्भूचूडाग्रैः लुलितशिखराः विराजन्ते, यान् क्षणम् आलोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः अपि सः देवर्षिः मुक्तान् मुनिगणान् भृशं शोचति॥]

यथा वा—

५. मातर्माद्रि! गता कुतस्त्वमधुना हा क्वासि पाण्डो पितः!
सान्द्रानन्द-सुधाब्धिरेष युवयोर्नाभूद् दृशां गोचरः।
इत्युच्चैर्नकुलानुजो विलपति प्रेक्ष्य प्रमोदाकुलो
गोविन्दस्य पदारविन्दयुगलप्रोद्दामकान्तिच्छटाम्॥ (१२)

[गोविन्दस्य पदारविन्दयुगलप्रोद्दामकान्तिच्छटां प्रेक्ष्य प्रमोदाकुलः नकुलानुजः "मातः माद्रि! त्वम् अधुना कुतः गता? हा पितः पाण्डो! क्व असि? एष सान्द्रानन्द-सुधाब्धिः युवयोः दृशां गोचरः न अभूत्।"—इति उच्चैः विलपति॥]

८. रतिं विनापि घटते हासादेरुद्गमः क्वचित्।
कदाचिदपि शोकस्य नास्य सम्भावना भवेत्॥ (१३)

[हासादेः उद्गमः क्वचित् रतिं विना अपि घटते, अस्य शोकस्य सम्भावना कदाचित् अपि न भवेत्॥]

९. रतेर्भूम्ना कृशिम्ना च शोको भूयान् कृशश्च सः।
रत्या सहाविनाभावात् काप्येतस्य विशिष्टता॥ (१४)

[सः शोकः रतेः भूम्ना कृशिम्ना च भूयान् कृशः च। रत्या सह अविनाभावात् एतस्य का अपि विशिष्टता॥]

अपि च—

१०. कृष्णैश्वर्याद्यविज्ञानं कृतं नैषामविद्यया।
किन्तु प्रेमोत्तर-रसविशेषेणैव' तत् कृतम्॥ (१५)

[एषां कृष्णैश्वर्यादि-अविज्ञानम् न अविद्यया कृतम्, किं तु प्रेमोत्तररसविशेषेण एव तत् कृतम्॥]

अपने प्रिय, यथा हंसदूत में—

४. *जिसके चरणों के नखों पर गोपाल-बालकों को चुराने (के अपराध-बोध) से विकल ब्रह्मा के मुकुट-सहित केश लोट रहे हैं, जिन्हें क्षणभर भी देखकर प्रकट हुए परमानन्द से विवश हुए भी देवर्षि (नारद) मुक्त हो चुके हुए मुनिजनों के लिये अत्यधिक शोक करते हैं (कि बेचारे वे मुनि मोक्ष पा जाने के कारण श्रीकृष्ण के चरण-दर्शन के आनन्द से वञ्चित हैं।)* ।११।

अथवा—

५. *श्रीगोविन्द के दोनों चरण-कमलों की अतिशय भास्वर कान्ति की छटा को देखकर प्रमोद से आकुल नकुल का छोटा भाई (सहदेव) यह कहता हुआ उच्चस्वर से विलाप कर रहा है कि—हे माँ माद्रि! तुम कहाँ चली गईं? हे पिता पाण्डु! आप अब कहाँ हैं? हाय, सघन आनन्द-सुधा के सागर जैसा यह भगवान् का रूप आप दोनों के नयन नहीं देख पाये! (अर्थात् आप लोग इस आनन्द से वञ्चित रह गये।)* ।१२।

८. कहीं रति के बिना भी हास आदि का उद्गम होता है, किन्तु (रति के बिना) इस शोक की कभी भी सम्भावना नहीं। ।१३।

९. वह शोक रति के आधिक्य अथवा न्यूनता के नाते भूयान् (अधिक) या कृश होता है, रति के साथ अविनाभाव होने के कारण इस (शोक) की कुछ विशिष्टता है। ।१४।

और भी—

१०. इन (शोक रति वाले भक्तों) का श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य आदि का अज्ञान अविद्याकृत नहीं होता, अपितु श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय प्रेम से बढ़े रसविशेष के कारण ही (ऐश्वर्य आदि भूलना) उत्पन्न होता है। ।१५।

११. अंतः प्रादुर्भवन् शोको लब्ध्वाऽप्युद्भटतां[६] मुहुः।
दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि॥ (१६)

[ततः प्रादुर्भवन् शोकः मुहुः उद्भटतां लब्ध्वा अपि सौख्यस्य काम् अपि दुरूहाम् एव गतिं तनुते॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे करुणभक्तिरस-लहरी चतुर्थी॥

११ वह शोक बारम्बार उद्भट होता हुआ भी सुख की ही किसी दुरूह (समझ में न आने वाली) गति का विस्तार करता है। ।१६।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में चौथी करुणभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

रौद्रभक्तिरसाख्या—पञ्चमलहरी

१. नीता क्रोधरतिः पुष्टिं विभावाद्यैर्निजोचितैः।
हृदि भक्तजनस्यासौ रौद्रभक्तिरसो भवेत्॥ (१)

[असौ क्रोधरतिः निजोचितैः विभावाद्यैः भक्तजनस्य हृदि पुष्टिं नीता रौद्रभक्तिरसः भवेत्॥]

२. कृष्णो हितोऽहितश्चेति क्रोधस्य विषयस्त्रिधा।
कृष्णे सखी-जरत्याद्याः क्रोधस्याश्रयतां गताः।
भक्ताः सर्वविधा एव हिते चैवाहिते तथा॥ (२)

[कृष्णः, हितः, अहितः च इति क्रोधस्य त्रिधा विषयः। सखी-जरती-आद्याः कृष्णे क्रोधस्य आश्रयतां गताः। हिते तथा अहिते च एव भक्ताः सर्वविधाः एव॥]

तत्र, कृष्णे सख्याः क्रोधः—

३. [१]सखीक्रोधो भवेत् सख्याः कृष्णादत्याहिते सति। (३)

[कृष्णात् सख्याः अत्याहिते सति सखीक्रोधः भवेत्॥]

यथा विदग्धमाधवे—

१. अन्तःक्लेश-कलङ्किताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरं
नायं वञ्चन-सञ्चय-प्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति।
अस्मिन् सम्पुटिते गभीरकपटैराभीरपल्लीविटैः
हा मेधाविनि! राधिके! तव कथं प्रेमा गरीयानभूत्? (४)

[अन्तःक्लेशकलङ्किताः वयम् अद्य याम्यां पुरं यामः। तथा अपि अयं वञ्चनसञ्चय-प्रणयिनं हासं न मुञ्चति। गभीरकपटैः आभीरपल्लीविटैः सम्पुटिते अस्मिन्, हा मेधाविनि राधिके! तव कथं गरीयान् प्रेमा अभूत्॥]

तत्र जरत्याः क्रोधः—

४. क्रोधो जरंत्या वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ। (५)

[वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ जरत्याः क्रोधः॥]

पञ्चम लहरी—रौद्रभक्तिरस

१. यह क्रोध-रति भक्तजनों के हृदय में अपने लिये उचित विभाव आदि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त होकर रौद्र-भक्तिरस बनती है। ।१।

२. श्रीकृष्ण, हितकारी एवं अहितकारी इस प्रकार से क्रोध का विषय तीन प्रकार का होता है। श्रीकृष्ण के प्रति सखी, जरती (वृद्धा गोपी) आदि क्रोध के आश्रय होते है। हितकारी एवं अहितकारी के प्रति सभी प्रकार के भक्त क्रोध के आश्रयालम्बन होते हैं। ।२।

इनमें से श्रीकृष्ण के प्रति सखी का क्रोध—

३. श्रीकृष्ण से सखी का अतिक्रमण या सखी के प्रति उद्दण्डता होने पर सखी-क्रोध होता है। ।३।

यथा विदग्धमाधव में—

१. अन्तःक्लेश (क्षोभ, क्रोध) से दूषित हुई हम तो आज यम की पुरी को जा रही हैं (क्रोध-कष्ट से मानो मर रही है) फिर भी यह दूसरों को ठगने की ही पूँजी बटोरने वाली अपनी हँसी (सब को मोहित करने वाला हास्य) नहीं छोड़ रहा है। अहीरग्राम (गोकुल-वृन्दावन) के गहरे कपटी धूर्त मित्रों से घिरे हुए इस (गोकुलकृष्ण) के प्रति हे मेधाविनि (बुद्धिमती) राधिके! तुम्हें कैसे गुरुतर (अत्यधिक) प्रेम हो गया? ।४।

इसी में-जरती (वृद्धागोपी) का क्रोध—

४. अपनी पुत्रवधू के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण को देख लेने पर जरती का क्रोध प्रकट होता है। ।५।

यथा—

२. अरे युवतितस्कर! प्रकटमेव वध्वाः पट-
स्तवोरसि निरीक्ष्यते बत न नेति किं जल्पसि?
अहो व्रजनिवासिनः! शृणुत किं न विक्रोशनं
व्रजेश्वरसुतेन मे सुतगृहेऽग्निरुत्थापितः ॥ (६)

[अरे युवतितस्कर! वध्वाः पटः प्रकटम् एव तव उरसि निरीक्ष्यते। बत न न इति किं जल्पसि? अहो व्रजनिवासिनः विक्रोशनं किं न शृणुत! व्रजेश्वरसुतेन मे सुतस्य गृहे अग्निः उत्थापितः ॥]

५. गोवर्धनं महामल्लं विनान्येषां व्रजौकसाम्।
सर्वेषामेव गोविन्दे रतिः प्रौढा विराजते॥ (७)

[गोवर्धनं महामल्लं विना अन्येषां सर्वेषाम् एव व्रजौकसां (हृदि) गोविन्दे प्रौढा रतिः विराजते॥]

अथ हितः—

६. हितस्त्रिधानवहितः साहसी चेर्ष्युरित्यपि। (८)

[हितः त्रिधा-अनवहितः, साहसी, अपि च ईर्ष्युः इति॥]

तत्र अनवहितः—

७. कृष्णपालनकर्तापि तत्कर्माभिनिवेशतः।
क्वचित्तत्र प्रमत्तो यः प्रोक्तोऽनवहितोऽत्र सः॥ (९)

[कृष्णपालनकर्त्ता अपि तत्कर्माभिनिवेषतः क्वचित् (अनवहितः) तत्र यः प्रमत्तः सः अत्र अनवहितः प्रोक्तः॥]

यथा—

३. उत्तिष्ठ मूढे! कुरु मा विलम्बं
वृथैव धिक् पण्डितमानिनी त्वम्।
त्रुट्यत्-पलाशि-द्वयमन्तरा ते
बद्धः सुतोऽसौ सखि! बम्भ्रमीति॥ (१०)

[मूढे! उत्तिष्ठ, विलम्बं मा कुरु। धिक्! त्वं वृथा एव पण्डितमानिनी। सखि! असौ ते बद्धः सुतः त्रुट्यत्पलाशिद्वयम् अन्तरा बम्भ्रमीति॥]

यथा-

२. *अरे युवतियों के चोर! (मेरी) बहू का वस्त्र सामने ही तेरे वक्षःस्थल पर दिखाई दे रहा है, फिर 'नहीं-नहीं' क्या बक रहे हो? अरे व्रजवासियो! मेरी चिल्लाहट क्या नहीं सुन रहे हो? व्रजेश्वर (नन्द) के बेटे ने मेरे बेटे के घर में आग लगा दी है!* ।६।

५. गोवर्धन नामक महामल्ल के सिवा अन्य सभी व्रजवासियों की गोविन्द के प्रति प्रौढा रति है। ।७।

हितकारी- (क्रोधविषय)—

६. हितकारी तीन प्रकार का होता है—अनवहित (अवधान न रखने वाला), साहसी (दुस्साहस के लिये प्रेरित करने वाला) तथा (अन्य भक्त का सेवा सौभाग्य-सुख देखकर-ईर्ष्यालु)। ।८।

उनमें अनवहित यथा—

७. श्रीकृष्ण का पालनकर्त्ता भी उन्हीं के लिये किये जाते हुए कर्म के अभिनिवेश के कारण कभी श्रीकृष्ण के प्रति प्रमाद कर बैठे, तब उसे अनवहित कहा गया है। ।९।

यथा—

३. *अरी मूढ़ (यशोदे!) उठो-उठो! विलम्ब न करो! (झटपट चलो), तुम व्यर्थ ही अपने आप को पण्डिता (समझ-बूझ वाली) माने बैठी हो; टूटकर गिरते हुए दो विशाल वृक्षों के बीच में से होता हुआ तुम्हारा (ऊखल से) बँधा हुआ बेटा घूम रहा है।* ।१०।

अथ साहसी—

८. यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते। (११)

[भयस्थाने यः प्रेरकः, सः साहसी निगद्यते॥]

यथा—

४. गोविन्दः प्रियसुहृदां गिरैव यात-
स्तालानां विपिनमिति स्फुटं निशम्य।
भ्रूभेदस्थपुटितदृष्टिरास्यमेषां
डिम्भानां व्रजपतिगेहिनी ददर्श। (१२)

[गोविन्दः प्रियसुहृदां गिरा एव तालानां विपिनं यातः इति स्फुटं निशम्य व्रजपतिगेहिनी एषां डिम्भानाम् आस्यं भ्रूभेदस्थपुटितदृष्टिः ददर्श॥]

अथ ईर्ष्युः—

९. ईर्ष्युर्मानधना प्रोक्ता प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानसा। (१३)

[मानधना प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानसा ईर्ष्युः प्रोक्ता॥]

यथा—

५. दुर्मानमन्थमथिते! कथयामि किं ते
दूरं प्रयाहि सविधे तव जाज्वलीमि।
हा धिक् प्रियेण चिकुराञ्चितपिञ्छकोट्या
निर्मञ्छिताग्रचरणाप्युरुणाननासि[2]॥ (१४)

[दुर्मानमथिते! किं ते कथयामि, दूरं प्रयाहि तव सविधे (खलु) जाज्वलीमि। हा धिक्! प्रियेण चिकुराञ्चितपिच्छकोट्या निर्मञ्छिताग्रचरणा अपि अरुणानना असि॥]

अथ अहितः—

१०. अहितः स्याद् द्विधा स्वस्य हरेश्चेति प्रभेदतः। (१५)

[स्वस्य हरेः च प्रभेदतः अहितः द्विधा स्यात्॥]

साहसी—

८. जो भय-स्थान में जाने के लिये श्रीकृष्ण को प्रेरित करता हो वह साहसी कहा जाता है। ।११।

यथा—

४. *प्रियसखाओं की बात सुनकर (उनकी प्रेरणा से) ही गोविन्द तालवन की ओर (अकेला) चला गया है—ऐसा ग्वाल बालकों से स्पष्ट सुनकर (क्रोधसे) तनकर चढ़ी हुई भौंहों वाली विषम दृष्टि से नन्दरानी यशोदा ने उन बालकों का मुख देखा। ।१२।*

ईर्ष्यालु—

९. अत्यधिक बढ़ी हुई ईर्ष्या से आक्रान्त चित्त वाली मानिनी नायिका ईर्ष्यालु (क्रोध-विषय) कही गई है। ।१३।

यथा—

५. *दूषित मान रूपी मथनी से मथे हुए चित्त वाली तुम को भला मैं क्या कहूँ? जा दूर हट जा! तुम से तो मैं बहुत ही जल रही हूँ (यह सोचकर एवं देखकर कि) प्रियतम के घुँघराले अलकों सहित मयूर पिञ्छ (वाले मुकुट के अग्रभाग) से तेरे चरणों का अग्रभाग पोंछा जाने पर भी तुम्हारा (मान से तमतमाया) मुख अरुण बना हुआ है। ।१४।*

अहितकारी (क्रोध-विषय)—

१०. अहित करने वाला दो प्रकार का होता है-१. अपना अहितकर, २. हरि का अहितकर। ।१५।

तत्र स्वस्याहितः—

११. अहितः स्वस्य स स्याद्यः कृष्णसम्बन्धबाधकः। (१६)

[यः कृष्णसम्बन्धबाधकः सः स्वस्य अहितः स्यात्॥]

यथोद्धवसन्देशे—

६. कृष्णं मुष्णन्नकरुण बलाद्गोष्ठतो निष्ठुरस्त्वं
मा मर्यादां यदुकुलभुवां भिन्धि रे गान्दिनेय!
पश्याभ्यर्णे त्वयि रथमधिष्ठाय यात्रां विधित्सौ
स्त्रीणां प्राणैरपि नियुतशो हन्त यात्रा व्यधायि॥ (१७)

[रे अकरुण गान्दिनेय! बलात् गोष्ठतः कृष्णं मुष्णन् निष्ठुरः त्वं यदुकुलभुवां मर्यादां मा भिन्धि। पश्य अभ्यर्णे रथम् अधिष्ठाय यात्रां विधित्सौ त्वयि नियुतशः स्त्रीणां प्राणैः अपि यात्रा व्यधायि॥]

अथ हरेरहितः—

१२. अहितस्तु हरेस्तस्य वैरिपक्षो निगद्यते। (१८)

[हरेः अहितः तु तस्य वैरिपक्षः निगद्यते॥]

यथा—

७. हरौ श्रुतिशिरःशिखा-मणिमरीचिनीराजित-
स्फुरच्चरणपङ्कजेऽप्यवमतिं व्यनक्त्यत्र यः।
अयं क्षिपति पाण्डवः शमनदण्डघोरं हठात्[3]।
त्रिरस्य मुकुटोपरि स्फुटमुदीर्य सव्यं पदम्॥ (१९)

[श्रुतिशिरः शिखामणिमरीचिनीराजितस्फुरच्चरणपङ्कजे हरौ अपि अत्र यः अवमतिं व्यनक्ति, अस्य मुकुटोपरि सव्यं पदं स्फुटम् उदीर्य अयं पाण्डवः घोरं शमनदण्डं हठात् त्रिः क्षिपति॥]

१३. सोल्लुण्ठहास-वक्रोक्ति-कटाक्षानादरादयः।
कृष्णाहित-हितस्थाः स्युरमी उद्दीपना इह॥ (२०)

[कृष्णाहित-हितस्थाः अमी सोल्लुण्ठ-हास-वक्रोक्ति-कटाक्ष-अनादर-आदयः इह-उद्दीपनाः प्रोक्ता॥]

अपना अहितकर—

११. जो श्रीकृष्ण से सम्बन्ध में बाधा डाले वह अपना अहितकारी होता है। ।१६।

यथा उद्धवसन्देश में—

६. *अरे करुणाहीन निष्ठुर गान्दिनीपुत्र (अक्रूर) इस व्रज (गोष्ठ) से बलपूर्वक श्रीकृष्ण को चुराते हुए तुमने यदुवंशियों की मर्यादा तोड़ी है। देखो प्रातःकाल रथ पर चढ़कर तुम यात्रा करना चाहते थे तभी सहस्रों स्त्रियों के प्राणों ने भी प्रयाण कर डाला। ।१७।*

श्रीहरि का अहितकर—

१२. हरि का अहितकर तो उनका वैरी-पक्ष ही कहा जाता है। ।१८।

यथा—

७. *जिन के चरण-कमल वेदों के मस्तकों (उपनिषदों) पर विराजमान मुकुटमणियों की किरणों द्वारा आरती उतारने से स्फुरित हैं (वेद-उपनिषद् भी जिन्हें नमन एवं पूजन करते हैं) ऐसे हरि के प्रति भी यहाँ जो अवमति (अपमान) व्यक्त कर रहा है उस (शिशुपाल) के मुकुट पर अपना घोर शमन दण्ड जैसा बाँया पैर रखकर यह पाण्डव (भीम) तीन बार स्पष्ट बोलकर हठ-पूर्वक लानत देता है, आक्षेप प्रकट करता है। ।१९।*

१३. श्रीकृष्ण में ही जिनका हित निहित है ऐसे ये व्यङ्ग्यवचन, हास, वक्रोक्ति, कटाक्ष, अनादर आदि यहाँ उद्दीपन होंगे। ।२०।

१४. हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टनं रक्तनेत्रता।
दष्टौष्ठतातिभ्रुकुटी भुजास्फालनताडनाः॥ (२१)

[हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टनम्, रक्तनेत्रता, दष्टौष्ठता, अतिभ्रुकुटी, भुजास्फालनताडनाः॥]

१५. तूष्णीकता नतास्यत्वं निःश्वासो भुग्नदृष्टिता।
भर्त्सनं मूर्धविधूतिर्दृगन्ते पाटलच्छविः॥ (२२)

[तूष्णीकता, नतास्यत्वम्, निःश्वासः, भुग्नदृष्टिता, भर्त्सनम्, मूर्धविधूतिः, दृगन्ते पाटलच्छविः॥]

१६. भ्रूभेदाधर-कम्पाद्या अनुभावा इहोदिताः।
अत्र स्तम्भादयः सर्वे प्राकट्यं यान्ति सात्त्विकाः॥ (२३)

[भ्रूभेद-अधरकम्प-आद्याः इह अनुभावाः उदिताः। अत्र स्तम्भाद्याः सर्वे सात्त्विकाः प्राकट्यं यान्ति॥]

१७. आवेगो जडता गर्वो निर्वेदो मोहचापले।
असूयौग्रयं तथामर्ष-श्रमाद्या व्यभिचारिणः॥ (२४)

[आवेगः, जडता, गर्वः, निर्वेदः, मोहचापले, असूया, औग्रयम्, अमर्षः तथा श्रम-आद्याः (अत्र) व्यभिचारिणः॥]

१८. अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः।
कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोपस्तु शत्रुगः॥ (२५)

[क्रोधरतिः अत्र स्थायी; सः क्रोधः तु त्रिधा मतः-कोपः, मन्यु तथा रोषः। तत्र कोपः तु शत्रुगः॥]

१९. मन्युर्बन्धुषु ते पूज्य-सम-न्यूनास्त्रिधोदिताः।
रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ॥ (२६)

[मन्युः बन्धुषु। ते पूज्य-सम-न्यूनाः (इति) त्रिधा उदिताः। रोषः तु स्त्रीणां दयिते; अतः असौ व्यभिचरति॥]

२०. हस्तपेषादयः कोपे मन्यौ तूष्णीकतादयः।
दृगन्तपाटलत्वाद्या रोषे तु कथिताः क्रियाः॥ (२७)

[कोपे हस्तपेषादयः, मन्यौ तूष्णीकता-आदयः, रोषे तु दृगन्तपाटलत्वाद्या क्रियाः कथिताः॥]

१४. हाथ मलना, दाँत पीसना, आँखें लाल होना, अपना ओठ काटना, अतीव टेढ़ी भौंहें, गर्वपूर्वक भुजायें चलाना, भुजदण्डों पर ताल ठोकना या हाथ मारना। ।२१।

१५-१६. चुप हो रहना, मस्तक झुका लेना, झुकी या टेढ़ी दृष्टि होना, भर्त्सना करना, सिर झटकना, आँखों की कोर गुलाबी होना, भ्रुकुटी चढ़ना, ओठ काँपना—इत्यादि यहाँ अनुभाव कहे गये हैं। स्तम्भ आदि सब सात्त्विक भाव भी यहाँ प्रकट होते हैं। ।२२-२३।

१७. आवेग जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चपलता, असूया (ईर्ष्या) उग्रता, अमर्ष (असहिष्णुता) तथा श्रम आदि यहाँ व्यभिचारीभाव हैं। ।२४।

१८. क्रोधरति यहाँ स्थायीभाव है। वह क्रोध तीन प्रकार का माना गया है—कोप, मन्यु तथा रोष। इनमें से कोप शत्रु पर होता है। ।२५।

१९. मन्यु बन्धु-बान्धवों पर होता है; वे तीन प्रकार के कहे गये हैं—पूज्य, समान और छोटे। स्त्रियों का अपने प्रिय पर होता है। इसलिये वह (शृङ्गार रस में) व्यभिचारी बन जाता है। ।२६।

२०. कोप में हाथ मलना आदि, मन्यु में चुप हो रहना आदि, रोष में आँखों की कोरों में गुलाबीपन आदि क्रियायें कही गयी हैं। ।२७।

तत्र वैरिणि, यथा—

८. निरुध्य पुरमुन्मदे हरिमगाधसत्त्वाश्रयं
मृधे मगधभूपतौ किमपि वक्रमाक्रोशति।
दृशं कवलित-द्विषद्विसर-जाङ्गले-लाङ्गले॥
नुनोद दहदिङ्गल-प्रबलपिङ्गलां लाङ्गली॥ (२८)

[पुरम् निरुध्य उन्मदे मगधभूपतौ मृधे अगाधसत्त्वाश्रयं हरिं किम् अपि वक्रम् आक्रोशति कवलितद्विषद्विसरजाङ्गले लाङ्गले लाङ्गली दहदिङ्गल-पिङ्गलां दृशं नुनोद॥]

पूज्ये, यथा विदग्धमाधवे—

९. क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान् सद्यः पिधत्ते मुखं
धावन्त्यां भयभाजि विस्तृतभुजो रुन्धे पुरः पद्धतिम्।
पादान्ते विलुठत्यसौ मयि मुहुर्दष्टाधरायां रुषा
मातश्चण्डि! मया शिखण्डमुकुटादात्माभिरक्ष्यः कथम्?
(२९)

[मयि क्रोशन्त्यां (सः) बलवान् करपल्लवेन सद्यः मुखं पिधत्ते, भयभाजि धावन्त्यां विस्तृतभुजः पुरः पद्धतिं रुन्धे, रुषा मुहुः दष्टाधरायाम् असौ पादान्ते विलुठति। मातः चण्डि! शिखण्डमुकुटात् मया आत्मा कथम् अभिरक्ष्यः?]

समे, यथा—

१०. ज्वलति दुर्मुखि! मर्मणि मुर्मुर-
स्तव गिरा जटिले! निटिले च मे।
गिरिधरः स्पृशति स्म कदा मदाद्-
दुहितरं दुहितुर्मम पामरि! (३०)

[दुर्मुखि जटिले! तव गिरा मे मर्मणि निटिले च मुर्मुरः ज्वलति। पामरि! गिरिधरः कदा मदात् मम दुहितुः दुहितरं स्पृशति स्म?]

न्यूने, यथा—

११. हन्त स्वकीय-कुचमूर्ध्नि मनोहरोऽयं
हारश्चकास्ति हरिकण्ठतटी-चरिष्णुः।
भोः! पश्यत स्वकुल-कज्जलमञ्जरीयं
कूटेन मां तदपि वञ्चयते वधूटी॥ (३१)

[हन्त! हरिकण्ठतटीचरिष्णुः अयं मनोहरः हारः स्वकीयकुचमूर्ध्नि चकास्ति, तद्अपि भोः इयं स्वकुलकज्जलमञ्जरी वधूटी मां कूटेन वञ्चयते॥]

वैरी के प्रति कोप, यथा—

८. *युद्ध के समय पूरे पुर (मथुरा) को (चारों ओर से) घेरकर उन्मत्त हुए मगधराज ज़रासन्ध के वक्रभङ्गिमा से कुछ चिल्लाने पर (तिरछी बात व्यङ्ग्य कहने पर) हलधर बलराम ने शत्रुओं के समूह रूपी 'जाङ्गल' (बर्बर असभ्यों) को निगल जाने वाले अपने हल पर दहकते अङ्गारें जैसी पिङ्गल (भूरी-सुनहली) दृष्टि डाली। ।२८।*

पूज्य के प्रति, यथा विदग्धमाधव में—

९. *क्रोध के कारण चण्डी बनी हुई हे माता! मैं चिल्लाती हूँ तो वह बलवान् अपने करपल्लव से तुरन्त मुँह ढक देता है, भयभीत होकर दौड़ती हूँ तो विशाल भुजा फैलाकर सामने का मार्ग रोक लेता है—पाँव बढ़ाने नहीं देता, रोष से मैं ओठ काटती हूँ तो वह पैरों में लिपट कर लोट जाता है, ऐसे उस मयूरमुकुटधारी से मैं अपने आप की कैसे रक्षा करूँ? ।२९।*

समवयस्क के प्रति, यथा—

१०. *अरी दुर्मुखी जटिले! तेरी बात से मेरे मर्म में और मस्तक में तुषाग्नि-सी जल रही है। अरी पामर! गिरिधारी भला भला कब मदपूर्वक मेरी बेटी को स्पर्श कर रहा था? ।३०।*

न्यूनवयस्क के प्रति, यथा—

११. *हाय! हरि के कण्ठ में झूलने वाला यह मनोहर हार अपने वक्षःस्थल पर (धारण किये हुए) चमका रही है; फिर भी देखो तो! यह अपने कुल-काजल की मञ्जरी-जैसी यह बहू छलभरी (श्लेषयुक्त) बातों से मुझे ठगती है। ।३१।*

२१. अस्मिन्न तादृशो मन्यौ वर्तते रत्यनुग्रहः।
उदाहरणमात्राय तथाप्येष निदर्शितः॥ (३२)

[अस्मिन् मन्यौ तादृशः रत्यनुग्रहः न वर्तते। तथा अपि एषः उदाहरणमात्राय निदर्शितः॥]

२२. क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः।
क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत्॥ (३३)

[चैद्यादीनां क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां क्रोधः स्वभावतः रतिविनाभावात् भक्तिरसतां न व्रजेत्॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-निरूपणे
रौद्रभक्तिरस-लहरी पञ्चमी॥

२१. इस मन्यु में वैसा रति का अनुग्रह नहीं है। फिर भी उदाहरण-भर के लिये यहाँ दिखा दिया गया। । ३२।

२२. क्रोध के आश्रयालम्बन शिशुपाल आदि शत्रुओं का स्वभावगत क्रोध रति से रहित होने के कारण भक्तिरस नहीं बनता। । ३३।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में पाँचवीं रौद्रभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

भयानकभक्तिरसाख्या—षष्ठलहरी

१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं भयरतिर्गता।
भयानकाभिधो भक्तिरसो धीरैरुदीर्यते॥ (१)

[वक्ष्यमाणैः विभावाद्यैः पुष्टिं गता भयरतिः धीरैः भयानकाभिधः भक्तिरसः उदीर्यते॥]

२. कृष्णश्च दारुणाश्चेति तस्मिन्नालम्बना द्विधा।
अनुकम्प्येषु सागस्सु कृष्णस्तस्य च बन्धुषु॥ (२)

[तस्मिन् आलम्बनाः द्विधा—कृष्णः च, दारुणाः च इति। सागःसु अनुकम्प्येषु तस्य बन्धुषु च कृष्णः॥]

३. दारुणाः स्नेहतः शश्वत्तदनिष्टाप्तिदर्शिषु।
दर्शनाच्छ्रवणाच्चेति स्मरणाच्च प्रकीर्तिताः॥ (३)

[स्नेहतः शश्वत् तदनिष्टाप्तिदर्शिषु दर्शनात्, श्रवणात् च स्मरणात् च इति दारुणाः प्रकीर्तिताः॥]

तत्र अनुकम्प्येषु कृष्णो, यथा—

१. किं शुष्यद्वदनोऽसि मुञ्च खचितं चित्ते पृथुं वेपथुं
विश्वस्य[1] प्रकृतिं भजस्व न मनागप्यस्ति मन्तुस्तव।
उष्मम्रक्षितमृक्षराज! रभसाद्विस्तीर्य वीर्यं त्वया
पृथ्वी प्रत्युत युद्धकौतुकमयी सेवैव मे निर्मिता॥ (४)

[ऋक्षराज! किं शुष्यद्वदनः असि? चित्ते खचितं पृथुं वेपथुं मुञ्च। विश्वस्य प्रकृतिं भजस्व तव मनाक् अपि मन्तुः न अस्ति। प्रति उत त्वया रभसात् वीर्यं विस्तार्य उष्मं रक्षितम्; युद्धकौतुकमयी पृथ्वी सेवा एव मे निर्मिता॥]

यथा वा—

२. मुरमथन! पुरस्ते को भुजङ्गस्तपस्वी
लघुरहमिति कार्षीर्मा स्म दीनाय मन्युम्।
गुरुरयमपराधस्तथ्यमज्ञानतोऽभू-
दशरणमतिमूढं रक्ष रक्ष प्रसीद॥ (५)

[मुरमथन! तपस्वी भुजङ्गः ते पुरः कः? 'अहं लघुः' इति दीनाय मन्युं मा स्म कार्षीः। तथ्यम् अज्ञानतः अयं गुरुः अपराधः अभूत्। प्रसीद! अतिमूढम् अशरणं रक्ष रक्ष!!]

छठी लहरी—भयानकभक्तिरस

१. आगे कहे जाने वाले विभाव आदि के द्वारा पुष्ट हुई भयरति को धीर (बुद्धिमान्)-जन भयानक नाम का भक्तिरस कहते हैं। ।१।

२. इसमें आलम्बन दो प्रकार का होता है-श्रीकृष्ण, तथा दारुण (भयङ्कर या दुःखद)। अपराध किये हुए अनुकम्पा के पात्रों तथा उनके बन्धुओं के प्रति श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। ।२।

३. स्नेह के कारण सर्वदा (श्रीकृष्ण) पर अनिष्ट आने की आशङ्का करने वालों में, दर्शन, श्रवण तथा स्मरण से (आलम्बन होने वाले) दारुण कहे गये हैं। ।३।

इनमें, अनुकम्पा-पात्रों में श्रीकृष्ण, यथा—

१. क्यों मुँह सूखा हुआ है तुम्हारा? चित्त में समाये अतिशय कम्प को छोड़ दो। मुझ पर विश्वास करके स्वस्थ हो जाओ। तुम्हारा जरा भी दोष-अपराध नहीं है। हे रीछराज (जाम्बवान्)! तुमने हठपूर्वक वीर्य (वीरोचित पराक्रम) का विस्तार करके ऊष्मा (क्रोध के सन्ताप) की रक्षा की है, इतना ही नहीं बल्कि युद्धकौतुकमयी प्रभूत (बहुत बड़ी) सेवा ही मुझे अर्पित की है। ।४।

अथवा यथा—

२. हे मुरारि! तुम्हारे सामने यह नाग बेचारा क्या है? मैं तो बहुत छोटा हूँ-इसलिये मुझ दीन पर क्रोध-रोष न करो, यह बड़ा अपराध सच ही अज्ञान से हो गया; असहाय और अत्यन्त मूढ़ (मेरी) की रक्षा कीजिये। ।५।

बन्धुषु दारुण-दर्शनाद् यथा—

३. हा किं करोमि तरलं भवनान्तराले
गोपेन्द्र! गोपय बलादुपरुध्य बालम्।
क्ष्मामण्डलेन सह चञ्चलयन्मनो मे
शृङ्गाणि लङ्घयति पश्य तुरङ्गदैत्यः॥ (६)

[हा! किं करोमि, गोपेन्द्र! तरलं बालं भवनान्तराले बलात् उपरुध्य गोपय! पश्य! क्ष्मामण्डलेन सह मे मनः चञ्चलयन् तुरङ्गदैत्यः शृङ्गाणि लङ्घयति॥]

श्रवणाद् यथा—

४. शृण्वती तुरगदानवं रुषा
गोकुलं किल विशन्तमुद्धुरम्।
द्रागभूत्तनयरक्षणाकुला
शुष्यदास्यजलजा व्रजेश्वरी॥ (७)

[उद्धुरं तुरङ्गदानवं किल रुषा गोकुलं विशन्तं शृण्वती व्रजेश्वरी द्राक् तनयरक्षणाकुला अभूत्॥]

स्मरणाद् यथा—

५. विरम विरम मातः! पूतनायाः प्रसङ्गा-
त्तनुमियमधुनापि स्मर्यमाणा धुनोति।
कवलयितुमिवाङ्गीकृत्य बालं धुरन्ती
वपुरतिपरुषं या घोरमाविश्चकार॥ (८)

["मातः" पूतनायाः प्रसङ्गात् विरम विरम! इयम् अधुना अपि स्मर्यमाणा तनुं धुनोति, या (पूतना) बालम् अङ्गीकृत्य कवलयितुम् इव घुरन्ती घोरम् अतिपरुषं वपुः आविश्चकार॥]

४. विभावस्य[2] भ्रुकुट्याद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
मुखशोषणमुच्छ्वासः परावृत्य विलोकनम्॥ (९)

[तस्मिन् विभावस्य भ्रुकुट्याद्याः उद्दीपनाः मताः। मुखशोषणम् उच्छ्वासः परावृत्य विलोकनम्॥]

५. स्वसङ्गोपनमुद्घूर्णा शरणान्वेषणं तथा।
क्रोशनाद्याः क्रियाश्चात्र सात्त्विकाश्चाश्रुवर्जिताः॥ (१०)

[स्वसङ्गोपनम्, उद्घूर्णा, शरणान्वेषणं तथा क्रोशनाद्याः क्रियाः च अत्र, अश्रुवर्जिताः सात्त्विकाः च॥]

बन्धुओं के प्रति दारुण के दर्शन से, यथा—

३ *हाय! मैं क्या करूँ? हे गोपेन्द्र (नन्द)! अपने अतिचञ्चल बेटे को किसी तरह बलपूर्वक घर के भीतर ही रोककर छुपाये रखो। देखो! पूरे पृथ्वीमण्डल के साथ-साथ मेरे मन को चञ्चल करता (डुलाता) हुआ यह अश्वाकार दैत्य (केशी) शिखरों को भी लाँघता हुआ (शिखरों से भी बड़े आकार वाला) चला आ रहा है।* ।६।

श्रवण से, यथा—

४. *अश्वाकार दैत्य (केशी) बड़े क्रोध से विशृंखल होकर उछलता हुआ गोकुल में घुसा आ रहा है—यह सुनती हुई व्रजेश्वरी (यशोदा) तत्काल अपने बेटे की रक्षा के लिये चिन्तातुर होकर सूखते मुख वाली कमलिनी जैसी हो गयी।* ।७।

स्मरण से, यथा—

५. *अरी माई! पूतना का प्रसङ्ग कहना बस करो, बस करो! उसका तो स्मरण करते ही वह अभी भी मेरे शरीर को कँपा दे रही है, जिसने कि मेरे शिशु को गोद में लेकर मानो उसे निगल डालने के लिए ही चक्कर खाती हुई ने, अत्यन्त घोर भयङ्कर कठोर विशाल शरीर प्रकट किया था।* ।८।

४-५. इसमें विभाव के भ्रुकुटी आदि उद्दीपन माने गये हैं। मुँह सूखना, उच्छ्वास, घूमकर देखना—अपने को छिपाना, चक्कर खाना, कोई शरण खोजना, चिल्लाना आदि यहाँ क्रियायें हैं, और अश्रु को छोड़कर अन्य सात्त्विकभाव होते हैं। ।९-१०।

६. इह सन्त्रास-मरण-चापलावेगदीनताः ।
विषाद-मोहापस्मार-शङ्काद्या व्यभिचारिणः ॥ (११)

[सन्त्रास-मरण-चापलावेग-दीनताः, विषाद-मोहापस्मारशङ्काद्याः इह व्यभिचारिणः ॥]

७. अस्मिन् भयरतिः स्थायी भावः[३] स्यादपराधतः ।
भीषणेभ्यश्च तत्र स्याद् बहुधैवापराधिता ॥ (१२)

[अस्मिन् अपराधतः, भीषणेभ्यः च भयरतिः स्थायी भावः स्यात्। तत्र बहुधा एव अपराधिता स्यात् ॥]

८. तज्जा भीर्नापरत्र स्यादनुग्राह्यजनान् विना[४] ।
आकृत्या[५] ये प्रकृत्या ये ये प्रभावेण भीषणः ॥ (१३)

[तज्जा भीः अनुग्राह्यजनान् विना अपरत्र न स्यात्। ये आकृत्या, ये प्रकृत्या, ये (च) प्रभावेण भीषणाः ॥]

९. एतदालम्बना भीतिः केवल-प्रेमशालिषु ।
नारी-बालादिषु तथा प्रायेणात्रोपजायते ॥ (१४)

[एतदालम्बना भीतिः केवलं प्रेमशालिषु तथा नारी-बालादिषु प्रायेण अत्र उपजायते ॥]

१०. आकृत्या पूतनाद्याः स्युः प्रकृत्या दुष्टभूभुजः ।
भीषणास्तु प्रभावेण सुरेन्द्र[६]-गिरिशादयः ॥ (१५)

[पूतनाद्याः आकृत्या, प्रकृत्या दुष्टभूभुजः, प्रभावेण सुरेन्द्र-गिरिशादयः स्युः ॥]

११. सदा भगवतो भीतिं गता आत्यन्तिकीमपि ।
कंसाद्या रतिशून्यत्वादत्र नालम्बना मताः ॥ (१६)

[भगवता सदा आत्यन्तिकीं भीतिं गताः अपि कंसाद्याः रतिशून्यत्वात् अत्र आलम्बनाः न मताः ॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-निरूपणे
भयानकभक्तिरस-लहरी षष्ठी ॥

६. सन्त्रास, मरण, चपलता, आवेग, दीनता, विषाद, मोह, अपस्मार, शङ्का आदि यहाँ व्यभिचारीभाव हैं। ।११।

७. इसमें अपराध के कारण तथा भीषण (भयङ्कर) प्राणियों से उत्पन्न भयरति स्थायीभाव होता है। उसमें अधिकतर अपराधिता रहती है। ।१२।

८-९. उस अपराध से उत्पन्न भय अनुग्राह्यजनों के सिवा दूसरों में नहीं होता है। जो आकृति से, प्रकृति से और प्रभाव से भयङ्कर हैं, उन पर आलम्बित भय केवल प्रेमयुक्त व्यक्तियों में तथा नारी-बालक आदि में प्रायः उत्पन्न होता है। ।१३-१४।

१०. पूतना आदि आकृति से, दुष्ट राजा-गण (शिशुपाल आदि) प्रकृति से और देवेन्द्र, महादेव आदि प्रभाव से भय के आलम्बन होते हैं। ।१५।

११. भगवान् के द्वारा सदा अत्यन्त भय को प्राप्त होते हुए भी कंस आदि रतिशून्य होने के कारण यहां भयानक रस के आलम्बन नहीं माने गये हैं। ।१६।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में छठी भयानकभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

बीभत्सभक्तिरसाख्या—सप्तमलहरी

१. पुष्टि निजविभावाद्यैर्जुगुप्सारतिरागता।
असौ भक्तिरसो धीरैर्बीभत्साख्य इतीर्यते॥ (१)

[निजविभावाद्यैः पुष्टिम् आगता असौ जुगुप्सा रतिः धीरैः बीभत्साख्यः भक्तिरसः इति ईर्यते॥]

२. अस्मिन्नाश्रितशान्ताद्या धीरैरालम्बना मताः। (२)

[आश्रितशान्ताद्याः अस्मिन् आलम्बनाः मता॥]

यथा—

१. पाण्डित्यं रतिहिण्डकाध्वनिगतो यः कामदीक्षाव्रती
कुर्वन् पूर्वमशेषषिड्गनगरी-साम्राज्यचर्यामभूत्।
चित्रं सोऽयमुदीरयन् हरिगुणानुद्बाष्पदृष्टिर्जनो
दृष्टे स्त्रीवदने विकूणितमुखो विष्टभ्य निष्ठीवति॥ (३)

[यः कामदीक्षाव्रती रतिहिण्डकाध्वनिगतः पूर्वम् अशेषषिड्गनगरीसाम्राज्यचर्यां कुर्वन् अभूत्, चित्रम्, सः अयं जनः हरिगुणान् उदीरयन् उद्बाष्पदृष्टिः स्त्रीवदने दृष्टे विकूणितमुखः विष्टभ्य निष्ठीवति॥]

३. अत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं घ्राणसंवृतिः।
धावनं कम्प-पुलक-प्रस्वेदाद्याश्च विक्रियाः॥ (४)

[अत्र निष्ठीवनम्, वक्त्रकूणनम्, घ्राणसंवृतिः धावनम्, कम्प-पुलक-प्रस्वेदाद्याः च विक्रियाः॥]

४. इह ग्लानिश्रमोन्माद-मोह-निर्वेद-दीनताः।
विषाद-चापलावेग-जाड्याद्या व्यभिचारिणः॥ (५)

[इह ग्लानि-भ्रम-उन्माद-मोह-निर्वेद-दीनताः, विषाद-चापल-आवेग-जाड्याद्याः व्यभिचारिणः॥]

५. जुगुप्सारतिरत्र स्यात् स्थायी सा च विवेकजा।
प्रायिकी चेति कथिता जुगुप्सा द्विविधा बुधैः॥ (६)

[अत्र जुगुप्सारतिः स्थायी स्यात्, सा च जुगुप्सा-विवेकजा, प्रायिकी च इति बुधैः द्विविधा कथिता॥]

सप्तम लहरी—बीभत्सभक्तिरस

१. अपने विभाव आदि के साथ पुष्टि पर पहुँची हुई यह जुगुप्सा रति ही धीमान् (बुद्धिशाली) व्यक्तियों के द्वारा बीभत्स नामक भक्तिरस रूप से कही जाती है। ।१।

२. आश्रित, शान्त आदि इसमें आलम्बन माने गये हैं। ।२।

यथा—

१. *अरे! वह जो पहले रति-चोरी के मार्ग में पाण्डित्य पा चुका था और समस्त स्त्रीलम्पटों की नगरी के सम्राट् जैसा चलता (आचरण करता) था, आश्चर्य है कि वही यह व्यक्ति श्रीहरि के गुणों को अश्रुभीनी दृष्टि से सुनता हुआ आज स्त्रीमुख दिखाई दे जाने पर स्तब्ध गतिहीन होकर अपना मुँह तिरछा सिकोड़ करके थूक देता है।* ।३।

३. यहाँ थूकना, मुँह सिकोड़ना, नाक बन्द करके श्वास रोक रखना, दूर भागना, काँपना, रोंए खड़े होना, अधिक पसीना निकल आना आदि विकारयुक्त क्रिया होती हैं। ।४।

४. ग्लानि, भ्रम, उन्माद, मोह (मूर्च्छा), घृणा या विरक्ति, दीनता, विषाद, चपलता, वेग, जड़ता आदि व्यभिचारीभाव हैं। ।५।

५. यहाँ जुगुप्सारति स्थायीभाव है। ज्ञानिजनों द्वारा वह जुगुप्सा विवेक से उत्पन्न और सामान्य—इस प्रकार दो प्रकार की कही गई हैं। ।६।

तत्र विवेकजा—

६. जातकृष्णरतेर्भक्तविशेषस्य तु कस्यचित्।
विवेकोत्था तु देहादौ जुगुप्सा स्याद्विवेकजा॥ (७)

[कस्यचित् जातकृष्णरतेः भक्तविशेषस्य देहादौ विवेकोत्था जुगुप्सा, (सा) तु विवेकजा स्यात्॥]

यथा—

२. घनरुधिरमये त्वचा पिनद्धे
पिशितविमिश्रितविस्रगन्धभाजि।
कथमिह रमतां बुधः शरीरे
भगवति हन्त रतेर्लवेऽप्युदीर्णे? (८)

[हन्त! भगवति रतेः लवे अपि उदीर्णे इह त्वचा पिनद्धे, घनरुधिरमये, पिशितविमिश्रितविस्रगन्धभाजि शरीरे बुधः कथं रमताम्॥]

अथ प्रायिकी—

७. अमेध्यपूत्यनुभवात् सर्वेषामेव सर्वतः।
या प्रायो[1] जायते सेयं जुगुप्सा प्रायिकी मता॥ (९)

[सर्वेषाम् एव सर्वतः अमेध्य-पूत्यनुभवात् या प्रायः जायते सा इयं प्रायिकी जुगुप्सा मता॥]

यथा—

३. असृङ्मूत्राकीर्णे घनशमलपङ्कव्यतिकरे
वसन्नेष क्लिन्नो जडतनुरहं मातुरुदरे।
लभे चेतःक्षोभं तव भजनकर्माक्षमतया
तदस्मिन् कंसारे! कुरु मयि कृपासागर! कृपाम्॥ (१०)

[असृङ्मूत्राकीर्णे घनशमलपङ्कव्यतिकरे क्लिन्ने मातुः उदरे वसन् एषः अहं तव भजनकर्माक्षमतया चेतःक्षोभं लभे, तत् कंसारे! कृपासागर! अस्मिन् (जन्मनि) मयि कृपां कुरु॥]

विवेकजा—

६. किसी ऐसे विशेष भक्त में, जिसमें श्रीकृष्ण-रति उत्पन्न हो चुकी है, देह आदि के प्रति विवेक से उठी हुई जुगुप्सा विवेकजा कहलाती है। ।७।

यथा—

२. *त्वचा द्वारा मढ़े या बंधे हुए गाढ़े रुधिर से भरे, कच्चे मांस में मिली हुई गन्दी घिनौनी गन्ध से बसाये इस शरीर में भला कोई बुद्धिशाली व्यक्ति कैसे रम सकता है यदि भगवान् के प्रति रति का लेशमात्र भी उदित हुआ हो!!* ।८।

प्रायिकी—

७. सभी को ही सब ओर अमेध्य-सड़ाँद का अनुभव होने से प्रायः जो उत्पन्न होती है, उसे प्रायिकी जुगुप्सा माना गया है। ।९।

यथा—

३. *रुधिर, मूत्र से घिरे, गाढ़े मल (पापों) के कीचड़ से सने, गीले माँ के पेट में (गर्भ-दशा में) रहता हुआ यह मैं आप का भजन करने में अक्षम होने के कारण अन्तःकरण का क्षोभ ही पा रहा हूँ। इसलिये हे कंस के शत्रु! कृपा के सागर! (इस दशा में पड़े हुए) संकटग्रस्त मुझ पर इस जन्म में कृपा कीजिये!* ।१०

यथा वा—

४. घ्राणोद्घूर्णक-पूतिगन्धि-विकटे कीटाकुले देहली-
स्रस्त-व्याधितयूथगूथघटना[2]-निर्धूतनेत्रायुषि।
कारानामनि हन्त मागधयमेनामी वयं नारके
क्षिप्तास्ते स्मृतिमाकलय्य नरकध्वंसिन्निह प्राणिमः॥ (११)

[नरकध्वंसिन्! घ्राणोद्घूर्णकपूतिगन्धिविकटे कीटाकुले देहली-स्रस्त-व्याधित-यूथ-गूथघटनानिर्धूतनेत्रायुषि कारानामनि नारके मागध-यमेन क्षिप्ताः, अमी वयं, ते स्मृतिम् आकलय्य इह प्राणिमः॥]

८. लब्धकृष्णरतेरेव सुष्ठु पूतं मनः सदा।
क्षुभ्यत्यहृद्यलेशेऽपि ततोऽस्यां रत्यनुग्रहः॥ (१२)

[लब्धकृष्णरतेः एव सदा सुष्ठु पूतं मनः अहृद्यलेशे अपि क्षुभ्यति, ततः अस्यां रत्यनुग्रहः॥]

९. हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापि कीर्तितम्[3]।
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः॥ (१३)

[गौणत्वे अपि हास्यादीनां रसत्वं यत् मनीषिभिः कीर्त्तितं तत् प्राचां मतानुसारेण विज्ञेयम्॥]

१०. अमी पञ्चैव शान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः।
एषु हास्यादयः[4] प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम्॥ (१४)

[अमी पञ्च शान्ताद्याः एव हरेः भक्तिरसाः मताः। एषु हास्यादयः प्रायः व्यभिचारितां बिभ्रति॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-निरूपणे
बीभत्सभक्तिरस-लहरी सप्तमी॥

यथा—

> ४. *हे नरकासुर का ध्वंस करने वाले! घ्राणेन्द्रिय को चक्कर खिलाने वाली गन्दी गन्ध से विकट हुए, कुलबुलाते कीड़ों से आकुल, देहली पर ही गिरी हुई रोगग्रस्त मनुष्यों की विष्ठा से अतिशय दुर्गन्ध एवं गन्दे दृश्य से आँखों की आयु (ज्योति, दर्शनशक्ति) को हर लेने वाले इस कारागार नामक नरकसमूह में जरासन्धरूपी यम द्वारा फेंके गये हम आप के चरण-कमल की स्मृति का ही आश्रय लिये जी रहे हैं, उसी के सहारे प्राण-धारण किये हुए हैं।* ।११।

८. जिसे श्रीकृष्ण-रति का लाभ हो चुका है उसीका सर्वदा शोभन भली-भाँति पवित्र मन ही लेशमात्र भी असुन्दर अरमणीय कुछ सामने आने पर क्षुब्ध हो जाता है। इससे इस जुगुप्सा में (भी) रति का अनुग्रह है। ।१२।

९. गौण होने पर भी इन हास्य आदि में जो मनीषियों ने रसत्व कहा है, वह प्राचीनों के मत के अनुसार ही जानना चाहिये। ।१३।

१०. ये पाँच शान्त आदि रस ही श्रीहरि के भक्तिरस माने गये हैं। इनमें से हास्य आदि प्रायः व्यभिचारी (अन्यत्र भी होने वाले) होते हैं। ।१४।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में गौणभक्तिरस-निरूपण में सातवीं बीभत्सभक्तिरस-लहरी समाप्त हुई॥

रसानां मैत्री-वैर-स्थिति-नाम्नी अष्टमलहरी

१. अथामीषां क्रमेणैव शान्तादीनां परस्परम्।
मित्रत्वं शात्रवत्वञ्च रसानामभिधीयते॥ (१)

[अथ अमीषां शान्तादीनां रसानां क्रमेण एव परस्परं मित्रता शात्रवं च अभिधीयते॥]

२. शान्तस्य प्रीत-बीभत्स-धर्मवीराः सुहृद्वराः।
अद्भुतश्चैष विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि॥ (२)

[प्रीत-बीभत्स-धर्मवीराः शान्तस्य सुहृद्वराः। एषः अद्भुतः च प्रीतादिषु चतुर्षु अपि विज्ञेयः॥]

३. द्विषन्नस्य शुचिर्युद्धवीरो रौद्रो भयानकः॥ (३)

[शुचिः, युद्धवीरः, रौद्रः, भयानकः अस्य द्विषन्॥]

४. सुहृत्प्रीतस्य बीभत्सः शान्तो वीरद्वयं तथा।
वैरी शुचिर्युद्धवीरो रौद्रश्चैकविभावकः॥ (४)

[प्रीतस्य बीभत्सः, शान्तः तथा वीरद्वयं सुहृत्। शुचिः युद्धवीरः रौद्रः एकविभावकः च वैरी॥]

५. प्रेयसस्तु शुचिर्हास्यो[1] युद्धवीरः सुहृद्वराः।
द्विषो वत्सल-बीभत्स-रौद्रा[2] भीष्मश्च पूर्ववत्॥ (५)

[शुचिः, हास्यः, युद्धवीरः तु प्रेयसः सुहृद्वराः। वत्सल-बीभत्स-रौद्राः भीष्मः च पूर्ववत् द्विषः॥]

६. वत्सलस्य सुहृद् हास्यः करुणो भीष्मभित्तथा।
शत्रुः शुचिर्युद्धवीरः प्रीतो रौद्रश्च पूर्ववत्॥ (६)

[हास्यः, करुणः तथा भीष्मभित् वत्सलस्य सुहृत्। शुचिः युद्धवीरः प्रीतः रौद्रः च पूर्ववत् शत्रुः॥]

७. शुचेर्हास्यस्तया प्रेयान् सुहृदस्य[3] प्रकीर्तितः।
द्विषो वत्सल-बीभत्स-शान्त-रौद्र-भयानकाः
प्राहुरेकेऽस्य सुहृदं वीरयुग्मं परे रिपुम्॥ (७)

[शुचेः प्रेयान् तथा हास्यः सुहृत् प्रकीर्तितः। वत्सल-बीभत्स-शान्त-रौद्र-भयानकाः अस्य द्विषः। वीरयुग्मम् एके अस्य सुहृदं प्राहुः, परे रिपुम्॥]

आठवीं लहरी—रसों में मैत्री और वैर की स्थिति

१. अब इन शान्त आदि रसों की इन्हीं के क्रम से परस्पर मित्रता एवं शत्रुता कही जाती है। ।१।

२. प्रीत, बीभत्स एवं धर्मवीर रस शान्त के अच्छे मित्र हैं। यह शान्त एवं अद्‌भुत भी उक्त प्रीत आदि चारों में निहित मानना चाहिये। ।२।

३. शृङ्गार, युद्धवीर, रौद्र, भयानक इस (शान्त) के वैरी हैं। ।३।

४. प्रीतभक्तिरस के सुहृत् (मित्र) हैं—बीभत्स, शान्त तथा दोनों वीर (धर्मवीर एवं दानवीर) शुचि (शृङ्गार) युद्धवीर तथा रौद्र जब श्रीकृष्ण ही उनके विभावक हों तब—ये प्रीत के वैरी हैं। ।४।

५. शृङ्गार, हास्य, युद्धवीर प्रेयोभक्तिरस के मित्र हैं। वत्सल-बीभत्स-रौद्र और भयानक ये पहले की भाँति वैरी हैं। ।५।

६. हास्य, करुण तथा भयानक का एक भेद (विरोधी-हेतुक)—ये वत्सलरस के मित्र हैं। ।६।

७. प्रेयोभक्तिरस तथा हास्य-ये शृङ्गार रस के मित्र कहे गये हैं। वत्सल, बीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक इस (शृङ्गार) के द्वेषी (वैरी) हैं। दो प्रकार के वीर को कुछ लोगों ने सुहृत् कहा है और दूसरों ने शत्रु कहा है। ।७।

८. मित्रं हास्यस्य बीभत्सः शुचिः प्रेयान् सवत्सलः।
प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः॥ (८)

[बीभत्सः, शुचिः, सवत्सलः प्रेयान् हास्यस्य मित्रम्। करुणः तथा भयानकः तु प्रतिपक्षः प्रोक्तः॥]

९. अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पञ्च शान्तादयस्तथा।
प्रतिपक्षो भवेदस्य रौद्रो बीभत्स एव च॥ (९)

[वीरः तथा पञ्च शान्तादयः अद्भुतस्य सुहृत्। रौद्रः बीभत्सः एव च अस्य प्रतिपक्षः भवेत्॥]

१०. वीरस्य त्वद्भुतो हास्यः प्रेयान् प्रीतस्तथा सुहृत्।
भयानको विपक्षोऽस्य कस्यचिच्छान्त एव च॥ (१०)

[अद्भुतः, हास्यः, प्रेयान् तथा प्रीतः वीरस्य सुहृत्। भयानकः अस्य विपक्षः, कस्यचित् (मते) शान्तः एव च॥]

११. करुणस्य सुहृद्-रौद्रो वत्सलश्च विलोक्यते।
वैरी हास्योऽस्य सम्भोगशृङ्गारश्चाद्भुतस्तथा॥ (११)

[रौद्रः, वत्सलः च करुणस्य सुहृद् विलोक्यते। अस्य वैरी हास्यः सम्भोगशृङ्गारः तथा अद्भुतः च॥]

१२. रौद्रस्य करुणः प्रोक्तो वीरश्चापि सुहृद्वरः।
प्रतिपक्षस्तु हासोऽस्य शृङ्गारो भीषणोऽपि च॥ (१२)

[करुणः वीरः च अपि रौद्रस्य सुहृद्वरः प्रोक्तः। अस्य प्रतिपक्षः तु हासः, शृङ्गारः अपि च भीषणः॥]

१३. भयानकस्य बीभत्सः करुणश्च सुहृद्वरः।
द्विषस्तु वीर-शृङ्गार-हास्य-रौद्राः प्रकीर्तिताः॥ (१३)

[बीभत्सः करुणः च भयानकस्य सुहृद्वरः। वीर-शृङ्गार-हास्य-रौद्राः तु द्विषः प्रकीर्तिताः॥]

१४. बीभत्सस्य भवेच्छान्तो हास्यः प्रीतस्तथा सुहृत्।
शत्रुः शुचिस्तथा प्रेयान् ज्ञेया युक्त्या परे च ते॥ (१४)

[शान्तः हास्यः तथा प्रीतः बीभत्सस्य सुहृद् भवेत्, शुचिः तथा प्रेयान् शत्रुः। परे च ते युक्त्या ज्ञेयाः॥]

८. बीभत्स, शृङ्गार, वत्सल, प्रेयान् ये हास्य के मित्र हैं। करुण तथा भयानक इसके विरोधी या विपरीत पक्ष के हैं। ।८।

९. वीर तथा शान्त आदि पाँच अद्भुत के मित्र हैं। रौद्र तथा बीभत्स इसके प्रतिपक्ष (वैरी) होंगे। ।९।

१०. अद्भुत, हास्य, प्रेयान् तथा प्रीत—ये वीर रस के मित्र हैं। भयानक इसका विपक्ष है, कभी शान्त भी विपक्ष ही होता है। ।१०।

११. रौद्र एवं वत्सल करुण के मित्र माने जाते हैं। इसके वैरी हैं—हास्य, सम्भोग शृङ्गार तथा अद्भुत भी। ।११।

१२. करुण और वीर भी रौद्र के मित्र कहे गये हैं; इसका प्रतिपक्ष है हास, शृङ्गार और भयानक भी। ।१२।

१३. बीभत्स और करुण भयानक के मित्र हैं; वीर, शृङ्गार, हास्य एवं रौद्र इसके द्वेषी कहे गये हैं। ।१३।

१४. शान्त, हास्य तथा प्रीत—ये बीभत्स के मित्र होंगे, शृङ्गार एवं प्रेयान् उसके शत्रु हैं। ।१४।

१५. कथितेभ्यः परे ये स्युस्ते तटस्थाः सतां मताः। (१५)

[ये कथितेभ्यः परे स्युः ते सतां तटस्थाः मताः॥]

तत्र सुहृत्कृत्यम्—

१६. सुहृदा मिश्रणं सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम्॥ (१६)

[सुहृदा मिश्रणं रसं सम्यक् आस्वाद्यं कुरुते॥]

१७. द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकं स्यात् तुलाधृतम्।
तस्मादङ्गाङ्गिभावेन मेलनं विदुषां मतम्॥ (१७)

[द्वयोः मिश्रणे तुलाधृतं साम्यं दुःशकं स्यात्। तस्मात् अङ्गाङ्गिभावेन मेलनं विदुषां मतम्॥]

१८. भवेन्मुख्योऽथ वा गौणो रसोऽङ्गी किल यत्र यः।
कर्तव्यं तत्र तस्याङ्गं सुहृदेव रसो बुधैः॥ (१८)

[यत्र यः किल अङ्गी रसः मुख्यः अथ गौणः वा भवेत् तस्य सुहृद् एव रसः बुधैः तत्र तस्य अङ्गं कर्तव्यम्॥]

१९. अथाङ्गित्वं प्रथमतो मुख्यानामिह लिख्यते।
अङ्गतां यत्र सुहृदो मुख्या गौणाश्च बिभ्रति॥ (१९)

[अथ प्रथमतः मुख्यानाम् इह अङ्गित्वं लिख्यते, यत्र मुख्याः गौणाः च सुहृदः अङ्गतां बिभ्रति॥]

तत्र शान्तेऽङ्गिनि प्रीतस्याङ्गता, यथा—

१. जीवस्फुलिङ्गवह्ने-
र्महसो घनचित्स्वरूपस्य।
तस्य पदाम्बुजयुगलं
किंवा संवाहयिष्यामि॥ (२०)

[जीवस्फुलिङ्गवह्नेर्महसः घनचिद्रूपस्य तस्य पदाम्बुजयुगलं किंवा संवाहयिष्यामि॥]

—अत्र मुख्येऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता।

१५. जितने कहे गये इनसे जो अन्य (बचे) रहे, उन्हें सज्जनों ने तटस्थ माना है। ।१५।

सुहृद् का कृत्य—

१६. मित्र-रस से मिश्रण मुख्य रस को भलीभाँति आस्वादनीय बना देता है। ।१६।

१७. दो का मिश्रण होने में सर्वथा तराजू से तौले हुए जैसी समानता कठिन या असम्भव-सी होती है, इसलिये विद्वज्जनों ने विभिन्न रसों का अङ्ग-अङ्गी-भाव से मिलन माना है। ।१७।

१८. जहाँ पर जो मुख्य अथवा गौण रस अङ्गी हो वहाँ उसके मित्र-रस को ही साथ स्वीकार करना चाहिये, वैरी को नहीं, उदासीन या तटस्थ को नहीं। ।१८।

१९. इन पहले मुख्य रसों का ही अङ्गी होना लिखा जा रहा है, जहाँ मुख्य और गौण सुहृद् (मित्र) रस अङ्ग बनते हैं। ।१९।

इनमें से—शान्त अङ्गी, प्रीत अङ्ग,-यथा—

१. जीव रूपी स्फुलिङ्ग-अग्नि का जो (मूल) महान् अनल है उस घनचित्स्वरूप (श्रीकृष्ण) के चरण-कमलों का संवाहन (हाथों से दबाने-सहलाने की सेवा) क्या मैं कर पाऊँगा? ।२०।

—यहाँ मुख्य ही अङ्गी में मुख्य की ही अङ्गता है।

तत्रैव बीभत्सस्य यथा—

२. अहमिह कफशुक्रशोणितानां
पृथुकुतुपे कुतुकी रतः शरीरे।
शिव शिव परमात्मनो दुरात्मा
सुखवपुषः स्मरणेऽपि मन्थरोऽस्मि॥ (२१)

[कफ-शुक्र-शोणितानां पृथुकुतपे शरीरे अहं कुतुकी रतः, शिव! शिव! परमात्मनः सुखवपुषः स्मरणे अपि दुरात्मा मन्थरः अस्मि॥]

—अत्र मुख्य एव गौणस्यअङ्गता।

तत्रैव प्रीतस्याद्भुत-बीभत्सयोश्च, यथा—

३. हित्वास्मिन् पिशितोपनद्धरुधिरक्लिन्ने मुदं विग्रहे
प्रीत्युत्सिक्तमनाः कदाहमसकृद्दुस्तर्कचर्यास्पदम्।
आसीनं पुरटासनोपरि परं ब्रह्माम्बुदश्यामलं
सेविष्ये चलचारुचामर-मरुत्सञ्चार-चातुर्यतः॥ (२२)

[अस्मिन् पिशितोपनद्धक्लिन्ने विग्रहे मुदं हित्वा कदा अहं प्रीत्युत्सिक्तमनाः असकृद् दुस्तर्कचर्यास्पदं पुरटासनोपरि आसीनम् अम्बुदश्यामलं परं ब्रह्म चलचारुचामर-मरुत्सञ्चार-चातुर्यतः सेविष्ये॥]

—अत्र मुख्य एव मुख्यस्य गौणयोश्च।

अथ प्रीते शान्तस्य, यथा—

४. निरविघ्नतया सपद्यहं
निरवद्यः प्रतिपद्य-माधुरीम्।
अरविन्दविलोचनं कदा
प्रभुमिन्दीवरसुन्दरं भजे? (२३)

[निरविघ्नतया सपदि कदा अहं निरवद्यः प्रतिपद्य-माधुरीम् अरविन्दविलोचनम् इन्दीवरसुन्दरं प्रभुं भजे॥]

—अत्र मुख्ये मुख्यस्य।

शान्त अङ्गी, बीभत्स अङ्ग, यथा—

२. *कफ, शुक्र, रुधिर आदि के कुप्पे (थोड़े या पतले चमड़े से मढ़ा पात्र) जैसे शरीर में मैं कौतुक से रत (आसक्त) हूँ। अरे! अरे! सुखस्वरूप परमात्मा के स्मरण में भी मैं दुष्ट मन्थर (धीमी गति से चलने वाला आलसी) हूँ। ।२१।*

—यहाँ मुख्य रस में गौण रस अङ्ग है।

उसी (शान्त अङ्गी) में प्रीत तथा शान्त एवं अद्भुत अङ्ग, यथा—

३. *इस मढ़े व सने (गीले) मांस की गठरी या लौंदे जैसे शरीर में ही मोद मानना छोड़कर कब मैं प्रीति से सिँचे मन वाला होकर, बारम्बार, उन मेघश्यामल छवि वाले, सुवर्णसिंहासन पर बैठे हुए, तर्क के आचरण से अतीत (जहाँ तर्क की गति सम्भव नहीं) धाम वाले परम ब्रह्म भगवान् की सेवा सुन्दर चँवर निरन्तर डुलाते हुए, मरुत्सञ्चारचातुरी से (पंखा झलते हुए) करूँगा। ।२२।*

अब प्रीतभक्ति (अङ्गी) में शान्त (अङ्ग), यथा—

४. *अविद्यारहित होने से निर्दोष होकर मैं कब शीघ्र ही कमलनयन, नीलकमल-सी सुन्दर कान्ति वाले, शरण्य माधुरी वाले प्रभु को भजूँगा? ।२३।*

—यहाँ मुख्य में मुख्य ही अङ्ग है।

तत्रैव बीभत्सस्य, यथा—

५. स्मरन्प्रभुपदाम्भोजं नटन्नटति वैष्णवः।
यस्तु दृष्ट्या पद्मिनीनामपि सुष्ठु हृणीयते[४]॥ (२४)

[वैष्णवः प्रभुपदाम्भोजं स्मरन् नटन् अटति, यः तु पद्मिनीनाम् अपि दृष्ट्या सुष्ठु हृणीयते॥]

—अत्र मुख्ये गौणस्य।

तत्रैव बीभत्स-शान्त-वीराणां, यथा—

६. तनोति[५] मुखविक्रियां युवतिसङ्गरङ्गोदये
न तृप्यति न सर्वतः सुखमये समाधावपि।
न सिद्धिषु च लालसां वहति लभ्यमानास्वपि[६]
प्रभो! तव पदार्चने परमुपैति तृष्णां मनः॥ (२५)

[युवतिसङ्गरङ्गोदये मुखविक्रियां तनोति, सर्वतः सुखमये समाधौ अपि च न तृप्यति, लभ्यमानासु अपि सिद्धिषु लालसां न वहति। परं प्रभो! तव पदार्चने मनः तृष्णाम् उपैति॥]

—अत्र मुख्ये मुख्यस्य गौणयोश्च।

अथ प्रेयसि शुचेर्यथा—

७. धन्यानां किल मूर्धन्याः सुबलामूर्व्रजाबलाः।
अधरं पिञ्छचूडस्य चलाश्चुलुकयन्ति याः॥ (२६)

[सुबल! अमूः व्रजाबलाः किल धन्यानां मूर्धन्याः, याः चलाः पिच्छचूडस्य अधरं चुलूकयन्ति।]

—अत्र मुख्ये मुख्यस्य।

तत्रैव हास्यस्य, यथा—

८. दृशोस्तरलितैरलं व्रज निवृत्य मुग्धे! व्रजं
वितर्कयसि मां यथा न हि तथास्मि किं भूरिणा।
इतीरयति माधवे नवविलासिनीं छद्मना
ददर्श सुबलो वलद्विकचदृष्टिरस्याननम्॥ (२७)

[मुग्धे! दृशोः तरलितैः अलम्, निवृत्य व्रजं व्रज। यथा मां वितर्कयसि न हि तथा अस्मि; किं भूरिणा! —इति छद्मना नवविलासिनीम् ईरयति माधवे सुबलः वलद्विकचदृष्टिः अस्य आननं ददर्श॥]

—अत्र मुख्ये गौणस्य।

प्रीत में बीभत्स (अङ्ग), यथा—

५. *वैष्णव प्रभुचरणकमलों का स्मरण करता हुआ आनन्द से नाचता हुआ-सा चलता है, जो कि पद्मिनी नायिकाओं (श्रेष्ठ सुन्दरियों) के दर्शन से भी घृणा का अनुभव करता है।* ।२४।

—यहाँ मुख्य में गौण अङ्ग है।

उसी (प्रीत) में बीभत्स, शान्त तथा वीर (अङ्ग), यथा—

६. *युवतियों के सङ्ग का उत्सव अवसर आने पर जो मुँह बिचकाता है, सब ओर से सुखमय समाधि में भी तृप्त नहीं होता, प्राप्त होती हुई भी सिद्धियों की लालसा नहीं रखता, किन्तु हे प्रभो आपके चरणों के पूजन की तृष्णा उस मन में बनी ही रहती है।* ।२५।

—यहाँ मुख्य में मुख्य एवं गौण अङ्ग है।

अब प्रेयोभक्ति (अङ्गी) में शृंङ्गार (अङ्ग), यथा—

७. *हे सुबल! ये व्रज की चञ्चल सुन्दरियाँ तो धन्यों में भी मूर्धन्य (श्रेष्ठ) हैं, जो मयूरपिच्छ-युक्त मुकुट धारण किये हुए श्यामसुन्दर के अधरों का (अञ्जलि भर-भर) पान किया करती हैं।* ।२६।

—यहाँ मुख्य में मुख्य ही अङ्ग है।

वहीं (शृङ्गार अङ्गी में) हास्य (अङ्ग), यथा—

८. *"अरी मुग्धे! चञ्चल नयन चलाना छोड़कर व्रज लौट जा! तू मुझे जैसा समझ रही है, वैसा मैं नहीं हूँ, अधिक क्या कहूँ?"-नयी विलासिनी (गोपसुन्दरी) को छद्म से ऐसा कहते हुए माधव की ओर सुबल (सखा) ने घूम कर खिली हुई (मुस्का[illegible]ी) दृष्टि से देखा।* ।२७।

—यहाँ मुख्य में गौण अङ्ग है।

तत्रैव शुचिहास्ययोर्यथा—

९. मिहिरदुहितुरुद्यद्वञ्जुलं मञ्जुतीरं
प्रविशति सुबलोऽयं राधिकावेषगूढः।
सरभसमभिपश्यन् कृष्णमभ्युत्थितं यः
स्मितविकशितगण्डं स्वीयमास्यं वृणोति॥ (२८)

[राधिकावेषगूढः अयं सुबलः, उद्यद्वञ्जुलं मञ्जुतीरं प्रविशति। यः अभ्युत्थितं कृष्णं सरभसम् अभिपश्यन् स्मितविकशितगण्डं स्वीयम् आस्यं वृणोति॥]

—अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः।

अथ वत्सले करुणस्य—

१०. निरातपत्रः कान्तारे सन्ततं मुक्तपादुकः।
वत्सानवति वत्सो मे हन्त सन्तप्यते मनः॥ (२९)

[कान्तारे निरातपत्रः सन्ततं मुक्तपादुकः मे वत्सः वत्सान् अवति। हन्त! मनः सन्तप्यते॥]

—अत्र मुख्ये गौणस्य।

—

तत्रैव हास्यस्य, यथा—

११. पुत्रस्ते नवनीतपिण्डमतनुं मुष्णन्ममान्तर्गृहाद्-
विन्यस्यापससार तस्य कणिकां निद्राणडिम्भानने।
इत्युक्ता कुलवृद्धया सुतमुखे दृष्टिं विभुग्नभ्रुणि
स्मेरां निक्षिपती सदा भवतु वः क्षेमाय गोष्ठेश्वरी॥ (३०)

[''ते पुत्रः अतनुं नवनीतपिण्डं मुष्णन् निद्राणडिम्भानने तस्य कणिकां विन्यस्य मम अन्तर्गृहात् अपससार''—इति कुलवृद्धया उक्ता गोष्ठेश्वरी निर्भुग्नभ्रुवि सुतानने स्मेरां दृष्टिं निक्षिपती सदा वः क्षेमाय भवतु॥]

—अत्रापि मुख्ये गौणस्य।

वहीं (अङ्गी में) शृङ्गार और हास्य (अङ्ग)-यथा—

९. *श्रीराधिका-वेष में छिपा हुआ यह सुबल सूर्यपुत्री यमुना के सुन्दर तट पर उगे बेंत के झुण्ड अथवा वञ्जुल पुष्पलताओं के कुञ्ज में प्रवेश कर रहा है। जो कि (उसे देखते ही) हर्ष-संभ्रम से उठे हुए श्रीकृष्ण को देखता हुआ मुस्कान से खिले-कपोलों वाले अपने मुख को (आँचल से) ढक रहा है।* *।२८।*

—यहाँ मुख्य में मुख्य एवं गौण अङ्ग हैं।

अब वत्सल (अङ्गी) में करुण अङ्ग, यथा—

१०. *वन में छत्र के बिना, पादुका भी न पहने हुए मेरा बेटा निरन्तर बछड़ों को सँभाल रहा है; हाय, (उसके कष्ट को सोचकर) मेरा मन सन्तप्त है।* *।२९।*

—यहाँ मुख्य में गौण अङ्ग है।

वहीं (वत्सल में) हास्य (अङ्ग), यथा—

११. *"तेरा बेटा मेरे भीतरी घर से बड़ा-सा मक्खन का गोला चुराता हुआ, घर में सोये बालक के मुँह पर कण-भर माखन रखकर बाहर भाग गया"-कुल की वृद्धा गोपी द्वारा ऐसा कहे जाने पर टेढ़ी भौं करते हुए अपने बेटे के मुख पर मुस्कानभरी दृष्टि डालती हुई व्रजेश्वरी (यशोदा) सदा आपका कल्याण करे।* *।३०।*

—यहाँ भी मुख्य में गौण अङ्ग है।

तत्रैव भयानकाद्भुत-हास्य-करुणानां, यथा—

१२. कम्प्रा स्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे स्फारेक्षणा तुङ्गिते
सव्ये दोष्णि विकाशिगण्डफलका लीलास्यभङ्गीशते।
बिभ्राणस्य हरेर्गिरीन्द्रमुदयद्वाष्पा चिरोर्ध्वस्थितौ
पातु प्रस्नवसिच्यमानसिचया विश्वं व्रजाधीश्वरी॥ (३१)

[गिरीन्द्रं बिभ्राणस्य हरेः स्वेदिनि चूर्णकुन्तलस्थितौ कम्प्रा, सव्ये दोष्णि तुङ्गिते स्फारेक्षणा, लीलास्यभङ्गिशते विकाशिगण्डफलका, चिरोर्ध्वस्थितौ उदयद्बाष्पा, प्रस्नवसिच्यमानसिचया व्रजाधीश्वरी विश्वं पातु॥]

—अत्र मुख्ये चतुर्णां गौणानाम्।

२०. केवले वत्सले नास्ति मुख्यस्य खलु सौहृदम्।
अतोऽत्र वत्सले तस्य नतरां लिखिताङ्गता॥ (३२)

[केवले वत्सले मुख्यस्य खलु सौहृदं न अस्ति। अतः अत्र वत्सले तस्य अङ्गता नतरां लिखिता॥]

अथ उज्ज्वले प्रेयसो, यथा—

१३. मद्वेषशीलितततनोः[७] सुबलस्य पश्य
विन्यस्य मञ्जुभुजमूर्ध्नि भुजं मुकुन्दः।
रोमाञ्च-कञ्चुकजुषः स्फुटमस्य कर्णे
सन्देशमर्पयति तन्वि! मदर्थमेव॥ (३३)

[तन्वि! पश्य, मद्वेषशीलितततनोः सुबलस्य रोमाञ्चकञ्चुकजुषः मञ्जुभुजमूर्ध्नि भुजं विन्यस्य मुकुन्दः अस्य कर्णे स्फुटं मदर्थम् एव सन्देशम् अर्पयति॥]

—अत्र मुख्ये मुख्यस्य।

उसी (वत्सल) में भयानक, अद्‌भुत, हास्य, करुण (अङ्ग), यथा—

१२. *बाँये हाथ पर गिरिराज (गोवर्धन) उठाये हुए श्रीहरि के घुँघराले अलकों के कोने में स्वेदबिन्दु झलकने पर (बेटे के श्रम-कष्ट के अनुमान से एवं पर्वत गिरने के भय से) काँपती हुई, श्रीहरि द्वारा उसी बाँयी भुजा को और ऊँचा करने पर (अनायास इतना भार फूल की तरह उछालने की क्षमता सात वर्ष के बालक में देखकर चकित हो) आँखें फैलाती हुई, इस स्थिति में भी सहचर बालकों के साथ खेल-खेलने की सी मुद्रा में हास-परिहास करते हुए बेटे के मुख पर हँसी की सैंकड़ों मुद्रायें (मुँह चिढ़ाना, तरह-तरह का मुँह बनाना) देखकर हँसी से खिलते-फैलते कपोलों वाली, सात दिन-रात जितने लम्बे समय तक बेटे की बाँयी भुजा ऊँची और पर्वतभार उठायी हुई देखकर उसके श्रमकष्ट के दुःख से सतत बहते आँसुओं से वस्त्र भिगोती हुई यशोदा विश्व की रक्षा करें। ।३१।*

—यहाँ मुख्य (वत्सल) में चार गौण रस अङ्ग हैं।

२०. केवल (शुद्ध) वत्सल में अन्य किसी मुख्य रस की मैत्री नहीं है। इसलिये यहाँ किसी मुख्य का अङ्ग होना नहीं दिखाया गया है। ।३२।

अब उज्ज्वल (शृङ्गार) में प्रेयस् अङ्ग, यथा—

१३. *सखि! देखो! मेरा वेश धारण किये हुए शरीर वाले सुबल के सुन्दर कन्धे पर अपनी भुजा रखकर मुकुन्द (इस स्पर्श से) रोमाञ्च का चोगा-सा पहने उस (सुबल) के कान में देखो मेरे लिये ही सन्देश (मुझे कहने की बात) कह रहे हैं। ।३३।*

—यहाँ मुख्य में मुख्य अङ्ग।

तत्रैव हास्यस्य, यथा—

१४. स्वसास्मि तव निर्दये! परिचिनोषि न त्वं कुतः
कुरु प्रणयनिर्भरं मम कृशाङ्गि![८] कण्ठग्रहम्।
इति ब्रुवति पेशलं युवतिवेषगूढे हरौ
कृतं स्मितमभिज्ञया गुरुपुरस्तदा राधया॥ (३४)

[''निर्दये! तव स्वसा अस्मि, त्वं कुतः न परिचिनोषि? कृशाङ्गि! प्रणयनिर्भरं मम कण्ठग्रहं कुरु'' युवतिवेषगूढे हरौ इति ब्रुवति तदा अभिज्ञया राधया गुरुपुरः पेशलं स्मितं कृतम्॥]

—अत्र मुख्ये गौणस्य।

तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथा—

१५. मुकुन्दोऽयं चन्द्रावलिवदनचन्द्रे चटुलभे
स्मरस्मेरामाराद्दृशमसकलामर्पयति च।
भुजामंसे सख्युः पुलकिनि दधानः फणिनिभा-
मिभारिक्ष्वेडाभिर्वृषदनुजमुद्योजयति[१] च॥ (३५)

[अयं मुकुन्दः चन्द्रावलिवदने चटुलभे, स्मरस्मेराम् असकलां दृशम् आरात् अर्पयति, सख्युः पुलकिनि अंसे फणिनिभां भुजां दधानः इभारिक्ष्वेडाभिः वृषदनुजम् उद्योजयति॥]

—अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः।

अथ गौणानामङ्गिता—

२१. हास्यादीनान्तु गौणानां यदुदाहरणं कृतम्।
तेनैषामङ्गिता व्यक्ता मुख्यानाञ्च तथाङ्गता।
तथाप्यल्पविशेषाय किञ्चिदेव विलिख्यते॥ (३६)

[हासादीनां गौणानां तु यत् उदाहरणं कृतम्, तेन एव एषाम् अङ्गिता तथा मुख्यानां च अङ्गता व्यक्ता। तथा अपि अल्पविशेषाय किञ्चित् विलिख्यते॥]

उसी (शृङ्गार) में हास्य अङ्ग, यथा—

१४. *"अरी निर्दये! तेरी बहन ही तो हूँ, क्यों तू पहचान नहीं रही है? हे कृशतनुवाली सखी प्रेम से भर कर मेरे गले लग जा।"-युवती के वेश में छिपे हरि के ऐसा कहने पर, वास्तव में उन्हें पहचानती हुई राधा गुरुजनों के सामने मधुर मुस्कुरा ही गयीं।* ।३४।

—यहाँ मुख्य में गौण अङ्ग है।

उसी (शृङ्गार) में प्रेयान् तथा वीर अङ्ग, यथा—

१५. *यह मुकुन्द समीप ही स्थित चन्द्रावली के चटुल कान्ति वाले मुख पर मुंस्कान से खिले हुए कटाक्ष डाल रहा है। सखा के पुलकित कन्धे पर अपनी नाग जैसी (सुडौल गोल, चमकती चिकनी, श्याम) भुजा रखे हुए हाथी के शत्रु (सिंह) की दहाड़ जेसी ध्वनि से साँड़ बनकर आये दानव (अरिष्टासुर) को ललकार रहा है।* ।३५।

—यहाँ मुख्य में मुख्य तथा गौण अङ्ग हैं।

अब गौणों का अङ्गी होना कहेंगे—

२१. हास्य आदि गौण रसों का जो उदाहरण (रसों में गिनना) किया गया, उसी से इनका अङ्गी होना व्यक्त है, तब मुख्य रस इनके अङ्ग होंगे यह भी व्यक्त है। फिर भी अल्पत्व-विशेषत्व स्पष्ट करने के लिये कुछ लिखा जाता है।

।३६।

अथ हास्येऽङ्गिनि शुचेरङ्गता, यथा—

१६. मदनान्धतया त्रिवक्रया
प्रसभं पीतपटाञ्चले धृते।
अदधाद्विनतं जनाग्रतो
हरिरुत्फुल्लकपोलमाननम्॥ (३७)

[मदनान्धतया त्रिवक्रया (कुब्जया) पीतपटाञ्चले प्रसभं धृते हरिः जनाग्रतः उत्फुल्लकपोलम् विनतम् आननम् अदधात्॥]

—अत्र गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता।

वीरे प्रेयसो, यथा—

१७. सेनान्यं विजितमवेक्ष्य भद्रसेनं
मां योद्धुं मिलसि पुरः कथं विशाल?
रामाणां शतमपि नोद्भटोरुधामा[१०]
श्रीदामा गणयति रे! त्वमत्र कोऽसि? (३८)

[विशाल! सेनान्यं भद्रसेनं विजितम् अवेक्ष्य मां योद्धुं कथं पुरः मिलसि? उद्भटोरुधामा श्रीदामा रामाणां शतम् अपि न गणयति, त्वम् अत्र कः असि रे!]

—अत्रापि गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्य।

रौद्रे प्रेयोवीरयोर्यथा—

१८. यदुनन्दन! निन्दनोद्धतं
शिशुपालं समरे जिघांसुभिः।
अतिलोहितलोचनोत्पलै-
र्जगृहे पाण्डुसुतैर्वरायुधम्॥ (३९)

[यदुनन्दन! निन्दनोद्धतं शिशुपालं समरे जिघांसुभिः अतिलोहितलोचनोत्पलैः पाण्डुसुतैः वरायुधं जगृहे॥]

—अत्र गौणे मुख्यगौणयोः।

हास्य अङ्गी में शृङ्गार अङ्ग, यथा—

१६. *तीन अङ्गों में टेढ़ी कुब्जा ने कामान्ध होने के कारण जब हठपूर्वक लोगों के सामने ही पीताम्बर का छोर पकड़ लिया तब श्रीहरि ने उत्फुल्ल कपोलों वाला अपना मुख झुका लिया।* ।३७।

—यहाँ गौण अङ्गी में मुख्य अङ्ग है।

वीर अङ्गी में प्रेयान् अङ्ग, यथा—

१७. *हे विशाल! मेरे सेनानी भद्रसेन को पराजित देखकर अब मुझ से युद्ध करने क्या आगे बढ़े आ रहे हो? उद्भट तेज वाला यह (मैं) श्रीदामा तो सौ रामों को भी नहीं गिनता। अरे! तुम यहाँ कौन (किस गिनती में) हो!* ।३८।

—यहाँ भी गौण अङ्गी में मुख्य अङ्ग है।

रौद्र में प्रेयान् तथा वीर अङ्ग,—

१८. *हे यदुनन्दन! (आपकी) निन्दा में उद्धत शिशुपाल को युद्ध में मार डालना चाहने वाले, (क्रोध से) अत्यन्त लाल नयन-कमलों वाले पाण्डवों ने अपना-अपना श्रेष्ठ आयुध उठा लिया है।* ।३९।

—यहाँ गौण में मुख्य एवं गौण अङ्ग है।

अद्भुते प्रेयो-वीर-हास्यानां, यथा—

१९. मित्रानीकवृतं गदायुधि गुरुम्मन्यं प्रलम्बद्विषं
यष्ट्या दुर्बलया विजित्य पुरतः सोल्लुण्ठमुद्गायतः।
श्रीदाम्नः किल वीक्ष्य केलि-समराटोपोत्सवे[११] पाटवं
कृष्णः फुल्लकपोलकः पुलकवान् विस्फारदृष्टिर्बभौ॥
(४०)

[मित्रानीकवृतं गदायुधि गुरुम्मन्यं प्रलम्बद्विषं दुर्बलया यष्ट्या विजित्य पुरतः सोल्लुण्ठम् उद्गायतः श्रीदाम्नः केलिसमराटोपोत्सवे पाटवं वीक्ष्य किल कृष्णः फुल्लकपोलकः पुलकवान् विस्फारदृष्टिः बभौ॥]

—अत्र गौणे मुख्यस्य गौणयोश्च।

२२. एवमन्यस्य गौणस्य ज्ञेया कविभिरङ्गिता।
तथात्र मुख्यगौणानां रसानामङ्गतापि च॥ (४१)

[एवं कविभिः अन्यस्य गौणस्य अङ्गिता ज्ञेया, तथा अत्र मुख्यगौणानां रसानाम् अङ्गता अपि च (ज्ञेया)]।

२३. सोऽङ्गी सर्वातिगो यः स्यान्मुख्यो गौणोऽथ वा रसः।
स एवाङ्गं भवेदङ्गिपोषी सञ्चारितां व्रजन्॥ (४२)

[यः मुख्यः, अथवा गौणः रसः सर्वातिगः स्यात् सः अङ्गी; सः एव अङ्गिपोषी सञ्चारितां व्रजन् अङ्गम् भवेत्॥]

तथा च नाट्याचार्याः पठन्ति—

२०. "एक एव भवेत् स्थायी रसो मुख्यतमो हि यः।
रसास्तदनुयमित्वादन्ये स्युर्व्यभिचारिणः॥ (४३)

[यः मुख्यतमः रसः (सः) एकः एव स्थायी भवेत्। अन्ये रसाः तदनुगामित्वात् व्यभिचारिणः स्युः॥]

श्री विष्णुधर्मोत्तरे च—

२१. रसानां समवेतानां यस्य रूपं भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः॥ (४४)

[समवेतानां रसानां यस्य रूपं बहु भवेत् सः स्थायी रसः मन्तव्यः शेषाः सञ्चारिणः मताः॥]

अद्भुत में प्रेयान्, वीर और हास्य अङ्ग, यथा—

> १९. *मित्रों की सेना से घिरे हुए, गदा-युद्ध में स्वयं को बड़ा मानने वाले, प्रलम्बासुर के शत्रु (बलराम) को पतली-सी डण्डी या लाठी से जीतकर, सामने लोट-पोट होते हुए तथा ऊँचे स्वर से गाते हुए श्रीदामा की खेल के युद्ध-उत्सव में पटुता देखकर श्रीकृष्ण के कपोल (हर्ष से) उत्फुल्ल हो उठे, शरीर-भर में पुलक हो आयी, नयन फैलाकर देखने लगे—ऐसे श्रीकृष्ण सुशोभित हुए।* ।४०।

—यहाँ गौण (अङ्गी) में मुख्य तथा दो गौण अङ्ग हैं।

२२. इसी प्रकार व्युत्पन्न प्रबुद्ध जनों को अन्य गौण रसों का भी अङ्गी होना, तथा मुख्य व गौणों का अङ्ग होना समझ लेना चाहिये। ।४१।

२३. जो भी मुख्य अथवा गौण रस सबका अतिक्रमण करने वाला (आस्वाद्यता की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली) हो वही अङ्गी होता है। वही जब अङ्गी का पोषण करता हुआ सञ्चारी हो तब अङ्ग हो जाता है। ।४२।

ऐसा ही नाट्याचार्यों का कहना है—

> २०. *एक ही स्थायी रस रहता है जो मुख्यतम हो, उसके अनुयायी होने के नाते अन्य रस व्यभिचारी होते हैं।* ।४३।

श्रीविष्णुधर्मोत्तर में भी कहा है—

> २१. *समवेत रसों में जिसका रूप बहुत हो, उसे स्थायी मानना चाहिये, शेष सब सञ्चारी माने गये हैं।* ।४४।

२४. स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम्।
पुष्णन्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते॥ (४५)

[स्तोकात् विभावनात् जातः व्यभिचारितां सम्प्राप्य निजप्रभुं मुख्यं पुष्णन् गौणः तत्र एव लीयते॥]

२५. प्रोद्यन् विभावनोत्कर्षात् पुष्टिं मुख्येन लम्भितः।
कुञ्चता निजनाथेन गौणोऽप्यङ्गित्वमश्नुते॥ (४६)

[विभावनोत्कर्षात् प्रोद्यन् गौणः अपि मुख्येन निजनाथेन कुञ्चता पुष्टिं लम्भितः अङ्गित्वम् अश्नुते॥]

२६. मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य पुष्णन्निन्द्रमुपेन्द्रवत्।
गौणमेवाङ्गिनं कृत्वा निगूढनिजवैभवः॥ (४७)

[निगूढनिजवैभवः मुख्यः तु अङ्गत्वम् आसाद्य गौणम् एव अङ्गिनं कृत्वा इन्द्रम् उपेन्द्रवत् पुष्णन्—]

२७. अनादिवासनोद्भास-वासिते भक्तचेतसि।
भात्येव न तु लीनः स्यादेष सञ्चारिगौणवत्॥ (४८)

[अनादिवासनोद्भासवासिते भक्तचेतसि भाति एव, न तु सञ्चारिगौणवत् एषः लीनः स्यात्॥]

२८. अङ्गी मुख्यः स्वमत्राङ्गै[१२]-र्भावैस्तैरभिवर्धयन्।
स्वजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते॥ (४९)

[मुख्यः अङ्गी अत्र स्वजातीयैः, विजातीयैः तैः भावैः अङ्गैः स्वम् अभिवर्धयन् स्वतन्त्रः सन् विराजते॥]

२९. यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः।
अङ्गी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽङ्गतां व्रजेत्॥ (५०)

[यः भक्तः यस्य मुख्यस्य नित्यनिजाश्रयः भवेत्, सः एव तत्र अङ्गी स्यात्, अन्यः मुख्यः अपि अङ्गतां व्रजेत्॥]

किञ्च—

३०. आस्वादोद्रेकहेतुत्वमङ्गस्याङ्गत्वमङ्गिनि[१३]।
तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्यायैव कल्पते॥ (५१)

[अङ्गिनि आस्वादोद्रेकहेतुत्वम् अङ्गस्य अङ्गत्वम्। तद्विना तस्य सम्पातः वैफल्याय एव कल्पते॥]

२४. अनेक रसों के मिलने से जो थोड़े से ही विभावन से उत्पन्न हो, वही गौण रस होते हुए व्यभिचारी होकर, मुख्य रस को पुष्ट करता हुआ उसी (मुख्य) में ही लीन हो जाता है; अर्थात् प्रपानक रस (शरबत) में कालीमिर्च नमक आदि की तरह लीन होकर ही आस्वाद्य बनता है। ।४५।

२५. गौण रस भी विभावना के उत्कर्ष के कारण प्रकर्ष से उदित होता हुआ सङ्कुचित हुए अपने स्वामी मुख्य रस से पुष्टि को प्राप्त कराया जाकर अङ्गी बन जाता है। ।४६।

२६. मुख्य रस अङ्ग बनकर, उपेन्द्र (वामन-रूप विष्णु) जैसे इन्द्र को पुष्ट करते हैं, वैसे गौण को ही अङ्गी बनाकर अपने वैभव (मुख्यत्व) को छिपाये रहता है। ।४७।

२७. अनादि (पूर्वसिद्ध) वासना (संस्कार) के उद्भास (उठ आने) से वासित भक्त के चित्त में यह (अङ्गी रस) स्पष्ट भासित होता ही है, सञ्चारी गौण रस की भाँति लीन नहीं हो जाता। ।४८।

२८. यहाँ मुख्य अङ्गी अपने स्वजातीय एवं विजातीय भाव रूप अङ्गों द्वारा अपने आपको बढ़ाता हुआ स्वतन्त्र रहता हुआ विराजमान है। ।४९।

२९. जो भक्त जिस मुख्य, (रस, भाव) का नित्य ही निजाश्रय हो वही वहाँ अङ्गी होता है, दूसरा (स्वरूप से) मुख्य होते हुए भी अङ्ग बन जाता है। ।५०।

और भी—

३०. अङ्गी में आस्वाद के उद्रेक का हेतु होना ही अङ्ग का अङ्गत्व है, उसके बिना इसका रहना विफल ही होगा। ।५१।

३१. यथा मृष्टरसालायां यवसादेः कथञ्चन।
तच्चर्वणे भवेदेव सतृणाभ्यवहारिता॥ (५२)

[यथा मृष्टरसालायां कथञ्चन यवसादेः तच्चर्वणे सतृणाभ्यवहारिता भवेत् एव॥]

अथ वैरिकृत्यम्—

३२. जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः।
सुमृष्ट-पानकादीनां क्षारतिक्तादिना यथा॥ (५३)

[रसानां वैरिणा युतिः वैरस्यम् जनयति एव, यथा सुमृष्टपानकादीनाम् क्षारतिक्तादिना॥]

तथा हि—

२२. ब्रह्मिष्ठाया[१४] निष्फलं मे व्यतीतः
कालो भूयान् हा[१५] समाधिव्रतेन।
सान्द्रानन्दं तन्मया ब्रह्म मूर्तं
कोणेनाक्ष्णः साचिसव्यस्य नैक्षि॥ (५४)

[हा! ब्रह्मिष्ठायाः मे समाधिव्रतेन निष्फलं भूयान् कालः व्यतीतः। तत् सान्द्रानन्दं मूर्तं ब्रह्म मया साचिसव्यस्य अक्ष्णः कोणेन न ऐक्षि॥]

—अत्र शान्तस्योज्ज्वलेन वैरस्यम्।

२३. क्षणमपि पितृकोटिवत्सलं तं
सुरमुनिवन्दित-पादमिन्दिरेशम्।
अभिलषति वराङ्गनानखाङ्कैः
स्फुरिततनुं प्रभुमीक्षितुं मनो मे॥ (५५)

[पितृकोटिवत्सलं तं सुरमुनिवन्दितपादम् इन्दिरेशम्, वराङ्गनानखाङ्कैः स्फुरिततनुं प्रभुं क्षणम् अपि ईक्षितुं मे मनः अभिलषति॥]

—अत्र प्रीतस्योज्ज्वलेनैव।

२४. दोर्भ्यामर्गलदीर्घाभ्यां सखे! परिरभस्व माम्।
शिरः कृष्ण! तवाघ्राय विहरिष्ये ततस्त्वया॥ (५६)

[सखे! अर्गलदीर्घाभ्यां दोर्भ्यां मां परिरम्भस्व। कृष्ण! तव शिरः आघ्राय ततः त्वया (सह) विहरिष्ये॥]

—अत्र प्रेयसो वत्सलेन।

३१. जैसे शरबत के मसालों (मरिच, इलायची, शक्कर आदि) से युक्त मीठी लस्सी में यदि किसी तरह तिनका पड़ जाय तो लस्सी पीते समय उस तिनके को चबाने में तिनके से युक्त मीठा दही खाना हो जाता है। ।५२।

वैरी (विपरीत) रस का कार्य

३२. (इसी प्रकार) रसों में वैरी (विपरीत रस) का युक्त होना वैरस्य उत्पन्न करता ही है; जैसे कि मीठे सुस्वादु मधुर पेय में खारा, तीखा, कड़वा रस पड़ जाने से स्वाद बिगड़ जाता है। ।५३।

जैसे कि—

२२. *हाय! मुझ ब्रह्मिष्ठा का बहुत-सा समय समाधिव्रत के द्वारा व्यर्थ ही बीत गया; (क्योंकि) उस सान्द्र-आनन्दस्वरूप मूर्तिमान् ब्रह्म (श्रीकृष्ण) को मैंने बाँयी आँख के कोने से (कटाक्ष-दृष्टि से) नहीं देखा।* ।५४।

—यहाँ शान्त का शृङ्गार द्वारा वैरस्य है।

२३. *कोटि-कोटि पिताओं के समान वत्सल, देवों-मुनियों द्वारा जिनकी चनणवन्दना की जाती है ऐसे, लक्ष्मीपति, सुन्दरियों के (सुरतक्रीडा में किये गये) नख-चिह्नों से स्फुरित तनु वाले उन प्रभु को क्षणभर भी देख पाने को मेरा मन अभिलाषी है।* ।५५।

—यहाँ प्रीतभक्तिरस का शृङ्गार से वैरस्य है।

२४. *हे सखे! अर्गला (द्वार बन्द करने के लिये उनके पीछे लगाया जाने वाला बड़ा डण्डा) जैसी लम्बी व दृढ़ भुजाओं में भरकर मुझे भेंटो (आलिङ्गन करो) हे कृष्ण तुम्हारा सिर सूँघ लूँ, फिर तुम्हारे साथ विहार करूँगी।* ।५६।

—यहाँ प्रेयोभक्ति का वत्सलभक्ति से वैरस्य है।

२५. यं समस्तनिगमाः परमेशं
सात्वतास्तु भगवन्तमुशन्ति।
तं सुतेति बत साहसिकी त्वां
व्याजिहीर्षतु कथं मम जिह्वा? (५७)

[यं समस्तनिगमाः परमेशम्, (अथ) सात्वताः तु भगवन्तम् उशन्ति। तं त्वां बत 'सुत' इति कथं मम साहसिकी जिह्वा व्याजिहीर्षतु॥]

—अत्र वत्सलस्य प्रीतेन।

२६. तडिद्विलास-तरला नवयौवनसम्पदः।
अद्यैव दूति! तेन त्वं मया रमय माधवम्॥ (५८)

[नवयौवनसम्पदः तडिद्विलासतरलाः, तेन दूति! अद्य एव त्वं मया माधवं रमय॥]

—अत्रोज्ज्वलस्य शान्तेन।

२७. चिरं जीवेति संयुज्य काचिदाशीर्भिरच्युतम्।
कैलासस्था विलासेन कामुकी परिषष्वजे॥— (५९)

["चिरं जीव" इति आशीर्भिः अच्युतं संयुज्य काचित् कैलासस्था कामुकी (तं) विलासेन परिषस्वजे॥]

—अत्र शुचेर्वत्सलेन।

३३. शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथञ्चिद् यदि वत्सले।
क्वचिद्भवेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते॥ (६०)

[वत्सले कथञ्चित् अपि शुचेः सम्बन्ध-गन्धः (अपि) यदि भवेत्, तत् वैरस्याय एव सुष्ठु कल्पते॥]

२८. पिशितासृङ्मयी[१६] नाहं सत्यमस्मि तवोचिता।
स्वापाङ्गांविद्धां श्यामाङ्ग! कृपयाङ्गीकुरुष्व माम्॥— (६१)

[पिशित-असृङ्मयी अहं सत्यम् एव तव उचिता न अस्मि। (किन्तु) श्यामाङ्ग! स्वापाङ्गविद्धां मां कृपया अङ्गीकुरुष्व॥]

—अत्र शुचेर्बीभत्सेन।

२५. *जिन परमेश्वर को समस्त वेद एवं वेदार्थ जानने वाले तथा पाञ्चरात्रिक भक्त-जन भगवान् (वासुदेव) मानते हैं, ऐसे तुमको मेरी साहसिकी जिह्वा 'पुत्र' कह कर कैसे पुकारे?।५७।*

—यहाँ वत्सल का प्रीत से वैरस्य है।

२६. *यह नवयौवन-सम्पत्ति बिजली की कौंध या चमक जैसी क्षणभङ्गुर या चञ्चल है। इसलिए, हे दूती! तू आज ही मेरे साथ माधव का रमण करा दे। ।५८।*

—यहाँ शृङ्गार का शान्त से वैरस्य है।

२७. *किसी कैलासवासिनी कामपरायण कामिनी ने पहले अच्युत को 'चिरकाल तक जीओ'—ऐसा आशीष दिया, फिर विलास-पूर्वक उनका आलिङ्गन किया। ।५९।*

—यहाँ शृङ्गार का वत्सल से वैरस्य है।

३३. वत्सलभक्ति में किसी प्रकार भी यदि शृङ्गार के सम्बन्ध का गन्ध भी आ जाये तो वह वैरस्य ही उत्पन्न करता है। ।६०।

२८. *मांस-रुधिर-मयी मैं सच ही किसी प्रकार तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। फिर भी हे श्याम-काय! तुम्हारे कटाक्ष से बिंधी हुई मुझ को अपनी कृपा द्वारा अङ्गीकार करो। ।६१।*

—यहाँ शृङ्गार का बीभत्स से वैरस्य है।

३४. एवमन्यापि विज्ञेया प्राज्ञै रसविरोधिता।
प्रायेणेयं रसाभास-कक्षायां पर्यवस्यति॥ (६२)

[एवं प्राज्ञैः अन्या अपि रसविरोधिता विज्ञेया। प्रायेण इयं रसाभासकक्षायां पर्यवस्यति॥]

किञ्च—

३५. द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने।
स्मर्यमाण-तयाप्युक्तौ साम्येन वचनेऽपि च॥ (६३)

[इह द्वयोः एकतरस्य बाध्यत्वेन उपवर्णने स्मर्यमाणतया उक्तौ अपि साम्येन वचने अपि च]

३६. रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा।
विषयाश्रय-भेदे च[१७] गौणेन द्विषता सह।
इत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणो जनयेद् युतिः॥ (६४)

[तटस्थेन प्रियेण वा रसान्तरेण व्यवधौ विषयाश्रयभेदे च द्विषता सह गौणेन— इत्यादिषु वैरिणः युतिः वैरस्यं न जनयेत्॥]

तत्र एकतरस्य बाध्यत्वेन वर्णने, यथा विदग्धमाधवे—

२९. प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यास्मिन्मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥(६५)

[मुनिः विषयतः प्रत्याहृत्य यस्मिन् क्षणं मनः धित्सते, असौ बाला ततः मनः प्रत्याहरन्ती विषयेषु धित्सति। हन्त! हृदये यस्य स्फूर्तिलवाय योगी समुत्कण्ठते, पश्य, इयं मुग्धा किल हृदयात् तस्य निष्क्रान्तिम् आकाङ्क्षति॥]

३७. बाध्यत्वमत्र शान्तस्य शुचेरुत्कर्षवर्णनात्॥ (६६)

[अत्र शुचेः उत्कर्षवर्णनात् शान्तस्य बाध्यत्वम्॥]

३४. इसी प्रकार प्रबुद्ध जनों को अन्य भी रसों का विरोधी होना जान लेना चाहिये। यह विरोधिता ही प्राय: रसाभास-स्त्र में पर्यवसित होती है। ।६२।

और भी—

३५-३६. दो रसों के बीच में से किसी एक का बाध्य रूप से वर्णन हो तो परस्पर वैरीं रसों का मिलना वैरस्य नहीं उत्पन्न करेगा, ऐसे ही विरोधी रस का स्मरण किये जाने के रूप में वर्णन करना भी दोषरूप नहीं। ऐसे दोनों के साम्य रूप से वर्णन में भी वैरस्य-दोष नहीं होता। तटस्थ या प्रिय से अन्य रस द्वारा व्यवधान आने पर भी वैरस्य नहीं होता। दो वैरी रसों का एक विषय और एक ही आश्रय होने पर भी वैरस्य नहीं होता। विषय व आश्रय का भेद हो तो भी गौण वैरी रस के साथ मुख्य के वर्णन में वैरस्य नहीं होता। यह सब आगे व्यक्त हो जायेगा। ।६३-६४।

इनमें, किसी एक का बाध्य रूप से वर्णन हो तब, यथा

विदग्धमाधव में—

२९. *मुनि विषयों से खींचकर मन को क्षणभर जहाँ लगाना चाहता है, वहाँ से मन को खींचकर यह बाला (युवती) किसी प्रकार विषयों (गृहकार्य आदि) में लगाना चाहती है। अहो! योगी हृदय में जिसके स्फुरण के लेशमात्र के लिये अतीव उत्कण्ठित रहते हैं, देखो तो! यह मुग्धा उसी के हृदय से निकल जाना चाहती है (कि किसी तरह से वह हृदय से निकल जाय)। ।६५।*

३७. यहाँ शृङ्गार के उत्कर्षवर्णन के कारण शान्त का बाध्य होना दिखाया गया है। ।६६।

स्मर्यमाणत्वे, यथा—

३०. स एष वैहासिकताविनोदै—
र्व्रजस्य हासोद्गमसंविधाता।
फणीश्वरेणाद्य विकृष्यमाणः
करोति हा नः परिदेवनानि॥ (६७)

[एष सः वैहासिकताविनोदैः व्रजस्य हासोद्‌गमसंविधाता, हा! अद्य फणीश्वरेण विकृष्यमाणः नः परिदेवनानि करोति॥]

साम्येन वचने, यथा—

३१. विश्रान्तषोडशकला निर्विकल्पा निरावृतिः।
सुखात्मा भवती राधे! ब्रह्मविद्येव[१८] राजते॥ (६८)

[राधे! भवती विश्रान्तषोडशकला, निर्विकल्पा, निरावृतिः ब्रह्मविद्या इव राजते॥]

यथा वा—

३२. राधा शान्तिरिवोन्निद्रं[१९] निर्निमेषेक्षणञ्च माम्।
कुर्वती ध्यानलग्नञ्च वासयत्यद्रिकन्दरे॥ (६९)

[राधा शान्तिः इव माम् उन्निद्रं निर्निमेषेक्षणं ध्यानलग्नं च कुर्वती अद्रिकन्दरे वासयति॥]

रसान्तरेण व्यवधौ, यथा—

३३. त्वं काऽसि शान्ता किमिहान्तरीक्षे
द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तताक्षी।
अस्यातिरूपात्[२०] किमिवाकुलात्मा
रम्भे! समारम्भि भिदा स्मरेण॥ (७०)

["त्वं का असि?" "शान्ता"। "इह अन्तः किम् ईक्षे?" "परं ब्रह्म द्रष्टुम्।" "तताक्षी कुतः?" "रम्भे! अस्य अतिरूपात् किम् इव आकुलात्मा (अहं) स्मरेण भिदा समारम्भि॥"]

—अत्राद्भुतेन व्यवधिः।

स्मरण किया जाता हो तब, यथा—

३०. *यही जो विदूषक-जैसे अतिशय हास्यजनक विनोदों द्वारा पूरे व्रज (व्रजवासियों) में हास्य ही उपजाता रहता था, हाय! वही आज नागराज (कालिय) द्वारा खींचा जाता हुआ हमें रुला रहा है।* ।६७।

साम्य द्वारा कथन में, यथा—

३१. *हे राधिके! सोलह कलायें जिसमें विश्रान्त हो चुकी हैं, जो निर्विकल्प-स्वरूपा हो, आवृति या व्यवधान से रहित हो—ऐसी तुम ब्रह्मविद्या की भाँति सुशोभित हो रही हो।* ।६८।

अथवा यथा—

३२. *श्री राधा, शान्ति के सदृश, मुझे निद्रा से रहित, निर्निमेषदृष्टि वाला एवं ध्यान में लगा हुआ बनाती हुई पर्वत की कन्दरा में वास करवा रही है।* ।६९।

अन्य रस के द्वारा व्यवधान होने पर, यथा—

३३. *'तुम कौन हो?' 'शान्ता (शान्तरतिमयी तपस्विनी) हूँ।' 'यहाँ अन्तरिक्ष में क्यों (देख रही हो)?' 'परम ब्रह्म (श्रीकृष्ण) को देखने के लिये।' 'आँखें क्यों फैला (तान) रखी है?' अरी रम्भे! इसके अतिशय रूप से न जाने मैं कैसी आकुलात्मा हो गयी हूँ। स्मर (कामदेव) ने भेद आरम्भ कर दिया। (मैं-आत्मा और परम ब्रह्म में कुछ कहा न जा सकने जैसा भेद-सा ला दिया है, जिससे भीतर देखने वाली मेरी आँखें बाहर खुलकर विस्फारित हो रही हैं और भीतर आकुलता उमड़ रही है।)* ।७०।

—यहाँ अद्भुत रस के द्वारा व्यवधान है।

विषयभिन्नत्वे, यथा श्रीदशमे (भा० १०/६०/४५)—

३४. त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धमन्त—
मांसास्थि-रक्त-कृमि-विट्-कफ-पित्त-वातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्ज-मकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥ (७१)

[त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धम्, अन्तः मांस-अस्थि-रक्त-कृमि-विट्-कफ-पित्त-वातम्, जीवच्छवं कान्तमतिः विमूढा स्त्री भजति या ते पदाब्जमकरन्दम् अजिघ्रती॥]

यथा वा विदग्धमाधवे—

३५. तस्याः कान्तद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे! दृष्टिरेषा निविष्टा।
सत्यं ब्रूमस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरञ्च
स्मारं स्मारं मुखकुटिलता-कारिणीयं हृणीया[२१]॥ (७२)

[सखे! तस्याः कान्तद्युतिनि वदने, मञ्जुले च अक्षियुग्मे अस्माकम् एषा दृष्टिः यदवधि निविष्टा, तदवधि इन्दुम् इन्दीवरं च स्मारं स्मारं तत्र मुख-कुटिलताकारिणी हृणीया भवेत्॥]

—उभयत्र शुचिबीभत्सयोः।

आश्रयभिन्नत्वे, यथा—

३६. विजयिनमजितं विलोक्य रङ्ग—
स्थलभुवि सम्भृत-साँयुगीनलीलम्।
पशुपसवयसां वपूँषि भेजुः
पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम्॥ (७३)

[रङ्गस्थलभुवि विजयिनम् अजितम् सम्भृत-साँयुगीनलीलम् विलोक्य, पशुपसवयसां वपूँषि पुलककुलम्, द्विषतां तु कालिमानम् भेजुः॥]

—अत्र वीरभयानकयोः।

विषय भिन्न होने पर, यथा श्रीदशम में (भा०१०/६०/४५)—

३४. *(हे नाथ!) जो स्त्री आपके चरणकमलों का मकरन्द नहीं सूघँ पाती वही विमूढ़ा त्वचा-मूँछ-दाढ़ी-रोम-नख-केश आदि से बाहर मढ़े हुए, भीतर मांस-अस्थि-रक्त-कृमि-विष्ठा-मल-मूत्र-तथा कफ-पित्त-वात आदि के बने जीवित शव को ही कान्त मानती हुई भजती है। उसी को समर्पित रहती है।* ।७१।

अथवा यथा विदग्धमाधव में—

३५. *हे सखे! उस (श्रीराधा) के ममनीय द्युति वाले मुख पर एवं मञ्जुल नयनयुगल पर जबसे हमारी यह दृष्टि पड़ी एवं वहीं रह गयी है, तब से सच कहते हैं कि चन्द्रमा और नीलकमल का स्मरण आते ही घृणा से मुँह बिचक जाता है।* ।७२।

—दोनों ही स्थानों पर शृङ्गार और बीभत्स का योग है।

आश्रय भिन्न होने पर, यथा—

३६. *भलीभाँति युद्धलीला करते हुए विजयी अपने सखा श्रीकृष्ण को देखकर गोपाल-बालकों के शरीर पुलकावली से सुशोभित हुए और द्वेषियों के शरीर काले पड़ गये।* ।७३।

—यहाँ वीर और भयानक का योग है।

३८. विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह।
सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते॥ (७४)

[विषयाश्रयभेदे अपि मुख्येन द्विषता सह सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्याय एव जायते॥]

तत्र विषयभेदे, यथा—

३७. विमोचयार्गलाबन्धं विलम्बं तात! मा चर।
यामि काश्यगृहं यूना मनः श्यामेन मे हृतम्॥ (७५)

[तात! अर्गलाबन्धं विमोचय, विलम्बं मा आचर। काश्यगृहं यामि। यूना श्यामेन मे मनः हृतम्॥]

—अत्र शुचेः प्रीतेन।

आश्रयभेदे, यथा—

३८. रुक्मिणीकुचकाश्मीरपङ्किलोरःस्थलं कदा।
सदानन्दं परं ब्रह्म दृष्ट्या सेविष्यते मया?[22] (७६)

[रुक्मिणी-कुच-काश्मीर-पङ्किलोरःस्थलं सदानन्दं परं ब्रह्म कदा मया दृष्ट्या सेविष्यते?]

—अत्र शान्तस्य शुचिना।

३९. अनुरक्तधियो भक्ताः केचन ज्ञानवर्त्मनि।
शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते॥ (७७)

[केचन अनुरक्तधियः भक्ताः ज्ञानवर्त्मनि शान्तस्य आश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं न अनुमन्वते॥]

किञ्च—

४०. भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि।
अङ्गयोरङ्गिनः पुष्ट्यै[23] भवेदेकत्र सङ्गतिः॥ (७८)

[निसर्गद्वेषिणोः अपि भृत्ययोः नायकस्य इव, अङ्गयोः अङ्गिनः एकत्र सङ्गतिः पुष्ट्यै भवेत्॥]

३८. विषय एवं आश्रय भिन्न होने पर भी मुख्य रस की विरोधी रस के साथ सङ्गति मुख्य के लिये वैरस्य ही उत्पन्न करती है। ।७४।

विषयभेद होने पर, यथा—

३७. हे पिताजी! द्वार की साँकल खोल दीजिये, विलम्ब न कीजिये। युवक श्यामसुन्दर ने मेरा मन हर लिया है, अतः गुरु सान्दीपनि मुनि के घर (घनश्याम को देखने) जाऊँगी। ।७५।

—यहाँ शृङ्गार का प्रीतभक्ति से योग विरस है।

आश्रयभेद होने पर, यथा—

३८. रुक्मिणी के वक्षःस्थल के केसर-कुङ्कुम से सने हुए वक्षःस्थल वाले सदानन्दस्वरूप परमब्रह्म को कब मैं आँखों से देखूँगी। ।७६।

—यहाँ शान्त का शृङ्गार से योग है।

३९. अनुरागभरी बुद्धि वाले कुछ भक्त लोग ज्ञान मार्ग में शान्त का आश्रय भिन्न होने पर उनमें वैरस्य नहीं मानते। ।७७।

और भी—

४०. स्वभाव से द्वेषी भी सेवकों की नायक से सङ्गति, अङ्गों द्वारा अङ्गी की पुष्टि के समान पोषक ही होती है। ।७८।

यथा—

३९. कुमारस्ते मल्लीकुसुम-सुकुमारः प्रियतमे
गरिष्ठोऽयं केशी गिरिवदिति मे वेल्लति मनः।
शिवं भूयात् पश्योन्नमितभुजमेधिर्मुहुरमुं
खलं क्षुन्दन् कुर्यां व्रजमतितरां शालिनमहम्॥ (७९)

[प्रियतमे! ते कुमारः मल्लीकुसुमसुकुमारः, अयं केशी गिरिवत् गरिष्ठः, इति वेल्लति मे मनः। पश्य! उन्नमितभुजर्मेधिः अहंम् अमुं खलं मुहुः क्षुन्दन् व्रजम् अतितरां शलिनम् कुर्याम्॥]

—अत्र विद्विषौ वीरभयानकौ वत्सलं पुष्णीतः।

यथा वा—

४०. 'कम्प्रा स्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे' इत्यादि।
(पूर्वोद्धृतम् ४/८/३१) (८०)

—अत्र हास्यकरुणौ वत्सलमेव पुष्णीतः।

अपि च—

४१. मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्मसुतादिषु।
कालादिभेदात् प्राकट्यं तौ विन्दन्तौ न दुष्यतः॥ (८१)

[मिथः वैरौ अपि यौ द्वौ भावौ धर्मसुतादिषु कालादिभेदात् प्राकट्यं विन्दन्तौ तौ न दुष्यतः॥]

४२. अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः।
न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दर्शितं पुरा॥ (८२)

[अधिरूढे महाभावे विरुद्धैः युतिः विरसा न स्यात् इति राधाकृष्णयोः उज्ज्वले पुरा दर्शितम्॥]

४३. क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे।
रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते॥ (८३)

[क्व अपि अचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुष-शेखरे रसावलिसमावेशः स्वादाय एव जायते॥]

यथा—

३९. *हे प्रियतमे (यशोदे)! तुम्हारा लाल तो मल्लिका-कुसुम जैसा सुकुमार है, और यह केशी (अश्वाकृति दानव) पहाड़ जैसा कठोर, बड़ा भारी है,—इससे मेरा मन काँप रहा है। कल्याण हो (अपने बेटे का)। देखो, मैं अभी धान-पुआल को अलग करने वाले बैलों के खम्भे की तरह अपनी भुजा घुमाता हुआ उस दुष्ट (केशी) को बारम्बार रौंदता हुआ व्रज को अतीव श्लाघा-परायण बना दूँगा। ।७९।*

—यहाँ परस्पर विराधी वीर और भयानक वात्सल्य को पुष्ट कर रहे हैं।

अथवा यथा—

४०. *(पूर्वोक्त ३१ वें श्लोक में) 'श्रमबिन्दुओं से भरे घुँघराले केशों वाले कन्हैया के मस्तक को देखकर काँपती हुई.....' इत्यादि।*

—यहाँ हास्य और करुण वत्सल को ही पुष्ट करते हैं।

।८०।

और भी—

४१. परस्पर वैरी भी जो दो भाव (प्रीति तथा वत्सल) धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) आदि में हैं, वे भी काल-भेद से प्रकट होते हैं, तब दोष युक्त (वैरस्य लाने वाले) नहीं रहते। ।८१।

४२. श्रीराधा-कृष्ण में महाभाव के अधिरूढ़ होने पर परस्पर विरोधी रसों से शृङ्गार का योग होना वैरस्य नहीं लाता, यह पहले (पश्चिम ५/ २३ में) दिखाया जा चुका है। ।८२।

४३. कहीं (देश-काल-पात्र-विशेष में) अचिन्त्य महाशक्तिशाली महापुरुषशिरोमणि में अनेकों रसों की माला का भी समावेश हो तो वह स्वाद बढ़ाने वाला ही होता है। ।८३।

तत्र रसानां विषयत्वे, यथा ललितमाधवे—

४१. दैत्याचार्यास्तदास्ये विकृतिमरुणतां मल्लवर्याः सखायो
गण्डौन्नत्यं खलेशाः प्रलयमृषिगणा ध्यानमुष्णास्रमम्बाः।
रोमाञ्चं सांयुगीनाः कमपि नवचमत्कारमन्तः सुरेशा
लास्यं दासाः कटाक्षं ययुरसितदृशः प्रेक्ष्य रङ्गे मुकुन्दम्॥ (८४)

[तदा रङ्गे मुकुन्दं प्रेक्ष्य दैत्याचार्याः आस्ये विकृतिम्, मल्लवर्याः अरुणताम्, सखायः गण्डौन्नत्यम्, खलेशाः प्रलयम्, ऋषिगणाः ध्यानम्, अम्बाः उष्णास्रम्, सांयुगीनाः रोमाञ्चम्, सुरेशाः अन्तः कम् अपि नवचमत्कारम्, दासाः लास्यम्, असितदृशः कटाक्षम् ययुः॥]

आश्रयत्वे, यथा—

४२. स्वस्मिन् धुर्येऽप्यमानी शिशुषु गिरिधृतावुद्यतेषु स्मितास्य-
स्थूत्कारी दध्नि विस्रे प्रणयिषु विवृत-प्रौढिरिन्द्रेऽरुणाक्षः।
गोष्ठे साश्रुर्विदूने गुरुषु हरिमखं प्रास्य कम्प्रः स पाया—
दासारे स्फारदृष्टिर्युवतिषु पुलकी बिभ्रदद्रिं विभुर्वः॥ (८५)

[अद्रिं बिभ्रत् सः विभुः— धुर्ये अपि स्वस्मिन् अमानी, गिरिधृतौ उद्यतेषु शिशुषु स्मितास्यः, विस्रे दध्नि थूत्कारी, प्रणयिषु विवृतप्रौढिः, इन्द्रे अरुणाक्षः, विदूने गोष्ठे साश्रुः, हरिमखं प्रास्य गुरुषु कम्प्रः, आसारे स्फारदृष्टिः, युवतिषु पुलकी—वः पायात्॥]

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे
रसानां मैत्री-वैर-स्थिति-नाम्नी लहरी अष्टमी॥

इनमें, अनेकों रसों का विषय होने पर, यथा ललितमाधव में—

४१. *मल्लयुद्धस्थली में मुकुन्द को देखकर—दैत्य कंस के पुरोहितों के मुख पर विकृति आ गई, (व्रज से आये) सखाओं के गाल फूल उठे, मल्लों के मुख रौद्र से लाल हो गये, (हँसी तथा हर्ष से विकसित हो उठे), कंस आदि दुष्ट राजागण निष्क्रिय, मूर्च्छित से हो गये, ऋषिगण ध्यानमग्न हो रहे, देवकी आदि मातायें उष्ण अश्रु बहाने लगीं, प्रतियुद्ध करने वाले मल्लों को रोमाञ्च हो आया, इन्द्र आदि देवाधिपतियों को भीतर कुछ नये चमत्कार का-सा अनुभव हुआ, दास-जन नाचने ही लगे, और मृगनयनी युवतियाँ कटाक्ष से देखने लगीं। ।८४।*

विविध रसों का आश्रय होने पर, यथा—

४२. *गोवर्धन धारण किये हुए वे विभु श्रीकृष्ण आप सब की रक्षा करें जो स्वयं सर्वश्रेष्ठ एवं सबका आधार होने पर भी अमानी (मानरहित) हैं, गोवर्धन को उठाने में (साथ देने के लिये अपनी-अपनी लाठी द्वारा जोर लगाने को) उद्यत गोपबालकों पर मुस्कुरा रहे हैं, खट्टा होकर सड़ते हुए दही-दूध के दुर्गन्ध से थूक रहे हैं, प्रेमी सखाओं के प्रति अपनी बलवत्ता (गोवर्धन धारण द्वारा) प्रकट कर रहे हैं, इन्द्र के प्रति क्रोध से नेत्र अरुण किये हुए हैं, अतिवृष्टि और झञ्झावात से दु:खित हो कष्ट पा रहे व्रज, गायों-ग्वालों की दशा देखकर जिनके नयनों में अश्रु हैं, ''मेरे कहने पर इन्द्रयज्ञ का खण्डन करने से यह विपत्ति आयी''-यह सोचकर गुरुजनों से भय मानकर काँप रहे हैं, निरन्तर मूसलाधार वृष्टि को देखकर विस्मय से जिनके नेत्र विस्फारित हैं इस स्थिति में भी प्रेमभरी गोपयुवतियों का भाव देखकर जो पुलकित हैं, (ऐसे गिरिधारी श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें।) ।८५।*

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तरविभाग में रसों की मैत्री-वैर-स्थिति नाम की आठवीं लहरी समाप्त हुई॥

रसाभासाख्या—नवम लहरी

१. पूर्वमेवानुशिष्टेन विकला रसलक्ष्मणा।
रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्तिताः॥ (१)

[पूर्वम् एव अनुशिष्टेन रसलक्ष्मणा विकलाः, रसाः इव रसाभासाः रसज्ञैः अनुकीर्त्तिताः॥]

२. स्युस्त्रिधोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते।
उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात्[1]॥ (२)

[ते उपरसाः, अनुरसाः, अपरसाः च त्रिधा स्युः। अमी क्रमात् उत्तमाः, मध्यमाः कनिष्ठाः च इति प्रोक्ताः॥]

तत्र उपरसाः—

३. प्राप्तैः स्थायि-विभावानुभावाद्यैस्तु विरूपताम्।
शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः॥ (३)

[विरूपतां प्राप्तैः स्थायि-विभावानुभावाद्यैः तु शान्तादयः रसाः एव द्वादश उपरसाः मताः॥]

तत्र शान्तोपरसः—

४. ब्रह्मभावात् परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः।
तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत्॥ (४)

[ब्रह्मभावात् परब्रह्मणि अद्वैताधिक्य-योगतः तथा बीभत्सभूमादेः (योगतः) शान्तः हि उपरसः भवेत्॥]

तत्र आद्यं, यथा—

१. विज्ञानसुषमाधौते समाधौ सदुदञ्चति।
सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि॥ (५)

[विज्ञानसुषमाधौते समाधौ यत् सुखम् उदञ्चति, तत् एव अद्य त्वयि पुराणपुरुषे दृष्टे॥]

नवम लहरी—रसाभास-निरूपिका

१. पहले ही बताये हुए रस लक्षण से रहित होने पर भी रस की भाँति प्रतीत होने वाले (भाव) रसज्ञों द्वारा रसाभास कहे गये हैं। ।१।

२. वे (रसाभास) उपरस, अनुरस और अपरास—ऐसे तीन प्रकार के हो सकते हैं। ये क्रम से उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ भी कहलाते हैं। ।२।

उपरस—

३. जिनके स्थायीभाव-विभाव-अनुभाव निरूप हो गये हों ऐसे शान्त आदि रस ही बारह उपरस माने गये हैं। ।३।

शान्त उपरस—

४. ब्रह्मभाव से परब्रह्म में अद्वैत के आधिक्य-योग से तथा बीभत्स भूमा-रूप दिखाने से भी शान्त उपरस होता है। ।४।

इनमें से पहला, यथा—

१. *विज्ञान ही सुषमा से धुली समाधि-स्थिति में जो सुख उत्कर्ष से प्रकट होता है, वही आज हे पुराणपुरुष! (पुराणों में व्याख्यात अथवा पुरातन सनातन पुरुष) आपके दर्शन से हो रहा है। ।५।*

द्वितीयं, यथा—

२. यत्र यत्र विषये मम दृष्टि-
स्तं तमेव कलयामि भवन्तम्।
यन्निरञ्जन! [२]परावर-बीजं
त्वां विना किमपि नापरमस्ति॥ (६)

[यत्र यत्र विषये मम दृष्टिः तं तम् एव भवन्तं कलयामि, निरञ्जन! यत् परावरबीजं त्वं विना किम् अपि अपरं न अस्ति॥]

अथ प्रीतोपरसः—

५. कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्टर्येन तद्भक्तेष्ववहेलया।
स्वाभीष्टदेवतान्यत्र[३] परमोत्कर्षवीक्षया।
मर्यादातिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता॥ (७)

[कृष्णस्य अग्रे अतिधाष्टर्येन तद्भक्तेषु अवहेलया स्वाभीष्टदेवता-अन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया मर्यादातिक्रमाद्यैः च प्रीतोपरसता मता॥]

तत्र आद्यं, यथा—

३. प्रथयन्[४] वपुविवशतां सतां कुलै-
रवधीर्यमाण-नटनोऽप्यनर्गलः।
विकिर प्रभो! दृशमिहेत्यकुण्ठवाक्
चटुलो बटुर्व्यवृणुतात्मनो रतिम्॥ (८)

[वपुविवशतां प्रथयन् सतां कुलैः अवधीर्यमाणनटनः अपि अनर्गलः अकुण्ठवाक् चटुलः बटुः आत्मनः रतिं व्यावृणुत—प्रभो! इह दृशं विकिर॥]

अथ प्रेय उपरसः—

६. एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया।
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत्॥ (९)

[एकस्मिन् एव सख्येन, हरिमित्रादि-अवज्ञया, अपि च युद्धभूमादिना प्रेयान् उपरसः भवेत्॥]

दूसरा, यथा—

२. *जहाँ-जहाँ भी जिस विषय पर मेरी दृष्टि जाती है, उस विषय को मैं आप ही समझता हूँ (विषय आप ही हैं ऐसा देखता हूँ) क्योंकि हे निरञ्जन, पर-अवर (महान् और छोटा, श्रेष्ठ-कनिष्ठ, उच्च-नीच) कुछ भी दूसरा तुम्हारे बिना (तुम से रहित) नहीं है।* ।६।

प्रीत-उपरस—

५. श्रीकृष्ण के सम्मुख अतिशय धृष्टता से, उनके भक्तों की अवहेलना से, अपने अभीष्ट देव से अन्य स्थान पर परम उत्कर्ष देखने से ओर मर्यादा का अतिक्रम आदि करने से प्रीत उपरस हो जाता है, ऐसा माना गया है। ।७।

इनमें सवे पहला, यथा—

३. *(थोड़ी-सी भी) विवशता को बढ़ाकर दिखाता हुआ, सज्जनों द्वारा तिरस्कृत नटन (नाटकीय आचरण) करता हुआ, उस पर भी अनर्गल (निर्लज्ज) व्यावहार करने वाला चपल ब्राह्मण श्रीकृष्णप्रतिमा को सम्बोधन करता हुआ अपनी रति प्रकट कर रहा है कि- "हे प्रभो! इधर भी दृष्टि डालो!"* ।८।

प्रेय उपरस—

६. एक के चित्त में ही सख्य हो (परस्पर न हो), श्रीहरि के मित्रों एवं भक्तों आदि की अवज्ञा हो, युद्ध ही अधिक हो तो इन (व्यवहारों) से प्रेयान् उपरस हो जाता है। ।९।

तत्र आद्यं, यथा—

४. सुहृदित्युदितो भिया चकम्पे
छलितो नर्म-गिरा स्तुतिञ्चकार।
स नृपः परिरिप्सितो भुजाभ्यां
हरिणा दण्डवदग्रतः पपात॥ (१०)

[सुहृत् इति उदितः भिया चकम्पे, नर्मगिरा छलितः स्तुतिं चकार, हरिणा भुजाभ्यां परिरिप्सितः सः नृपः अग्रतः दण्डवत् पपात॥]

अथ वत्सलोपरसः—

७. सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः।
करुणस्यातिरेकादेस्तुर्यश्चोपरसो भवेत्॥ (११)

[सामर्थ्याधिक्य-विज्ञानात् लालनाद्यप्रयत्नतः करुणस्य अतिरेकादेः तुर्यः च उपरसः भवेत्॥]

तत्र आद्यं, यथा—

५. मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना-
मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम्।
नोद्वेगं तदवधि यामि जामि! तस्मिन्
द्राघिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने॥ (१२)

[पर्वतोद्भटानां मल्लानां तव आत्मजात् सपदि उन्माथं यदवधि अपश्यम् तदवधि जामि! तस्मिन् द्राघिष्ठाम् अपि समितिं प्रपद्यमाने उद्वेगं न यामि॥]

अथ शृङ्गारोपरसः; तत्र स्थायिवैरस्यम्—

८. द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्या खलु दृश्यते।
यानेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता।
विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचर्यते॥ (१३)

[द्वयोरेकतरस्य एव या खलु रतिः दृश्यते, तथा एकस्य या अनेकत्र, सा स्थायिनः विरूपता। विभावस्य एव वैरूप्यम् अत्र स्थायिनि उपचर्यते॥]

इनमें पहला, यथा—

४. *श्रीकृष्ण ने 'हे मित्र!' कहकर बुलाया तो वह राजा भय से काँप गया, उपहासमयी कुछ बात कही तो स्तुति करने लगा, हरि ने दोनों भुजाओं में भरना चाहा तो वह सामने दण्डवत् (प्रणाम करता-सा) गिर गया। ।१०।*

वत्सल उपरस—

७. (श्रीहरि-रूप बालक के) अधिक सामर्थ्य के ज्ञान से, लालन आदि का प्रयत्न न होने से, करुण के अतिरेक से-इत्यादि कारणों से चौथा (वत्सल) भी उपरस हो जाता है। ।११।

इनमें से पहला, यथा—

५. *अरी बहन! तेरे बेटे द्वारा पहाड़ जैसे उद्भट (प्रचण्ड) मल्लों को मानो मथकर परास्त किया जाना जब से देखा है, तबसे वह बड़े से बड़े संग्राम में पड़ता है तो भी मुझे उद्वेग नहीं होता। ।१२।*

शृङ्गार उपरस; इसमें स्थायी का वैरूप्य—

८. दोनों की अथवा किसी एक की जो रति दिखाई देती है, वैसे ही एक की अनेक स्थानों पर जो रति है, वही स्थायी की विरूपता है। विभाव का वैरूप्य ही यहाँ स्थायी में उपचरित होता है। ।१३।

तत्र एकत्र रतिर्यथा ललितमाधवे—

६. मन्दस्मितं प्रकृतिसिद्धमपि व्युदस्तं
संगोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः।
धूमायिते द्विजवधूमदनार्तिवह्ना—
वह्नाय कापि गतिरङ्कुरितामयासीत्॥ (१४)

[प्रकृतिसिद्धम् अपि मन्दस्मितं व्युदस्तम्, सहजः अपि दृशोः तरङ्गः संगोपितः, द्विजवधू-मदनार्तिवह्नौ धूमायिते अह्नाय का अपि गतिः अङ्कुरिताम् अयासीत्॥]

९. अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः।
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत्॥ (१५)

[अत्र रतेः अत्यन्ताभावः एव खलु विवक्षितः एतस्याः प्रागभावे तु शुचिः उपरसः न भवेत्॥]

अनेकत्र रतिर्यथा—

७. गान्धर्वि! कुर्वाणमवेक्ष्य लीला-
मग्रे धरण्यां सखि! कामपालम्।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं
भिन्नाद्य साध्वि! स्मरतो द्विधासि॥ (१६)

[सखि गान्धर्वि! लीलां कुर्वाणम् कामपालम् अग्रे अवेक्ष्य, मुकुन्दवेणुं च आकर्णयन्ती साध्वि! अद्य स्मरतः द्विधा भिन्ना असि॥]

१०. केचित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः।
नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम्॥ (१७)

[केचित् तु नायकस्य अपि, अनेकासु नायिकासु अपि सर्वथा तुल्यरागतः शुचिम् उपरसं वदन्ति॥]

विभाववैरूप्यम्—

११. वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता।
लता-पशु-पुलिन्दीषु वृद्धास्वपि स वर्तते॥ (१८)

[वैदग्ध्य-औज्ज्वल्यविरहः विभावस्य विरूपता लता-पशु-पुलिन्दीषु वृद्धासु अपि सः वर्तते॥]

यथा ललितमाधव में (एकत्ररति)—

६. *स्वाभाविक भी मन्दस्मित हट गयी, नयनों का सहज डोलना भी छिप गया, यज्ञ करते हुए ब्राह्मणों की पत्नियों में (श्रीकृष्ण के प्रति) (अनुचित) मदन का अग्नि जल उठा तब शीघ्र ही कोई गति (वहाँ से चल देना) अङ्कुरित हो गयी।* *।१४।*

९. यहाँ रति का अत्यन्ताभाव (भूत-भविष्य-वर्तमान में अभाव) ही विवक्षित है। उसका प्रागभाव हो तो शृङ्गार उपरस नहीं बनता। ।१५।

अनेकत्र रति, यथा—

७. *सखि! गान्धर्वि! धरती पर कामपाल बलदेव को लीला करते हुए देखकर, मुकुन्द द्वारा बजाया जाता हुआ वेणु सुनती हुई तू बेचारी साध्वी आज कामवेग से विँधकर दो खण्डो में बँट गयी है। (श्रीमुकुन्द के वेणु से एवं बलराम के रूप से दोनों ओर मोहित है।)* *।१६।*

१०. कोई कहते हैं कि नायक में भी तथा अनेकों नायिकाओं में भी (नायक का अनेक नायिकाओं के प्रति, या अनेक नायिकाओं में नायक के प्रति) सर्वथा समान राग हो तो शृङ्गार उपरस हो जाता हैं। ।१७।

विभाव की विरूपता—

११. विदग्धता एवं उज्ज्वलता न होने पर विभाव में वैरूप्य होता है। (वेणुगीत के समय) लता-पशु-पुलिन्दी आदि में तथा (अन्यत्र) वद्धा आदि में वह (थोड़ा-सा जागता हुआ शृङ्गार) उपरस होता है क्योंकि वहाँ विदग्धता एवं उज्ज्वलता का अभाव है। ।१८।

तत्र लता, यथा—

८. सखि! मधु किरती निशम्य वंशीं
मधुमथनेन कटाक्षिताथ मृद्वी।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं
रतिमिह पल्लवितां हृदि व्यनक्ति॥ (१९)

[सखि! वंशीं निशम्य अथ मधुमथनेन कटाक्षिता मुकुल-पुलकिता इयम् मृद्वी लतावली हृदि पल्लवितां रतिम् इह व्यनक्ति॥]

पशुर्यथा—

९. पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः कुरङ्गीः
पतङ्गकन्यापुलिनेऽद्य धन्याः।
याः केशवाङ्गे तदपाङ्गपूताः
सानङ्गरङ्गां दृशमर्पयन्ति॥ (२०)

[अद्य पतङ्गतनयापुलिने धन्याः अद्भुताः तुङ्गमुदः कुरङ्गीः पश्य! याः तदपाङ्गपूताः केशवाङ्गे सानङ्गरङ्गां दृशम् अर्पयन्ति॥]

पुलिन्दी, यथा—

१०. कालिन्दीपुलिने पश्य पुलिन्दी [५]पुलकाचिता।
हरेर्दृक्चापलं [६]वीक्ष्य सहजं या विघूर्णते॥ (२१)

[पश्य! कालिन्दीपुलिने पुलिन्दी पुलकाचिता, या हरेः दृक्चापलं वीक्ष्य सहजं विघूर्णते॥]

वृद्धा, यथा—

११. कज्जलेन कृतकेशकालिमा
बिल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी।
पश्य गौरि! किरती दृगञ्चलं
स्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ॥ (२२)

[गौरि! पश्य, कज्जलेन कृतकेश-कालिमा, बिल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी असौ जरती दृगञ्चलं किरती अघहरं स्मेरयति॥]

इनमें लता, यथा—

८. हे सखि! मधुमथन (मधु-कैटभ असुरों को मारने वाले मुकुन्द) द्वारा कटाक्ष से देखी गयी यह सुकोमल लताओं की पंक्ति वंशी को सुनकर कलियों के माध्यम से पुलकित होती हुई, अपने हृदय में पल्लवित (बढ़ी हुई) रति को व्यक्त कर रही है। ।१९।

पशु, यथा—

९. हे सखि! सूर्यपुत्री (यमुना) के पुलिन (तटवर्ती क्षेत्र) में इन अद्‌भुत, अतीव मुदित, धन्य हरिणियों को देखो! जो श्रीकृष्ण के द्वारा कटाक्ष से देखी जाकर पवित्र हुई हैं और उन्हीं के अङ्गों पर अनङ्गरङ्ग से भरी दृष्टि लगाये हुए हैं। ।२०।

पुलिन्दी, यथा—

१०. देखो तो! कालिन्दी के पुलिन पर यह पुलिन्दी (भीलनी) श्रीहरि के नयनों की चपलता देखकर पुलक से भरी, सहज ही चक्कर खा रही है। ।२१।

वृद्धा, यथा—

११. हे गौरि! देखो तो! काजल से केशों को काला बनाये हुए, दो बिल्वफल वक्षःस्थल पर बाँधकर उन्नत-उरोजवाली बनी हुई यह वृद्धा कटाक्ष बिखेरती हुई अघहर (अघासुर को मारने वाले श्रीकृष्ण) को मुस्कान दिला रही है (इस प्रकार की वृद्धा की चेष्टा देखकर मुकुन्द मुस्कुरा रहे हैं।)।२२।

१२. स्थायिनोऽत्र विरूपत्वमेकरागतयापि चेत्।
घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृतिः॥ (२३)

[अत्र एकरागतया अपि स्थायिनः विरूपत्वं चेत् असौ विभावस्य विरूपत्वे अपि उदाहृतिः घटेत॥]

१३. शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात् सुवेशत्वाच्च कथ्यते।
शृङ्गारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः॥ (२४)

[औज्ज्वल्यवैदग्ध्यात् सुवेशत्वात् च शुचिः कथ्यते, (तस्य) शृङ्गारस्य विभावत्वम्, ततः अन्यत्र आभासता भवेत्॥]

अथ अनुभाववैरूप्यम्—

१४. समयानां व्यतिक्रान्तिर्ग्राम्यत्वं धृष्टतापि च।
वैरूप्यमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम्॥ (२५)

[समयानां व्यतिक्रान्तिः, ग्राम्यत्वम्, धृष्टता अपि च अनुभवादेः वैरूप्यम् मनीषिभिः उदीरितम्॥]

तत्र समयव्यतिक्रान्तिः—

१५. समयाः खण्डितादीनां प्रिये रोषोदितादयः।
पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु।
एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः॥ (२६)

[अत्र खण्डितादीनां समयाः प्रिये रोषोदितादयः प्रियया ताडनादिषु पुंसः स्मितादयः च। एतेषाम् अन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः॥]

तत्र आद्यं, यथा—

१२. कान्तानखाङ्कितोऽप्यद्य परिहृत्य हरे! ह्रियम्।
कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्ट्या भजस्व माम्॥ (२७)

[हरे! कान्तानखाङ्कितः अपि अद्य ह्रियं परिहृत्य मां कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्ट्या भजस्व॥]

१२. यहाँ एक के ही चित्त में राग होने से स्थायी की विरूपता घटित हो तो वह विभाव की विरूपता में भी उदाहरण बनती है। ।२३।

१३. शुचित्व, औज्ज्वल्य, वैदग्ध्य से एवं सुवेशत्व से शृङ्गार की विभावता कही जाती है, इनसे अन्यत्र आभासता होती है। ।२४।

अनुभाव का वैरूप्य—

१४. समयों (आचारों) का अतिक्रमण, ग्राम्यता और धृष्टता को मनीषियों ने अनुभाव आदि की विरूपता बताया है। ।२५।

इनमें से समय का अतिक्रमण—

१५. खण्डिता आदि नायिकाओं का प्रिय के प्रति रोष-व्यञ्जक वचन आदि एवं प्रिया के द्वारा ताड़ना की जाने पर प्रिय द्वारा स्मित करना आदि ही रसशास्त्र के अनुसार (समय) है, इनका अन्यथा होना (इनके अनुसार न होकर भिन्न ही कुछ रोष आदि आचरण होना) ही समयों का अतिक्रमण है। ।२६।

इसमें प्रथम यथा—

१२. हे हरि! भले ही आप (अन्य) कान्ता के नखों से अङ्कित हैं, पर उसकी लज्जा छोड़कर मुझ कैलासवासिनी दासी को कृपादृष्टि-पूर्वक स्वीकार कीजिये। ।२७।

अथ ग्राम्यत्वम्—

१६. बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्ति-प्रपञ्चनम्।
कटीकण्डूतिरित्याद्यं ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः। (२८)

[बाल-शब्दाद्युपन्यासः, विरसोक्तिप्रपञ्चनं कटीकण्डूतिः इत्याद्यं ग्राम्यत्वं बुधैः कथितम्॥]

तत्र आद्यं, यथा—

१३. कि नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्कर-सदां सदा।
मुरलीध्वनिना नीवीं गोपबाल! विलुम्पसि? (२९)

[गोपबाल! मुरलीध्वनिना पुष्कर-सदां नः फणिकिशोरीणां त्वं सदा नीवीं किं विलुम्पसि?॥]

अथ धृष्टता—

१७. प्रकटप्रार्थनादिः स्यात् सम्भोगादेस्तु धृष्टता। (३०)

[सम्भोगादेः प्रकटप्रार्थनादिः तु धृष्टता स्यात्।]

यथा—

१४. कान्त! कैलासकुञ्जोऽयं रम्याहं नवयौवना।
त्वं विदग्धोऽसि गोविन्द! किंवा वाच्यमतः परम्? (३१)

[कान्त! अयं कैलासकुञ्जः, अहं रम्या नवयौवना, गोविन्द! त्वं विदग्धः असि, अतः मरं किं वा वाच्यम्?]

१८. एवमेव तु गौणानां हासादीनामपि स्वयम्।
विज्ञेयोपरसत्वस्य मनीषिभिरुदाहृतिः॥ (३२)

[एवम् एव तु हासादीनां गौणानाम् अपि उपरसत्वस्य उदाहृतिः मनीषिभिः स्वयं विज्ञेया॥]

अथ अनुरसाः—

१९. भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः॥ (३३)

[कृष्णसम्बन्धवर्जितैः भक्तादिभिः विभावाद्यैः सप्त हास्यादयः रसाः, शान्तः च. अनुरसाः मताः॥]

ग्राम्यता—

१६. 'बालक'—शब्द से प्रारम्भ करना फिर विपरीत ही (शृङ्गार) रस की उक्तियों द्वारा बात बढ़ाना, कमर में चुटकी गिलगिली आदि को बुधजनों ने ग्राम्यता (गँवारपन या भौंड़ापन) कहा है। ।२८।

इनमें पहला, यथा—

१३. हे गोपबालक! कालिय ह्रद (दह) में रहने वाली हम नागजातीय किशोरियों की नीवी को तुम क्यों नित्य ही अपनी मुरलीध्वनि से खिसका दिया करते हो? ।२९।

धृष्टता—

१७. सम्भोग आदि की प्रकट प्रार्थना धृष्टता है। ।३०।

यथा—

१४. हे कान्त! यह कैलास का कुञ्ज है, मैं नवयौवना सुन्दरी रमणी हूँ, हे गोविन्द! तुम चतुर रसिक हो, फिर अब इससे अधिक और क्या कहना होगा? ।३१।

१८. इसी प्रकार गौण हास्य आदि रसों का भी उपरस होना और उसके उदाहरण भी मनीषियों द्वारा समझ लिये जाने चाहिये। ।३२।

अब अनुरस—

१९. श्रीकृष्ण-सम्बन्ध से रहित विभाव आदि भक्तों के द्वारा हास्य आदि सात (गौण) तथा शान्त (मुख्य रसों में से एक) को अनुरस माना गया है। ।३३।

तत्र हास्यानुरसः—

१५. ताण्डवं व्यधितʻ हन्त कक्खटीʻ
मर्कटी भृकुटीभिस्तथोद्धुरम्।
येन बल्लव-कदम्बकं बभौ
हासडम्बरकरम्बिताननम्॥ (३४)

[हन्त! कक्खटी मर्कटी भृकुटीभिः उद्धुरं ताण्डवं तथा व्यधित, येन बल्लवकदम्बकं हासडम्बर-करम्बिताननं बभौ॥]

अथ अद्भुतानुरसः—

१६. भाण्डीरकक्षे बहुधा वितण्डां
वेदान्ततन्त्रे शुकमण्डलस्य।
आकर्णयन्निर्निमिषाक्षिपक्ष्मा
रोमाञ्चिताङ्गश्च सुरर्षिरासीत्॥ (३५)

[भाण्डीरकक्षे शुकमण्डलस्य वेदान्ततन्त्रे बहुधा वितण्डाम् आकर्णयन् निर्निमिष-अक्षिपक्ष्मा सुरर्षिः रोमाञ्चिताङ्गः च आसीत्॥]

२०. एवमेवात्र विज्ञेया वीरादेरप्युदाहृतिः॥ (३६)

[एवम् एव अत्र वीरादेः अपि उदाहृतिः विज्ञेया॥]

२१. अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि बिभ्रति।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाप्यनुरसा मताः॥ (३७)

[अमी अष्टौ यदि कृष्णादिभिः विभावाद्यैः तटस्थेषु प्राकट्यं बिभ्रति, तदा अपि अनुरसाः मताः॥]

अथ अपरसाः—

२२. कृष्ण-तत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः।
हासादीनां तदा॰ऽते॰त्र प्राज्ञैरपरसा मताः॥ (३८)

[कृष्ण-तत्प्रतिपक्षाः हासादीनां विषयाश्रयतां गताः चेत् तदा ते अत्र प्राज्ञैः अपरसाः मताः॥]

इनमें से हास्य (अनुरस)—

१५. *अरे! कक्खटी नाम की बन्दरिया ऊँची-नीची भृकुटी चलाते हुए ऐसा नृत्य करने लगी, जिसे देखने से गोपबालकों का समूह हँसी के ठहाकों से भरे मुख वाला हो गया।।३४।*

अद्भुत (अनुरस)—

१६. *भण्डीरवन में वृक्षों-लताओं पर बैठे हुए तोतों के समूह में परस्पर होते हुए वेदान्तशास्त्र-विषयक वाद-विवाद को सुनते हुए देवर्षि नारद निर्निमेष पलकों वाले एवं रोमाञ्चित अङ्गों वाले हो गये। ।३५।*

२०. इसी प्रकार वीर आदि के भी उदाहरण समझ लिये जाने चाहियें। ।३६।

२१. ये आठों रस यदि तटस्थों में भी श्रीकृष्ण आदि विभावों द्वारा प्रकट हों, तब भी अनुरस माने गये हैं। ।३७।

अब अपरस—

२२. श्रीकृष्ण और उनके प्रतिपक्ष यदि हास आदि के विषय तथा आश्रय बने हों तो उन्हें यहाँ प्राज्ञ-जनों ने अपरस माना है। ।३८।

तत्र हास्यापरसः—

१७. पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम्।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सोल्लुण्ठमहसीन्मुहुः॥ (३९)

[चपलायतलोचनं कृष्णम् आरात् पलायमानम् उद्वीक्ष्य जरासन्धः सोल्लुण्ठं मुहुः अहसीत्॥]

२३. एवमन्येऽपि विज्ञेयास्तेऽद्भुतापरसादयः।[११]
उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः॥ (४०)

[एवम् अन्ये अपि ते अद्भुत-अपरसादयः विज्ञेयाः। उत्तमाः तु रसाभासाः कैश्चित् रसतया उदिताः॥]

तथा हि—

१८. भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद् रसाः॥ (४१)

[सर्वे भावाः, तदाभासाः, केचन रसाभासाः च अमी सर्वे अपि रसाभिज्ञैः रसनात् रसाः प्रोक्ताः॥]

२४. भारत्याद्याश्चतस्रस्तु रसावस्थानसूचिकाः।
वृत्तयो नाट्यमातृत्वादुक्ता नाटकलक्षणे॥ (४२)

[भारत्याद्याः चतस्रः वृत्तयः तु रसावस्थानसूचिकाः नाट्यमातृत्वात् नाट्यलक्षणे उक्ताः॥]

।इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसाभासलहरी नवमी।

॥ इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ गौणभक्तिरस-निरूपको नाम चतुर्थो विभागः॥

उनमें, हास्य (अपरस)—

१७. चपल विशाल नयनों वाले श्रीकृष्ण को (युद्ध से) भाग जाता हुआ देखकर जरासन्ध जोर से बार-बार ठठाकर हँसने लगा। ।३९।

२३. इसी प्रकार अन्य भी अद्भुत आदि अपरस जानने चाहियें। कुछ लोगों ने उत्तम रसाभासों को रस-रूप से भी कहा है। ।४०।

कहा भी गया है—

१८. सभी भाव, उनके आभास और कुछ रसाभास भी—इन सभी को रसशास्त्र के अभिज्ञानियों ने रस-दायक होने से रस ही कहा है। ।४१।

२४. रस की अवस्थिति की सूचक भारती आदि चार वृत्तियों को नाटकलक्षण (नाटकचन्द्रिका) में नाट्य की मातायें कहा गया है। ।४२।

॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तर (चतुर्थ) विभाग में
नवीं रसाभास-लहरी समाप्त हुई॥

॥ यहीं पर श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु का गौणभक्तिरस-निरूपक
उत्तर (चतुर्थ) विभाग भी समाप्त हुआ॥

उपसंहृतिः

ग्रन्थस्य गौरवभयादस्या भक्तिरसश्रियः।
समाहृतिः समासेन मया सेयं विनिर्मिता॥ (१)

[ग्रन्थस्य गौरवभयात् अस्याः भक्तिरसश्रियः समाहृतिः, सा इयं मया समासेन विनिर्मिता॥]

गोपाल-रूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनोऽस्मिन्नुत्तरभागे रसामृताम्भोधेः॥ (२)

[गोपालरूपशोभां दधत् अपि रघुनाथभावविस्तारी सनातनः रसामृताम्भोधेः अस्मिन् उत्तरभागे तुष्यतु॥]

रामाङ्ग-शक्र-गणिते शाके* गोकुलमधिष्ठितेनायम्।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्विटङ्कितः क्षुद्र-रूपेण॥

समाप्तोऽयं श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः।

उपसंहार

ग्रन्थ के गौरव (अत्यधिक बड़े हो जाने) के भय से इस भक्तिरस की श्री (समृद्धि) का मैंने यहां संक्षेप से ही समाहार किया है। ।१।

श्री गोपाल-रूप की शोभा धारण किये हुए श्री श्री रघुनाथ के भाव का विस्तार करने वाले श्री सनातन-प्रभु रसामृतसिन्धु (प्रस्तुत ग्रन्थ) के इस उत्तर भाग में सन्तुष्ट हों। ।२।

[यहाँ 'श्री गोपाल' 'श्री रघुनाथ' तथा 'श्री सनातन' शब्दों द्वारा श्लेष से श्री गोपाल भट्ट, श्री रघुनाथ दास तथा श्री रघुनाथ भट्ट एवं श्री सनातन गोस्वामी का स्मरण किया गया है।]

गोकुल-निवासी इस क्षुद्र रूप के द्वारा राम (३) अङ्ग (६) एवं शक्र (इन्द्र-१४) संख्याओं से गिने गये (विलोम क्रम से १४६३) शकसंवत् में यह भक्तिरसामृतसिन्धु-ग्रन्थ लिखा गया॥

॥ यह श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ॥

पाठ-विमर्श

पाठान्तरों के साङ्केतिक चिह्न

क. वराहनगर-स्थित श्रीगौराङ्गग्रन्थमन्दिरस्थ ३८७ सङ्ख्यक पाण्डुलिपि;

ख. पुरीस्थित श्रीगङ्गामातामठस्थ पाण्डुलिपि;

ग. काशी में विद्याविलास मुद्रणालय से १९२२ वैक्रमाब्द में प्रकाशित दामोदर शास्त्री द्वारा सम्पादित ग्रन्थ;

घ. ४४५ श्रीचैतन्यप्रकटातीताब्द (१९३० ई०) में श्री गौड़ीयमठ से प्रकाशित ग्रन्थ।

पु० आचार्य श्री पुरीदास संस्करण, श्री गौराब्द ४६० (१९४६ ई.) में श्री शचीनाथ राय चौधरी द्वारा प्रकाशित, श्री मदनमोहन गङ्गोपाध्याय द्वारा ढाका में, ''मंजूषा प्रिंटिंग'' में मुद्रित।

मुख्यभक्तिरस-निरूपक पश्चिम-विभाग

प्रथम लहरी-शान्तभक्तिरस

१. ख. परिकीर्तिताः
२. क. ख. ग. ०शिखामणिः
३. ख० भक्तिर्मुक्त्यैव
४. घ. अन्तर्वृत्तिविशेषस्य
५. ख. सुरापगा
६. ख. नासाग्र-न्यस्तनयनत्वं
७. ख. दासाद्यैरेषां
८. ख. अभितः
९. ख. वराम्बुदद्युतिधरं
१०. ख. यदध्वनि
११. ख. विलोचनयोरयासीत्
१२. ख. तन्नीरदद्युतिमहः
१३. क. ग. बिल्वमङ्गलस्तवे
१४. क. ग. प्रोचुरेकमनेकधा

द्वितीय लहरी—प्रीतभक्तिरस

१. ख. पीताम्बरः
२. ख. ये
३. ख. प्रसिद्धमेतेषां
४. ख. मैत्रेय-शौनकाद्यास्ते
५. ग. चिन्मात्रमात्मा
६. क. हरिहरो
७. क. ग. ०श्चेत्युदिता
८. क. ग. रक्तः
९. क. ग. इति
१०. ख. प्रतनुते
११. क. ग. लिखनान्तःपातिनी
१२. क. ग. साधका अपि कीर्तिताः
१३. ग. सस्नर्भुवि
१४. ख. प्रतिग्रहः
१५. ख. सुहृदादयः
१६. ख. ह्यानन्द०
१७. ख. धृतिः शङ्का
१८. ख. व्रीडा
१९. ख. वितर्कजड़िमावेगो
२०. ग. स्युर्धृत्याद्या
२१. क. मयासौ
२२. ग. एषां
२३. ख. त्रास०
२४. ग. ज्वरित०
२५. क. असुस्रवत्तव
२६. ख. ०कण्ठः
२७. ख. ०तृषान्धा
२८. पु० भुजषण्ड०
२९. ख. ग. दुनोतु
३०. ख. स्मारयद्दहति पारिषदान्मुनीन्द्र
३१. क. ०भक्तः
३२. क. घ. नौति
३३. ख. व्रजभुवमभितस्ते
३४. ख. ०श्यामाभिरामं
३५. ? प्रपन्नतृष्णा०
३६. ख. सङ्कलयिता, दु.सं.-पद्यं कादाचित्कमेव
३७. ख. स्यादमलं घनम्
३८. ख. वृष्णिवृन्दै०
३९. क. ०गुणाश्रयाः
४०. क. परिरेमिरे
४१. ख. प्रातश्च
४२. क. ग. स्फूर्तिरिव
४३. ख. लाल्येषु परिकीर्तिताः
४४. क. दासः
४५. ग. वार्ताव्युपरमादयः
४६. ग. मात्राद्
४७. ख. स्वयमूर्जिता
४८. पु० ख. जवदविहतेच्छस्य
४९. क. ख. मुदित*
५०. ख. रिपुरम्बराश्रितः

* क. विषमपि मुदित! सुधामिवोग्रम्, स पिबति चेत् पितुरिङ्गितं झषाङ्क!
विसृजति तदसम्मतिर्यदि स्यान्, मिषमिव हन्त सुधामपीन्दुशुद्धाम्॥

५१. ख. मल्ललीलां

५२. पु० बाष्पनिस्पन्दि

५३. क. ग. पदयो

५४. क. ग. वियोगादौ

तृतीय लहरी—प्रेयोभक्तिरस

१. क. कृष्णश्च

२. ख. कृष्णः

३. ख. ०समुदञ्चदनुग्रहेण

४. ख. पदारविन्दम्

५. ख. ०सुन्दराङ्गः

६. ख. लोहिताक्षः

७. ग. सल्लकीदल०

८. क. वंशीभृतः ख. वल्लकीमुरलीशृङ्गवाद्याङ्किताः

९. ख. भद्र०

१०. ख. लगुड़करः

११. ख. कस्तूरीविलसल्ललाटमुरसि

१२. ख. ०द्युतिहरं

१३. ख. वृषाल०

१४. ख. बिभ्रद्दण्डं

१५. ख. सव्यकरानुरुद्ध०

१६. ख. सुन्दर०

१७. ख. रुन्धेऽपरः

१८. ग. ०त्यर्जुनः

१९. ख. ग. प्रवरौ

२०. ख. कुमारी

२१. ख. दुर्गमापारवारः

२२. ख. शीलयन्त्यमुम्

२३. क. ग्रीवा

२४. ख. नः

२५. क. ख. मल्लीमाल्यञ्च फुल्लं

२६. क. बिभ्रल्लीलां ग. बिभ्रन्मालं

२७. घ. रङ्गोष्णीशः

२८. ख. श्लाघेत्यादि-विचेष्टितम्

२९. घ. रुदत्युदग्रं

३०. ख. क्रीडनं

३१. ख. युग्मत्वेनास्य पानाद्याः

३२. क. ग. हासात्

३३. क. प्रियसखिक्रियाः

३४. ब. स्वस्वपूर्वेशापक्ष०

३५. ख. विलापं स्मृतिदीनते

३६. क. ग. गताः

३७. ख. पांशुजान्

३८. ख. चन्द्रिकानर्जुनः

३९. ग. प्राणाध्वनि

४०. ग. ०रुक्षालकाः

४१. ख. विचार०

४२. ख. शिखरजा इव स्थावराः

४३. क. ख. ग. योगिभिरप्यलभ्यः

४४. ख. यद्दृग्विषये व्यवस्थितः

चतुर्थ लहरी—वत्सलभक्तिरस

१. ग. वत्सलतामात्रः
२. ख. व्रजपतिवनितासीत्
३. क. ख. ग. इह
४. ख. विसृष्ट०
५. ख. ०निर्झरे
६. ख. ० माद्यवाक्यञ्च ग. ०मार्गवाद्यञ्च
७. ख. भ्रूकुटी
८. ख. ०नद्ध०
९. ख. ०मुखमुन्नत०
१०. ग. ०प्रथित०
११. ख. गणै०
१२. क. यौवनेनासौ
१३. क. ख. ग. गोपेन्द्र०
१४. ख. प्रेमपरिलुप्ता०
१५. ग. समानमाघ्राय
१६. क. ग. उद्गृह्य
१७. ख. ०रहिताः
१८. क. ग. यशोदा च
१९. क. ग. प्रस्नववर्षिणी
२०. ख. विनशने
२१. क. ०जनिभि०
२२. ख. सुतस्य चरितान्यसौ
२३. ग. स्थिरम्
२४. क. ग. मया
२५. क. ख. कुलिश०
२६. ख. ०नवमञ्जुकञ्चुका
२७. ख. ०विलासिनी
२८. क. ० मपेक्ष्यते
२९. क. ०संज्ञितम्
३०. ख. मैत्रेय०

पञ्चम लहरी—मधुरभक्तिरस

१. ग. घ. मदचकुरचकोरी
२. ग. अत्र
३. ख. ०रचितञ्च
४. ग. संवेदवेणी
५. ख. ०तापोच्चया
६. ख. क्षमते हि
७. ग. दृष्टोऽयं
८. क. ग. वलते, ख. रमते
९. ग. गतान्यतः
१०. क. ख. दीनाप्युवाच
११. क. लोचनजले स्नपिताननायाः
१२. घ. पश्चिमविभागे

गौणभक्तिरसनिरूपक उत्तर-विभाग

प्रथम लहरी—हास्यभक्तिरस

१. ख. प्रागिवानियता० २. ख. यास्याम्यद्य
३. ख. नवमवेक्ष्य ४. ख. भिया
५. ख. सीमालम्बि० ६. ग. ०रसोद्भेदाद्

द्वितीय लहरी—अद्भुतभक्तिरस

१. ख. स्तम्भेन संपश्यत २. ख. वा

तृतीय लहरी—वीरभक्तिरस

१. ख. महाहङ्कार० २. सुहृद्वीरो
३. ख. अनिच्छुरप्यद्य
पितुर्निदेशादाहूयमानः ४. ख. दोर्मण्डलं मे
५. ख. कृष्णमेवाह्वयामि ६. ग. एष
७. ख. अक्लीवाशयता प्रौढा ८. ग. उदीर्यते
९. ख. ग. स्थानाभिकामः १०. ग. दृष्टवान्
११. ग. साधु० १२. ग. विचिन्वन्निव
१३. ख. ०कृदुत्साहो १४. ख. युधिष्ठिरो निधिः
१५. ख. परस्परम्

चतुर्थ लहरी—करुणभक्तिरस

१. क. ग. ०रसोऽयं २. ख. अविच्छिन्न०
३. ख. शोकेन मोहेन ४. ख. ग. स्खलदविरल०
५. क. ख. प्रौढतरप्रेमविशेषेणैव ६. घ. लब्धोऽप्युद्भटतां

पञ्चम लहरी—रौद्रभक्तिरस

१. ख. शठे क्रोधो
२. ख. ग. ०चरणापि रुषोद्धुरासीः
३. ख. हठादमुष्य

षष्ठ लहरी—भयानकभक्तिरस

१. ग. विश्रभ्य
२. ख. विभावाश्च
३. क. ख. घ. भयं
४. ग. जनान्विता
५. ख. आकृत्या च प्रकृत्या च प्रभावेण च
६. ख. विरिञ्चिः

सप्तम लहरी—बीभत्सभक्तिरस

१. ख. प्रीतिर्जायते
२. ख. ०पटली०
३. ख. रूपितम्
४. ग. हासादयः

अष्टम लहरी—रसानां मैत्री-वैर-स्थितिः

१. ख. शुचिर्हास्यं युद्धवीराः
२. ख. ०बीभत्सशान्तभीष्माश्च
३. ख. सुहृदौ परिकीर्तितौ
४. ख. घृणीयते
५. ख. करोति
६. ख. ग. दीयमानास्वपि
७. ख. मद्वेशशंसिततनोः
८. ख. सुकण्ठि !
९. ख. ०मुद्वेजयति
१०. ग. नोद्भटोग्रधामा
११. ग. ०समराटोपक्रमे
१२. क. स्वमात्मानं
१३. क. ०हेतुः स्यादङ्गस्याङ्गत्वमङ्गिनि
१४. ख. ग. ब्रह्मज्ञायाः
१५. ख. यत्
१६. ग. पिशितास्रमयी
१७. ख. विषयाश्रयभेदेन
१८. ख. मुक्तिश्रीरिव

१९. क. शान्तिविधोन्निद्रं
२०. ख. तस्याति०
२१. ख. घृणीया
२२. ख. हृदि
२३. ग. पुष्टौ

नवम लहरी—रसाभास

१. पु० क्रमाः
२. ग. परापर०
३. ग. ०देवतोऽन्यत्र
४. पु० वपु०
५. ग. पुलकाञ्चिता
६. ग. प्रेक्ष्य
७. पु० न
८. ग. ताण्डव-व्यधितम्
९. ख. कक्‌खटी; मर्कटी
१०. ग. तत्र
११. ख. विज्ञेयास्ते वीरापरसादयः

* १४६३ शाके=१५४१-१५४२ खृष्टाब्दे

विमर्श

[टिप्पणी—इस विमर्श में भ० र० सिं० की तीन टीकाओं का आधार लिया गया है—]

(१) श्री जीवगोस्वामी-कृत 'दुर्गमसङ्गमनी'

(२) श्री मुकुन्ददास गोस्वामी-कृत 'अर्थरत्नाल्पदीपिका'

(३) श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्ती-कृत 'भक्तिसारप्रदर्शिनी'

ये तीनों श्रीहरिदास-दास के द्वारा नवद्वीप से एकत्र मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित की गई थीं (४६२ गौराब्द=२००४ वि० सं = १९४७ ई०)

(तीनों टीकाकारों के लिये हम ने क्रमशः संक्षिप्त नामों का प्रयोग किया है—श्रीजीव०, श्रीमुकुन्द०, श्री विश्व०। विमर्श में श्लोक-संख्या केवल क्रमिक ही दी गई है, मूल और उदाहरण की पृथक्-पृथक् नहीं।)

मुख्यभक्तिरस-निरूपक पश्चिम विभाग

प्रथमलहरी—शान्तभक्तिरस

१. **श्रीजीव०** पूर्ववत् यहाँ सभी विशेषणों में श्लेष हैं, अर्थात् उनके दो-दो अर्थ हैं।

'भार'-शब्द से सौन्दर्य के पक्ष में आधिक्य की व्यञ्जना है। 'रूप' शब्द से ग्रन्थकार का नाम समझने के पक्ष में गोद में उठाये हुए क्लेशकारी बोझ का अर्थ गृहीत होगा।

श्रीमुकुन्द० 'भागवत' से यहाँ ग्रन्थकार के पक्ष में वैष्णव समझें। 'सनातन' शब्द से गुरु श्रीसनातन गोस्वामी समझें तो 'मुग्धरूप' का अर्थ होगा अज्ञ ग्रन्थकार, और 'भार' का अर्थ होगा ऐहिक एवं पारलौकिक हितचिन्तन का भार वहन करने में जो सक्षम हैं वे श्रीगुरु।

श्रीविश्व० 'सनातनमूर्त्ति' अर्थात् नित्य तनु वाले श्रीकृष्ण; गुरु के पक्ष में 'सनातन'- नाम का शरीर है जिन का वे श्री सनातन गोस्वामी, जिन्होंने अज्ञ ग्रन्थकार 'रूप' को श्रीराधाकृष्ण की प्राप्ति कराने का भार ले लिया है।

२-३. स्पष्ट है।

४. **श्रीजीव०**—शुद्धारति के तीन भेद कहे गये हैं—सामान्या, स्वच्छा और शान्ति (भ० र० सिं० २/५/८-२०)। इन में से सामान्या और स्वच्छा क्रमशः अस्फुट और चञ्चल हैं, इसलिए केवल शान्ति रति ही रसत्व को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसी में रससामग्री का परिपोष सम्भव है।

श्रीमुकुन्द०—'शमी' अर्थात् जिन में शम प्रधान है ऐसे आत्माराम और तापस ऐसे द्विविध भक्तों में ममता की गन्ध से रहित, परमात्मनिष्ठ स्थायी रति होती है। पर वह अपने चिह्न (शम) को नहीं छोड़ती।

५. **श्रीजीव०**—'स्वसुखजातीय' अर्थात् सबके मूल स्वरूप निर्विशेष ब्रह्मानन्द का प्रकार। 'प्रायः' का अर्थ है कि गुणों की भी स्फूर्त्ति होने के कारण यहाँ भक्ति का उदय है।

श्रीविश्व०—योगी, शान्त भक्तों को पहले 'ज्ञानी'- दशा में जिस ब्रह्मसुख का अनुभव हुआ था, प्रायः उस सुख के ही सजातीय सुख का उन्हें अब, रति के अनुभवकाल में ईशमय अर्थात् सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान् की स्फूर्त्ति जिसमें प्रचुर है—ऐसा सुख होता है। दास आदि भक्तों को जो अनन्त सुख होता है, उस का सजातीय सुख इन्हें नहीं होता, फिर भी आत्मसुख घन नहीं होता इसलिए वह ईशमय सुख से न्यून है।

६. **श्रीजीव०**—ईशमय सुख को ही विशद रूप से कहते हैं। जिन्हें आत्मसुख का सजातीय सुख प्राप्त है उन शान्तभक्तों को दास-आदि की भाँति ईश-स्वरूप के अनुभव में श्रीविग्रह के रूप में भगवान् का साक्षात्कार रसोत्पत्ति के लिए तो श्रेष्ठ हेतु बनता है, फिर भी दासादि के अनुभव

में जो मनोज्ञ लीला आदि गुण हैं उन का अनुभव कराने में श्रेष्ठ हेतु नहीं बन पाता थोड़ा-बहुत ही बनता है।

७. **श्रीविश्व०**—चतुर्भुज भगवान् विषयालम्बन हैं और शान्त भक्त आश्रयालम्बन।

८. **श्री जीव०**—यह पद्य तापस शान्तों का वचन है। इस के उत्तरार्ध में ज्ञानी चतुर्भुज की बात है।

आरम्भ में ही 'श्यामाकृति' कहने से सौन्दर्य कहा गया है, उस से चमत्कार दिखाया गया है। समस्त आत्मा अर्थात् जीवों को तरङ्गरूप कह कर परमात्मा को सिन्धुरूप बताया है, इससे दोनों का अंशांशिभाव से सम्बन्ध व्यञ्जित है। 'प्रत्यक्' पद अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म के अनुसन्धान से 'निर्जिहीते' अर्थात् निर्गत होकर उन के गुणों में आकृष्ट होता है।

९—१३. सुगम है।

१४. **श्रीविश्व०**— 'समस्तगुणवर्जिते' का अर्थ है—जिसमें गुणजनित मालिन्य नहीं है ऐसा शुद्ध। करणों (इन्द्रियों) से जो 'प्रतीचीन' है अर्थात् इन्द्रियों से जिस का सङ्ग नहीं है, ऐसे अन्तःकरणरूप वस्तु में।

१५. **श्रीमुकुन्द०**—[मूल ग्रन्थ में 'मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्ना' अर्थात् मुक्ति भक्ति से ही निर्विघ्न होती है, ऐसा पाठ मुद्रित है, किन्तु श्रीमुकुन्द एवं श्रीविश्व० दोनों ने 'भक्तिर्मुक्त्यैव—' ऐसा पाठ ले कर अर्थ किया है।]

श्रीमुकुन्द—मुक्ति से ही भक्ति निर्विघ्न हो सकती है, इस कारण से जो मुमुक्षा छोड़े बिना भजन करते हैं, उन तापसों के लिए यह समझना चाहिये कि साधन अथवा कृपा से भाव कलामात्र में ही प्रकट होता है। आत्मारामों की कृपा से ही वह पुष्ट होता है। शान्त भक्त नित्यसिद्ध होते ही नहीं, इसलिए इनके साधक, सिद्ध और नित्यसिद्ध ऐसे भेद नहीं कहे जाते, जैसे कि दासों के कहे जायेंगे।

श्रीविश्व०— इन भक्तों में मोक्ष की इच्छा रूपी अन्याभिलाष रहते हुए भी शुद्ध भक्ति की हानि नहीं होती (क्योंकि वे भक्ति के लिये ही मुक्ति की इच्छा करते हैं)—उन में भक्ति में विघ्न करने वाले काम आदि की निवृत्ति के लिये ही संसारमोचन की इच्छा है, न कि सायुज्य पाने के लिये।

१६. **श्रीजीव०**—'मुकुन्द' नाम से यह व्यञ्जना है कि वे स्वभावतः ही संसारहरण कर के मुक्ति देते हैं। 'रजनी' दिवारात्र का उपलक्षण है।

१७. **श्रीमुकुन्द०**—भक्तों और आत्मारामों की कृपा के विस्तार से ही, तापसों में भावचन्द्र की कला विकसित होती है, न कि साधनों से।

१८-१९. **श्रीजीव०**—तत्त्वविवेचन आदि तीनों तापसों में होते हैं, शेष तापस एवं आत्माराम दोनों में होते हैं। विद्याशक्ति की प्रधानता एवं विश्वरूपप्रदर्शन ये दो ईश्वरगत हैं। ब्रह्मसत्र का अर्थ है समान-विद्यावालों का परस्पर उपनिषद्-विचार।

श्रीविश्व०—अविद्याशक्ति बन्धनकारी होती है इसलिए हेय है, विद्याशक्ति मोचक होने के कारण प्रधान है।

२०. **श्रीविश्व०**—कवि आदि नौ योगेश्वर हैं। उपनिषद् के शिरोभाग गोपालतापनी के श्रवण से श्रीकृष्ण की सर्वोत्कृष्टता को जान कर उन्हें देखने की इच्छा से द्वारिका जाते हुए उत्साहित हो उठे।

२१-२२. **श्रीजीव०**—चरणों की तुलसी की गन्ध, शङ्खनाद एवं गङ्गा ये उद्दीपन तापस और आत्माराम दोनों के लिये हैं, एवं अन्य तापसों के लिये हैं। ये सभी दासों की विशेष कोटि 'आश्रितों' के लिये भी हैं।

२३. **श्रीविश्व०**—जैसे कोई दूसरे देश में जा कर वहाँ अपना अधिकार जमाने की इच्छा से, पहले उस देश के अध्यक्ष को बाँध कर क्षुब्ध करता है, फिर उस के देश का भी अपने सैन्य द्वारा मर्दन करता है। उसी प्रकार यहाँ भी चरणकमल के पराग से मिश्रित तुलसीगन्ध ने नासारन्ध्र से प्रवेश कर के चित्त एवं शरीर दोनों को क्षुब्ध किया है। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेने वालों का चित्त तो

ब्रह्मानन्दमय है। उसे भगवदानन्द कैसे अपने में लीन कर सकता है? इसीलिये 'अक्षरजुषामपि' में 'अपि' रखा गया है। इससे भगवदानन्द में माधुर्य की अधिकता के कारण प्रबलता की व्यञ्जना है।

२४-२६. **श्रीजीव०**—'युग' का अर्थ हल का 'जुआ' है, उस की लम्बाई चार हाथ मानी गई है। चार हाथ तक ही दृष्टि रखना और तदनुसार चलना यहाँ अभिप्रेत है। तर्जनी को अंगूठे से मिलाना ज्ञानमुद्रा है। सिद्धता का अर्थ है आत्यन्तिक रूप से संसारध्वंस। जीवन्मुक्ति का अर्थ है स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों में आवेशरहित स्थिति। सिद्धता और जीवन्मुक्ति इन दो को बहुत मानना भक्ति के आभास वाले तापसों में होता है।

२७. **श्रीजीव०**—नासिका के अग्रभाग पर टिकी दृष्टि एवं 'मुनि' संज्ञा दोनों से आत्माराम होना व्यञ्जित होता है। स्पन्द से सुशोभित सिर विशेष अनुभव का सूचक है, और वह उसी में सम्भव है जो हरिगुणात्मक हो गया हो, अर्थात् हरि के गुण जिस के आत्मा में बस गये हों। हरि के गुण को श्रीमद्भागवत में इस प्रकार कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ भा० १/७/१०॥

२८. **श्रीमुकुन्द०**—यहाँ दास आदि के साथ उक्त क्रियाओं की साधारणता जो कही गयी है, उस में सख्य आदि का भी ग्रहण हो गया है क्योंकि उन में भी ये सम्भव हैं।

२८. स्पष्ट है।

३०. **श्रीजीव०**—भगवत्समाधि में चेष्टायें और अन्य ज्ञान नहीं रहते हैं इसलिए 'प्रलय' या मूर्च्छा का लक्षण प्राप्त होने पर भी भूमि पर गिरना आदि नहीं होते, इसीलिए यहाँ 'प्रलय को छोड़कर' ऐसा कहा गया है।

३१. **श्रीजीव०**—'पुद्गल' शब्द का अर्थ देह है इस के प्रमाण में अमरदत्त का निम्नलिखित वचन उद्धृत है—

"कायो देहः स्त्रियां मूर्त्तिः पुद्गलश्च पुमाँस्तनुः।"

३२. **श्रीजीव०**—इन शान्त भक्तों में सात्त्विक भावों का जितना-सा भी उदय होता है वह श्रीभगवत्सम्बन्ध के प्रभाव से ही होता है।

३३-३४. स्पष्ट है।

३५. **श्रीमुकुन्द०**—मन में श्रीकृष्ण के अनुभव से युक्त शान्तिरति समा है। बाहर साक्षात् दर्शन से युक्त वह रति सान्द्रा है—ऐसा इन के लक्षण और उदाहरणों से जानना चाहिए।

३६. **श्रीजीव०**—यह भगवान् का वचन है। इसमें उल्लिखित असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण यहाँ उद्धृत किया है—

"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।
याऽसम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥"

३७. **श्रीजीव०**—ज्ञानी की परम गम्भीरता होते हुए भी अपने ही कण्ठ से अपने आनन्द का कथन चपलता को अभिव्यक्त करता है, जिससे पहले के आनन्द से इस आनन्द की अधिकता व्यञ्जित होती है। भगवान् के रूप-गुण-लीला के अनुभव से ही यहाँ आनन्द की कोटिगुण घनता आई है।

३८-३९. स्पष्ट है।

४०. **श्रीमुकुन्द**—द्वितीय और तृतीय चरण का पाठ-भेद दिया है।

सान्द्रं यदध्वनि विलोचनयोरयासीत्।

तन्नीरदद्युतिमहः................................॥

[श्री जीव ने इस पद्य का वही पाठ ग्राह्य माना है जो मूल में है।]

४१. **श्रीजीव०**—हे भगवन्! आप सर्वातीत अनन्त गुण-सम्पन्न हैं। आप के साक्षात्कार के आनन्द से अधिक प्रयोजन उसे भी क्या हो सकता है जो कि परम बृहत् निर्विशेष आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अनुभवी है। शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म तो सभी का स्वरूप है, और स्वरूप ही सब से अधिक प्रिय होता है, इसलिये उस का साक्षात्कार ही सर्वाधिक

आनन्दजनक होना चाहिये, फिर गुणमय साक्षात्कार अनावश्यक है। इसी के उत्तर में कहते हैं कि आत्मा तो सब का स्वरूपभूत ब्रह्म है, उस का भी 'परम' होने से जो अत्यन्त सघन है, उसके लिये श्रीमद्भगद्गीता में कहा गया है—

''ब्रह्मणोऽपि प्रतिष्ठाऽहम्''-(१४/२७) और श्रीमद्भागवत १०/१४/ ५५ में श्रीशुकदेव की वाणी है—

''कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्''

श्रीमुकुन्द—यह किसी ऐसे का वचन है जिसमें प्रेम उत्पन्न हो चुका है। 'ब्रह्मवित्' का यहाँ अर्थ है आत्माराम।

४२. **श्रीजीव०**—''लीनव्रत'' का अर्थ है—जिस के व्रत अर्थात् नियम नष्ट हो चुके हैं।

४३. **श्रीजीव०**—''रतिमुद्वहेत्'' का अर्थ है—श्रीनन्द के सुत के प्रति रति को ऊँचा उठाये, अर्थात् शान्तिरति का अतिक्रमण करके रतिविशेष का वहन अभिप्रेत है।

४४. [यह पद्य वाचिक परम्परा में श्रीमधुसूदन सरस्वती के नाम से विख्यात है। श्रीजीव गोस्वामी उसे बिल्वमङ्गल की उक्ति बता रहे हैं।]

श्रीजीव०—'अद्वैत' शब्द से शाब्द ज्ञान कहा गया, स्वानन्द अर्थात् अनुभवपर्यन्त ज्ञान; उसी सिंहासन पर जिस की दीक्षा या प्रतिष्ठा हो चुकी है। यहाँ व्याजस्तुति है।

४५. **श्रीजीव०**—श्रीशुकदेव ने व्रजवासीमात्र में ही सर्वोत्तम प्रेम निरूपित किया है, फिर भी किसी-किसी में प्रेम का परमोत्कर्ष दिखाया है, इस प्रकार यहाँ आर्ष प्रमाण है।

४६-४७. **श्रीजीव०**—केवल शान्त रस से नाट्यज्ञों को भले ही विरोध हो, किन्तु यहाँ के शान्त रस से उन का विरोध नहीं हो सकता क्योंकि श्रीभगवद्रति-मात्र का रसत्व पहले ही स्थापित किया जा चुका है। यहाँ कार्य 'भगवन्निष्ठा' के द्वारा शान्तिरति रूप कारण लक्षित होता है।

केवल सामान्य रति से वह लक्षण ("भगवन्निष्ठा ही शम है") घटित नहीं होगा क्योंकि वहाँ शम की प्रचुरता अपेक्षित है। अर्थात् शान्तिरति ही भगवन्निष्ठा का कारण हो सकती है।

४८. **श्रीजीव०**—केवल शान्त रस के प्रति जो विवाद करते हैं, उन के मत को निरस्त कर के अब 'कैमुत्य न्याय' से अपने मत की स्थापना करते हैं। अर्थात् जब श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराण में केवल शान्त रस की स्थापना की है, तो शान्तभक्तिरस की तो बात ही क्या है?

४९. **श्रीजीव०**—धर्मवीर 'आदि' से दानवीर और दयावीर का भी ग्रहण होता है।

श्रीविश्व०—धर्म-दान-दया-वीर ज्ञानी भक्तों की भाँति जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अहङ्कार से रहित हों तभी उन का शान्तभक्ति में अन्तर्भाव उचित है।

५०—५१. **श्रीजीव**— कुछ लोग यह कहते हैं कि एक ही शान्त रस स्थायी के भेद से अनेक प्रकार का बनता है, इस मत को यहाँ कह रहे हैं। शङ्का हो सकती है कि निर्वेद को तो सभी के मत में व्यभिचारी भावों में गिना गया है तो यहाँ उसे स्थायी कैसे कहा गया? इसलिए कहा कि निर्वेद जब तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हो तभी यहाँ स्थायी भाव हो सकता है, और वही जब इष्ट के वियोग और अनिष्ट की प्राप्ति से हो तब व्यभिचारी होता है।

द्वितीय लहरी—प्रीतभक्तिरस

१-२. [श्री श्रीधरस्वामी की श्रीमद्भागवत पर भावार्थदीपिका श्रीधरी के नाम से सुविख्यात है। आप ने भक्तिरस की चर्चा श्रीमद्भागवत १०/४३/१७ की टीका में की है। इस पद्य में बलराम के साथ श्रीकृष्ण का कंस की रङ्गशाला में प्रवेश और विभिन्न कोटि के दर्शकों द्वारा देखा जाना वर्णित है। वह पद्य है—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥"

अर्थात् मल्लों ने उन्हें वज्र के रूप में देखा (रौद्र), सामान्य मनुष्यों ने उन्हें उत्तम मनुष्य समझा (अद्भुत), स्त्रियों ने मूर्त्तिमान् कामदेव माना (शृङ्गार), गोपों ने स्वजन समझा (हास्य), दुष्ट राजाओं ने शास्ता अर्थात् दण्ड देने वाला माना (वीर), माता-पिता ने बालक समझा (करुण), कंस ने साक्षात् मृत्यु के रूप में देखा (भयानक), अज्ञानीजनों को वे विराट् (असुन्दर) दिखाई दिये (बीभत्स), योगियों ने उन्हें अपना परमदेव समझा (प्रेमभक्ति)—ऐसे विभिन्न प्रकार से देखे जाते हुए श्रीकृष्ण बड़े भाई के साथ रङ्गशाला में पहुँचे।

इसी सन्दर्भ को श्रीरूप ने रङ्ग-प्रसङ्ग नाम दिया है, और श्रीधर-स्वामी द्वारा कही गयी प्रेमभक्ति को प्रीतभक्ति अथवा दास्य माना है। 'नामकौमुदी'-कार लक्ष्मीधर ने सीधे प्रीत अथवा दास्य का प्रतिपादन तो नहीं किया है, किन्तु भक्ति का रति के रूप में जो वर्णन किया है, उसे श्रीरूप ने प्रीत अथवा दास्यरस के रूप में पहचाना है। श्रीरूप ने जिन 'सुदेव' का नाम यहाँ लिया है, उन के विषय में कोई जानकारी नहीं मिल पाई है।]

३. स्पष्ट है।

४. **श्रीजीव**—अनुग्रह के पात्र भक्त में दासत्व और लाल्यत्व दोनों रहते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि दास की सम्भ्रम प्रीति होती है और पुत्रादि लाल्य की गौरव प्रीति।

५-८. स्पष्ट है।

९. **श्रीजीव०**—यहाँ अद्भुत उपमान कहा जा रहा है। विद्युत् से युक्त कोई मेघ यदि रवि और चन्द्र दोनों से मण्डित हो तो वह उपमान बनता है। चक्र के स्थान पर सूर्य है और शङ्ख के स्थान पर चन्द्र।

१०. **श्रीजीव०**—यह द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण के सेवक दारुक का वाक्य है। वैकुण्ठनाथ से भी अधिक चमत्कारकारी के रूप में वक्ता को अनुभव हो रहा है—यह तात्पर्य है। 'वैकुण्ठनाथ की श्री को भुलवा दिया है'—इस का अभिप्राय है कि वैकुण्ठ की सामग्रियों की अपेक्षा द्वारिका की सामग्रियाँ विलक्षण हैं।

श्रीमुकुन्द०—यह नारद का वाक्य है। यद्यपि श्रीनारद में सख्य की अधिकता है, तथापि क्रथ और कौशिक जिन का अनुगमन कर रहे हैं ऐसे श्रीकृष्ण का दर्शन करके उन्हें प्रीति का ही आस्वाद हुआ, इसलिए यहाँ प्रीतरस में उन का उदाहरण दिया गया है।

११. **श्रीजीव०**—'ब्रह्माण्डकोटि' इत्यादि कहने का तात्पर्य यह है कि अचिन्त्य शक्ति के कारण उनका परम विभु विग्रह है।

श्रीविश्व०—ब्रह्माण्डों के साथ भगवान् का साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी अचिन्त्य शक्ति से वे उन का आश्रय हैं। जैसा कि गीता में कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ९/४॥

१२-१५. स्पष्ट है।

१६. **श्रीजीव**—'प्रश्रित' का अर्थ है 'नीची दृष्टि किये हुए'।

'निदेशवशवर्त्ती' का अर्थ है अपने-अपने योग्य कर्म में श्रीकृष्ण की जो आज्ञा हो, उस में स्वयं रुचिपूर्वक रत रहने का शील है जिन का, दास शब्द की रूढ़ि के अनुसार जिन्हें दास नहीं कहा जाता ऐसे विप्र आदि, जो कि श्रीकृष्ण के गौरव के विषय हैं, वे भी योगवृत्ति से दासों में गिने जायेंगे— 'दास्यते दीयते कृपया तत्तद्वाञ्छितं सम्पाद्यते येभ्यः' दासृ धातु दान अर्थ में है, अतः 'दास्यते' का अर्थ है 'दीयते'। अर्थात् जिन्हें उन का वाञ्छित सब दिया जाता है, जो चाहें वह सम्पन्न किया जाता है वे भी दास हैं।

१७-१८. स्पष्ट है।

१९-२०. **श्रीजीव०**—'अधिकृताः' का अर्थ है श्रीकृष्ण के द्वारा स्थापित। उदाहरण में 'पर्येति' 'परि-एति' का अर्थ है प्रदक्षिणा करता है। 'स्तब्धः' का अर्थ है 'स्तम्भ'-सात्त्विक भाव से युक्त।

२१. स्पष्ट है।

२२. **श्रीजीव०**—यहाँ 'भीत' में क्त-प्रत्यय भूत (बीते हुए) अर्थ में है, वर्तमान में नहीं। इस समय तो इन्हें अन्य-अभिलाषा से रहित ही मानना होगा, क्योंकि शुद्ध भक्तों में इन की गणना है। मुमुक्षा का त्याग इस बात का उपलक्षण है कि शान्तिरति के हेतुभूत ज्ञान का भी त्याग है। इसलिए 'ज्ञानिचर' कहने से ज्ञान की भूतपूर्वता दिखाई गई है। यहाँ मध्यम और अन्तिम अधिकारियों में परस्पर भेद ऐश्वर्य और माधुर्य के अनुभवों द्वारा जानना चाहिये। 'भीत' का अर्थ है—जो आप की भक्ति से रहित हैं उन सब से भययुक्त। आप के अनुभव से जो विज्ञातार्थ हैं अर्थात् ब्रह्मानुभव एवं आप के अनुभव के बीच तारतम्य जिन्होंने जान लिया है।

२३-२७. स्पष्ट है।

२८. **श्रीजीव०**—इस पद्य के पूर्वार्ध में हेयता बताई जा रही है, क्योंकि ज्ञात को भी अज्ञातवत् कहा है। उत्तरार्ध में कमलनयन को आत्मा कहने से परमेश्वरता और परमप्रियता की ध्वनि है।

२९. स्पष्ट है।

३०. **श्रीजीव०**—शून्य अर्थात् निर्जन उद्यान में रहने वाले पक्षियों के सदृश तपस्वियों को आप के गुणगान के श्रवण की इच्छा, वैसा गान जहाँ होता है, वैसी सभा में भिक्षु जैसा आचरण कराती है।

[यहाँ पर श्रीजीव ने उत्तररामचरित के निम्नलिखित पद्य का स्मरण किया है—

''जनस्थाने शून्ये करुणकरुणैरार्यचरितैर्
अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्॥''

यहीं पर श्रीमुकुन्द० ने श्रीमद्भागवत के १०/१/४ तथा १०/४७/१८ इन दो पद्यों का स्मरण किया है।—क्रमशः—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥ १/४

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
४७/ १८]

३१. **श्रीजीव०**—श्रुतदेव एवं शत्रुजित् की बात श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध में (१४/ २९, ३२) कही गई है।

३२. **श्रीमुकुन्द०**—परिचर्या का अर्थ है श्रीकृष्ण की भोग्य वस्तुओं का परिष्कार, एवं चामर-छत्र आदि के द्वारा उन की सेवा।

३३. **श्रीविश्व०**—द्वारिका के सभासदों का वेश भी श्रीकृष्ण के सदृश है।

३४. **श्रीजीव०**—इन्द्रप्रस्थ में गये हुए श्रीकृष्ण के प्रति किसी का यह वचन है। श्रीकृष्ण का आश्रय लेने के कारण गर्व भरे इन्हें सब को उद्वेग देने वाले काल, अग्नि, रुद्र से भी, जरा सी भी शङ्का नहीं होती। इस प्रकार पहले वर्णित अधिकृत भक्तों की अपेक्षा इन की विशेषता दिखाई गयी।

३५. **श्रीजीव०**—प्रेमविक्लव का अर्थ है प्रेम से परवश। विक्लव का अर्थ विह्वल या पराश्रित भी है। क्षीरस्वामी के अनुसार इस का अर्थ कातर होना है। श्रीमद्भागवत १०/२९/३९ की टीका में श्रीधरस्वामी ने विक्लव का अर्थ परवशता में प्रलाप करना किया है।

३६. **श्रीविश्व०**—गोरोचनकान्ति का अर्थ है पीतवर्ण।

३७. **श्रीजीव०**—इन विविध खेलों के बहाने श्रीकृष्ण का विनय ही व्यक्त हो रहा है।

३८-३९. स्पष्ट है।

४०. **श्रीविश्व०**—'मण्डन' श्रीकृष्ण के सेवक का नाम है।

४१-४३. स्पष्ट है।

४४. **श्रीमुकुन्द०**—यह रक्तक नामक श्रीकृष्णसेवक का वचन है।

श्रीविश्व०—श्रीकृष्ण का वन से गोष्ठ में लौटने का समय हो गया है इसलिए तदनुरूप सेवा की सामग्री शीघ्र जुटाने के लिए कहा जा रहा है।

४५. स्पष्ट है।

४६. **श्रीजीव०**—शतपर्विका का अर्थ है दूर्वा। रक्तकण्ठ अर्थात् रागविद्या में निपुण कण्ठवाला।

४७. **श्रीजीव०**—अपने प्रभु के द्वारा सखा की भाँति व्यवहार किये जाने पर सेवक रसद को सङ्कोच हुआ और अपने सङ्कोचभाव को देखकर एकान्त में पूछते हुए अपने आप के प्रति यह उक्ति है जिस में यह अभिलाषा व्यक्त की गई है कि श्रीकृष्ण की चरणसेवा-चातुरी में मेरी उत्तम रति हो।

४८. **श्रीजीव०**—'परिषद आदि' कहने का तात्पर्य है पार्षद एवं अनुग दोनों का गण।

४९-५१. स्पष्ट है।

५२. **श्रीजीव०**—सत्यभामा के पिता ने विवाह के समय उस के अनुगत धाय के बेटे को साथ में दिया; अतः वह श्रीकृष्ण के प्रति स्निग्ध साले का विनोदमय व्यवहार करता हुआ कह रहा है। इसलिये यह रसयुक्त वचन है।

५३. स्पष्ट है।

५४. **श्रीजीव०**—यहाँ वक्ता का हृदय सरस है, प्रणयकौतुक से ही बाहर गर्व की व्यञ्जना है। यदि सर्वथा वही भाव हो तब तो विरसता आ जायेगी।.... यह सत्यभामा के किसी अन्तरङ्ग के प्रति एकान्त में वीर-भक्त का वचन है।

५५. **श्रीजीव०**—यह पृथु का वचन है।..... शङ्का हो सकती है कि लक्ष्मी तो भगवान् की परमश्रेष्ठा प्रिया है और तुम अर्वाचीन (अभी-अभी आये) दास हो अर्थात् लक्ष्मी की अपेक्षा बहुत नीचे हो। तब तुम्हारा उन के साथ विरोध होने की सम्भावना भी कहाँ है? इस का उत्तर है कि आप तुच्छ व्यक्ति को भी सब से ऊँचा बनाने वाले दीनवत्सल हैं।

५६. **श्रीजीव०**—इन में तथा अधिकृतों में भी ये भेद जानने चाहियें।

श्रीमुकुन्द—अधिकृत तो आवरणस्थ ही हैं, वे नित्यसिद्ध हैं, अतः उन में त्रिविधता नहीं कही गई। जो प्राकृत हैं वे उन (अधिकृतों) का आभासरूप होने के कारण उन के साथ अभिन्न की भाँति माने जाते हैं।

५७. **श्रीजीव०**—जिन को अनुग्रह प्राप्त है वे उद्दीपनविभाव बनें ऐसी सम्भावना वत्सल भक्तों में नहीं है। इसीलिये ये असाधारण हैं।....'तद्भक्तसङ्गतिः' का तात्पर्य दासभक्तों की सङ्गति से है।

५८. **श्रीजीव०**—यह भीष्म का वचन है।

श्रीविश्व०—ध्येय का अर्थ है केवल योगियों के ध्यान का विषय।

५९. **श्रीजीव०**—ये सभी उद्दीपन तदीय अर्थात् श्रीकृष्णसम्बन्धी पदार्थ समझने चाहियें।

६०. **श्रीविश्व०**—श्रीकृष्ण के लीलादर्शन के लिये आये हुए वेदवादी ऋषियों ने जब मुरली सुन कर हुई इन्द्र की विह्वल दशा देखी तब यह उन का परस्पर वचन है।

६१. **श्रीजीव०**—'तन्निष्ठता' का अर्थ है प्रीति अर्थात् दास्यमात्र में निष्ठा होना।

श्रीविश्व०—अपने को प्राप्त 'नियोग' (कार्यभार) को सब से अधिक मानते हुए उस का स्वीकार यहाँ अभिप्रेत है, किन्तु उसमें, परस्पर उत्कर्ष को देख कर, ईर्ष्यालेश का स्पर्श भी नहीं है।

६२. **श्रीजीव०**—तात्पर्य यह है कि प्रेम के दो विशेषण हो सकते हैं, एक-

स्तम्भ आदि को ले कर, दूसरा आनुकूल्य की इच्छा को ले कर। उन में से दास आदि के लिये तो आनुकूल्य की इच्छा ही विशेष ग्राह्य है, क्योंकि उस से सेवा रूपी अपने पुरुषार्थ का सम्पादन होता है। स्तम्भ आदि उन्हें इष्ट नहीं, क्योंकि उन से सेवा में विघ्न पड़ता है। ....'अङ्गस्तम्भारम्भ' के स्थान पर 'अङ्गस्तम्भासङ्ग' पाठ भी है।

६३. **श्रीमुकुन्द०**—'विराग' से अधृति शब्द द्वारा कही गयी अरागिता (राग का अभाव) अभिप्रेत है। 'आदि' से तात्पर्य है—पहले कहे गये क्रम से वियोग में कही जाने वाली पाँच अवस्थायें; जड़ता आदि पाँच को यहाँ व्यभिचारी के रूप में ग्रहण किया गया है।

६४. स्पष्ट है।

६५. **श्रीजीव०**—चारण नर्तकसदृश हैं, इसलिए नर्तकों से उन्हें अभिन्न मानते हुए यह उक्ति है।

६६-७०. स्पष्ट है।

७१. **श्रीजीव०**—'मदादि' का तात्पर्य है मद, श्रम, त्रास, अपस्मार, आलस्य, उग्रता, अमर्ष, असूया और निद्रा। इन में से मद तो (दास्यरति का) पोषक बन ही नहीं सकता, क्योंकि मधुपान या कामविकार से उत्पन्न—ऐसे दोनों प्रकार का मद यहाँ अनुपयोगी है। श्रम किसी प्रकार उत्पन्न हो ही जाय तो सेवा की उत्कण्ठा का पोषक होने से कभी उपयोगी हो भी सकता है। किन्तु आलस्य से उत्पन्न श्रम को यहाँ स्थान नहीं है। इन में से त्रास आदि यदि प्रभु के वैरियों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हों तो पोषक भी हो सकते हैं ऐसा सोच कर ही यह कहा है कि ये सब अतिपोषक नहीं होते।

७२-७४. स्पष्ट है।

७५. **श्रीविश्व०**—यह इन्द्र की उक्ति है।

७६. **श्रीजीव०**—'कैसे क्या करूँ' यही सोच कर कम्प है।

७७. **श्रीजीव०**—पहले अर्थात् भावसामान्य के प्रकरण में,—भ० र० सिं० १/३/६— का सन्दर्भ है।

श्रीविश्व०—पार्षदों में रति के जन्म का कारण अनादि-सिद्ध संस्कार ही है। श्रीकृष्ण का दर्शन-श्रवण आदि ही उन में प्राचीन संस्कार का उद्‌बोधक है।

७८-८१. स्पष्ट है।

८२. **श्रीजीव०**—दण्ड और प्रसन्नता के पश्चात् बलि का वचन।

८३. **श्रीजीव०**—बलि के भवन से लौटने के पश्चात् उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण का वचन।

८४. स्पष्ट है।

८५. **श्रीविश्व०**—श्रीकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न हुए स्तम्भभाव को अन्य कारण से उत्पन्न कहने में उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए।

८६. स्पष्ट है।

८७. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण के साक्षात्कार से, अथवा उसी के समान स्फुरण होने से, अथवा कृपालाभ से जो सम्बन्धविशेष बनता है और अन्तरङ्गता-लाभ का लेशमात्र भी होता है, उस से उत्पन्न स्नेह से दुःख भी सुखरूप प्रतीत होता है। और उन के सम्बन्ध के बिना सुख भी दुःख बन जाता है।

८८-९७. स्पष्ट है।

९८. **श्रीमुकुन्द०**—लीलामाधुर्य के लिये प्रसिद्ध मनुजतनु नित्य ही धारण किये हुए भगवान् सौन्दर्य के भी धाम हैं।

९९-१००. स्पष्ट है।

१०१. **श्रीजीव०**—यह मथुरा से श्रीउद्धव द्वारा भेजी गई गुप्त पत्रिका है।....'विक्षुभ्यतः' के स्थान पर 'विक्षोभभृत्' पाठ है।

१०२. **श्रीमुकुन्द०**—'नीरन्ध्र' अर्थात् छिद्ररहित।

१०३. **श्रीजीव०**—'प्रार्थयामि' के स्थान पर 'प्रार्थयेऽपि' ऐसा पाठभेद है। अर्थात् अयोग्यता होते हुए भी प्रार्थना की जा रही है।

१०४. **श्रीजीव०**—यह भी श्रीउद्धव का ही सन्देश है।....नख के अङ्कुर का अर्थ है अग्रभाग। श्रुति से दो अर्थ लिये हैं- एक कर्ण, दूसरा श्रौत ग्रन्थ; कर्णसेवन अर्थात् नेत्रों का कान तक पहुँचना से व्यञ्जित है नेत्रों की दीर्घता; दूसरा अर्थ-अनेक श्रौत ग्रन्थ देखने वाले नयन।

१०५. **श्रीजीव०**—यह किसी भक्त का निर्जन में विलाप है। 'हरि-हरि' खेद व्यक्त किया गया है।

१०६. **श्रीजीव०**—'विरल' का अर्थ है किन्हीं भाग्यशालियों द्वारा ही प्राप्त किये जाने योग्य।

श्रीमुकुन्द०—'विरल' अर्थात् जिस के समान कोई नहीं। तुम्हारे विरल मुखकमल को देखने के लिये क्या करूँ यह तुम ही बताओ। "यदि नहीं देखा तो क्या होगा?" तो उस के समान कुछ और ही देख लो। उस के समान कुछ है ही नहीं, क्योंकि मुरलीविलासी और कोई नहीं।

१०७. **श्रीजीव०**—यहाँ लुप्तोपमा है। रूपक यहाँ इष्ट नहीं है।.... 'दृक् पतङ्गी ममासौ' के स्थान पर 'दृक्तपस्विन्यसौ मे'—यह पाठ भी है।

१०८. **श्रीजीव०**—प्रह्लाद जगत् को वैसा नहीं देखता था जैसा लोग देखते हैं, बल्कि जगत् को भगवान् की स्फूर्ति कराने वाला देखता था।

१०९-११२. स्पष्ट है।

११३. **श्रीजीव०**—तीर्थ का एक अर्थ है गुरु, जिससे सतीर्थ का अर्थ होगा समान गुरु वाले; तीर्थ का दूसरा अर्थ है ऋषियों द्वारा आस्वादित जल।

११४. स्पष्ट है।

११५. [शोणितपुर अर्थात् आज का तेजपुर (आसाम)]

श्रीजीव०—'विधुतविधुर' की जगह 'विधुरविधुत' भी पाठ है।

११६-११७. स्पष्ट है।

११८. **श्रीजीव**—यह नारद के प्रति उद्धव का वाक्य है।

'तं स्मारयन् मुनिपते दहतीह सभ्यान्'-

इस के स्थान पर 'तं स्मारयद्दहति पारिषदान् मुनीन्द्र!' यह पाठ भी है।

११९. **श्रीजीव०**—यहाँ उन सेवकों की बात है जो आवश्यक कार्य से द्वारिका में रह गये हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ नहीं गये हैं। 'स्फुटम्' शब्द से यहाँ उत्प्रेक्षा समझनी चाहिये और वह उदात्त अलङ्कार की व्यञ्जना करती हुई विरह के अतिशय को सूचित करती है। 'पाण्डुपक्ष' का अर्थ है हंस।

१२०. **श्रीजीव०**—'क्षणदाः' शब्द में श्लेष है। एक अर्थ है रात्रियाँ, दूसरा अर्थ है 'क्षण'-(आनन्द) देने वाले पदार्थ।

१२१. **श्रीजीव०**—यह युधिष्ठिर का वाक्य है। 'विजय' अर्जुन का नाम है, 'रथकुटुम्बी' अर्थात् सारथि।

श्रीमुकुन्द०—यह द्वारिका-स्थित उद्धव आदि का वाक्य है।

१२२. **श्रीजीव०**—रक्तक के पूरे आचरण में राग का अभाव नहीं अपितु विरोध है अर्थात् राग के प्रतिकूल दशा में ये आचरण हैं।

श्रीविश्व०—''नैचिकीनिचय'' का अर्थ है गायों का समूह [नैचिक़ी का अर्थ है उत्तम गाय]

१२३. **श्रीजीव०**—'जलता' का अर्थ है द्रवावस्था, इसे 'जड़ता' पढ़ें तो अर्थ होगा जड़ होना।

श्रीविश्व०—युधिष्ठिर का पुर अर्थात् हस्तिनापुर।

१२४. **श्रीजीव०**—बाल्यकाल से ही उद्धव भगवत्प्रेम में उन्मत्त रहते थे, इसलिए उन की ऐसी ख्याति थी कि उन्हें पवनव्याधि (वातरोग) है।

१२५-१२६. स्पष्ट है।

१२७. **श्रीजीव०**—हंस में श्लेष है; एक अर्थ है हंसपक्षी, दूसरा प्राण। अर्थात् हृदय रूपी सरोवर में प्राण रूपी हंस रहना नहीं चाहते।

श्रीमुकुन्द०—हंसपक्षी के अर्थ में 'जीवन' का अर्थ जल होगा, प्राण अर्थ लें तो जीवन है जीवित रहना।

१२८. **श्रीजीव०**—'न कुत्रापि' का तात्पर्य है कि ऐसा कभी ही कहीं सिद्ध भक्त के प्रसङ्ग में ही होता है। मृत्यु नहीं होती यह कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तों का कभी अमङ्गल नहीं हो सकता। साधक भक्त दशा में कभी-कभी मृत्यु का भी वर्णन हुआ है, जैसे—

"प्राणान् जहति मथुरायां सुकृतिनः"॥

सिद्ध भक्त में वियोग के क्षोभ के कारण मृत्यु के समान दशा कही जाती है।

श्रीविश्व०—मरण से पहले तक की दशा होती है, ठीक-ठीक मृत्यु नहीं।

१२९-१३०. स्पष्ट है।

१३१. **श्रीजीव०**—मथुरा की वीथी अर्थात् निकट की भूमि, वृन्दावन से तात्पर्य है। 'मिथः' का अर्थ परस्पर और रहस्य (एकान्त) दोनों है (अमरकोश)।

१३२-१३३. स्पष्ट है।

१३४. **श्रीजीव०**—श्रीमद्भागवत १/११/९ 'यर्ह्यम्बुजाक्ष...' के बाद प्रस्तुत पद्य कहीं-कहीं ही मिलता है, अर्थात् दुर्लभ है, सब पाठों में नहीं है।

१३५-३६. स्पष्ट है।

१३७. **श्रीजीव०**—गोपियाँ दूत हंस को मथुरा में श्रीकृष्ण की पहचान उपलक्षणों द्वारा बता रही हैं।

१३८-३९. स्पष्ट है।

१४०. **श्रीजीव०**—'इति' शब्द का अर्थ 'मत' भी होता है क्षीरस्वामी के अनुसार। यहाँ वही ग्राह्य है। 'असाधीय' का अर्थ है अत्यन्त अदृढ़।

१४१-४९. स्पष्ट है।

१५०. **श्रीजीव०**—'सग्धि' का अर्थ है सहभोजन।

१५१-५२. स्पष्ट है।

१५३. **श्रीजीव०**—हरिवंशपुराण में कथित प्रभावती के हरण के प्रसङ्ग में प्रभावती के समीप स्थित प्रद्युम्न का वाक्य।

१५४. स्पष्ट है।

१५५. **श्रीजीव०**—गोपों के राजा के पुत्र के रूप में, और इन्द्र को जीतने के प्रभाव का अनुभव यहाँ है।

१५६-५८. स्पष्ट है।

१५९. **श्रीजीव०**—'मुञ्चन्' के स्थान पर 'त्यक्तं' (क्रियाविशेषण) पाठान्तर है। 'रङ्कु' मृगविशेष है उस का चर्म राङ्कव।

१६०. स्पष्ट है।

१६१. **श्रीजीव०**—यद्यपि दासादि में श्रीकृष्ण की रहस्यलीला की चर्चा उठ ही नहीं सकती अतः उसके निषेध का अवसर ही नहीं है, फिर भी जिन में नया-नया दासभाव आया हो उन्हें समझाने के लिये ही यहाँ निषेध किया गया है, यह समझना चाहिये।

१६२. **श्रीविश्व०**—प्रालेयबिन्दु अर्थात् ओसकण।

१६३-६४. स्पष्ट है।

१६५. [यह प्रद्युम्न की उक्ति है।]

१६६. **श्रीजीव०**—यहाँ अनेक स्थानों पर आई हुई सामान्य या विशेष प्रीति का निरूपण करने वाली कारिकाओं का समन्वय किया जा रहा है। यथा—

स्वस्माद् भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता॥ (भ० र० सिं २/५/२७)

जिन में स्वयं को न्यून मानने (न्यूनत्वाभिमान) वाली रति है, वे हरि के अनुग्राह्य माने जाते हैं। उनमें 'ये आराध्य हैं'— ऐसे ज्ञानवाली रति कही गई है, जिसका नाम प्रीति है। फिर उस के रसभेद के अनुसार दो भेद कहे गये हैं।—

'अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा।
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीतिरित्यपि॥' (३/२/४)

दास होने का अर्थ है अपने द्वारा उन की सेवा किये जाने का इच्छुक होना। उस से सम्भ्रम होता है, और सम्भ्रम के कारण वह सम्भ्रमप्रीत रस कहलाता है। इसी प्रकार लाल्य होना अर्थात् उन (श्रीकृष्ण) के द्वारा अपना लालन किये जाने का इच्छुक होना। इससे गौरव होता है। ऐसा गौरवमय होने के कारण वह गौरवप्रीत (रस) कहलाता है। फिर सम्भ्रमप्रीति बताते हुए सम्भ्रम का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते॥ (३/२/७६)

यहाँ 'कम्प' का अर्थ है त्वरा, उसे सेवा की इच्छा से प्रेरित समझना चाहिए।

लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिर्पुष्टा गौरवप्रीत उच्यते॥ (३/२/१४५)

यहाँ गौरवप्रीत रस का लक्षण दिया गया है और उस का स्थायीभाव गौरवप्रीत बताया है। गौरव का लक्षण प्रस्तुत कारिका (देहसम्बन्धिता....) में है। अर्थात् देहसम्बन्धिता से जो स्वाभाविक मान है वह स्वभाव से ही, शैशव से ही तदीयता (उनके होने) का 'अभिमान' है। उससे जो गुरुबुद्धि होती है, अर्थात् 'ये मेरे गुरुजन हैं'—ऐसी बुद्धि होती है, उसे गौरव कहते हैं। उस लालन करने वाले में जो गौरवमयी प्रीति होती है उसे गौरवप्रीति कहते हैं। यहाँ यद्यपि 'लालक'-बुद्धि केवल शैशव में ही होती है, और प्रौढ़ दशा में वह गुरुबुद्धि से मिश्रित रहती है, तथापि इन कारण-कार्य-रूप बुद्धियों में अभेद ही इष्ट है।

१६७-१६८. स्पष्ट है।

१६९. **श्रीविश्व०**—प्रीति के ध्वंस का कारण उपस्थित रहने पर भी ध्वंस का अभाव (प्रीति न टूटना) प्रेम का लक्षण है-ऐसा पहले कह चुके हैं।

१७०. स्पष्ट है।

१७१. **श्रीजीव०**—मूल में स्थित 'विषमपि सहसा सुधामिव' पाठ ही समुचित है, न कि 'विषमपि मुदितः....'।

१७२. **श्रीजीव०**—प्रीति, प्रेयः (सख्य) और वत्सल—इन तीनों के अयोग और योग आदि भेद मुख्य और अवान्तर भेदों से उस-उस संज्ञा वाले होते हैं। पहले की भाँति प्रीतसामान्य के 'एकदेश' (एक भाग या प्रकार) सम्भ्रमप्रीत की भाँति कहे गये। 'भेदाः' के स्थान पर 'संज्ञा' ऐसा पाठ भी है। अन्यत्र शान्त में परोक्षता और साक्षात्कार ये ही दो संज्ञायें हैं। मधुर रस के दो भेद हैं— सम्भोग और विप्रलम्भ नामों से। पूर्वराग आदि उस (विप्रलम्भ) की अवान्तर संज्ञायें हैं।

१७३. **श्रीविश्व०**—शम्बरासुर के वध के बाद रति के प्रति प्रद्युम्न का वाक्य है।

१७४. **श्रीजीव०**—'अस्त्रयोग्या' का है अस्त्रों का अभ्यास।

१७५-७८. स्पष्ट है।

तृतीय लहरी—प्रेयोभक्तिरस

१-४. स्पष्ट है।

५. **श्रीजीव०**—यह दारुक का वचन है।

इसी लहरी के आठवें श्लोक में श्रीकृष्ण के सखाओं का उन के समान रूप, वेश तथा समान-गुण वाले होना बताया जायेगा, तदनुसार पाण्डवों के सामने सामान्य रूप से तो श्रीकृष्ण नराकार (द्विभुज) ही रहते हैं, किन्तु अर्जुन को कभी-कभी चतुर्भुज रूप का भी दर्शन हुआ है (गी० ११/४६)

श्रीमुकुन्द०—युधिष्ठिर का सख्य वात्सल्यगन्धि है और नकुल-सहदेव का प्रीतगन्धि।

६. **श्रीविश्व०**—'सद्लक्ष्मलक्षण:' का उदाहरण है ध्वज, वज्र अङ्कुश आदि चिह्नों से युक्त; उसी प्रकार अन्य शुभ लक्षणों से युक्त।

७. स्पष्ट है।

८. **श्रीविश्व०**—'सम्यगयन्त्रिता:' का अर्थ है जो दासों की भाँति नियन्त्रित नहीं है, क्योंकि वे विश्रम्भ से युक्त हैं। विश्रम्भ की बात इसी लहरी के १०६ संख्यक पद्य में कही जायेगी, जिस का तात्पर्य है— प्रगाढ़ विश्वास, जिसमें कोई नियन्त्रण नहीं है।

९-११. स्पष्ट है।

१२. **श्रीजीव०**—यह उदाहरण वस्तुत: भीम एवं अर्जुन को दिखाने के लिये ही है, उन्हीं के द्वारा द्रौपदी एवं श्रीदामा को उपलक्षित समझना चाहिये।

श्रीमुकुन्द०—युधिष्ठिर आदि का वर्णन मिलन समय के अनुरोध से है। नकुल-सहदेव में वस्तुत: सख्य रहने पर भी चरणों में गिरना, उस सभा में, उन के लघुत्व (आयु में छोटे होने) के कारण दास्य के उदय के औचित्य के कारण कहा गया है।

१३-१७. स्पष्ट है।

१८. **श्रीजीव०**—इस पद्य में समत्व-भावनामय स्नेह की व्यञ्जना है।

१९. **श्रीजीव०**—'सतां' का अर्थ है- वे ज्ञानी जिन में परमस्वरूप की सत्ता का आविर्भाव हो चुका है।.... ज्ञानी, दास और मायाश्रित- इन सब की अपेक्षा जिन के किये हुए पुण्य अधिक हैं, अर्थात् जिन के चरित भगवान् के परम प्रसाद के हेतु बने हैं-ऐसे गोपबालक।

२०-२३. स्पष्ट है।

२४. **श्रीजीव०**—'मण्डलाग्र' का अर्थ है खड्ग।

२५-२७. स्पष्ट है।

२८. **श्रीविश्व०**—एक ही कान में कुण्डल पहने हैं, इस से उन का मदमत्त होना ध्वनित होता है।.... 'चित्रक' का अर्थ है तिलक।

२९. **श्रीजीव०**—जन्मदिन से तात्पर्य जन्म-नक्षत्र वाली मासिकी तिथि से है न कि वार्षिकी से, क्योंकि वार्षिक जन्मतिथि में तो महामहोत्सव के कारण श्रीकृष्ण स्वयं ही बाहर न जाते। किन्तु यह सन्देश सुबल ने धीरे-धीरे जाने के कारण झटपट नहीं पहुँचाया, यह ध्वनित होता है। अन्यथा पहले की भाँति कन्हैया बलदेव की आज्ञा का उल्लंघन न करते। [कालिय-ह्रद में कूदने की घटना उसी दिन की है।]

३०-३१. **श्रीजीव०**—'विशालवृषभौजस्वी'-यह गौड़ देश-सम्मत पाठ है और 'वृषालवृषभौजस्वी'—यह काश्यादि सम्मत पाठ है।

३२. स्पष्ट है।

३३. **श्रीमुकुन्द**—३२वां पद्य देवप्रस्थ का वचन है।

३४. **श्रीविश्व०**—'पाश' का अर्थ है दुहते समय गाय के पिछले पैर बाँधने की रेशम की डोरी; उसी से बालों को ऊँचा बाँधे हुए हैं।

३५. स्पष्ट है।

३६-३८. **श्रीजीव०**—श्रीदाम, सुदाम, दाम तथा किङ्किणि का नाम यद्यपि यहाँ लिया गया है, किन्तु वे प्रिय नर्मसखाओं में भी गिने गये हैं। वे श्रीकृष्ण के अन्तःकरण-रूप हैं, इसलिये सर्वत्र उन का प्रवेश है। प्रथम आवरण-पूजा के प्रसङ्ग में गौतमीय तन्त्र में कहा गया है कि—

दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणि की गन्ध-पुष्पों से पूजा करे। वे श्रीकृष्ण के समान हैं इसलिये उन्हीं के तुल्य पूज्य भी हैं।

३९-४३. स्पष्ट है।

४४. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण की दो दूतियों का यह परस्पर संवाद है। यहाँ सखाओं का भावविशेष श्रीकृष्ण की प्रेयसियों की सहायता करना और श्रीकृष्ण को सुख देने की इच्छा है।

४५-४६. स्पष्ट है।

४७. **श्रीजीव०**—संज्ञा के दो अर्थ अमरकोश में दिये हैं एक चेतना, दूसरा-हाथों आदि के संङ्केतों से अर्थसूचन। यह दूसरा अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है।

४८. स्पष्ट है।

४९. **श्री जीव०**—कोई व्रजसुन्दरी अपनी सखी के प्रति कह रही है।

५०. स्पष्ट है।

५१. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण के पक्ष में अर्थ होगा—जिसने समस्त वेला अर्थात् मर्यादा को तोड़ा है; समुद्र के पक्ष में अर्थ होगा जिसने सम्पूर्ण जल को बढ़ाया है; अमरकोश के अनुसार 'वेला' का अर्थ तीर और नीर दोनों है।

५२. स्पष्ट है।

५३. **श्रीविश्व०**—'नित्यप्रिय' का अर्थ है नित्यसिद्ध; 'सुरचर' का अर्थ है जो पहले देवता थे बाद में साधन सिद्ध हुए। यद्यपि ये भी साधक ही हैं, फिर भी इन की विशेषता दिखाने को अलग कहा गया।

५४. स्पष्ट है।

५५. **श्रीजीव०**—विस्मारयन्ति के स्थान पर विस्माययन्ति पाठ भी है।

श्रीविश्व०—जैसे वामा नायिका घूँघट में से तिरछी चितवन से देखती है वैसे ये सखा लोग भी स्त्रीवेश धारण करके करते हैं, इसी प्रकार लीला करते हुए श्रीकृष्ण को विस्मय में डालते हैं।

५६. **श्रीविश्व०**—मैत्री या सख्य का जो वैचित्र्य है, उस की चारुता का अतिशय करते हैं, जैसे कि राजा आदि की चेष्टाओं का अनुकरण।

५५-५९. स्पष्ट है।

६०. ['तत्फलानि' का अर्थ यहाँ हाथ में लिये हुए कौर में से निकलता है। **श्रीजीव०** कहते हैं कि बाँयें हाथ में पकड़े हुए कौर का आस्वाद्य भाग दाहिने हाथ की अंगुलियों में लिये हुए हैं।]

श्रीजीव०—यह सारा दृश्य अपूर्व है—क्योंकि जो यज्ञ में दृष्टिमात्र से आहुति का भोग कर लेता है, वह यहाँ बच्चों के समान चेष्टायें करते हुए बालकों का खेल करते हुए खा रहा है।

६१-६२. स्पष्ट है।

६३. **श्रीमुकुन्द०**—'सा काप्यसौ' के स्थान पर 'नः काप्यसौ' पाठभेद है। 'आरुन्धे' का अर्थ है—वश में कर रहा है।

६४-७२. स्पष्ट है।

७३. **श्रीमुकुन्द**—यह सखाओं के भाग्य का अभिनन्दन करने वाला व्रजसुन्दरियों का वचन है।

७४. स्पष्ट है।

७५. **श्रीजीव०**—'गौरश्रीरलिके किलोर्ध्वतिलकः' के स्थान पर भाले कुङ्कुमदिव्यदूर्ध्वतिलकः। यह पाठान्तर है।

७६. स्पष्ट है।

७७. **श्रीविश्व०**—सुबल के प्रति श्रीकृष्ण का वचन।

७८. **श्रीविश्व०**—भ० र० सिं० २/१/३१२ में आद्य, मध्य तथा चरम कैशोर की बात कही गई है।

७९. **श्रीजीव०**—इस पद्य के दो अर्थ बनते हैं, एक श्री दामोदर के पक्ष में, दूसरा अम्भोधर (मेघ) के पक्ष में।

श्रीमुकुन्द०—यह श्री राधा के प्रति सखी विशाखा का वचन है।

८०. **श्रीमुकुन्द०**—यहाँ 'प्रायः' कहने से शुद्ध-वत्सल भक्तों का व्यावर्तन होता है, अर्थात् उन को यह बात लागू नहीं होती।

८१. **श्रीजीव०**—'अलङ्कारम् अलं कृत्वा' का अर्थ है कि आभूषणों की क्या आवश्यकता?

श्रीमुकुन्द०—आभूषणों को और समृद्ध या भूषित करना अभिप्रेत है।

८२. स्पष्ट है।

८३. [पर्वत के शिखर पर वेणु बजने से सूचित हो रहा है कि श्रीकृष्ण वहाँ हैं।]

८४. **श्रीमुकुन्द०**—'पञ्चास्यप्रतिमां ययुः' सिंह के समान वेग से भाग कर श्रीकृष्ण के समीप पहुँच गये।

श्रीविश्व०—'पञ्चास्य' अर्थात् शिव की प्रतिमा के समान श्वेत वर्ण वाले हो गये। इस से विवर्णता-रूप सात्त्विक भाव का उदय व्यञ्जित होता है।

८५-८९. स्पष्ट है।

९०. **श्रीजीव०**—युक्त अर्थात् करने योग्य, अयुक्त अर्थात् न करने योग्य।

९१-१०१. स्पष्ट है।

१०२. **श्रीजीव०**—उग्रता यहाँ केवल कृष्ण-विषयक अभिप्रेत है, ऐसे ही, त्रास कृष्ण हेतुक और आलस्य कृष्ण के अनुकूल कार्यों के प्रति हो—तभी इन तीनों को छोड़ना अभिप्रेत है।

१०३. स्पष्ट है।

१०४. [''स्खलत्पदाः'' में जो 'पद' है, उस का अर्थ पैर लें तो तात्पर्य होगा लड़खड़ाते पैरों वाले। किन्तु तीनों टीकाकारों ने 'पद' को सार्थक शब्द के रूप में लिया है, अर्थात् सुहृदों की वाणी में प्रत्येक शब्द कहाँ पूरा होता है—इस का निर्णय करना कठिन है। श्रीजीव० ने 'विवशाङ्गता' का अर्थ भी शरीर के साथ न जोड़ कर वाणी के साथ जोड़ा है, और कहा है कि एक-एक अक्षर की समाप्ति अस्पष्ट है, अर्थात् अक्षर विविक्त नहीं निकल पा रहे हैं।]

१०५. **श्रीविश्व०**—'सम्भ्रम' का अर्थ है गौरव-बोध के कारण होने वाली व्यग्रता।

१०६. स्पष्ट है।

१०७. **श्रीमुकुन्द०**—गुडाका अर्थात् निद्रा पर विजय पाये हुए अर्जुन (गुडाकेश)।

१०८. स्पष्ट है।

१०९. **श्रीमुकुन्द०**—यह वन से व्रज को लौटते हुए श्रीकृष्ण की स्तुति है। 'शिरोधि' का अर्थ है ग्रीवा (गर्दन)।

११०. **श्रीजीव०**—पाण्डवों के अज्ञातवास के समय श्री नारद का श्रीकृष्ण के प्रति यह वचन है।.... इस अमङ्गला गति ने उन के सख्य को हानि नहीं पहुँचाई, अपितु उनके सख्य में वृद्धि ही हुई। उन का प्रेम आप के किये हुए उपकारों से उत्पन्न नहीं हुआ था, किन्तु आप के अद्वितीय गुणों के अनुभव से ही जनित था।

१११. स्पष्ट है।

११२. **श्रीमुकुन्द०**—["स्खलदच्छधातुषु" के स्थान पर 'स्खलदष्टधातुषु' पाठ लेकर दो प्रकार से अर्थ किया है—] शरीरगत आठ धातुयें हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, और त्वचा। प्रत्येक अङ्ग में इन का स्खलन होने का अर्थ है इधर-उधर चलायमान होना। इस से चित्त के क्षोभ से देह में अतिक्षोभ दिखाया है। उच्छ्वास का अर्थ है शरीर की उत्फुल्लता। पर्वत के पक्ष में प्रत्येक अङ्ग से स्खलन अर्थात् नीचे जाना, धातुयें हैं-स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल (रीति) काँसा, राँगा, सीसा, इस्पात या फौलाद लोहा (चीनज); ये आठों धातुयें तैजस हैं।... सदानीरा करतोया नाम की नदी है।

११३. स्पष्ट है।

११४. **श्रीविश्व०**—ज्येष्ठ मास में सूर्य वृषभ राशि में होता है, इसलिए 'वृषार्कजा मरीचि' कहा है।

११५-१६. ['अयोग' और 'वियोग' में यहाँ अन्तर किया गया है, यद्यपि शब्दार्थ तो समान ही है। ऐसा लगता है, कि अयोग अल्पकालीन है और वियोग दीर्घकालीन है। अथवा पूर्वराग के पश्चात् संयोग न होने तक अयोग है।]

११७. ['पूर्वोक्त' से तात्पर्य सम्भवतः दक्षिण विभाग की व्यभिचारि-लहरी में वर्णित व्यभिचारी भावों से हैं, जहाँ इन में से कई-एक का वर्णन है, किन्तु 'दस-दशा' नाम वहाँ नहीं है।]

११८. **श्रीविश्व०**—अग्नि आदि का ताप शीतल स्थल पर स्थित जनों को नहीं जलाता। विरह से जनित ताप अपूर्वस्वभाव वाला है जो शीतल स्थलों में अधिक पराक्रम दिखाता है।

११९. **श्रीजीव०**—चार महाभूतों में से आकाश की भी कृशता का अर्थ है कि देह की कृशता के कारण सभी छिद्र छोटे हो गये।

१२०-२४. स्पष्ट है।

१२५. **श्रीमुकुन्द०**—यह किसी वृद्धा का सन्देश है।

१२६. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण के प्रति किसी सखाविशेष का यह सन्देश है। यहाँ 'रुदितान्ध' कहने से बारम्बार मूर्च्छित होना ही ध्वनित व्यञ्जित है। उससे उत्पन्न व्यथा ही आकुलता है।

श्रीमुकुन्द०—यह पौर्णमासी का उद्धव के प्रति वचन है।

'गोकुल' से तात्पर्य वहाँ रहने वाले सब से है, विशेष रूप से यहाँ सखाओं का उदाहरण है।

१२७. **श्रीमुकुन्द०**—यह श्रीनन्द के प्रति किसी का शोक-वचन है।

१२८. **श्रीजीव०**—स्पष्ट लीला का अर्थ है प्रकट लीला। लीला दो प्रकार की है—प्रकट और अप्रकट। उनमें से प्रकट लीला संसार में स्थित लोगों को दिखाई देती है, और वह कभी-कभी होती है। अप्रकट लीला लोक-गोचर नहीं है, वह तो नित्य ही श्रीवृन्दावन आदि में होती है।

१२९. स्पष्ट है।

१३०. **श्रीजीव०**—पाण्डव से यहाँ अर्जुन अभिप्रेत है, क्योंकि वही सख्य में मुख्य है। 'चक्री' अर्थात् कुम्हार से यहाँ द्रुपदनगर का कुम्हार अभिप्रेत है, महाभारत में ऐसा आख्यान है। चित्राकार होना अर्थात् चित्र जैसा निश्चल (भौंचक-चकित) होना मित्र के उपयुक्त व्यवहार को सूचित करता है।

१३१-३२. स्पष्ट है।

१३३. **श्रीजीव०**—'स एव' से तात्पर्य है श्रीकृष्ण भगवान्, उन का कोई अंश नहीं, 'स्वयं' का अर्थ है—अपने ही हेतु अर्थात् स्वभाव से, न कि किसी अन्य हेतु से।

१३४. **श्रीविश्व०**—एकजातीय अर्थात् सजातीय सख्यभाव।

१३५. स्पष्ट है।

१३६. **श्रीजीव०**—'अतः' अर्थात् इस से पहले के दोनों श्लोकों में कही गयी दोनों पक्षों के भाव की एकजातीयता के कारण प्रेयान् रस प्रियतर है।

चतुर्थ लहरी—वत्सलभक्तिरस

१. **श्रीमुकुन्द**—वात्सल्य अर्थात् अनुग्रहमयी रति।

२. स्पष्ट है।

३. **श्रीजीव०**—'उत्पीडः' का अर्थ है बलपूर्वक स्वयं निकलना। 'दिग्धा' अर्थात् सनी या भीगी हुई।

४. **श्रीजीव**—'श्यामाङ्ग' के स्थान पर 'रम्याङ्ग' पाठ है।

५. **श्रीजीव**—इस श्लोक में श्री श्रीकृष्ण का आलम्बनत्व ही स्पष्ट किया गया है। 'प्रभावानास्पद' का अर्थ है—जिनका प्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है, कभी प्रभाव व्यक्त हो जाय तो भी गुरुजन का अन्यथा भाव रहता है; उन्हें यही लगता है कि यह हमारा पुत्र है, भीतर-बाहर से कोमल है, ऐसी भावना से माता आदि उनके हित की कामना करती हैं। इसी कारण इस वत्सल रस में वे श्रीकृष्ण विभाव बनते हैं। अर्थात् माता आदि में वात्सल्य नामक रति के आस्वाद के जनक बनते हैं। उनके गुण उद्दीपन होने के नाते ही रस के जनक बनते हैं। वात्सल्य कारण है और अनुग्रह कार्य। यही दोनों में भेद है। 'यह मेरा पुत्र है' ऐसी स्निग्धता वात्सल्य है, उसकी हितचिन्ता अनुग्रह है।

६. **श्रीविश्व**—श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की बात सुनकर भी यशोदा के वात्सल्य-प्रेम में कमी नहीं आई। उपनिषद् उन्हें यज्ञपुरुष कहते हैं, सांख्य के अनुयायी उन्हें ब्रह्मा कहते हैं, समस्त योगों द्वारा उन्हें पुरुष कहा गया, सात्त्वतों द्वारा परमात्मा कहा गया, पाञ्चरात्रों द्वारा भगवान् कहा गया और कर्मी इत्यादियों द्वारा उनके माहात्म्य का उपगान हुआ, ऐसे हरि को यशोदा ने पुत्र ही माना और सोचा कि हम दोनों (नन्द-यशोदा) के व्रत-नियम-पूजन आदि से सन्तुष्ट होकर श्रीनारायण ने ऐसा लोकोत्तर पुत्र दिया है जिसकी सभी लोग 'वेदों का प्रतिपाद्य' कहकर स्तुति करते हैं। कुलगुरु गर्ग ने सर्वत्र ऐसा कहा कि यह बालक गुणों में नारायण के समान है, उसके द्वारा पूतना-वध आदि दुष्कर कार्य सिद्ध होने से स्तव करने वालों को यह विश्वास हो गया है कि यही नारायण है। वास्तव में यह मेरा पुत्र ही है। मुझ माता को क्षण भर भी न देखे तो विकल हो जाता है। मैं भी इसे अपनी पलक झपकने के भी व्यवधान से निरन्तर न देख पाने से विह्वल हो जाती हूँ। इस प्रकार हम माँ-बेटे का अनुभव ही यहाँ प्रमाण है—ऐसा सोचकर यशोदा अपने मन का समाधान कर लेती है।

स्तव करने वाले सभी को तो श्रीकृष्ण उनके अनुरूप फल देते हुए उनके अनुग्राहक होते हैं और उनको वश में रखते हुए उनके शासक स्वामी बनते हें; यहाँ यशोदा को वात्सल्यप्रेम के अनुरूप फल देने में असमर्थ होकर स्वयं को ऋणी मानते हुए उनके अनुग्रह का पात्र, उनके वशीभूत, उनके शासन के अधीन—रहते हुए, स्वयं अपने आनन्द में तुष्ट होते हुए भी, माँ यशोदा के स्तन्यामृत (दूध) के लिये रोते हैं।

७. **श्रीजीव०**—इस वाक्य का परम आर्जव (सरलता) सूचित होता है। "मेरे साथ व्रजराज (नन्द) क्योंकि विष्णु की उपासना करते हैं इसलिये विष्णु ने ही पूतना आदि का संहार किया, यमलार्जुन को उखाड़ फेंका। इन सब पराक्रमों से बालक का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरे शिशु की रक्षा तो श्रीविष्णु ने ही की है।"—यह व्यञ्जना है। विष्णु की उपासना के बल से व्रजपति (नन्द) ने ही गिरि गोवर्धन को धारण किया था।

व्रजपति नन्द के द्वारा की गई विष्णु की उपासना ही सब अलौकिक कार्यों का कारण है, मेरा शिशु तो लाल्य ही है।

श्रीमुकुन्द०—"व्रजपति पुत्र की रक्षा के लिये ही विष्णु की उपासना करते हैं।" ऐसा यशोदा मानती है।

८. स्पष्ट है।

९. **श्रीजीव०**—अपने से न्यून के पालन की इच्छा अनुग्रह है और दूसरे का दुःख मिटाने की इच्छा कृपा है।

१०-११. **श्रीजीव०**—रोहिणी का नाम लिया है, किन्तु वास्तव में वह अन्य पितृव्यों (चाचा-ताऊ) की पत्नियों का उपलक्षण है। देवकी और उनकी सपत्नियों की अपेक्षा वसुदेव में ज्ञानं-अंश अधिक होने के कारण तथा पुरुष होने के कारण स्नेह पर आवरण है। व्रजेश्वरी यशोदा की श्रेष्ठता इसीलिये है कि वे स्नेह से ही भरा हुआ पात्र हैं।

१२. **श्रीजीव०**—'क्षौम' है अलसी के सूक्ष्म रेशों से बना पीला वस्त्र। जिसे पहनने से यशोदा का श्याम-वर्ण सूचित होता है।

१३-२३. स्पष्ट है।

२४. **श्रीजीव०**—'तरक्षु' शब्द का अर्थ है व्याघ्र जैसा प्राणी; यहाँ उसे व्याघ्र ही समझना चाहिये।

श्रीविश्व०—'प्रतिसर' का अर्थ है 'पहुँची' नाम का गहना। श्री मुकुन्द ने इसे 'हस्तसूत्र' (हाथ में बाँधने का डोरा कहा है।)

२५. **श्रीज़ीव०**—'आनग्नता' का अर्थ है थोड़ी-सी नग्नता। वह दो प्रकार की है—एक-पूरी तरह से न ढका होना, दूसरा-कहीं-कहीं नग्नता। घुटने रेंगने से लेकर थोड़ा-थोड़ा चलने तक मध्यम कौमार है।

२६. **श्रीजीव०**—प्रथम कौमार के अन्त में भी रेंगना बना हुआ है, कभी-कभी चल भी लेते हैं।

"तनयममृतसिन्धौ प्रेक्ष्य माता न्यमाज्जीत्" के स्थान पर "तनयमनुभवन्ती सा सुधाब्धौ विजह्रे।"

२७. **श्रीजीव०**—'नवनीत' कभी-कभी ही हाथ में होता है, किन्तु वह शोभा बढ़ाता है इसलिये अनोखा साधन है।

२८-२९. स्पष्ट है।

३०. **श्रीजीव०**—यहाँ काकपक्ष का अर्थ है बाँये, दायें और बीच के बालों की तीन पृथक् चोटियाँ बनाकर उनका पीछे बीच में बनाया हुआ जूड़ा।

३१. **श्रीजीव०**—'धटी' का अर्थ है कम चौड़ा अधिक लम्बा वस्त्र अर्थात् छोटी धोती।

३२. **श्रीजीव०**—बारह अङ्गुल लम्बी बाँसुरी का नाम पावा है।

३३. **श्रीजीव०**—पुत्र को घर लौटने में विलम्ब होते देखकर चौवारे की छत पर चढ़कर श्रीनन्दराय भय से अतिव्यग्र अपनी पत्नी से यह कह रहे हैं।

३४. स्पष्ट है।

३५. **श्रीमुकुन्द०**—'उत्तंस' का अर्थ है रत्नजटित सुवर्ण का शिरोभूषण।

३६. स्पष्ट है।

३७. **श्रीमुकुन्द०**—नव्य यौवन का अर्थ है कैशोर का अन्तिम भाग।

३८. **श्रीजीव०**—'दास-विशेष' का अर्थ है लोकपाल आदि, जिन्हें श्रीकृष्ण के बड़े रूप का ही दर्शन हुआ करता है। बाल-रूप नहीं दिखता।

३९. **श्रीजीव०**—'पारि' का अर्थ दूध पीने का पात्र-ऐसा क्षीरस्वामी कहते हैं। मथुरावासियों के अनुसार पारि है मिट्टी के बने ढक्कन (सकोरे) 'क्षिपत्यविरतं' के स्थान पर 'क्षिपत्यपि मुहु'-पाठान्तर है।

४०. स्पष्ट है।

४१. **श्रीजीव०**—लालन का अर्थ है स्नान कराना आदि। प्रतिपालन का अर्थ है रक्षा करना।

४२-४५. स्पष्ट है।

४६. [यह तब की बात है जब ब्रह्मा ने बछड़ों और गोपबालकों का हरण कर लिया था और श्रीकृष्ण स्वयं ही सब बछड़े और गोपबालक बनकर व्रज लौटे थे।]

४७. **श्रीमुकुन्द०**—'निचुलित' का अर्थ है आच्छादित।

४८. **श्रीजीव०**—'गोकुलेशा' के स्थान पर 'गोपराज्ञी' पाठान्तर है।

४९-५०. स्पष्ट है।

५१. **श्रीजीव०**—'चन्द्रपराग' अर्थात् कर्पूर, 'नलद' अर्थात् खस।

५२-५४. स्पष्ट है।

५५. **श्रीजीव०**—'श्रुतिपालि' का अर्थ है कान का अग्र भाग, उससे सम्पूर्ण कान ही समझना चाहिये।

५६. स्पष्ट है।

५७. **श्रीजीव०**—नन्द-यशोदा के मिलन के आनन्द से श्रीकृष्ण के नयनों में जो अश्रु आये उन्हें देवकी पोंछ रही हैं।

५८. **श्रीजीव०**—सूर्यग्रहण के व्याज से अपने पुत्र के दर्शन की लालसा से जाती हुई यशोदा के प्रति किसी परिचित तापसी का यह वचन है।

मध्यमवेदी अर्थात् प्रयाग-त्रिवेणी सङ्गम।

५९-६४. स्पष्ट है।

६५. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण के वन जाने पर किसी गोपी का वचन है। 'सन्दानितम्'—बँधा हुआ।

६६. **श्रीजीव०**—द्वारिका में श्रीकृष्ण की गृहस्थाश्रम की बातें सुनकर नन्दरानी यशोदा का यह वचन है।

६७. **श्रीजीव०**—विरह-जनित चिन्ता से चित्त विचलित हो जाने के कारण वात्सल्य-स्फूर्ति से भरा वचन।

६८-६९. स्पष्ट है।

७०. **श्रीजीव०**—यह यशोदा का अतिदु:खमय वचन है (तात्पर्य यह है कि बाहरी व्यक्ति नन्दराय के बारे में जो कह रहा है वह ठीक ही है।)

७१. **श्रीजीव०**—मथुरा से श्रीकृष्ण के अकस्मात् पलायन (कालयवन के प्रसङ्ग में) की बात सुनकर यशोदा का वचन।

७२-७४. स्पष्ट है।

७५. **श्रीजीव०**—'बल्लवराजविलासिनि' के स्थान पर 'बल्लवराजगृहेश्वरी' पाठान्तर है। [यह पाठान्तर ही प्रस्तुत संस्करण में मूल में लिया गया है।]

७६. **श्रीजीव०**—'अम्बरक्नोपम्' का अर्थ है—अम्बर (आकाश) को भिगोकर। [यह वचन सम्भवतः सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र में व्रजवासियों के साथ श्रीकृष्ण के मिलन-प्रसङ्ग का है। श्री जीव ने इस पर बहुत विस्तृत टीका की है, जिसका सार भी यहाँ देना सम्भव नहीं है।]

७७-७८. स्पष्ट है।

७९. **श्रीजीव०**—अप्रतीति का अर्थ है अनिर्णय; हरिरति का अर्थ है—हरि जिस रति के कर्ता हैं।

८०. स्पष्ट है।

८१. **श्रीमुकुन्द०**—सङ्कर्षण में सख्य अधिक है, प्रीति और वात्सल्य अपेक्षाकृत कम हैं।

८२. **श्रीजीव०**—वृद्धा गोपियों का सख्य परिहास से युक्त है।

८३-८४. स्पष्ट है।

पञ्चम लहरी—मधुरभक्ति-निरूपिका

१. **श्रीजीव०**—'सताम्' का अर्थ ऐसे विशेष सद्-व्यक्ति, जिनके चित्त में श्रीकृष्णविषयक कान्तरति (कान्ताभाव) का स्पर्श है।

श्रीविश्व०—'सताम्' का अर्थ है व्रजसुन्दरियाँ।

२. **श्रीजीव०**—जो निवृत हैं उन्हें प्राकृत शृङ्गार के साथ यहाँ साम्य दिखाई देता है, इसलिये इस भगवत्सम्बन्धी रस में भी उन्हें विरक्ति होती है, इसलिये उनके लिये यह अनुपयोगी है।

३-४. स्पष्ट है।

५. **श्रीमुकुन्द०**—यहाँ अनेक प्रकार की व्रजसुन्दरियों, जिनके न कोई समान है, न जिनसे बढ़कर है ऐसी गोपियों की विदग्धता, सौन्दर्य, लीला आदि की सम्पदा दिखाई है।

श्रीविश्व०—'अनुरञ्जन' का अर्थ है भगवान् अपनी लीलाओं को प्रकट करके सभी का आनन्द उपजाते हैं और स्वयं व्रजसुन्दरियों की क्रीडाओं से आनन्दित होते हैं।.......'मुग्ध' का अर्थ है प्रेम के कारण अपने ऐश्वर्य के ज्ञान से शून्य, अर्थात् ऐश्वर्य को भूले हुए।

६. **श्रीजीव०**—'प्रणयतरङ्गकरम्बितान्तरङ्गाः' अर्थात् प्रणय के तरङ्गों से जिनके अन्तःकरण के अङ्ग अर्थात् वृत्तियाँ मिश्रित हैं।

७. स्पष्ट है।

८. **श्रीजीव०**—'चकित०' के स्थान पर 'चकुर०' पाठ भी है, जिसका अर्थ है चपला; 'चकित०' का भी लक्षणा से अर्थ चपला ही है।

९. **श्रीजीव०**—शृङ्गारमय परिहास-वचन सुनकर प्रकट रूप से न मुस्कुरा कर अलक्षित रूप से स्मित धारण कर रही हैं—यह व्यञ्जना है।

१०. **श्रीजीव०**—'संसार०' का अर्थ है सम्यक् सार।

११-१३. स्पष्ट है।

१४. **श्रीजीव०**—'अपाङ्ग' का शब्दार्थ है नेत्र का कोना, उसी से उसके समीप का भाग भी गृहीत होता है, अतः श्रीकृष्ण का अपाङ्ग श्याम होने से यमुना का रूपक बनता है।

१५. **श्रीजीव०**—सुनाई देते हुए मुरलीरव (ध्वनि) को सुनकर किसी गोपी का वचन।

१६. **श्रीजीव०**—आलस्य और उग्रता प्रिय के सङ्ग का भङ्ग करने वाले हैं, इसलिये इनके अतिरिक्त ग्राह्य हैं।

१७. **श्रीविश्व०**—मानभङ्ग के पश्चात् किसी कलहान्तरिता नायिका का वचन।

१८. **श्रीजीव०**—पहले 'कुवलय' का अर्थ भूमण्डल है और दूसरे 'कुवलय'—का अर्थ है नीलोत्पल।......'धूर्त' शब्द यहाँ प्रणय-परिहास में प्रयुक्त है इसलिये रस-पोषक है।

१९. स्पष्ट है।

२०. **श्रीजीव०**—'भ्रूवल्लि०' के स्थान पर 'भ्रूयुग्म' पाठ भी है।......'अवश बना रहा है' इसके दो अर्थ हो सकते हैं—जिसका अपने पर वश नहीं है ऐसी बनाना, अथवा जो किसी के वश में नहीं अर्थात् स्वतन्त्र या मर्यादा के बाहर है, ऐसी बनाना।

२१. **श्रीजीव०**—यहाँ राधा-माधव की रति की ही बात है, किसी अन्य प्रेयसी के साथ रति का यहाँ ग्रहण नहीं। 'विच्छिन्न न होने' का अर्थ है आवृत न होना। सजातीय भावों का अर्थ है दूसरी प्रेयसियों में व्यक्त भाव, विजातीय का अर्थ है वत्सलता आदि भाव।

२२. स्पष्ट है।

२३. **श्रीजीव०**—यहाँ क्रम से श्रीकृष्ण के भाव के विरोधी-भयानक, शान्त और वत्सल रस दिखाये गये हैं, कमल के विरोधी हैं—रात्रि, हिम और चन्द्र की छवि। जैसे सामान्य कमल इन सबकी उपस्थिति में म्लान हो जाता है वैसे श्रीकृष्ण का भावकमल विरोधी स्थितियों में भी मुरझाता नहीं। इस प्रकार यहाँ विशेषोक्ति-अलङ्कार है।

२४. **श्रीजीव०**—वह अर्थात् 'मधुर' नामक भक्तिरस।

२५. स्पष्ट है।

२६. **श्रीजीव०**—कान्ता का पूर्वराग भक्तिरस कहलाता है, और कान्त का पूर्वराग उस (भक्तिरस) का उद्दीपन होता है। ऐसा ही आगे भी समझा जाय।

२७. स्पष्ट है।

२८. **श्रीजीव०**—श्रीमद्भागवत में व्रजदेवियों का पूर्वराग तो अनेक बार वर्णित है किन्तु परस्पर पूर्वराग केवल रुक्मिणी के प्रसङ्ग में ही दिखाया गया है।

२९. स्पष्ट है।

३०. **श्रीजीव०**—इस पद्य के पूर्वार्द्ध में ही 'मान' दिखाया गया है।

३१-३७. स्पष्ट है।

गौणभक्तिरस-निरूपक उत्तरविभाग

प्रथम लहरी—हास्यभक्तिरस

१-४. स्पष्ट है।

५. **श्रीजीव०**—शङ्का हो सकती है कि शान्त आदि की भाँति हास्य, अद्भुत आदि रसों के भी स्वतन्त्र आश्रय-आलम्बन होने चाहियें, क्योंकि विदूषक और सेनानी आदि में नित्य ही क्रमशः हास्य और वीर स्थित रहते हैं। इसके उत्तर में कहा गया है कि भक्तों के प्रसङ्ग में बात ऐसी है कि पाँच प्रकार की मुख्य रति के जो-जो आश्रय हैं, उन्हीं में से कोई-कोई इन गौण-रतियों के आश्रय रूप आलम्बन बनते हैं, उनसे भिन्न कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि उन-उन रतियों के विषय श्रीकृष्ण हैं और उनके आश्रय के रूप में श्रीकृष्ण के भक्त भी सर्वत्र सहजसिद्ध हैं; किन्तु उस-उस मुख्य रति के सम्बन्ध से ही हास आदि गौण रतियों में 'रति' होने का 'उपचार' (लक्षणा से व्यवहार) होता है। प्राकृत या लौकिक रसशास्त्र के अनुसार ही इन गौण रतियों में स्थायित्व का 'उपचार' होता है।

७. **श्रीजीव०**—हासरति 'परार्था' है, अर्थात् वह किसी न किसी मुख्य रति को पुष्ट करती है, 'स्वार्था' रति की भाँति केवल अपने को ही पुष्ट नहीं करती।

[सम्भवतः यह बात सभी गौण-रतियों के लिये कही जा सकती है।] हास रति का विषय होने के नाते, और उसके द्वारा व्यक्त हास का हेतु होने के कारण यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन-विभाव हैं। जिसकी चेष्टायें श्रीकृष्ण के अनुगत हैं, वह यहाँ आश्रय है, अतः वह भी उस हास का हेतु होने के कारण आलम्बन है। हास का स्वरूप चित्त का विकास-मात्र है इसलिये उसका कोई विषय नहीं है। जैसे कि कमल आदि का विकास किसी को विषय नहीं बनाता, अर्थात् किसी के उद्देश्य से वह प्रवर्तित नहीं होता। यदि हास परिहास या उपहास के अर्थ में हो तो किसी को विषय बना भी सकता है, किन्तु यहाँ उसका ग्रहण नहीं है।

[तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण भक्तों के हास आदि का हेतु तो बनते हैं, किन्तु उसका विषय नहीं बनते। यहाँ मुख्य और गौण रतियों का आन्तरिक भेद बताने का यत्न किया गया है। मुख्य रति में श्रीकृष्ण विषय बनते हैं, किन्तु गौण रति में नहीं।]

८-१६. स्पष्ट है।

१७. **श्रीजीव०**—'सुबल' अर्थात् अच्छे बलवाले। इससे व्यञ्जना है कि कुछ बलिष्ठ ज्येष्ठ भ्राता के प्रति यह सम्बोधन है न कि समवयस्क सखा सुबल के प्रति।

१८. **श्रीजीव०**—अपने को राधिका का पति मानने वाले अभिमन्यु (जटिला के पुत्र) को देखकर उसी के वेश में उनके घर गये हुए श्रीकृष्ण ने जटिला को यह कहकर भ्रम में डाला कि वास्तविक अभिमन्यु मैं हूँ और जो घर में है वह वेशधारी कृष्ण है। तब जटिला वास्तविक अभिमन्यु को ही घर से भगाने लगी। तब यह समझकर कि माँ पागल हो गई है, अभिमन्यु अपने बन्धुओं को बुला लाने के लिये वहाँ से भाग गया।

२०. स्पष्ट है।

२१. **श्रीजीव०**—'कपटसुप्तया' के स्थान पर 'सुप्तयाऽप्येतया' ऐसा पाठान्तर है।

२२. स्पष्ट है।

२३. **श्रीजीव०**—'पुत्र'! के स्थान पर 'मित्र!' तथा 'व्रजेशगृहिणीवाचम्' के स्थान पर 'धृतार्जवसुहृद्वाचम्' ऐसा पाठभेद है।

२४-२६. स्पष्ट है।

२७. **श्रीजीव०**—तीसरे चरण में 'वलिध्वंसकः' में एक बार वलि (झुर्री) और दूसरी बार बली (बलवान् असुर) अर्थ लिया गया है। [अथवा "असुरराज बलि को उनके स्थान से गिराने वाला" यह अर्थ भी सम्भव है।]

२८. स्पष्ट है।

२९. 'दूलि' का अर्थ है कछुई।

३०. 'तत्र' का अर्थ है—भरत के नाट्यशास्त्र में, अथवा स्वयंकृत 'नाटकचन्द्रिका' में।

द्वितीय लहरी—अद्भुतरस

१. स्पष्ट है।

२. **श्रीजीव०**—विस्मय का स्वरूप यह है कि 'ऐसा कैसे हो गया? जब कि इसका कारण तो है ही नहीं!' ऐसी बुद्धि। विस्मय के आश्रय होते हैं भक्त और विषय भगवान्; दोनों को ही इस रस का आलम्बन-विभाव कहा गया है।

'विषय' के स्थान पर 'विभव'—पाठभेद लिखने में भ्रम के कारण हो गया है।

३. स्पष्ट है।

४. **श्रीजीव०**—'लोकोत्तरकर्म' में 'कर्म' उपलक्षण है, क्योंकि उसमें लोकोत्तर रूप-गुण भी अन्वित हैं। जब भक्त लोकोत्तर प्रेम का आश्रय

बनता है तब वह भी दूसरे भक्तों के लिये विस्मय का हेतु बनता है। इसके दृष्टान्त हैं—

श्रीमद्भा० १०/९/२०—'नेमं विरिञ्चो न भवः......'

मक्खन की मटकी फोड़ने से क्रोधित यशोदा के अपने पीछे दौड़ने एवं अनेक रस्सियों से भी बाँधने में असफल होने पर परिश्रम से थकी माँ के वश में स्वयं ही आकर बँध गये बालकृष्ण के विषय में श्रीशुकदेव की उक्ति है—भगवान् का जैसा वात्सल्य-प्रेम-प्रसाद गोपी यशोदा ने पाया वैसा न ब्रह्मा को मिला, न शिव को, न लक्ष्मी को मिला। ऐसे ही भा० १०/१२/११—'एवं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या'....

गोपबालकों के साथ बछड़े चराने के समय वन में खेलते हुए श्रीकृष्ण के विषय में श्रीशुकदेव कह रहे हैं कि ब्रह्मसुखानुभूति पाये हुए सत्पुरुषों के जो परम देव हैं वे व्रज में सामान्य मनुष्य-बालक बने, उनके साथ ये ग्वाल-बाल सखा बने हुए खेलते थे।

ऐसे ही भा० १०/४७/६० में श्रीशुकदेव द्वारा गोपियों के परम सौभाग्य का वर्णन है।

५. स्पष्ट है।

६. **श्रीजीव०**—श्रीनारद जैसे मुनि जो कायव्यूह में समर्थ हैं, उन्हें भी विस्मय इसलिये हो रहा है कि यहाँ पृथक्-पृथक् भवनों में, एक ही समय, श्रीकृष्ण के कार्यकलाप भिन्न-भिन्न हैं। [सामान्य कायव्यूह में एक के अनेक शरीर तो होते हैं, किन्तु उन शरीरों का क्रियाकलाप एक-सा होता है; जबकि श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न कार्य कर रहे हैं।]

७. स्पष्ट है।

८. **श्रीजीव०**—'कन्दुकिताचलेन्द्रं खेलन्निव स्फुरति' के स्थान पर 'कन्दुकितं तमद्रिं कुर्वन्मुदं वहति' यह पाठ है।

९. **श्रीजीव०**—'भटाः' का तात्पर्य है नरकासुर की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के योद्धा। 'राजा' यहाँ परीक्षित् है।

श्रीमुकुन्द०—'राजा' से युधिष्ठिर का ग्रहण।

१०. **श्रीजीव०**— सत्यलोक की सभा में श्री ब्रह्मा का वचन। पूर्व की घटना को ब्रह्मा वर्तमान की भाँति देख रहे हैं और उसी प्रकार बोल रहे हैं।

१२-१३. **श्रीजीव०**—सभी रसों का पर्यवसान अद्भुत रस में होता है। श्रीकृष्ण सर्वाधिक प्रिय होने के कारण उन्हीं के प्रति विस्मयरति की प्रतिष्ठा है। इसीलिये कहा गया है—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्रापीष्यते बुधैः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥"

इसीलिये इस रति को सब की अनुग्राहिका कहा गया है।

तृतीय लहरी—वीरभक्तिरस

१-२. स्पष्ट है।

३. **श्रीजीव०**—युद्ध, दान, दया, धर्म—वीर रस के इन चार प्रकारों में से किसी न किसी प्रकार का उत्साह सभी भक्तों में होता है।

४-५. स्पष्ट है।

६. **श्रीजीव०**—'समरात् पराञ्चसि' के स्थान पर 'समरं समञ्चसि'—ऐसा पाठभेद है।

७. स्पष्ट है।

८. **श्रीजीव०**—'मार्गण' (बाण) से यहाँ तिनकों से बने एवं चमड़े के फल वाले खेल के बाण अभिप्रेत हैं।

श्रीविश्व०—ऐसे बाण फेंकने से भी सख्य की हानि नहीं होती।

९-२०. स्पष्ट है।

२१. **श्रीजीव०**—मूल में गृहीत 'एकक' ही उचित है, उसके स्थान पर कहीं 'एकल' पाठ लेखक के प्रमाद से आ गया है।

२२. स्पष्ट है।

२३. **श्रीजीव०**—'सुजटित०' पाठ ही उचित है; कहीं 'जटिलत०' ऐसा पाठान्तर है जो उचित नहीं क्योंकि उसका अर्थ 'जटाओं से युक्त' हो जाता है।

२४. **श्रीविश्व०**—नेत्रों में लाली रौद्र-रस में होती है, वीर में नहीं।

२५-२६. स्पष्ट है।

२७. **श्रीविश्व०**—'सम्प्रदान' का अर्थ है सत्पात्र।

२८-३१. स्पष्ट है।

३२. **श्रीजीव०**—श्रीनन्द की दानवीरता महाराज नृग से बढ़ गयी क्योंकि—नन्दराय पुत्र (श्रीकृष्ण) के उदय की कामना से ही दान में तत्पर हुए थे, न कि नृग की भाँति दोनों लोकों (यहाँ और स्वर्ग) में लाभ-प्रतिष्ठा की कामना से दूषित थे।

३३-३५. स्पष्ट है।

३६. **श्रीजीव०**—यह युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ का प्रसङ्ग है। अग्र्यपूजा के पश्चात् की स्थिति है।

३७-३९. स्पष्ट है।

४०. **श्रीजीव०**—यद्यपि यहाँ भक्त के दो रूप सम्भव हैं—सिद्ध और साधक, तथापि यहाँ ऐसा साधक ही अभिप्रेत है जिसमें थोड़ी-बहुत रुचि जागृत हो चुकी है और जिसका दृढ़ आग्रह है, न कि ऐसा सिद्ध जिसे भगवान् के माधुर्य का सम्यक् अनुभव हो चुका है। अमृत का आस्वाद मिल चुकने पर फिर गुड़ आदि का त्याग करने वाले की वैसी प्रशंसा नहीं होती। उन भक्तों का भक्ति के प्रति ऐकान्तिक आग्रह देखकर सन्तुष्ट श्रीहरि उनके आग्रह को व्यक्त करने के लिये वर देने का प्रोत्साहन भी देते हैं। 'वर' वह है जिसका अन्य सभी वरण करना चाहते हैं।

४१-४२. स्पष्ट है।

४३. **श्रीजीव०**—'तादृशी' का अर्थ है सार्ष्टि-सालोक्य आदि के प्रति अनिच्छामयी भक्ति।

४४. **श्रीजीव०**—यह ध्रुव का वचन है। यह भी सम्यक् माधुर्य के अनुभव से युक्त नहीं है। श्रीमद्भागवत में ध्रुव को दर्शन होने पर श्रीभगवान् द्वारा अपना पाञ्चजन्य उसके कपोल को छुआने का वर्णन है। उस स्पर्श के प्रभाव से ही ध्रुव ने वह सब कहा था, किन्तु वैसी अनुभूति बाद में क्रमशः हुई थी।

४५. **श्रीजीव०**—इस पद्य में भी (४० वें पद्य में कहे गये) उस प्रकार के साधक भक्तों की ही बात है। 'कुशल' कहने से यहाँ-भक्तिरस-शास्त्र के अनुसार विवेकी भक्तों का ही उदाहरण दिया जा रहा है—न कि 'उनकी बात ही क्या?' के अनुसार बाद में कहे गये रसज्ञों का।

४६. **श्रीजीव०**—प्रौढ़ भावविशेष का पात्र कोई ही बनता है। 'विशेष' से यहाँ दास्य कहा जा रहा है। क्योंकि 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' इत्यादि लक्षणों से अनेक बार सभी भक्तों का वैसा (दुरापार्थत्यागी) होना कहा गया है।

४७-५७. स्पष्ट है।

५८. **श्रीजीव०**—'सप्ततन्तु' का अर्थ है यज्ञ।

५९. **श्रीजीव०**—वैष्णव जब 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर यज्ञ में आहुति देता है, तब वह इन्द्र आदि लोकपालों के आश्रय रूप विष्णु के भुजा आदि अङ्गों का पूजन समझना चाहिये। इन्द्र आदि विष्णु की भुजायें हैं—ऐसा समझते हुए ही वैष्णव आहुति देते हैं। इन्द्र उनके लिये स्वतन्त्र देवता नहीं है।....इसलिये यज्ञादि करने से भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहे गये भक्तलक्षण 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'—के अर्थ का व्यतिक्रम नहीं होता।

चतुर्थ लहरी—करुणभक्तिरस

१-२. स्पष्ट है।

२-३. **श्रीविश्व०**—अविच्छिन्न-महान्-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण में यद्यपि अनिष्ट की सम्भावना ही नहीं है, फिर भी प्रेम-विशेष के कारण वे अनिष्ट-प्राप्ति के भाजन रूप से जाने जाते हैं, इसी कारण करुण-रस का विषय बनते हैं। इसी प्रकार उन श्रीकृष्ण का प्रियजन भी करुण-रस का विषय बनता है।

इन दो के अतिरिक्त तीसरा विषय होता है—भक्तों के प्रियजन अर्थात् पिता-पुत्रादि तथा बन्धुवर्ग, जिन्हें भगवद्भक्ति का सुख प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् जो वैष्णव नहीं हो पाये।

४. **श्रीविश्व०**—तात्पर्य यह है कि शान्तभक्तों में प्रायः करुण रस उदित नहीं होता।

५-६. स्पष्ट है।

७. **श्रीजीव०**—अनिष्ट-प्राप्ति की प्रतीति ही शोक है जो अंशतः रति का विशेषण बन जाता है।

८. स्पष्ट है।

९. **श्रीजीव०**—'राज्ञी' के स्थान पर 'पत्नी' पाठभेद है।

१०. स्पष्ट है।

११. **श्रीजीव०**—'मुनिगणान्' के स्थान पर 'तनुभृतः' ऐसा अन्य पाठ है। किन्तु 'मुनिगणान्' पाठ ही 'स्वप्रिय' कोटि में आने से उचित है।

१२-१३. स्पष्ट हैं।

१४. **श्रीमुकुन्द०**—हास आदि की अपेक्षा शोक का कुछ विशिष्ट ही स्वाद है, जो कि अनिर्वचनीय है।

१५-१६. [यहाँ श्रीजीव० ने श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि से बहुत उदाहरण इस पद्य के आशय की पुष्टि में दिये हैं; उनका संक्षेप भी देना यहाँ सम्भव नहीं है।]

पञ्चम लहरी—रौद्रभक्तिरस

१-२. स्पष्ट है।

३. [अत्यहित का अर्थ तीनों टीकाकार महाभीति कर रहे हैं। यहाँ भय से तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण के अन्यों पर अनुरक्त होने पर राधिका को कष्ट होगा।]

४. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण द्वारा परीक्षा के लिये ही उदासीनता जैसा व्यवहार किये जाने पर श्रीराधा को अतिभय हुआ, इसी कारण सखी को क्रोध हुआ है।

५-६. **श्रीविश्व०**—सभी व्रजवासियों का श्रीकृष्ण के प्रति सहज प्रेम है, जरती (वृद्धा गोपी) का भी व्रज़वासिनी होने के नाते श्रीकृष्ण से प्रेम न हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु उसके पुत्र अभिमन्यु की विवाहिता श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम देख लिये जाने पर इहलोक में अप्रतिष्ठा होगी और परलोक में अधर्म होगा, इस विचार से, इन दोनों के निवारण के उद्यम रूप में क्रोध प्रकट करती है और बाहर सब हितैषी व्रजवासियों को पुकारती है।

५-७. **श्रीजीव०**—श्रीमद्भागवत के प्रामाण्य से व्रजवासी प्रत्येक जीव सबसे अधिक एवं सर्वसमर्पण भाव से कृष्ण के केवल हितैषी हैं तब जरती (वृद्धा गोपी) का कृष्ण पर क्रोध क्यों है? इस आशङ्का का उत्तर देते हुए कहा गया कि स्वयं को चन्द्रावली का पति मानने वाले गोवर्धन को छोड़कर सभी व्रजवासियों की कृष्ण में प्रौढ़ा रति है। गोवर्धन की रति इसलिये नहीं क्योंकि वह कंस-पक्ष का गोप है जो बाहर से व्रज में आकर बसा है, वस्तुतः व्रजवासी नहीं, ऐसी कहीं प्रसिद्धि है। फिर भी 'जरती' का क्रोध कृष्ण की मङ्गलकामना से ही है। इसीलिये वह चिल्लाकर उन्हीं लोगों को पुकारती है जो सुन नहीं रहे हैं।

८. स्पष्ट है।

९. **श्रीजीव०**—श्रीकृष्ण के पालन में (माता या पिता का) कभी उन्हीं के सम्बन्ध में अन्य किसी भाव में मग्न होने के कारण अन्यमनस्कता होने के कारण, उनको भारी हानि पहुँचाने वाली अवस्था का अवधान चूक जाये तो वह पालक अनवहित कहलाता है।

१०. **श्रीजीव॰**—रोहिणी अपने पुत्र को लेकर उपनन्द आदि में से किसी के घर निमन्त्रण पर गई थी। इस बीच टूटते हुए वृक्षों का गर्जन सुनकर वहाँ से लौटी, तब दामोदर के समीप नन्द आदि को पहुँचा हुआ देखकर घर में प्रविष्ट हुई, तब उक्त घटना से घबराकर मूर्च्छा से जागती हुई यशोदा के प्रति रोहिणी का यह वचन है।

११. स्पष्ट है।

१२. **श्रीजीव॰**—'स्थपुटित॰' का अर्थ है विषम बनी हुई।

श्री मुकुन्द॰—'स्थपुटित॰' अर्थात् नत-उन्नत (नीची-ऊँची)।

१३. स्पष्ट है।

१४. **श्रीविश्व॰**—श्रीकृष्ण के बार-बार प्रणत होने पर एवं सखियों द्वारा बहुत प्रकार से समझाने पर भी जब श्रीराधा ने मान नहीं छोड़ा तो श्रीकृष्ण लौट गये। इसके बाद पश्चात्ताप से श्रीराधा ने मान-त्याग किया, तब ललिता को श्रीकृष्ण के पास भेजने को उद्यत हुई। उस समय ललिता का श्रीराधा के प्रति वचन है।

'मान से अरुण मुख वाली हो' यहाँ 'असि' (हो) का तात्पर्य भूतकाल से है अर्थात् जब श्रीकृष्ण अपने मयूरपिच्छ वाले मुकुट से तुम्हारे चरण पोंछ रहे थे तब तो मुख अरुण बनाये थीं, अब हमें उनके पास भेजना चाहती हो, तो हम क्यों जायें? तुम ही जाओ।

१५-१६. स्पष्ट है।

१७. **श्रीविश्व॰**—यहाँ भूतकाल का प्रयोग भविष्य के अर्थ में किया गया है। 'हजारों स्त्रियों के प्राण चले जायेंगे' और यदुकुल की अप्रतिष्ठा होगी, अतः ऐसा न करो!—यह तात्पर्य है।

१९. [यहाँ भीम की शिशुपाल के दमन की इच्छा का ही भाव है।]

२०-२५. स्पष्ट है।

२६. **श्रीजीव॰**—'जरती' और सखियों का कोप (मन्यु) स्थायी नहीं बनता,

व्यभिचारी ही रहता है। इस प्रकार पहले कहे गये आवेग आदि व्यभिचारी—जिनमें उग्रता प्रधान है, वे शत्रु के प्रति होते हैं; जिनमें अमर्ष प्रधान है, वे बन्धुओं के प्रति होते हैं; जिनमें असूया प्रधान है, वे प्रियतम के प्रति होते हैं।

२७. स्पष्ट है।

२८. [तीनों टीकाकारों ने 'जाङ्गल' का अर्थ 'मांस' किया है, 'इङ्गल' का अर्थ है अङ्गार]।

२९. **श्रीविश्व०**—प्रेम की परीक्षा के लिये पौर्णमासी श्रीराधिका को पातिव्रत्य का उपदेश देती हैं, तब उनके प्रति श्रीराधा का वचन है।....'पद्धति' का अर्थ है मार्ग।

३०. **श्रीविश्व०**—जटिला और मुखरा (श्रीराधा की नानी) का एकान्त में कलह यहाँ वर्णित है।

३१. **श्रीजीव०**—किसी समय श्रीराधा द्वारा अपने अङ्ग से झटपट उतारे हुए श्रीहरि के हार को देखकर श्रीराधा की सखियों के प्रति जटिला का वचन।

३२. **श्रीजीव०**—'वैसा रति का अनुग्रह नहीं है' इसका तात्पर्य है कि अनुग्रह स्पष्ट नहीं है, अन्यथा रति तो है ही, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि 'गोवर्धन मल्ल' के अतिरिक्त सभी व्रजवासियों में रति विद्यमान है।

श्रीमुकुन्द०—'वैसा नहीं है' का अर्थ है कि रसयोग्य नहीं है। यह मन्यु (कोप) है, यहाँ अमर्ष नामक व्यभिचारी भाव ही स्थायी हो गया है।

छठी लहरी—भयानकभक्तिरस

१. स्पष्ट है।

२. **श्रीजीव०**—'श्रीकृष्ण और उनके भक्त' यह कहने के स्थान पर 'श्रीकृष्ण और भयानक प्राणी'—यह कहना प्राकृत रसज्ञों के मत के अनुसार है। अपने मत के अनुसार भय के हेतु के रूप में भयानक प्राणी आलम्बन नहीं हो सकते, भय के अधिकरण (जिनमें भय है) ही आलम्बन के रूप में स्वीकृत हैं। प्राकृत रसज्ञों के मत के अनुसार ही यह प्रकरण है, ऐसा आगामी लहरी में कहा ही जायेगा। अपने मत में तो, श्रीकृष्ण के प्रसङ्ग में अनुकम्पा के पात्र ही विषय और आश्रय दोनों प्रकार से आलम्बन हैं [क्योंकि उन्हें भय अपने ही अपराध के कारण होता है कि श्रीकृष्ण को कष्ट न हो], कृष्ण वहाँ केवल हेतुमात्र हैं। दारुण प्राणियों के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण विषय के रूप में और उनके बन्धुगण आश्रय के रूप में आलम्बन होते हैं, दारुण तो वहाँ हेतुमात्र हैं। [भय दारुणों से नहीं होता, किन्तु श्रीकृष्ण को वे हानि न पहुँचायें इस चिन्ता से भय होता है।] रति तो यथानुरूप रहती ही है।

३-४. स्पष्ट है।

५. **श्रीजीव०**—यह कालियनाग का वचन है।

६. **श्रीजीव०**—शृङ्ग या शिखर का यहाँ अर्थ है वृक्षों का अग्रभाग, अर्थात् सबसे ऊँचा सिरा। केशी दैत्य विशाल वृक्षों से भी बड़े आकार का है।

७. स्पष्ट है।

८. **श्रीजीव०**—कुछ दूर से आयी हुई एवं गोकुल की पूरी घटना न जानने वाली गोपी के प्रति श्रीयशोदा का वचन।

९. स्पष्ट है।

१०. **श्रीविश्व०**—क्रियायें अर्थात् अनुभाव।

११. स्पष्ट है।

१२. **श्रीविश्व०**—'भीषण' का अर्थ है भयानक असुर। अपराध अनेक प्रकार के होते हैं।

१३. **श्रीविश्व०**—अपराध से उत्पन्न भीति अनुग्रह के पात्र भक्तों में ही होती है, अन्यत्र नहीं।

१४. स्पष्ट हो गया।

१५-१६. **श्रीविश्व०**—भगवान् से कंस आदि को जो भीति है वह रति से रहित होने के कारण रस नहीं। वे लोग भय के विषयालम्बन होने पर भी आश्रयालम्बन नहीं होते; क्योंकि भक्तों से अतिरिक्त कोई भी आश्रयालम्बन नहीं हो सकता।

सप्तम लहरी—बीभत्सभक्तिरस

१. स्पष्ट है।

२. **श्रीजीव०**—यहाँ आश्रित (दास-भक्तों के चार भेदों में से दूसरा) तथा शान्त भक्त अपनी स्वाभाविक रति के अंश से आलम्बन हैं। शान्त से यहाँ 'आद्य' शब्द से उन सभी का ग्रहण है जिन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ।

श्रीमुकुन्द०—'आद्य' शब्द से, जिनमें थोड़ी भी जुगुप्सा है ऐसे अन्य भक्त भी आश्रय होते हैं। देह आदि बीभत्सा के पात्र ही विषयालम्बन रूप से गृहीत हैं।

३-९. स्पष्ट है।

१०. **श्रीविश्व०**—गर्भ में स्थित भक्त जीव भगवान् की स्तुति कर रहा है। 'शमल' का अर्थ है पाप, और 'व्यतिकर' का अर्थ है पुनः पुनः होना।

११. [जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाकर रखे हुए सहस्रों राजा श्रीकृष्ण द्वारा कारागार से मुक्त कराये जाने पर उनकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं।]

१२. **श्रीजीव०**—रति के अनुग्रह का अर्थ है रति द्वारा इसका पोषण।

श्रीमुकुन्द०—'प्राचीन' का अर्थ है श्रीभरतमुनि का अनुसरण करने वालों के मतों का।

श्रीविश्व०—स्वमत (हमारे संप्रदाय के मत) से तो ये शान्त आदि पाँच ही भक्तिरस हैं।

अष्टम लहरी—रसों में (परस्पर) मैत्री-वैर की स्थिति

१. स्पष्ट है।

२. **श्रीजीव०**—यहाँ स्वयं अङ्गी रस का अनुभव करने वाला श्रीकृष्ण-भक्त, श्रीकृष्ण, उनके अन्य भक्त, उनसे उदासीन और उनके विरोधी—ऐसे पाँच प्रकार के आश्रयों में भाव दिखाई देते हैं। उनमें से अङ्गी रस का जब किसी अनुचित अङ्ग के साथ मिलन होता है तब रस-विघात होगा और उचित के साथ मिलन होने पर रस का पोषण होगा। इस प्रतिपादन के लिये शान्तरस के अनुकूल और प्रतिकूल रस दिखा रहे हैं।

बीभत्स, धर्मवीर आदि 'तपस्वी शान्त' के सुहृद हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण और उनके भक्तों के प्रति जो उदासीन हैं या उनके विरोधी हैं—ऐसे के लिये यहाँ बीभत्सित की भावना होगी और श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों की धार्मिकता को समझने से शान्तरस का उदय होगा।

'आत्माराम शान्त' के प्रसङ्ग में यह बात लागू नहीं होती।

अद्भुतरस शान्त का श्रेष्ठ सुहृद है। यह अद्भुत प्रीत, प्रेयः, वत्सल और मधुर रसों का भी श्रेष्ठ सुहृद् है, किन्तु शान्त और शान्तप्राय तपस्वियों को श्रीभगवान् में दो प्रकार से चमत्कार का अनुभव होता है, एक तो ब्रह्मानुभव के आनन्द से भी उनके माधुर्य का अनुभव अधिक आनन्दमय होने से, और दूसरा—कभी शत्रुपक्ष के निग्रह आदि की लीला से उत्पन्न आश्चर्य के कारण।

३. **श्रीजीव०**—यहाँ दोनों प्रकार के शान्त का ग्रहण है। 'शुचि' अर्थात् शृङ्गार तथा युद्धवीर का विरोध ऊपर कहे गये पाँचों प्रकारों से है। रौद्र और भयानक तो आत्माराम-शान्त के ही विरोधी (शत्रु) हैं। तपस्विशान्त में यम आदि की उग्रता को देखने से अपने को संसार भय होने के कारण शान्ति की पुष्टि ही होती है। भक्त में स्वयं में रौद्र का उदित होना शान्त का शत्रु है।

४. **श्रीजीव०**—प्रीत का सुहृत् है बीभत्स, क्योंकि उदासीनों और विरोधियों के प्रति बीभत्स भाव होने पर दास्य ही पुष्ट होता है, और उन दोनों के प्रति उपरति होने से शान्त भी सुहृत् है। धर्मवीर और दानवीर—ये दोनों भी सुहृद् हैं।

५. **श्रीजीव०**—शृङ्गार के आश्रय श्रीकृष्ण हों तो वह प्रेयोभक्ति का मित्र है, हास्य श्रीकृष्ण-भक्तों में हो और युद्धवीर जब उदासीनों से अतिरिक्त में हो तो वह मित्र है।

६. **श्रीजीव०**—हास्य और करुण यहाँ श्रीकृष्ण, उनके भक्त, और अन्य भक्त इन तीनों में होते हैं। शृङ्गार सर्वगत है। युद्धवीर और रौद्र श्रीकृष्ण के साथ पारस्परिक हैं। प्रीत अर्थात् दास्य कृष्णविषयक हो तो वत्सल का विरोधी है।

७. **श्रीजीव०**—हास्य, प्रेयान् (सख्य) और शान्त ये श्रीकृष्ण और उनके भक्तों में ही समझने चाहियें। शान्त और प्रेयान् कभी-कभी सखी जैसे भक्तान्तर (अन्य भक्तों) में भी होते हैं। वत्सल उक्त तीनों में हो तो विरोधी है। बीभत्स किसी में भी हो विरोधी है। रौद्र और भयानक भी प्रायः सभी का शृङ्गार-विरोधी है। 'वीर-युग्म' से तात्पर्य है युद्धवीर और धर्मवीर। ये दोनों प्रथम तीनों में हो सकते हैं। 'दूसरों' का मत स्वयं ग्रन्थकार को अभिमत नहीं है ऐसा अभिप्राय है।

८. **श्रीजीव०**—बीभत्स का अर्थ यहाँ 'बक' आदि बीभत्स वेषधारी जन हैं, और उसका आश्रय यहाँ श्रीकृष्णभक्त ही है। यहाँ अत्यन्त दुर्गन्ध आदि का प्रसङ्ग नहीं है।

९. **श्रीजीव०**—अलौकिक वस्तुओं से उत्पन्न चमत्कार के अनुभव का भीषण (रौद्र) और बीभत्स से विघात होगा।

१०. **श्रीजीव०**—श्रीबलदेव आदि में युद्धवीर और श्रीव्रजेश्वर नन्द आदि में दानवीर आदि कभी-कभी वत्सल के सुहृद् दिखाई देते हैं, भयानक और शान्त युद्धवीर के शत्रु हैं। दानवीर का शत्रु भयानक है।

११. **श्रीजीव०**—रौद्र तब होता है जब भूतकाल में अपने प्रिय का जो पीड़न

हुआ था, उसकी अनुस्मृति होती है। वैसी दशा वर्तमान में हो तो उससे भय ही होता है।

१२. **श्रीजीव०**—भयानक यहाँ स्वगत समझना चाहिये।

१३. **श्रीजीव०**—करुण भयानक का सुहृद् तब बनता है जब प्रिय से अपने भावी वियोग का स्मरण होता है। वीर आदि स्वगत हैं।

१४. **श्रीजीव०**—यहाँ शान्त के आलम्बन तापस हैं, और प्रीत के आलम्बन हैं ऐसे भक्त जिनकी रति कभी आरम्भ ही हुई है। हास्य तब सुहृद् बनता है जब विदूषक आदि द्वारा विकृत वेश दिखाया जाता है, सर्वत्र नहीं।

१५. **श्रीजीव०**—'कथित' का अर्थ है जिन्हें साक्षात् कहा गया है या जो युक्ति से जाने गये हैं।

१६-१९. स्पष्ट है।

२०. **श्रीजीव०**—इस पद्य में श्रुति-वाक्यों का 'अनुवाद' है, जिनमें जीव और ईश्वर का अंश-अंशी भाव प्रमाणित है। घन का अर्थ है श्रीविग्रह के आकार में ढली चित् चेतना। 'ऐसा मेरा आलम्बन है' इस भाव से अपनी निष्ठा व्यक्त की गई है।..... यहाँ शान्त ही अङ्गी है, और प्रीत अङ्ग है, फिर भी शान्त की ही प्रबलता है। जैसे कि दही में मिश्री पड़ी हो तो मिठास ही बढ़कर प्रतीत होती है। पाद-संवाहन की इच्छा उन परमानन्द विग्रह के स्पर्श-जन्य आनन्द की इच्छा से प्रेरित है, न कि उन्हें सहायता का आनन्द देने की प्रेरणा से; क्योंकि वे स्वयं पूर्णानन्द-विग्रह के रूप में स्फुरित हो रहे हैं।

२१. **श्रीजीव०**—कुतुप अर्थात् पतले से चर्म से मढ़ा पात्र, कुतुकी अर्थात् विचित्र विषयों के आस्वाद में जिसका उत्साह है।

२२. **श्रीजीव०**—'दुस्तर्कचर्यास्पद' कहने से अद्भुत रस की व्यञ्जना है। ऊपर कही गयी 'संवाहन की इच्छा' की भाँति यहाँ सेवा की इच्छा भी श्रीकृष्ण के अतिशय सौरभ आदि के अनुभव की इच्छा से प्रेरित है।

२३-२४. स्पष्ट है।

२५. **श्रीविश्व०**—यहाँ 'मुख-विक्रिया' से बीभत्स की व्यञ्जना है, ब्रह्मसमाधि से तृप्त न होने में शान्त की व्यञ्जना है सिद्धियों की लालसा न रखने से दानवीर की व्यञ्जना है।

२६. **श्रीजीव०**—यह अनुमोदनात्मिका शृङ्गार-भावना है, इसमें सम्भोगेच्छा नहीं है, क्योंकि सखा लोग अपने स्वरूप में ही नित्य स्थित हैं।

२७. **श्रीजीव०**—यहाँ शृङ्गार का अंश होने पर भी हास्यांश से ही उदाहरण दिखाया गया है।

२८. स्पष्ट है।

२९. **श्रीजीव०**—बन्धु हृदय अनिष्ट की आशङ्का करते हैं। प्रस्तुत श्री व्रजेश्वरी के वचन में शङ्का-चिन्ता के अतिशय के कारण शोक की सम्भावना है, इसलिये करुण को अवकाश है।

३०-३२. स्पष्ट है।

३३. [यह श्री राधा का सखी के प्रति वचन है।]

३४. **श्रीजीव०**—'कृशाङ्गि' के स्थान पर 'सुकण्ठि' पाठभेद है।

३५. **श्रीविश्व०**—यह चन्द्रावली की सखी का वचन है।

३६-३९. स्पष्ट है।

४०. **श्रीजीव०**—यह किसी सखा का वचन है; ये सब रस उस सखा में ही समझने चाहियें, श्रीकृष्ण में नहीं। क्योंकि भक्तिरस ही प्रसङ्ग-प्राप्त है। 'पतली डण्डी से जीत लेने' की बात से इस कौशल की शिक्षा का उत्कर्ष द्योतित होता है।...... 'समराटोपोत्सवे' के स्थान पर 'समराटोपक्रमे' ऐसा पाठभेद है।

४१-४९. स्पष्ट है।

५०. **श्रीजीव०**—मुख्य का अर्थ है वह रस जिसने लीलाभेद से अपनी मुख्यता प्रकट की हो।

५१-६४. स्पष्ट है।

६५. **श्रीजीव०**—यहाँ पूर्वार्ध में मुनि और युवती की निष्ठा की प्रथमावस्था तथा उत्तरार्ध में उनकी उत्तरावस्था है।

यह पद्य श्री राधा-माधव की रहस्यलीला में सहायिका तपस्विनी पौर्णमासी का वचन है, जिसमें उन्होंने दो रसों की भावना की है— मुनि आदि के अनुसार शान्त एवं श्रीराधा आदि के अनुसार शृङ्गार। यहाँ मुनियों-योगियों के योगबल से प्रवृत्त किये जाते हुए मन की अप्रवृत्ति बताई गई है और श्रीराधा का मन धर्मभय से बाधित होने पर भी प्रवृत्त हो रहा है। यहाँ योगियों के मन की न्यूनता तथा श्रीराधा के मन की श्रेष्ठता स्पष्ट होती है। किन्तु इस प्रकार वर्णन वक्ता के भेद से ही दोष-रहित माना जा सकता है, सर्वत्र नहीं।

६६. **श्रीजीव०**—उक्त प्रकार से शान्त की बाध्यता और शृङ्गार की प्रमुखता कही गई।

६७. **श्रीजीव०**—यह और अगला (६८) पद्य किन्हीं छोटे देवों का वचन है, क्योंकि यह अतिस्निग्ध स्वभाव वाले भक्तों का वचन प्रतीत नहीं होता, व्रजस्थित भक्तों का तो नहीं ही। 'वैहासिक' अर्थात् 'विदूषक' शब्द का प्रयोग व्रजवासियों के पक्ष में उचित नहीं है। न ही यह ब्रह्मा, शिव आदि का वचन हो सकता है, क्योंकि उन्हें तो स्वयं ही श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान है।

श्रीविश्व०—कालिय द्वारा लपेटे हुए श्रीकृष्ण को देखकर कोई गोप दुःख से कह रहा है। यद्यपि श्रीकृष्ण का असुर के द्वारा पराभव नहीं हो सकता। इसलिये विलाप की सम्भावना नहीं है, तथापि ऐश्वर्य ज्ञान रहित गोप को श्रीकृष्ण का बन्धन देखकर स्नेह से विलाप का अनुमान हो रहा है। यहाँ करुण रस के साथ हास का विरोध होने पर भी हास का स्मरण होने के कारण विरसता नहीं है।

६८. **श्रीजीव०**—षोडश कलाओं की विश्रान्ति के दो अर्थ हैं—एक-सोलह प्रकार के शृङ्गार जिसमें विश्रान्ति पा चुके हैं ऐसी, दूसरा-सोलह कला

वाला लिङ्ग शरीर जिसमें लीन हो चुका है। 'निर्विकल्पा' के भी दो अर्थ हैं—एक-सम्यक् प्रत्यक्ष रूप से निर्णीता, दूसरा-भेदरहिता। 'निरावृति' के दो अर्थ हैं—एक-लता आदि के व्यवधान से रहित, दूसरा-गुणों के आवरण से रहित। 'ब्रह्मविद्येव' के स्थान पर 'मुक्तिश्रीरिव' पाठ हमने छोड़ दिया है।

६९. [यह श्रीकृष्ण का किसी सखा या सखी के प्रति वचन है।]

७०. **श्रीजीव०**—रम्भा नाम की अप्सरा किसी (तपस्विनी) से पूछती है। यहाँ रूप की अत्यन्त अद्भुतता से शान्तिरति को ढककर मधुर रति की उद्भावना हुई है, ऐसा समझना चाहिये।

श्रीजीव०—शान्तरस में व्यवधान का आरम्भ वहीं से है जहाँ से कन्दर्प (काम) की दशा का आरम्भ कहा गया है। साक्षात् काम की बात कहने से जो वैरस्य है उसका निषेध नहीं है।

७१. **श्रीविश्व०**—यह रुक्मिणी का वचन है जिसमें श्रीकृष्ण के प्रति उनका शृङ्गार रस है, और प्राकृत पुरुषों के प्रसङ्ग में बीभत्स रस है। विषय-भेद के कारण वैरस्य नहीं है।

७२. [यह श्रीकृष्ण का सुबल जैसे किसी सखा के प्रति वचन है।]

७३-७४. स्पष्ट है।

७५. **श्रीविश्व०**—यहाँ पिता के विषय में दास्यरति है, और श्रीकृष्ण के विषय में शृङ्गार। दोनों मुख्य रतियाँ हैं, इसलिये विषय में भेद होने पर भी परस्पर वैरस्य है।

७६. **श्रीजीव०**—यहाँ वक्ता शान्त का आश्रय है और रुक्मिणी शृङ्गार का आश्रय है। अतः पूरा-पूरा दोष है।

७७. स्पष्ट है।

७८. **श्रीविश्व०**—जिनमें स्वभाव से द्वेष है ऐसे राजसेवकों में अपने स्वामी की सेवा के लिये जिस प्रकार परस्पर सङ्गति होती है, उसी प्रकार परस्पर वैरी अङ्गों में भी अङ्गी की पुष्टि के निमित्त सङ्गति होने में दोष नहीं है

७९. यह श्री नन्द का वचन है।

८०. स्पष्ट है। इसी लहरी का ३१ वाँ पद्य है।

८१. **श्रीजीव०**—युधिष्ठिर में दास्य, वात्सल्य और सख्य दिखाई देता है। इन तीनों रसों की योग्यता उनमें क्रमशः श्रीकृष्ण के ईश्वरता-ज्ञान के कारण, ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण और बहुत ज्येष्ठ न होने के कारण है, जैसे कि श्रीबलराम हैं। दोष तभी होता है जब अयोग्य में विभिन्न रसों का उदय बताया जाय। श्रीमद्भागवत में जो कुछ प्रयोग विरुद्ध जैसे दिखायी देते हैं, उनका समाधान प्रीति-सन्दर्भ में किया गया है।

८२. स्पष्ट है।

८३. **श्रीजीव०**—विषय के रूप में प्रायः स्वाद की हानि नहीं होती, और आश्रय के रूप में भी स्वाद्यता रहती है।

८४. **श्रीजीव०**—कंस के पुरोहितों के मुख पर विकृति आ गई अर्थात् वे नाक-भौंह सिकोड़ने लगे, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्ण का शरीर कुवलयापीड़ हाथी के रक्त तथा उसके मदजल से सना दिखाई दिया—इससे बीभत्स सूचित होता है। सखाओं में हास्य और प्रेयान् ये दो रस हैं। प्रलय अर्थात् मूर्च्छा का अर्थ है भय से निष्क्रिय होना। ऋषियों का ध्यानमग्न होना शान्त रस को व्यक्त करता है। माताओं में वत्सल एवं करुण रस हैं।

८५. सभी रस स्पष्ट हैं।

नवम लहरी—रसाभास

१-३. स्पष्ट है।

४. **श्रीविश्व०**—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' (गीता) इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान् का परब्रह्म होना प्रतिपादित होने से, निर्विशेषता-दृष्टि से, जो सबका कारण है उसके साथ सबका अत्यन्त अभेद है इस मनन के द्वारा अद्वैत का आधिक्य प्रकट होने से, भूमा के बीभत्स (असुन्दर)

रूप से ध्यान से एवं देह आदि में जुगुप्सा के भाव से, 'आदि' के द्वारा चित्-अचित् के विवेक के अतिरेक से यह शान्त उपरस हो जाता है।

५-६. **श्री विश्व०**—पद्य सं० ५ में उपर्युक्त पहली स्थिति अर्थात् भगवान् में ब्रह्मभाव के साम्यदर्शन का उदाहरण है; पद्य सं० ६. में भगवान् के साथ समस्त विषयों के अद्वैत-दर्शन का उदाहरण है। तृतीय (बीभत्सभूमा) का उदाहरण नहीं दिया है।

७-९. स्पष्ट है।

१०. **श्रीजीव०**—यहाँ 'नृप' से तात्पर्य श्रीकृष्ण के समधी (पुत्री या पुत्र के श्वशुर) से है।

११-१७. स्पष्ट है।

१८. **श्रीजीव०**—वैरूप्य का उदाहरण है याज्ञिक ब्राह्मणों की पत्नियाँ (जो बालक श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हुई थीं।) लता-पशु आदि में श्रीकृष्ण के सान्निध्य के स्वाभाविक आनन्द-मात्र में ही मधुर-रति की उत्प्रेक्षा की जाती है। वृद्धाओं में हास-मात्र के लिये उस प्रकार का वर्णन किया जाता है। इसलिये वास्तविक रति के अभाव के कारण रसाभास कहा जाता है। पुलिन्दियों (भीलनियों) में वास्तविक रति होने पर भी जाति (जनसमुदाय) के वैरूप्य के कारण यज्ञपत्नियों के समान रसाभास जानना चाहिये। लता-पशु आदि में वैदग्ध्य की संभावना ही नहीं है इसलिये वैदग्ध्य का अभाव कहा गया है।

उज्ज्वलता का अर्थ है आकृति से एवं जाति आदि से योग्य होना।

१९. **श्रीजीव०**—इस सम्पूर्ण पद्य का पाठभेद इस प्रकार है—

समुकुलपुलका निशम्य वंशीं नखलिखिता च हरिं प्रसज्य जाता।
तदिह नववयाः प्रतानिनीयं लसति यथा भवती तथा वराङ्गी॥

२०. **श्रीजीव०**—इस पद्यके उत्तरार्ध में यह पाठभेद है—

याः केशवाङ्गं सखि! सङ्गमय्य स्वैरादपाङ्गं भवतीर्जयन्ति॥

२१-२३. स्पष्ट है।

२४. **श्रीजीव०**—शुचित्व आदि आलम्बन-गत समझने चाहियें। विभाव का अर्थ यहाँ विशिष्ट भाव है। शुचिता का अर्थ यहाँ पवित्रता है। इन सब गुणों से शृङ्गार की पुष्टि होती है। जहाँ ये गुण नहीं है वहाँ रसाभास होता है।

'शृङ्गारः पुष्टिमागच्छेदाभासत्वमतोऽन्यथा'—ऐसा उत्तरार्ध का पाठान्तर है।

श्रीमुकुन्द०— विभावता का अर्थ है आश्रयता। अर्थात् शुचित्वादि आश्रयालम्बन में हो तो शृङ्गार रस है, अन्यथा रसाभास होगा।

२५. **श्रीमुकुन्द०**—'समय' का अर्थ है आचार। 'अनुभाव आदि' में 'आदि' शब्द से व्यभिचारी भावों की विरूपता को समझना चाहिये।

२६. स्पष्ट है।

२७. **श्रीविश्व०**—यहाँ अनुभाव का वैरूप्य है।

२८. स्पष्ट है।

२९. **श्रीजीव०**—यद्यपि श्रीकृष्ण यहाँ बालक हैं, तथापि मुरलीध्वनि की विशेषता से उनमें कैशोर-भाव व्यक्त हो रहा है, इसलिये नागकिशोरियों द्वारा 'बालक!' सम्बोधन उनमें विदग्धता के अभाव को सूचित कर रहा है।

३०-३२. स्पष्ट है।

३३. **श्रीमुकुन्द०**—'विभावादि' में 'आदि' से अनुभाव आदि का ग्रहण है। शान्त का विषय ब्रह्म हो और आश्रय भक्त हो तो वह अनुरस होता है।

३४. स्पष्ट है।

३५. **श्रीजीव०**—'कक्ष' का अर्थ सूखा वन अथवा वृक्ष भी होता है। 'कक्षे' के स्थान पर 'वृक्षे' पाठ लिया जाय तो सुगम होगा।

३६. स्पष्ट है।

३७. **श्रीजीव०**—आठ रसों में मुख्य शान्त और हास्य आदि सात गौण रसों का ग्रहण है।

३८. स्पष्ट है।

३९. **श्रीजीव०**—यहाँ जरासन्ध का हास अपरस ही है। यदि उसके असुरभाव के अनुगत किसी अन्य का हास हो तो वह भी अपरस होगा। किसी भक्त में यदि उपहास-मय हास हो तो वह शुद्ध हास्यरस होगा।

४०-४१. **श्रीजीव०**—यहाँ सारे प्रकरण के अर्थ को समेट कर रखा गया है। विभाव आदि जब परस्पर मेल खाते हैं, तब वे रस-पोषक होते हैं, जब उनमें मेल नहीं होता तब वे विरसता उपजाते हैं यह बात लोक-प्रसिद्ध है।

४२. ['नाटक-लक्षण' का अर्थ है नाटकचन्द्रिका, जो ग्रन्थकार की अपनी कृति है।]

o——o

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः
परिशिष्ट

परिशिष्ट — क

भक्तिरसामृतसिन्धु में प्रतिपादित विभिन्न 'पदार्थों' के भेद-प्रभेदों की वृक्षाकार-तालिकाएँ

भगवद्भक्ति-निरूपक पूर्वविभाग

प्रथम लहरी—सामान्य-भक्ति

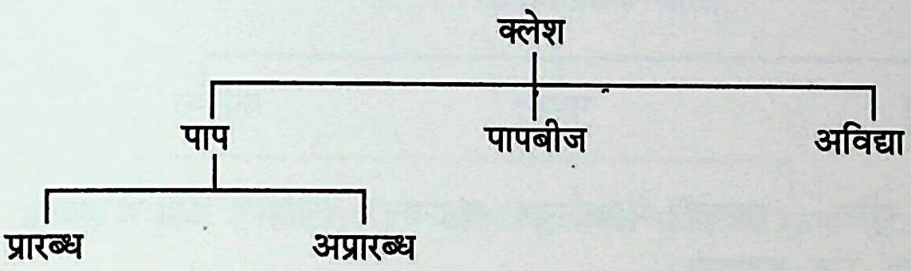
क्लेश
पाप
पापबीज
अविद्या
प्रारब्ध
अप्रारब्ध

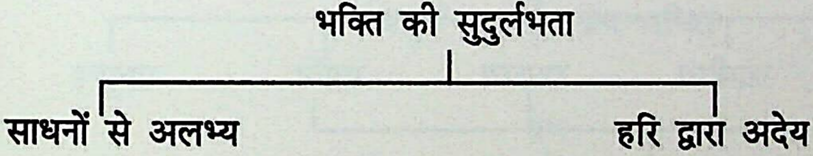
भक्ति की सुदुर्लभता
साधनों से अलभ्य
हरि द्वारा अदेय

द्वितीय लहरी—साधन भक्ति

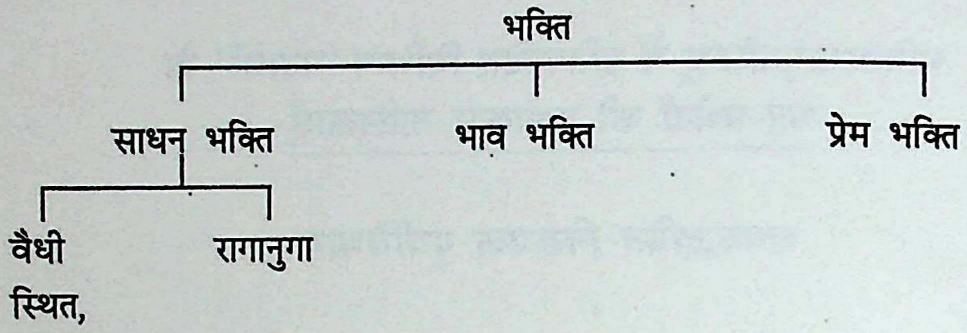
भक्ति
साधन भक्ति
भाव भक्ति
प्रेम भक्ति
वैधी
रागानुगा
स्थित,

(रागात्मिका की अनुसारिणी, व्रजवासियों में नित्य भक्ति का)

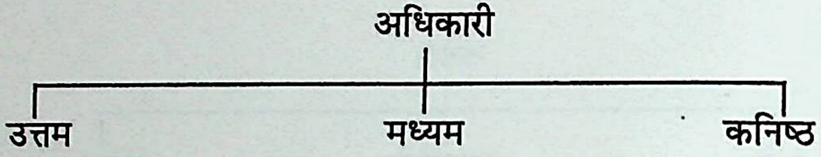
अधिकारी
उत्तम
मध्यम
कनिष्ठ

(शास्त्र और युक्ति, (शास्त्रादि में अनिपुण, श्रद्धावान्), (कोमल श्रद्धा से युक्त)
दोनों में निपुण, प्रौढ़-श्रद्धावान्)

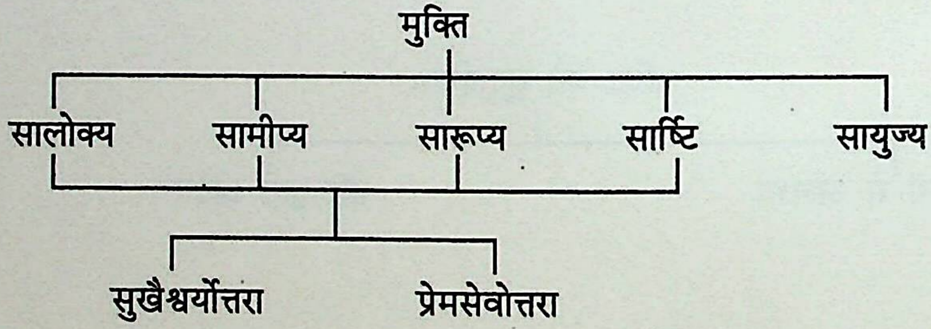
मुक्ति
सालोक्य
सामीप्य
सारूप्य
सार्ष्टि
सायुज्य
सुखैश्वर्योत्तरा
प्रेमसेवोत्तरा

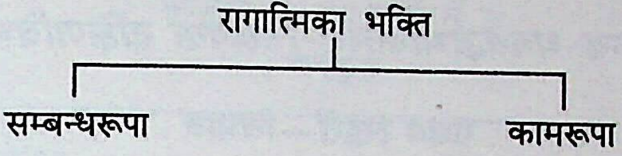
रागात्मिका भक्ति
सम्बन्धरूपा
कामरूपा

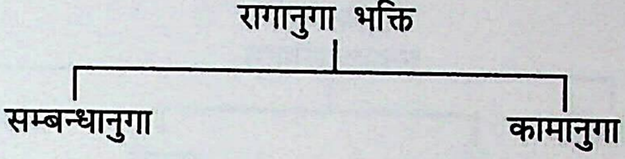
रागानुगा भक्ति
सम्बन्धानुगा
कामानुगा

तृतीय लहरी—भाव-भक्ति

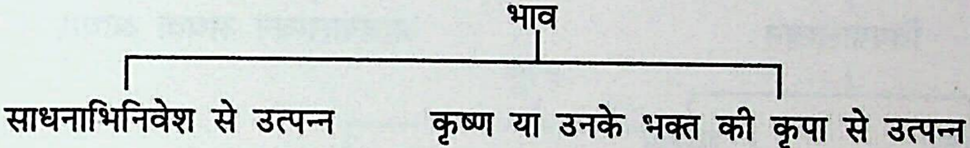
भाव
साधनाभिनिवेश से उत्पन्न
कृष्ण या उनके भक्त की कृपा से उत्पन्न

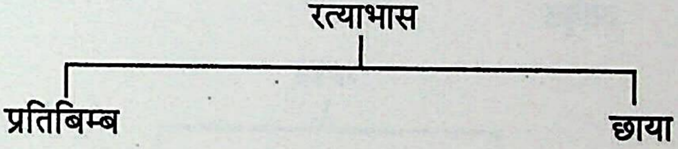
रत्याभास
प्रतिबिम्ब
छाया

चतुर्थ लहरी—प्रेम भक्ति

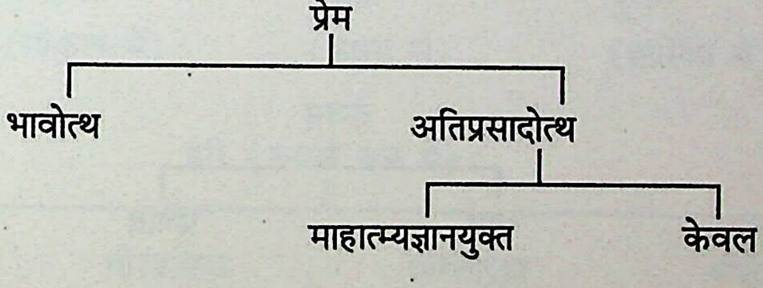
प्रेम
भावोत्थ
अतिप्रसादोत्थ
माहात्म्यज्ञानयुक्त
केवल

सामान्य-भगवद्भक्तिरस-निरूपक दक्षिणविभाग

प्रथम लहरी—विभाव

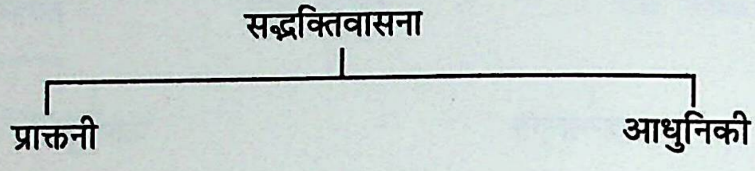
सद्भक्तिवासना
प्राक्तनी
आधुनिकी

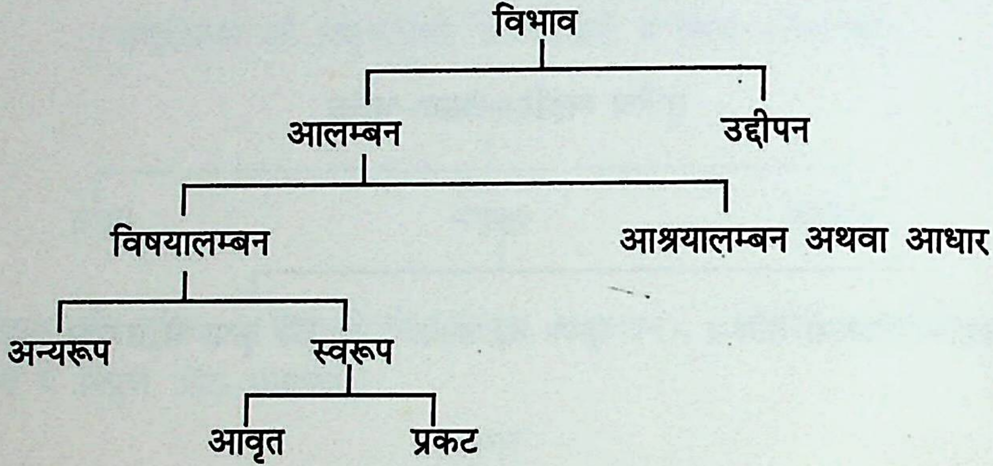
विभाव
आलम्बन
उद्दीपन
विषयालम्बन
आश्रयालम्बन अथवा आधार
अन्यरूप
स्वरूप
आवृत
प्रकट

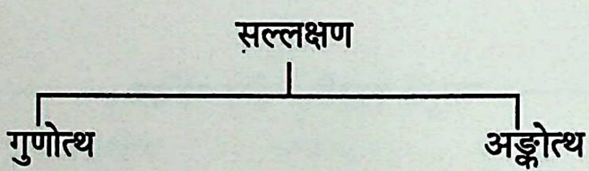
सल्लक्षण
गुणोत्थ
अङ्गोत्थ

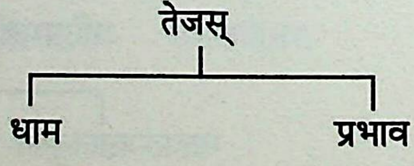

श्रीकृष्ण के ६४ गुणों में से

- वावदूक
  - श्रुतिप्रेष्ठोक्ति
  - अखिलवाग्गुणान्वितवाक्

- सुपाण्डित्यवान्
  - विद्वान्
  - नीतिज्ञ

- बुद्धिमान्
  - मेधावी
  - सूक्ष्मधीः

- शुचि
  - पावन
  - विशुद्ध

- ईश्वर
  - स्वतन्त्र
  - दुर्लङ्ध्याज्ञा-(वाला)

- हरि
  - पूर्णतम (गोकुल में)
  - पूर्णतर (मथुरा में)
  - पूर्ण (द्वारिका में)

- हरि (नायक रूप में)
  - धीरोदात्त
  - धीरप्रशान्त
  - धीरललित
  - धीरोद्धत

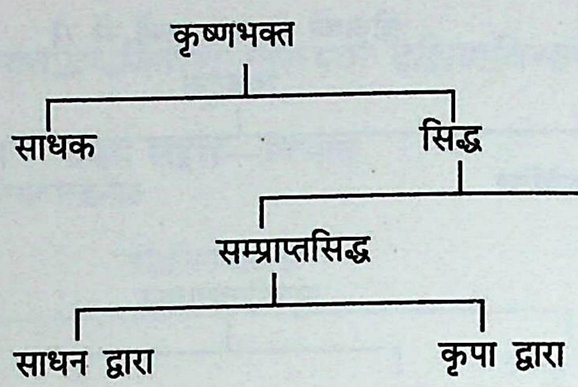
कृष्णभक्त
साधक
सिद्ध
सम्प्राप्तसिद्ध
नित्यसिद्ध
साधन द्वारा
कृपा द्वारा

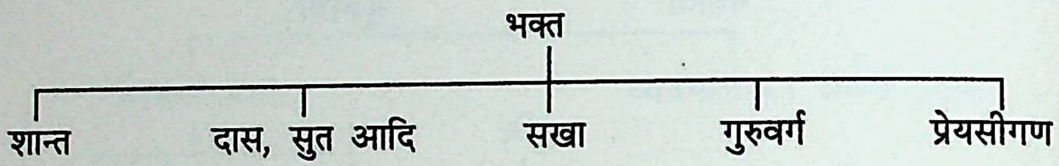
भक्त
शान्त
दास, सुत आदि
सखा
गुरुवर्ग
प्रेयसीगण

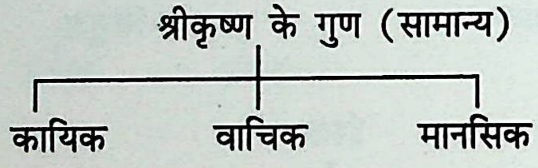
श्रीकृष्ण के गुण (सामान्य)
कायिक
वाचिक
मानसिक

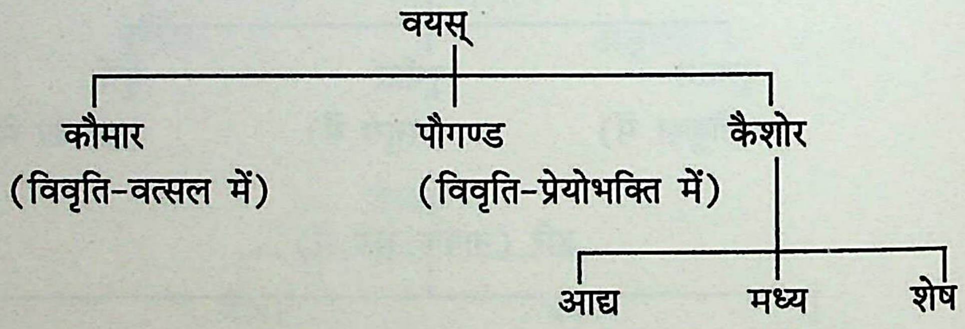
वयस्
कौमार
(विवृति-वत्सल में)
पौगण्ड
(विवृति-प्रेयोभक्ति में)
कैशोर
आद्य
मध्य
शेष

वसन (वस्त्र)

- युग
- चतुष्क
- भूयिष्ठ

कचबन्धन

- जूट
- कबरी
- चूड़ा
- वेणी

आलेप

- पाण्डुर
- कर्बुर
- पीत

माला

- वैजयन्ती
- रत्नमाला
- वनमाला

चित्र

- पीत
- सित
- अरुण

रत्नमण्डन

- किरीट
- कुण्डल
- हार
- चतुष्की
- वलयोर्मि
- केयूर
- नूपुर

वंश

- वेणु
- मुरली
- वंशिका

द्वितीय लहरी—अनुभाव

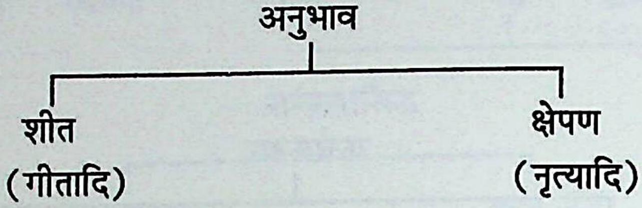
अनुभाव
शीत
(गीतादि)
क्षेपण
(नृत्यादि)

तृतीय लहरी—सात्त्विक भाव

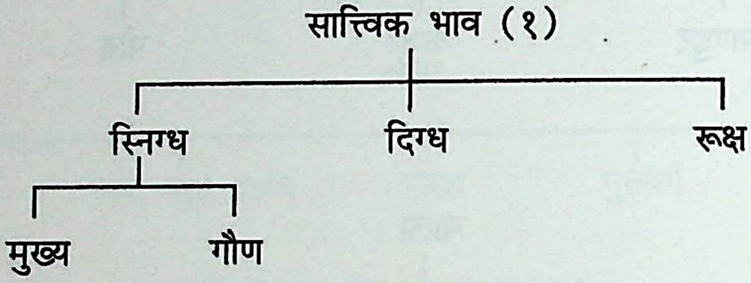
सात्त्विक भाव (१)
स्निग्ध
दिग्ध
रूक्ष
मुख्य
गौण

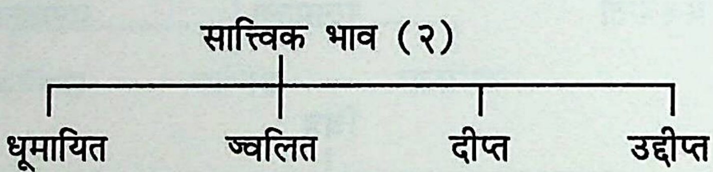
सात्त्विक भाव (२)
धूमायित
ज्वलित
दीप्त
उद्दीप्त

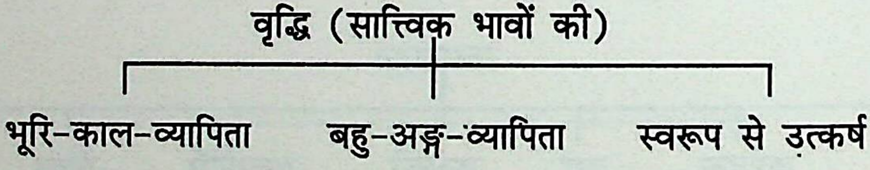
वृद्धि (सात्त्विक भावों की)
भूरि-काल-व्यापिता
बहु-अङ्ग-व्यापिता
स्वरूप से उत्कर्ष

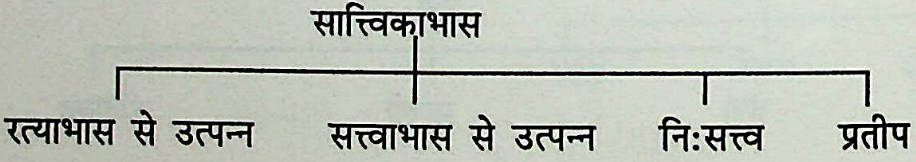
सात्त्विकाभास
रत्याभास से उत्पन्न
सत्त्वाभास से उत्पन्न
निःसत्त्व
प्रतीप

चतुर्थ लहरी—व्यभिचारी भाव

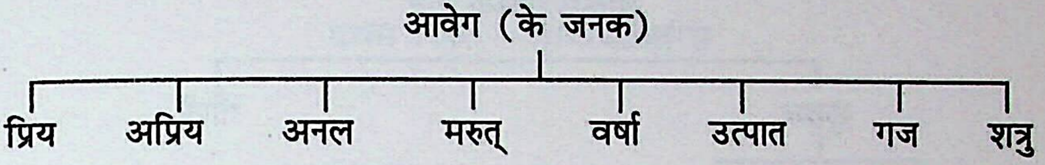
आवेग (के जनक)
प्रिय
अप्रिय
अनल
मरुत्
वर्षा
उत्पात
गज
शत्रु

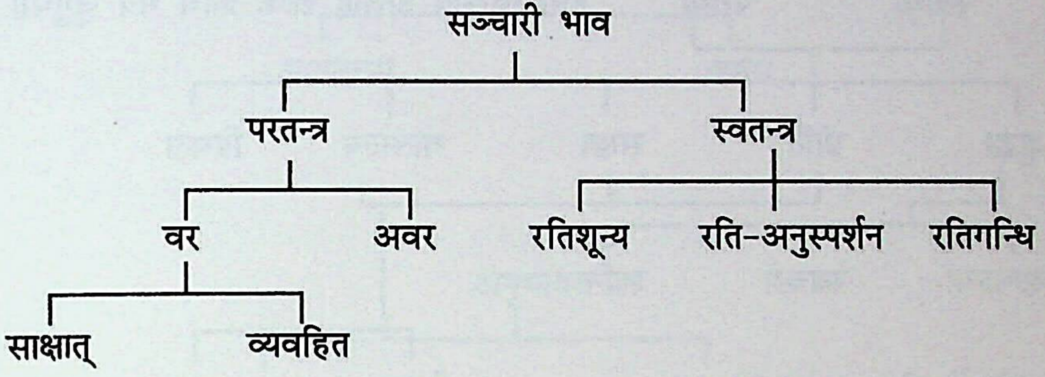
सञ्चारी भाव
परतन्त्र
स्वतन्त्र
वर
अवर
रतिशून्य
रति-अनुस्पर्शन
रतिगन्धि
साक्षात्
व्यवहित

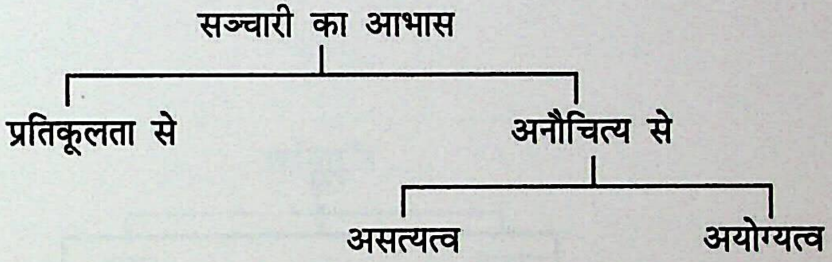
सञ्चारी का आभास
प्रतिकूलता से
अनौचित्य से
असत्यत्व
अयोग्यत्व

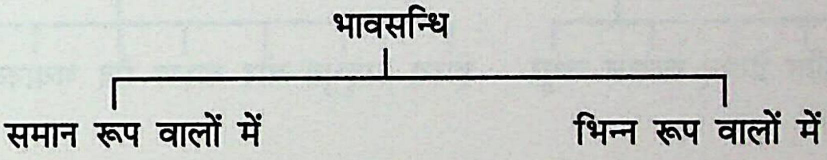
भावसन्धि
समान रूप वालों में
भिन्न रूप वालों में

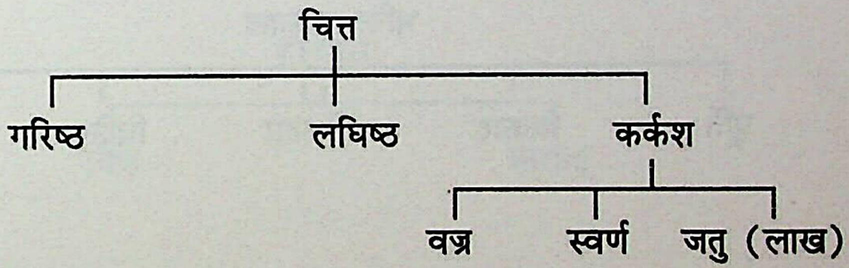
चित्त
गरिष्ठ
लघिष्ठ
कर्कश
वज्र
स्वर्ण
जतु (लाख)

पञ्चम लहरी—स्थायिभाव

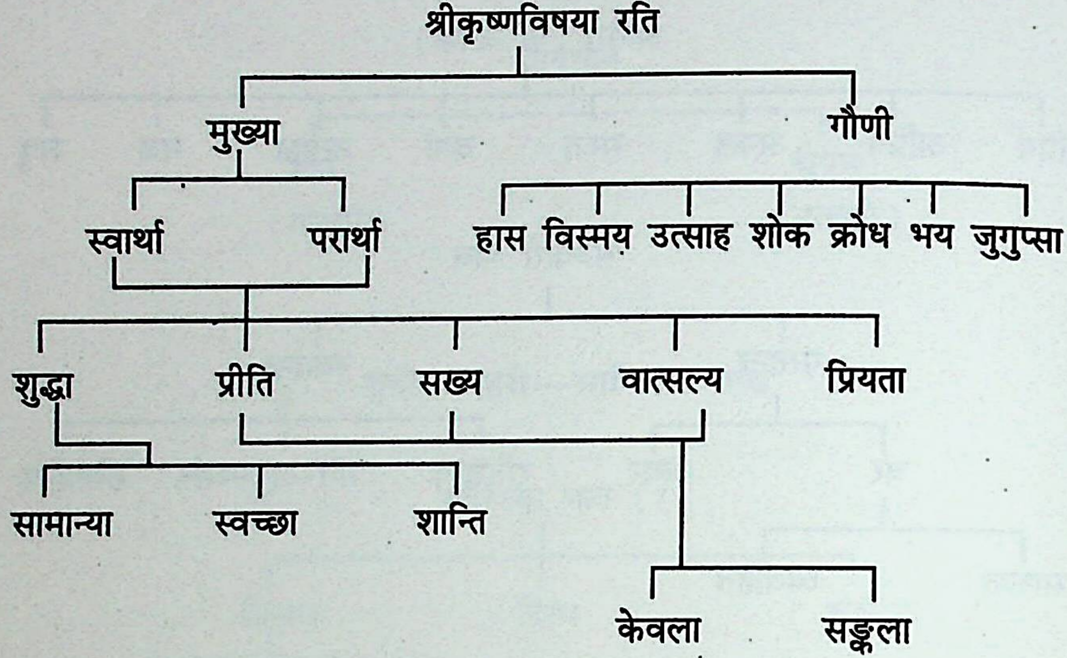
श्रीकृष्णविषया रति
मुख्या
गौणी
स्वार्था
परार्था
हास
विस्मय
उत्साह
शोक
क्रोध
भय
जुगुप्सा
शुद्धा
प्रीति
सख्य
वात्सल्य
प्रियता
सामान्या
स्वच्छा
शान्ति
केवला
सङ्कुला

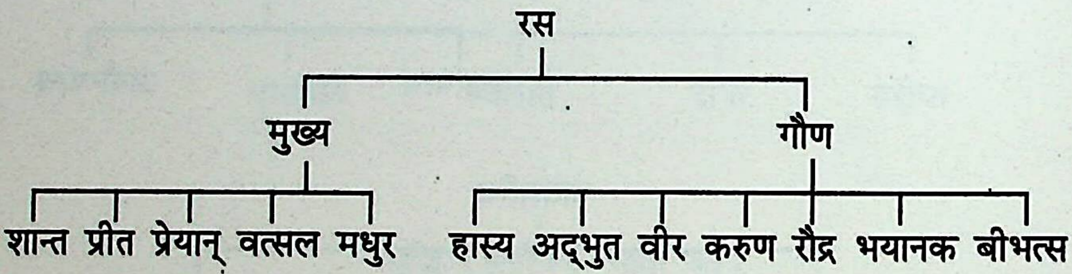
रस
मुख्य
गौण
शान्त
प्रीत
प्रेयान्
वत्सल
मधुर
हास्य
अद्भुत
वीर
करुण
रौद्र
भयानक
बीभत्स

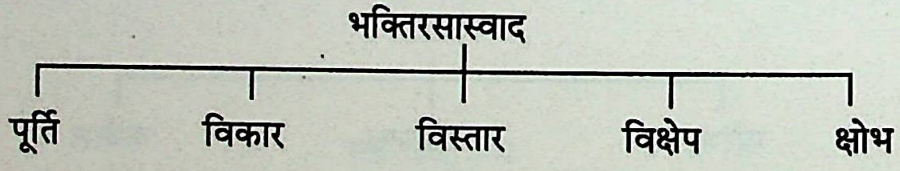
भक्तिरसास्वाद
पूर्ति
विकार
विस्तार
विक्षेप
क्षोभ

मुख्य भक्तिरस-निरूपक पश्चिमविभाग

प्रथम लहरी—शान्तभक्तिरस

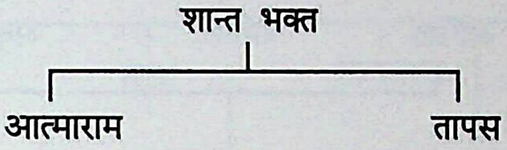
शान्त भक्त
आत्माराम
तापस

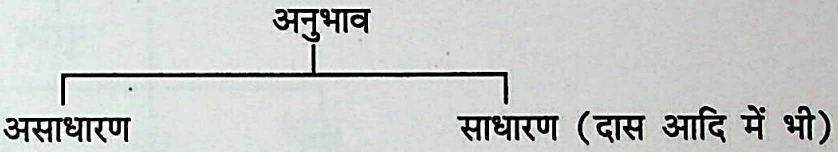
अनुभाव
असाधारण
साधारण (दास आदि में भी)

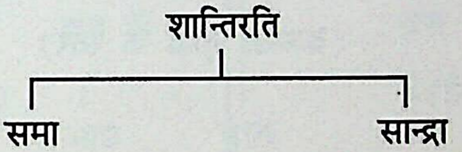
शान्तिरति
समा
सान्द्रा

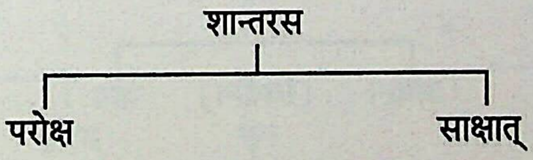
शान्तरस
परोक्ष
साक्षात्

द्वितीय लहरी—प्रीतभक्तिरस

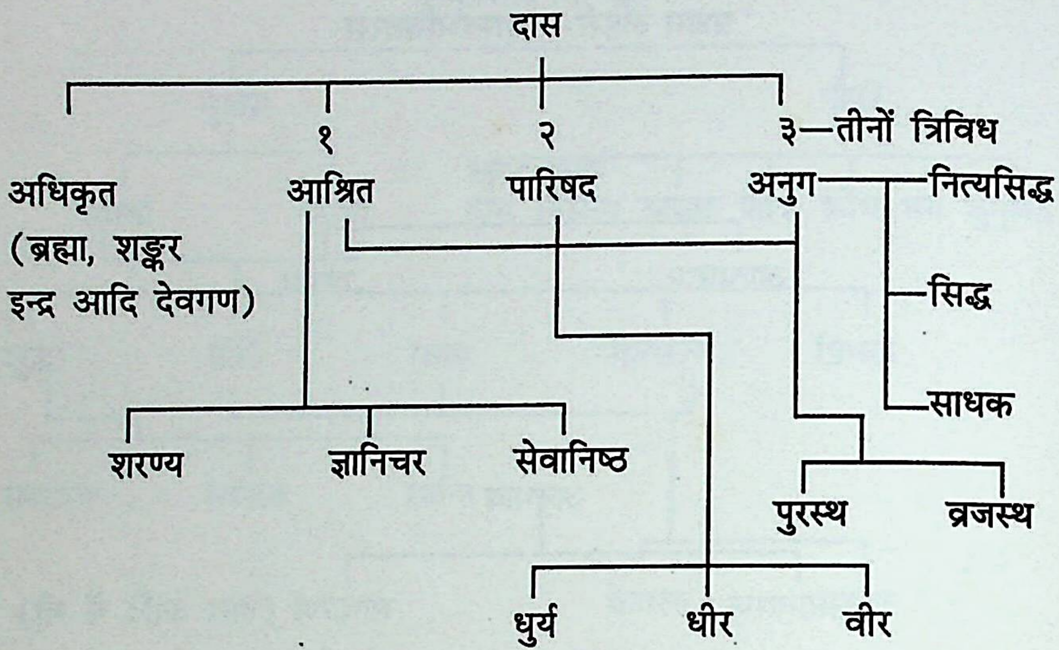
दास
१
२
३—तीनों त्रिविध
अधिकृत
(ब्रह्मा, शङ्कर
इन्द्र आदि देवगण)
आश्रित
पारिषद
अनुग
नित्यसिद्ध
सिद्ध
साधक
शरण्य
ज्ञानिचर
सेवानिष्ठ
पुरस्थ
व्रजस्थ
धुर्य
धीर
वीर

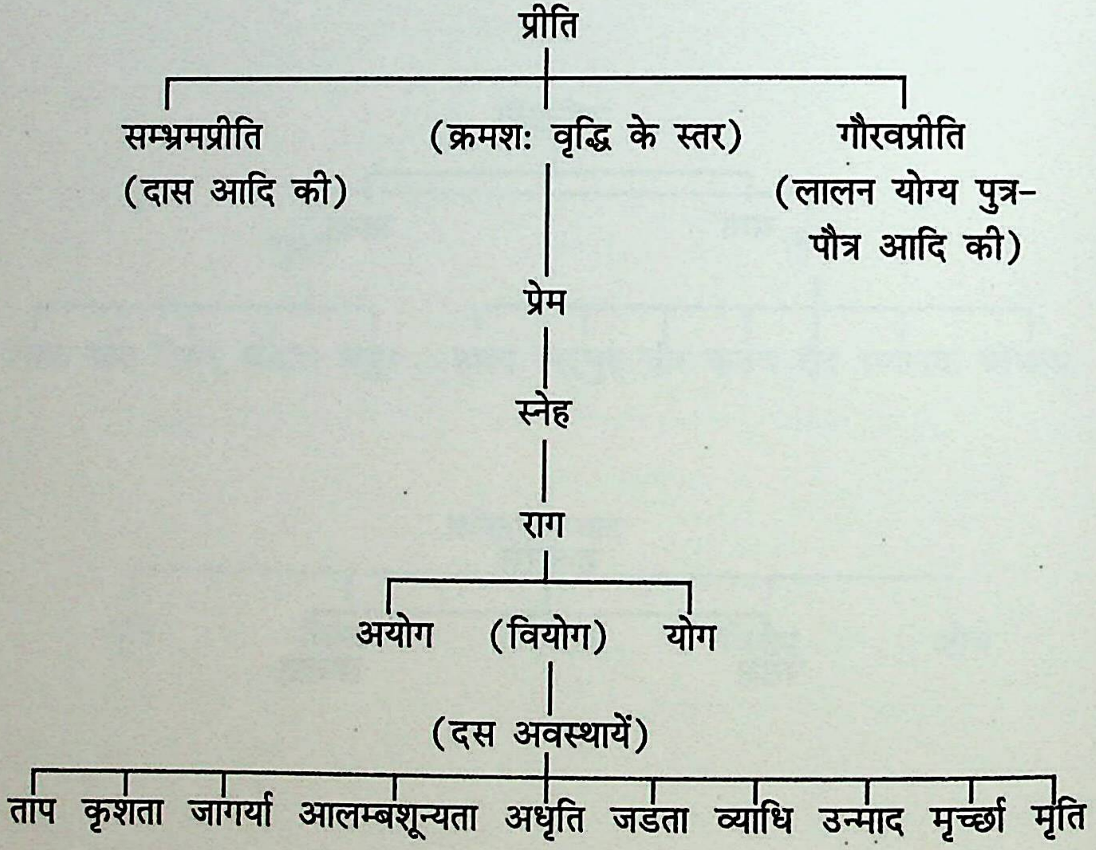
प्रीति
सम्भ्रमप्रीति
(दास आदि की)
(क्रमशः वृद्धि के स्तर)
गौरवप्रीति
(लालन योग्य पुत्र-
पौत्र आदि की)
प्रेम
स्नेह
राग
अयोग
(वियोग)
योग
(दस अवस्थायें)
ताप
कृशता
जागर्या
आलम्बशून्यता
अधृति
जडता
व्याधि
उन्माद
मूर्च्छा
मृति

तृतीय लहरी—प्रेयोभक्तिरस

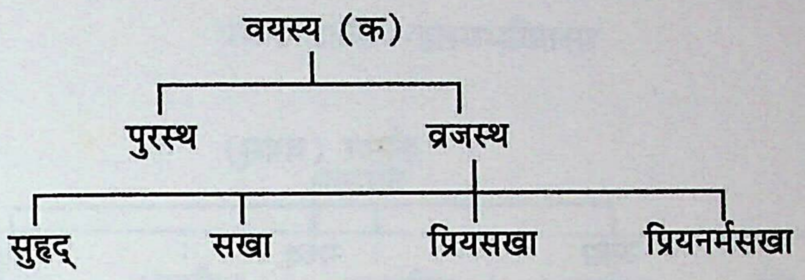
वयस्य (क)
पुरस्थ
व्रजस्थ
सुहृद्
सखा
प्रियसखा
प्रियनर्मसखा

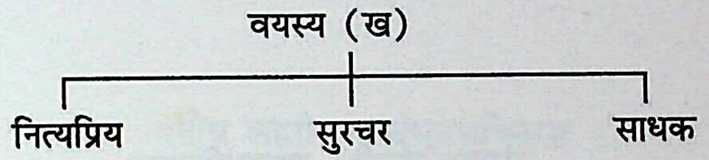
वयस्य (ख)
नित्यप्रिय
सुरचर
साधक

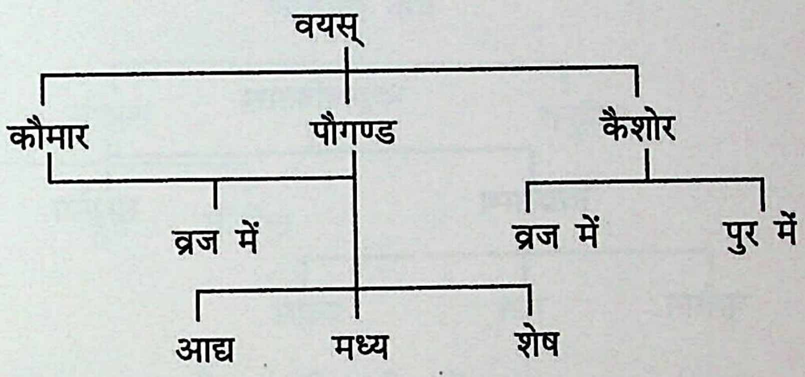
वयस्
कौमार
पौगण्ड
कैशोर
व्रज में
व्रज में
पुर में
आद्य
मध्य
शेष

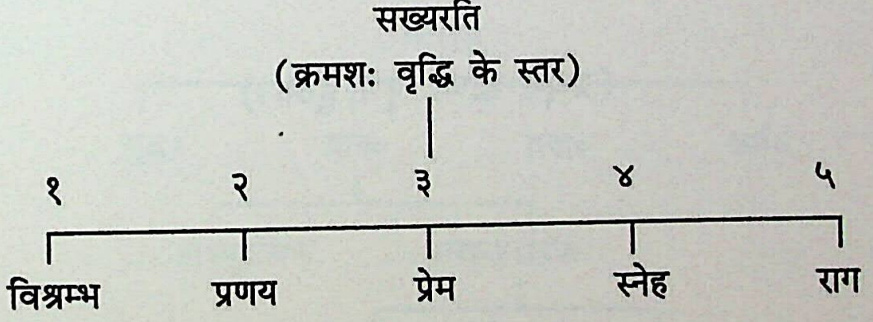
सख्यरति
(क्रमशः वृद्धि के स्तर)
१
२
३
४
५
विश्रम्भ
प्रणय
प्रेम
स्नेह
राग

चतुर्थ लहरी—वत्सलभक्तिरस

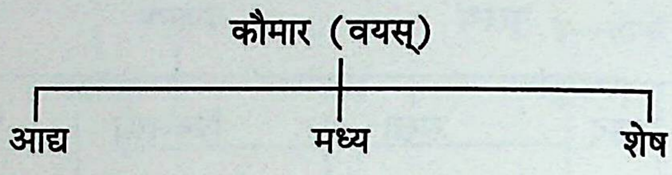
कौमार (वयस्)
आद्य
मध्य
शेष

पञ्चम लहरी—मधुरभक्तिरस

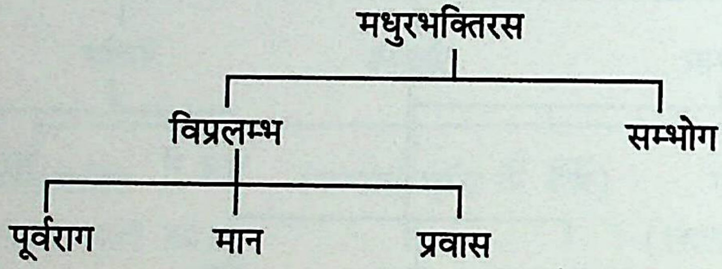
मधुरभक्तिरस
विप्रलम्भ
सम्भोग
पूर्वराग
मान
प्रवास

(प्रथम खण्ड पूर्ण हुआ।)

गौणभक्तिरस-निरूपक उत्तरविभाग

प्रथम लहरी—हास्यभक्तिरस

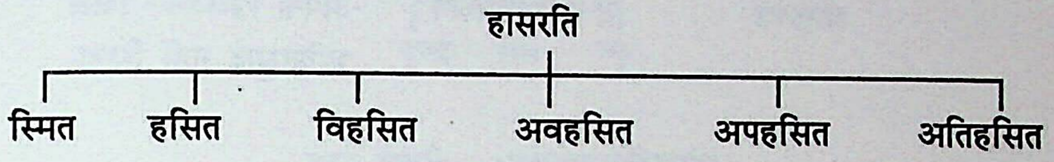
हासरति
स्मित
हसित
विहसित
अवहसित
अपहसित
अतिहसित

द्वितीय लहरी—अद्भुतभक्तिरस

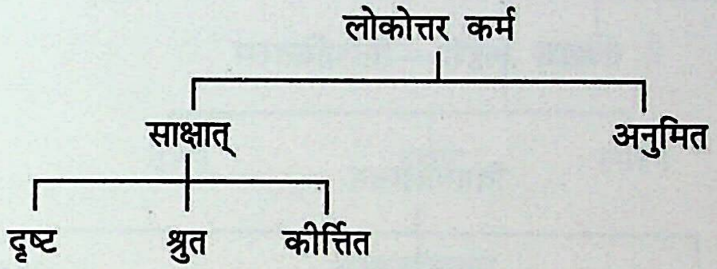
लोकोत्तर कर्म
साक्षात्
अनुमित
दृष्ट
श्रुत
कीर्त्तित

तृतीय लहरी—वीरभक्तिरस

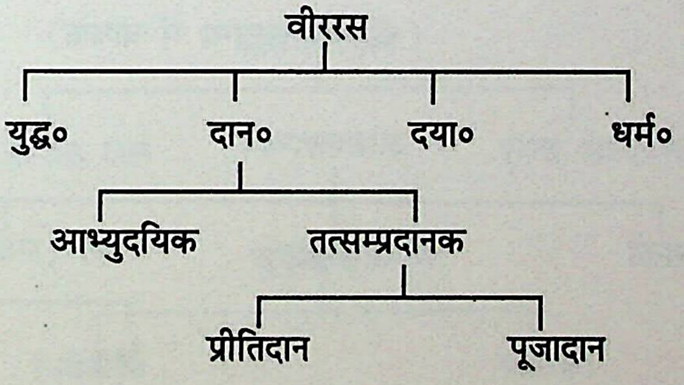
वीररस
युद्ध०
दान०
दया०
धर्म०
आभ्युदयिक
तत्सम्प्रदानक
प्रीतिदान
पूजादान

चतुर्थ लहरी—करुणभक्तिरस

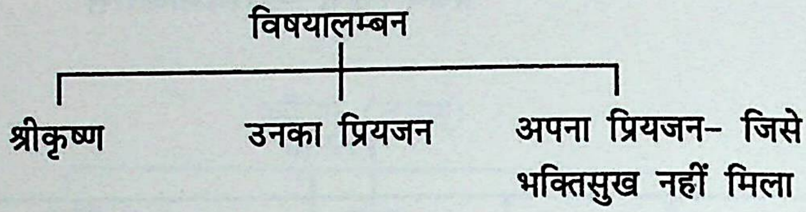
विषयालम्बन
श्रीकृष्ण
उनका प्रियजन
अपना प्रियजन- जिसे भक्तिसुख नहीं मिला

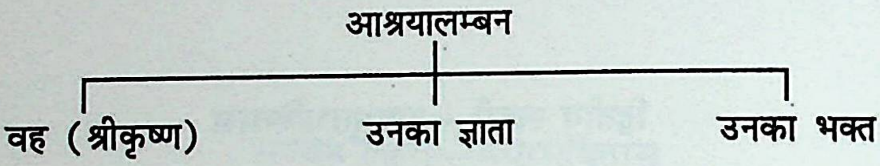
आश्रयालम्बन
वह (श्रीकृष्ण)
उनका ज्ञाता
उनका भक्त

पञ्चम लहरी—रौद्रभक्तिरस

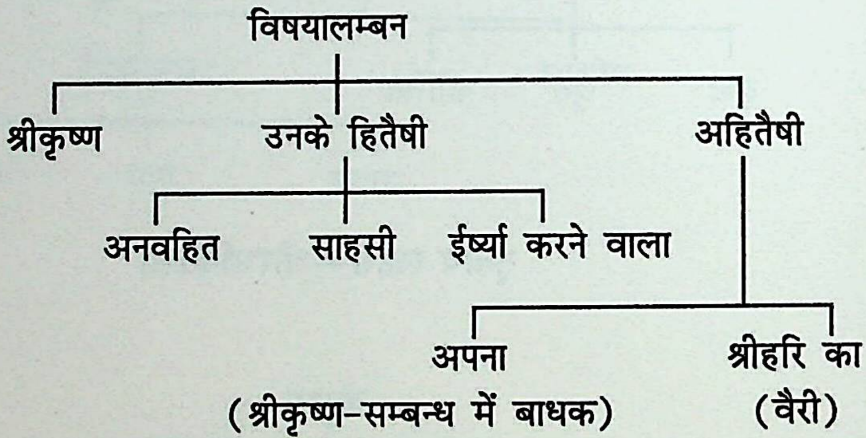
विषयालम्बन
श्रीकृष्ण
उनके हितैषी
अहितैषी
अनवहित
साहसी
ईर्ष्या करने वाला
अपना (श्रीकृष्ण-सम्बन्ध में बाधक)
श्रीहरि का (वैरी)

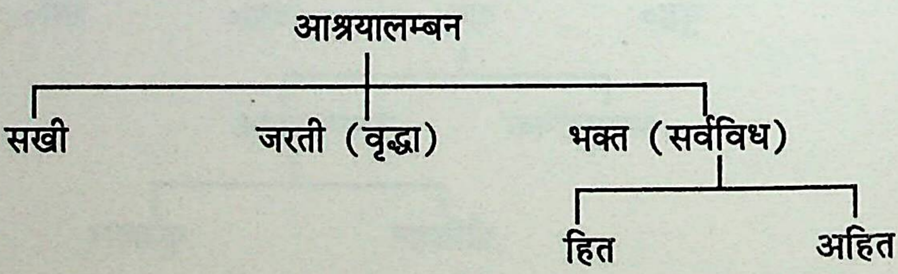
आश्रयालम्बन
सखी
जरती (वृद्धा)
भक्त (सर्वविध)
हित
अहित

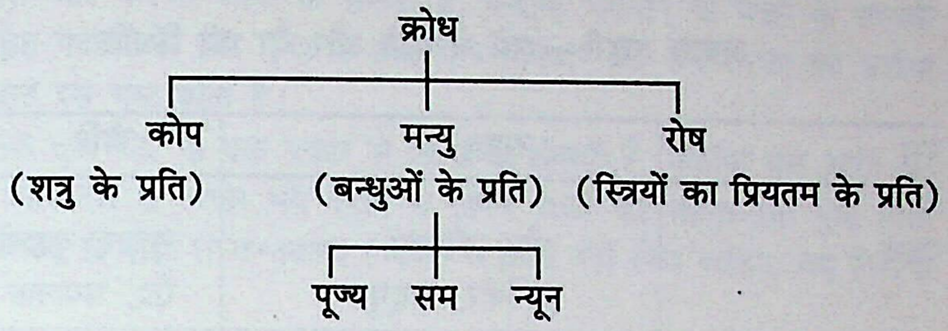
क्रोध
कोप
(शत्रु के प्रति)
मन्यु
(बन्धुओं के प्रति)
पूज्य
सम
न्यून
रोष
(स्त्रियों का प्रियतम के प्रति)

षष्ठ लहरी—भयानकभक्तिरस

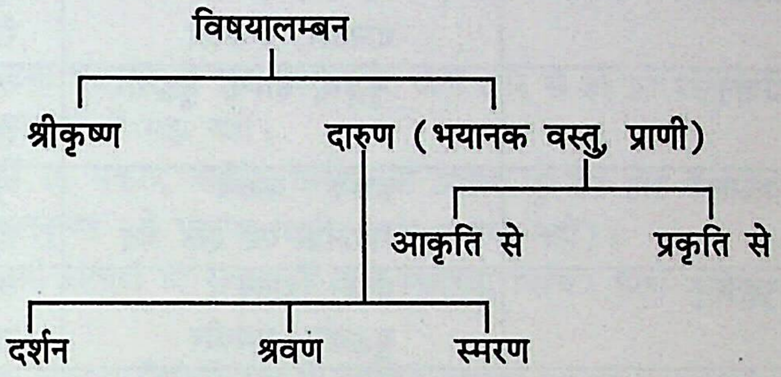
विषयालम्बन
श्रीकृष्ण
दारुण (भयानक वस्तु, प्राणी)
आकृति से
प्रकृति से
दर्शन
श्रवण
स्मरण

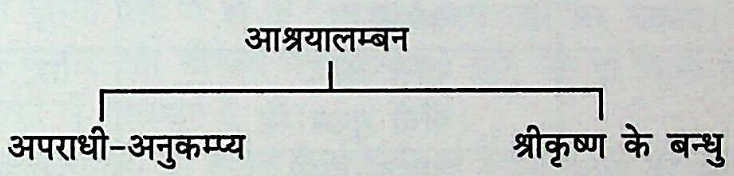
आश्रयालम्बन
अपराधी-अनुकम्प्य
श्रीकृष्ण के बन्धु

सप्तम लहरी—बीभत्सभक्तिरस

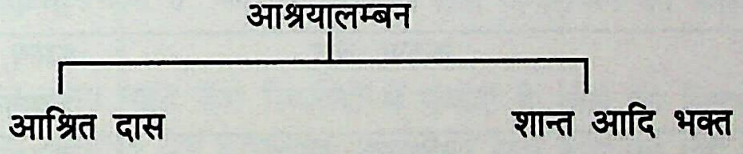
आश्रयालम्बन
आश्रित दास
शान्त आदि भक्त

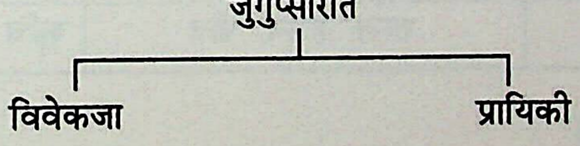
जुगुप्सारति
विवेकजा
प्रायिकी

अष्टम लहरी—रसों में मैत्री और वैर की स्थिति

रस	सुहृद्	वैरी
शान्त	प्रीत, बीभत्स, धर्मवीर, अद्‌भुत	शृङ्गार, युद्धवीर, रौद्र, भयानक
प्रीत, प्रेयान् वत्सल, मधुर	शान्त, अद्‌भुत	
प्रीत	बीभत्स, शान्त दानवीर, दयावीर	शृङ्गार, युद्धवीर, रौद्र
प्रेयान्	शृङ्गार, हास्य, युद्धवीर	वत्सल, बीभत्स, रौद्र, भयानक
वत्सल	हास्य, करुण भयानक का एक भेद	शृङ्गार, युद्धवीर, प्रीत, रौद्र
शृङ्गार	प्रेयान्, हास्य युद्धवीर, धर्मवीर	वत्सल, बीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक
हास्य	बीभत्स, शृङ्गार, प्रेयान् वत्सल	करुण, भयानक
अद्‌भुत	शान्त आदि पाँचों मुख्य रस	रौद्र, बीभत्स
वीर	अद्भुत, हास्य, प्रेयान्, प्रीत	भयानक और शान्त
करुण	रौद्र, वत्सल	हास्य, अद्भुत, सम्भोग शृङ्गार
रौद्र	करुण, वीर	हास्य, शृङ्गार भयानक
भयानक	बीभत्स, करुण	वीर, शृङ्गार, हास्य, रौद्र
बीभत्स	शान्त, हास्य, प्रीत	शुचि (शृङ्गार), प्रेयान्

(शेष सब तटस्थ)

* बीभत्स और धर्मवीर शान्त के संवादी हैं, क्योंकि भगवान् या भक्तों के सम्पर्क से रहित पदार्थों के प्रति घृणा से तथा भक्त-भगवान् की धर्म-निष्ठा की प्रशंसा से शान्त रस पुष्ट होता है।

* भयानक तथा रौद्र भी एक प्रकार से शान्त के संवादी हैं, क्योंकि यम आदि का कोप और उस से उत्पन्न भय देखने से तापस भक्तों की शान्ति-रति पुष्ट होती है। अवश्य ही स्वयं शान्त-आश्रय (भक्त) में क्रोध नहीं होना चाहिए, वह विरोधी है।

* युद्धवीर, रौद्र तथा भयानक यदि कृष्ण के प्रति हों तो प्रीत के विरोधी होंगे।

* स्वयं श्रीकृष्ण मधुराश्रय हों तो मधुर प्रेयान् का संवादी होगा।

* श्रीकृष्ण के लिये अहितकर कोई भयावह स्थिति हो तो भयानक वत्सल का संवादी होगा।

* मधुर रस का रौद्र तथा युद्धवीर से सदा विरोध है, दोनों ओर से ही इन रसों की आश्रयता-विषयता माधुर्य में सह्य नहीं।

* वत्सल में प्रीत नहीं रह सकता, क्योंकि वत्सल के आश्रय गुरुजन होते हैं और विषय लालनीय बालकृष्ण (वे परस्पर कभी सेवक-स्वामी नहीं)।

* हास्य में बीभत्स तभी संवादी हो सकता है यदि विदूषक विचित्र मैला-कुचैला वेष किये हो।

* अद्भुत के प्रति रौद्र, बीभत्स विरोधी होते हैं, क्योंकि अद्भुत रस का विषय यदि क्रोध में हो या घृणित दशा में हो तो 'अद्भुत' भाव नहीं बन सकता। इस का अर्थ यह नहीं कि रौद्र और बीभत्स में 'चमत्कार' नहीं, वह तो किसी न किसी स्तर में सभी रसों में विद्यमान है ही।

* करुण के प्रति रौद्र संवादी हो सकता है यदि किसी पुरानी घटना की स्मृति-रूप में आया हो, अन्यथा भयकारक होगा, करुण का विरोधी होगा।

* रौद्र के आश्रयालम्बन में भयानक कभी नहीं रह सकता।

* करुण भयानक का संवादी है, यदि शोक अपने प्रिय के वियोग की आशङ्का से उठा हो।

* बीभत्स के साथ हास्य बहुत कम स्थितियों में संवादी है, जैसे कि विदूषक के मैले, विचित्र या अशोभन वेश देखने पर जुगुप्सा के साथ हास का योग सम्भव है।

नवम लहरी—रसाभास

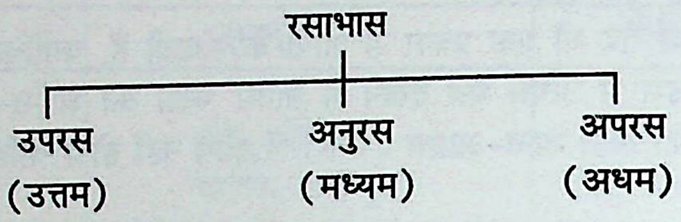
रसाभास
उपरस
(उत्तम)
अनुरस
(मध्यम)
अपरस
(अधम)

* * *

परिशिष्ट—ख

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु की परिभाषा-सूची
(ग्रन्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणी)

[अङ्कों में क्रमशः विभाग, लहरी, श्लोक-संख्या सूचित है।]

अ
अग्रे ताण्डवम् १/२/१२७-१२८
  (श्रीभगवतः)
अङ्कोत्थम् २/१/५०-५१
  (सल्लक्षणम्)
अङ्गसौरभम् २/१/३६३
अट्टहासः २/२/१७-१८
अतिहसितम् ४/१/२६-२७
अद्भुतभक्तिरसः ४/२/१-२
अद्भुत-अनुरसः ४/९/३५
अद्भुतेऽङ्गिनि
  प्रेयोवीर-हास्यानामङ्गता ४/८/७०
अद्भुतेन व्यवधिः
अधिकारी (भक्त्याम्) तद्भेदत्रयञ्च १/२/१४-१६
अधृतिः (प्रीतरसे) ३/२/१२२
  (प्रेयोरसे) ३/३/१२२
अनङ्गविक्रिया-भरजः (मदः) २/४/४०
अनवहितः (क्रोध विषयः) ४/५/९-१०
अनुग्रहसम्प्राप्तिः ३/२/५८
अनुभाव-वैरूप्यम् ४/९/२५
  अनुभावाः ३/२/८१
  (करुणरसे) ४/४/५
  (प्रीतरसे) ३/२/६१-६५, १५९
  (प्रेयोरसे) ३/३/८६-९६
  (मधुररसे) ३/५/१३-१४
  (वत्सलरसे) ३/४/४१-४४
  (वीररसे) ४/३/२८
  (शान्तरसे) ३/१/२४-२६
  (सामान्य भक्तिरसे) २/२/१-३
  (हास्यरसे) ४/१/१२
अनुमितम् (अद्भुतरसे) ४/२/११
अनुरसाः ४/९/३३
अनुव्रज्या १/२/१३१
अनेकत्र रतिः ४/९/१६-१७
अनेकाङ्गा (भक्तिः) १/२/२६६-६८
अनौचित्यम् २/४/२२८-३४
अन्यदेवानवज्ञा १/२/११६
अपरसाः ४/९/३८
अपस्मारः २/४/८६-८८
अपहसितम् ४/१/२४-२५
अप्रारब्धहरत्वम् १/१/२०
अभ्युत्थानम् १/२/१३०
अमर्षः २/४/१५९-६३
अयोगः (तद्भेदद्वयञ्च) ३/२/९४-९५
अयोगे उत्कण्ठितम्
  (प्रेयोरसे) ३/३/११५
  (वत्सलरसे) ३/४/६०-६१
अर्चनम् १/२/१३७-३९
अवतारावलीबीजम् २/१/२०२-३
अवरः (परतन्त्रः) २/४/२१३-१४
अवहसितम् ४/१/२२-२३
अवहित्था २/४/११८-२६
अविचिन्त्यमहाशक्तिः २/१/१९४
अविद्याहरत्वम् १/१/२५-२६
अव्यर्थकालत्वम्- १/३/२९
अश्रु २/३/५३-५७
असूया २/४/१६४-६७
अहितः (रौद्ररसे) ४/५/१५-१९

आ

आकल्पः २/१/३५४-५८
आत्मनिवेदनम् १/२/१९४
आत्मशब्दार्थः १/२/१९५
आत्मारामगणाकर्षी २/१/२०७-८
आत्मारामाः ३/१/१२
आभ्युदयिकः ४/३/३१-३२
आरात्रिकदर्शनम् १/२/१६७
आलम्बनः (वीररसे) ४/३/२-३
  (हास्यरसे) ४/१/७
आलम्बनशून्यता
  (प्रीतरसे) ३/२/१२१
  (प्रेयोरसे) ३/३/१२१
आलम्बनाः
  (करुणरसे) ४/४/३
  (प्रीतरसे) ३/२/६-१५, १४६-४८
  (प्रेयोरसे) ३/३/२
  (बीभत्सरसे) ४/७/२-३
  (भयानकरसे) ४/६/२-८
  (मधुररसे) ३/५/३
  (वत्सलरसे) ३/४/२
  (शान्तरसे) ३/१/७
  (सामान्यभक्तिरसे) २/१/१६
आलये गतिः १/२/१३४
आलस्यम् २/४/१०३-१०६
आलेपः २/१/३५५
आलोकदानजः (भावः) १/३/१८
आवृतम् २/१/२०-२१
आवेगः २/४/५९-७७
आशाबन्धः १/३/३४-३५
आहोपुरुषिका ४/३/१६

इ-ई

ईर्ष्युः (रौद्ररसे) ४/५/१३-१४
ईश्वरः, तद्भेदद्वयञ्च २/१/१७६-७९

उ-ऊ

उज्ज्वलः (सखा, तस्य रूपं, सख्यञ्च) ३/३/४५-५१
उज्ज्वलस्य शान्तेन वैरस्यम् ४/८/५८
उज्ज्वलेऽङ्गिनि प्रेयसोऽङ्गता ४/८/३३
उज्ज्वलेऽङ्गिनि प्रेयोवीरयोरङ्गता ४/८/३५
उज्ज्वलेऽङ्गिनि हास्यस्याङ्गता ४/८/३४
उत्कण्ठितम् ३/२/९६-९८, १७४
उत्तमः (अधिकारी) १/२/१७
उत्तमा भक्तिः १/१/११
उत्सवदर्शनम् १/२/१६८
उत्साहरतिः २/५/५७-५९
उद्दीपनाः ४/३/११
  (अद्भुतरसे) ४/२/३
  (करुणरसे) ४/४/४
  (प्रीतरसे) ३/२/५७-६०, १५७-५८
  (प्रेयोरसे) ३/३/५७
  (भयानकरसे) ४/६/९
  (मधुररसे) ३/५/११-१२
  (रौद्ररसे) ४/५/२०
  (वत्सलरसे) ३/४/१७-४०
  (वीररसे) ४/३/४१
  (शान्तभक्तिरसे) ३/१/१८-१९, २१-२२
  (सामान्य भक्तिरसे) २/१/३०१-२
  (हास्यरसे) ४/१/१२
उद्दीप्ताः २/३/७९-८०
उन्मादः २/४/७९-८३
  (प्रीतरसे) ३/२/११०-११, १२५
  (प्रेयोरसे) ३/३/१२५
  (वत्सलरसे) ३/४/७१
उपरसाः ४/९/३
उपस्थितदुरापार्थत्यागी ४/३/४०
ऊर्जादरः १/२/२२१

ए

एकत्र रतिः ४/९/१४-१५
एकाङ्गा भक्तिः १/२/२६५

औ

औग्रयम् २/४/१५५-५८
औत्सुक्यम् २/४/१५१-५४
  (प्रीतरसे) ३/२/१००-१०१
औदार्यम् २/१/२६९

क
कत्थितम् ४/३/१२-१५
कनिष्ठः (अधिकारी) १/२/१९
कम्बुः २/१/३७६-७७
करुणः (श्रीकृष्णगुणः) २/१/१३२-१३४
करुणभक्तिरसः ४/४/१
कर्मार्पणम् (दास्यम्) १/२/१८४-८६
कामरूपा (भक्तिः) १/२/२८३-८७
कामानुगा (भक्तिः, तद्भेदद्वयं च) १/२/२९७-९९
कीर्तिमान् २/१/१५८-१६०
कृतज्ञः २/१/९१-९३
कृपासिद्धाः २/१/२८६-८९
कृशता
  (प्रीतरसे) ३/२/११९
  (प्रेयोरसे) ३/३/११९
कृष्णः (आलम्बनः) २/१/१७-१८
  (करुणरसे) ४/४/८-९
  (मधुररसे) ३/५/४-५
  (वत्सलरसे) ३/४/३-७
  (वीररसे) ४/३/६-७
  (हास्यरसे) ४/१/८
कृष्ण-तद्भक्तप्रसादजः (भावः) १/३/१५
कृष्णदीक्षादिशिक्षणम् १/२/९८
कृष्णप्रसादजः (भावः) १/३/१६, ५८
कृष्णप्रियः (करुणरसे) ४/४/११-१२
कृष्णभक्तः १/२/२४९
कृष्णभक्ताः २/१/२७३-७४
कृष्णरतिः (मधुररसे) ३/५/१०
कृष्णविभावा (क्रोधरतिः) २/५/६५, ६९
कृष्णविमुखजनसङ्गत्यागः १/२/१११-१२
कृष्णार्थे भोगादित्यागः १/२/१०४
केवला (रतिः) २/५/२५
कैङ्कर्यम् (दास्यम्) १/२/१८७
कैशोरम् (आद्यम्) २/१/३१३-१८
कैशोरम् (प्रेयोभक्तिरसे) ३/३/७८-८०
कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रहः २/१/१९९-२०१
कौमारम् (प्रेयोरसे) ३/३/५९-६०
क्रीडाध्यानम् १/२/१८१
क्रोधरतिः २/५/६३-६४
क्रोधः, तद्भेदाश्च (रौद्ररसे) ४/५/२-६
क्रोशनम् २/२/८-९
क्लमः (प्रीतरसे) ३/२/७४
क्लेशघ्नत्वम् १/१/१८
क्षमाशीलः २/१/१११-१३
क्षान्तिः १/३/२७-२८
क्षेत्रम् २/१/३८०

ग
गङ्गादिवासः १/२/१०७
गम्भीरः २/१/११४-१६
गर्वः २/४/४१-४७
गीतम् १/२/१४४, २/२/७
गुणकीर्तनम् १/२/१४८
गुणध्यानम् १/२/१८०
गुणश्रवणम् १/२/१७३
गुणाः (कायवाङ्मानसाश्रयाः) २/१/३०३-३०५
  (गोविन्द-नारायण-ब्रह्म-रुद्र-जीवेषु) २/१/२३-४४
गुणोत्थम् (सल्लक्षणम्) २/१/४८-४९
गुरवः (वत्सलरसे) ३/४/८-११
गुरुपादाश्रयः १/२/९७
गौणी रतिः २/५/३९
गौरवप्रीतिः ३/२/१४५
  (प्रीतरसे) ३/२/१६९
ग्रन्थप्रणयनप्रतिज्ञा १/१/२-३
ग्राम्यत्वम् ४/९/२८-२९
ग्लानिः २/४/२६-३०

घ
घूर्णा २/२/१९

च
चतुरः २/१/८६-८७
चतुर्भुजः ३/१/८
चतुष्कम् (वसनम्) २/१/३५०-५१

चरितश्रवणम् १/२/१७२
चापलम् २/४/१६८-१७०
(प्रीतरसे) ३/२/१०६-७
(वत्सलरसे) ३/४/७०
चिन्ता २/४/१३६-३९
(प्रीतरसे) ३/२/१०५
(वत्सलरसे) ३/४/६५
चेष्टाः २/१/३४३

छ

छाया (रत्याभासः) १/३/४९-५१

ज

जगत्प्रीणनादिद्वयप्रदत्वम् १/१/२८
जडता (प्रीतरसे) ३/२/१०८-९, १२३
(प्रेयोरसे) ३/३/१२३
जन्मदिन-यात्रा १/२/२२४
जपः १/२/१४९-५०
जागर्या
(प्रीतरसे) ३/२/१२०
(प्रेयोरसे) ३/३/१२०
जाड्यम् २/४/१०७-१२
(वत्सलरसे) ३/४/६८
जातभावाङ्कुर-जनलक्षणम् १/३/२५-२६
जुगुप्सा रतिः २/५/७१-७२
जृम्भणम् २/२/१२
जृम्भा ३/१/२९
ज्ञानवैराग्ययोर्भक्त्यनङ्गत्वम् १/२/२४८
ज्वलिताः (सात्त्विकाः) २/३/६३-६५

त

तत्-(कृष्ण)-कृपेक्षणम् १/२/१७४
तत्सम्प्रदानकः ४/३/३३
तदन्वयी (हास्यरसे) ४/१/९-११
तदर्थेऽखिलचेष्टितम् १/२/२००
तद्गुणाख्याने आसक्तिः १/३/३९
तद्भक्तप्रसादजः (भावः) १/३/२१
तद्वयस्याः (प्रेयोरसे) ३/३/८-११
तद्वसतिस्थले प्रीतिः १/३/४०
तनुमोटनम् २/२/१०
तन्माधुर्यम् ३/१/३२९-३२
तन्मोहनता २/१/३१९-३२६, ३३३
तापः (प्रीतरसे) ३/२/११८
(प्रेयोरसे) ३/३/११८
तापसाः ३/१/१५-१७
तुलसी २/१/३८१
तुलसीसेवनम् १/२/२०३-०५
तुष्टिः (प्रीतरसे) ३/२/१३३-३५, १७७
(प्रेयोभक्तिरसे) ३/३/१३१-३२
(वत्सलरसे) ३/४/७४-७५
तेजः २/१/२६३-६६
तेजसा युक्तः २/१/५५
त्यागोत्साहरतिः ४/३/४३-४५
त्रासः २/४/५४-५८

द

दक्षः २/१/८८-९०
दक्षिणः २/१/१३७-३८
दण्डवन्नतिः १/२/१२९
दयावीरः ४/३/४७-५४
दानवीरः ४/३/२५
दान्तः २/१/१०८-१०
दासाः, तद्भेदाश्च ३/२/१६-५६
दास्यम्, तद्भेदद्वयञ्च १/२/१८३-८७
दिग्धाः २/३/९-११
दिव्यसर्गादिकर्तृत्वम् २/१/१९५
दिव्योन्मादः २/४/८४-८५
दीप्ताः २/३/७६-७८
दुर्घटघटनापटीयसी २/१/१९८
दुर्लङ्घ्याज्ञः २/१/१७८-७९
दुष्टवधः २/१/३४५
दुष्टविभावजाः २/५/७०
दृष्टम् (अद्भुतरसे) ४/२/६-८
देवप्रस्थः ३/३/३३
देशकालसुपात्रज्ञः २/१/९८-९९

देहः १/२/१९७
देही १/२/१९६
दैन्यबोधिका (विज्ञप्तिः) १/२/१५४
दैन्यम् (प्रीतरसे) ३/२/१०२-३
  (वत्सलरसे) ३/४/६९
दोष-प्रतिम-गुणाः (१८) २/१/२३९, २४८
द्वारकादिनिवासः १/२/२०५

ध
धर्मवीरः ४/३/५५-६१
धर्मोत्साहरतिः ४/३/५७-५८
धात्र्यश्वत्थादिगौरवम् १/२/११०
धाम (तेजोभेदः) २/१/५६-५७
धार्मिकः २/१/१२६-२८
धीरप्रशान्तः २/१/२२४, २३३, २३५
धीरललितः २/१/२२४, २३०-३२
धीरोदात्तः २/१/२२४-२६-२९
धीरोद्धतः २/१/२२४, २३६-३८
धूपसौरभ्यम् १/२/१६२
धूमायिताः (सात्त्विकाः) २/३/७१-७२
धृतिः २/४/१४४-४७
धृतिमान् (भेदद्वयम्) २/१/११७-१९
धृष्टता ४/९/३०-३१
ध्यानम् (भेदाश्च) १/२/१७८-८२

न
नवः प्रेमा १/४/१७
नाम (कृष्णस्य) १/२/२४२
नामकीर्त्तनम् १/२/१४६
नामगाने सदा रुचिः १/३/३८
नामश्रवणम् १/२/१७१
नामसङ्कीर्तनम् १/२/२३०-३४
नामाक्षरधृतिः १/२/१२३-२४
नारीगणमनोहारी २/१/१६६-६८
नासाग्रनयनत्वम् ३/१/२७
निःसत्त्वाः २/३/८९-९०
निजप्रियोपहरणम् १/२/१९९
नित्यनूतनः २/१/१८४-८६
नित्यप्रियाः २/१/२९६-९८
नित्यसिद्धाः २/१/२९०-९४
निद्रा २/४/१७१-७६
निर्माल्यधृतिः १/२/१२५-२६
निर्वेदः २/४/७-१३
निर्वेदः (प्रीतरसे) ३/२/७५, १०४, १६६
  (मधुररसे) ३/५/१७
  (वत्सलरसे) ३/४/६७
  (शान्तरसे) ३/१/३४
नीचासननिवेशनम् ३/२/१६०
नूपुरम् २/१/३७५
नृत्यम् २/२/४
नैवेद्यास्वादः १/२/१६०
नैसर्गिकी रतिः १/३/२२-२३

प
पञ्चधा सर्वभक्तिरसास्वादः २/५/१२०-२१
पदाङ्कः २/१/३७८-७९
परतन्त्राः (भेदद्वयम्) २/४/२०६
परार्था (मुख्या रतिः) २/५/५
परिक्रमः १/२/१३५-१३६
परिचर्या १/२/१४०-१४२
पशुः ४/९/२०
पादाब्जतुलसीगन्धः ३/१/२३
पाद्यास्वादः १/२/१६१
पापम् (भेदद्वयम्) १/१/१९
पावनः २/१/१०३
पुरुषोत्तमवासः १/२/१०६
पुलिन्दी ४/९/२१
पूजादर्शनम् १/२/१६९
पूजादानम् ४/३/३७-३९
पूर्वरागः (मधुररसे) ३/५/२६-२८
पौगण्डं (प्रेयोरसे) ३/३/६१-६३
प्रकटस्वरूपेणावृतम् २/१/२२
प्रणयः (प्रेयोरसे) ३/३/१०८-९
प्रतापी २/१/१५६-५७
प्रतिभान्वितः २/१/८२-८३
प्रतिबिम्बः (रत्याभासः) १/३/४६-४८

प्रलयः २/३/५८-६०
प्रवासः (मधुररसे) ३/५/३१-३३
प्रसाधनम् २/१/३४६
प्रातिकूल्यम् २/४/२२५-२७
प्रारब्धहरत्वम् १/१/२१-२३
प्रियंवदः २/१/७०-७१
प्रियता (रतिः) २/५/३६-३७
प्रियनर्म्मवयस्याः (सखायः) ३/३/४३-४४
प्रियसखाः (प्रेयोरसे) ३/३/३६-३८
प्रीतभक्तिरसः (भेदद्वयम्) ३/२/१-४
प्रीतस्योज्जवलेन वैरस्यम् ४/८/५५
प्रीतिः २/५/२७-२९
प्रीतिदानम् ४/३/३५-३६
प्रीतेऽङ्गिनि बीभत्सशान्तवीराणामङ्गता ४/८/२५
    बीभत्सस्याङ्गता ४/८/२४
    शान्तस्याङ्गता ४/८/२३
प्रीतोपरसः ४/९/७-८
प्रेमभक्तिप्रकाश-क्रमः १/४/१५-१६
प्रेमवश्यः २/१/१५१-५३
प्रेमा (प्रीतरसे) ३/२/८१-८३, १७०
प्रेमा (प्रेयोरसे) ३/३/११०
प्रेमा (भेदद्वयम्) १/४/१-४
प्रेम्णा प्रियाधिक्यम् २/१/२११-१२
प्रेय उपरसः ४/९/९-१०
प्रेयसि अङ्गिनि शुचिहास्ययोरङ्गता ४/८/२८
    शुचेरङ्गता ४/८/२६
    हास्यस्याङ्गता ४/८/२७
प्रेयसो वत्सलेन वैरस्यम् ४/८/५६
प्रेयस्यः (मधुररसे) ३/५/६
प्रेयोभक्तिरसः ३/३/१

फ
फल्गु वैराग्यम् १/२/२५६

ब
बलीयान् २/१/६०-६२
बहुप्रदः ४/३/२६
बीजहरत्वम् १/१/२४
बीभत्से भक्तिरसः ४/७/१
बुद्धिमान् २/१/७९
बोधः २/४/१७९-९०
ब्रह्मभगवद्विभूतिः २/१/१९०-९१
ब्रह्मरुद्रादिमोहनम् २/१/१९६

भ
भक्तः २/१/३८२-८३
भक्तप्रारब्धविध्वंसः २/१/१९७
भक्तसुहृत् (भेदद्वयम्) २/१/१४८-५०
भक्तानां भुक्तिमुक्तिस्पृहाशून्यत्वम् १/२/२२,५७
भक्तिः (आत्मारामाणाम्) ३/१/१४
    (प्रीतरसे) ३/२/१५१, १५४
भक्ति-त्रैविध्यम् १/२/१
भक्तिरसः (गोप्यः, आस्वाद्यः) २/५/१३०-३१
भक्तिरसोदयः २/१/५-१०
भक्तिलक्षणम् १/१/१२-१७
भक्तौ नृमात्राधिकारः १/२/६०-६२
भक्तौ प्रायश्चित्ताभावः १/२/६३-७१
भक्त्यङ्गलक्षणम्, अङ्गानि च १/२/७३-९५
भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः २/५/१२९
भगवत् तद्भक्त निन्दाद्यसहिष्णुता १/२/१२१
भयरतिः २/५/६७-६८
भयानक भक्तिरसः ४/६/१
भागवतम् (श्रीमद्-) १/२/२४०
भागवतार्थास्वादः १/२/२२६-२७
भावः २/५/१३३
भावः, भेदद्वयञ्च १/३/१-६
भावाः (सात्त्विकाः) २/३/६१-९५
    (रत्याभासभवाः) २/३/८४-८५
    (सत्त्वाभासभवाः) २/३/८६-८८
भावाभासः १/३/५२-५४
भावोत्थः (प्रेमा) १/४/५
भावोदय-तारतम्यम् (मनोऽनुसाराद्) २/४/२५७-७०
भूतानुद्वेगदायिता १/२/११७
भूयिष्ठम् (वसनम्) २/१/३५२-५३

म
मण्डनम् २/१/३५९-६१
मतिः २/४/१४०-४३

मथुरामण्डलम् १/२/२४३
मथुरामण्डले स्थितिः १/२/२३५-३८
मथुरायां विशेषः १/२/२२२-२३
मथुरा सेवनम् १/२/२११-१३
मदः (भेदाश्च) २/४/३५-४०
मधुरभक्तिरसः ३/५/१
मध्यपौगण्डम् (प्रेयोभक्तिरसे) ३/३/६७-७१
मध्यमः (अधिकारी) १/२/१८
मध्यमम् (कैशोरम्). २/१/३२०-२५
मन्युः (भेदाश्च, रौद्ररसे) ४/५/२६-३२
मर्यादा-मार्गः १/२/२६९
महोपनिषच्छ्रुतिः ३/१/२०
माङ्गल्यम् २/१/२५९-६०
माधुर्यम् २/१/२५७-५८
मानः (मधुररसे) ३/५/२९-३०
मानशून्यता १/३/३२-३३
मान्यमानकृत् २/१/१३५-३६
माला २/१/३५६
माल्यसौरभ्यम् १/२/१६३-६४
मित्रवृत्तिः १/२/१९१-९२
मुख्यरसानां स्थायित्वं
  तदन्येषां व्यभिचारित्वम् ४/८/४१-५०
मुख्या रतिः २/५/३-३८
मुरली २/१/३६७
मुरलीस्वनः ३/२/६०
मूर्च्छितम् (प्रीतरसे) ३/२/१२६
  (प्रेयोरसे) ३/३/१२६
मृतिः २/४/९९, १०२
  (प्रीतरसे) ३/२/१२७-२८
  (प्रेयोरसे) ३/३/१२७
मृदुता २/१/३४०-४१
मेधावी २/१/८०
मैत्री-वैरस्थितिः (रसानाम्) ४/८/१-६
मोक्षलघुताकृत् १/१/३३-३४
मोहः २/४/९२-९७
  (प्रीतरसे) ३/२/११२-१३
  (वत्सलरसे) ३/४/७२

य

यथावैभव-महोत्सवः १/२/२२०
यावदर्थानुवर्त्तिता १/२/१०८
युक्तवैराग्यम् १/२/२५५
युक्तेरनादरो रुचेरादरः १/१/४५-४६
युगम् (वसनम्) २/१/३४८-४९
युद्धवीरः ४/३/४,५
युद्धोत्साहः (भेदाश्च) ४/३/१८-२३
योगः (प्रीतरसे) ३/२/१२९
योगे सिद्धिः (प्रेयोरसे) ३/३/१३०
  (वत्सलरसे) ३/४/७३

र

रक्तालोकः २/१/१६१-६३
रतिगन्धिः २/४/२२२-२४
रतिलक्षणम् (दुर्लभत्वं च) १/३/४१-४३
रतिशून्यः २/४/२१८-१९
रतेरपूर्वता १/३/६१
रत्यनुस्पर्शनः २/४/२२०-२१
रत्याभासः (भेदद्वयं च) १/३/४४-४५
रसलक्षणम् २/५/१३२
रसवैशिष्ट्यम् २/५/७३-११२
रस प्रकारभेदाः (द्वादश) २/५/११३-१७
रसाधिष्ठातृदेवताः २/५/११९
रसानां वर्णभेदाः २/५/११८
रसाभासाः ४/९/४०-४१
रागः (प्रीतरसे) ३/२/८७-९०, १७२
  (प्रेयोरसे) ३/३/११३-१४
रागानुगवैधभक्त्यधिकारी १/२/२९१-९६
रागानुगा (भक्तिः) १/२/२७०-८२
रागानुगीयभावोत्थः (प्रेमा) १/४/७-८
रासः २/१/३४४
रूक्षाः (सात्त्विकभावाः) २/३/१२-१४
रुचिरः २/१/५२-५४
रूपध्यानम् १/२/१७९
रूपम् (आत्मारामाणाम्) ३/१/१३
  (कृष्णस्य) २/१/३३८-३९
  (देवप्रस्थस्य) ३/३/३४
  (प्रीतरसे) ३/२/१५०, १५३
  (प्रेयोरसे) ३/३/१४, ८१

(प्रेयोरसे व्रजसम्बन्धिनः) ३/३/१७
(बलदेवस्य) ३/३/२८
(मण्डलीभद्रस्य) ३/३/२६
रूपमाधुर्यम् २/१/२१५-१७
रोमाञ्चः २/३/३२-३६, ३/१/३१
रौद्रभक्तिरसः ४/५/१
रौद्रेऽङ्गिनि प्रेयोवीरयोरङ्गता ४/८/३९

ल
लता ४/९/१९
ललितम् २/१/२६७-६८
लहरीचतुष्टयविभागः १/१/७-८
लालसामयी (विज्ञप्तिः) १/२/१५५-५६
लालास्रवः (अनुभावः) २/२/१६
लाल्यः (प्रीतरसे) ३/२/१४९
लीलाकीर्त्तनम् १/२/१४७
लीलामाधुर्यम् २/१/२०९-१०
लोकानपेक्षिता २/२/१४-१५

व
वंशः २/१/३६४
वंशी २/१/३६८-७२
वत्सलभक्तिरसः ३/४/१
वत्सलस्य प्रीतेन वैरस्यम् ४/८/५७
वत्सलेऽङ्गिनि करुणस्याङ्गता ४/८/२९
वत्सलेऽङ्गिनि भयानकादीनामङ्गता ४/८/३०-३१
वत्सलोपरसः ४/९/११-१२
वदान्यः २/१/१२३-२५, २७०
वयः (कृष्णस्य) २/१/३०८-१२
(प्रेयोरसे) ३/३/५८
वयसान्वितः २/१/६३-६४
वरः (परतन्त्रः) २/४/२०७
वरीयान् २/१/१७४-७५
वशी २/१/१०५-६
वसनम् २/१/३४७
वाचिकप्रसादजः (भावः) १/३/१७
वात्सल्यम् २/५/३३-३५
वात्सल्यम् (व्रजाधीशस्य) ३/४/१६
वात्सल्यम् (व्रजैश्वर्य्याः) ३/४/१४
वात्सल्यरतिः ३/४/५४-५९
वात्सल्यस्य रसत्वम् ३/४/७७-७८
वार्षभानवी (रूपं रतिश्च) ३/५/८-९
वावदूकः (भेदद्वयम्) २/१/७२-७४
वासरः (भगवतः) २/१/३८४
विज्ञप्तिः (भेदाश्च) १/२/१५१-५६
वितर्कः २/४/१३२-३५
विदग्धः २/१/८४-८५
विनयी २/१/१३९-४०
विनोदः ३/३/८५
विप्रलम्भः (मधुररसे) ३/५/२५
विभाववैरूप्यम् ४/९/१८-२४
विभावादि सामान्यलक्षणम् २/१/१२-१४
वियोगः ३/२/११४-१५
वियोगः (प्रीतरसे) ३/२/१७५
वियोगः (वत्सलरसे) ३/४/६२-६३
वियोगे उत्कण्ठितम् ३/३/११६
विरक्तिः १/३/३०-३१
विरहावस्था (प्रेयोरसे) ३/३/१२८-२९
विलासः २/१/२५५-५६
विलुठितम् २/२/५-६
विविधाद्भुतभाषावित् २/१/६५-६६
विशुद्धः २/१/१०४
विश्रम्भेण गुरुसेवा १/२/९९
विश्वासः १/२/१८९-९१
विषादः २/४/१४-२५
विषादः (वत्सलरसे) ३/४/६६
विस्मयरतिः २/५/५५-५६
विहसितम् ४/१/२०-२१
वीरभक्तिरसः ४/३/१
वीरेऽङ्गिनि प्रेयसोऽङ्गता ४/८/३८
वृद्धा ४/९/२२
वेणुः २/१/३६६
वेणुः (प्रेयोरसे) ३/३/८३
वेणुमाधुर्यम् २/१/२१३-१४
वेपथुः २/३/४३-४६
वैधभावोत्थः (प्रेमा) १/४/६

वैधी भक्तिः १/२/६-१३
वैरि-कृत्यम् ४/८/५३
वैरि-विभावाः २/५/६६
वैवर्ण्यम् २/३/४७-५२
वैष्णवचिह्नधृतिः १/२/१२२
वैष्णवानां सेवनम् १/२/२१४-१८
व्यभिचारिणः (भावाः) २/४/१-६
व्यभिचारिणः (अद्भुतरसे) ४/२/४
व्यभिचारिणः (करुणरसे) ४/४/६
व्यभिचारिणः (प्रीतरसे) ३/२/६९-७१, १६४
व्यभिचारिणः (प्रेयोरसे) ३/३/१०२-४
व्यभिचारिणः (बीभत्सरसे) ४/७/५
व्यभिचारिणः (भयानकरसे) ४/६/११
व्यभिचारिणः (मधुररसे) ३/५/१६
व्यभिचारिणः (रौद्ररसे) ४/५/२४
व्यभिचारिणः (वत्सलरसे) ३/४/४९
व्यभिचारिणः (वीररसे) ४/३/१७, २८
व्यभिचारिणः (हास्यरसे) ४/१/१३
व्यवहारेण कार्पण्यम् १/२/११४
व्यवहितः (वरः) २/४/२१०-१२
व्याधिः २/४/९०-९१
व्याधिः (प्रीतरसे) ३/२/१२४
व्याधिः (प्रेयोरसे) ३/३/१२४
व्रजाधीशस्वरूपम् ३/४/१५
व्रजेश्वरीरूपम् ३/४/१२-१३
व्रीडा २/४/११३-१७

श
शङ्का २/४/४८-५३
शङ्खः (प्रेयोरसे) ३/३/८४
शरणागतपालकः २/१/१४३-४४
शरणापत्तिः १/२/२०१-२
शान्तभक्तिरसः ३/१/४-६
शान्तः (तद्भेदाश्च) ३/१/३८-५१
शान्तस्य शुचिना व्यवधिः ४/८/७६
शान्तस्य उज्ज्वलेन वैरस्यम् ४/८/५४
शान्ताः ३/१/११
शान्तिः २/४/२४७-४८
शान्तोऽङ्गी प्रीतोङ्गः ४/८/२०
शान्तोऽङ्गी, अद्भुतबीभत्सौ अङ्गौ ४/८/२१-२२
शान्तोपरसः (भेदद्वयम्) ४/९/४६
शाबल्यम् २/४/२४४-४६
शास्त्रचक्षुः २/१/१००-१०१
शास्त्रसेवनम् १/२/२०६-१०
शिष्याद्यननुबन्धित्वादि १/२/११३
शुचिः २/१/१०२
शुचिबीभत्सयोर्व्यवधिः ४/८/७१-७२
शुचेः प्रीतेन व्यवधिः ४/८/७५
शुचेः बीभत्सेन वैरस्यम् ४/८/६१
शुचेः वत्सलेन वैरस्यम् ४/८/५९
शुद्धा रतिः २/५/८
शुभदत्वम् १/१/२७
शूरः (भेदद्वयम्) २/१/१२९-३१
शृङ्गम् २/१/३७३-७४
शृङ्गम् (प्रेयोरसे) ३/३/८२
शृङ्गारोपरसः ४/९/१३-३१
शेषकैशोरम् २/१/३२७-२८
शेषपौगण्डम् ३/३/७२-७३
शोकरतिः २/५/६०-६२
शोकाद्यवशवर्तिता १/२/११५
शोभा (पौरुष-सत्त्वभेदः) २/१/२५३-५४
श्रमः २/४/३१-३४
श्रवणम् (भेदाश्च) १/२/१७०-७३
श्रीकृष्णाकर्षिणी (भक्तिः) १/१/४१-४३
श्रीदामा (रूपं सख्यं च) ३/३/४०-४२
श्रीमूर्त्तिः १/२/२३९
श्रीमूर्त्तिस्पर्शनम् १/२/१६५
श्रीमूर्त्तेरङ्घ्रिसेवने प्रीतिः १/२/२२५
श्रीमूर्त्तेर्दर्शनम् १/२/१६६
श्रीश-कृष्णयो रसोत्कर्षः १/२/५९
श्रुतम् (अद्भुतरसे) ४/२/९
श्वासभूमा २/२/१३

स
सखायः (बलदेवस्य) ३/३/३०-३१
सख्यम् (भेदद्वयम्) १/२/१८८-९२

सख्यम् (रतिः) २/५/३०-३२
सख्यम् (देवप्रस्थस्य) ३/३/३५
सख्यम् (प्रियसखानाम्) ३/३/३९
सख्यम् (प्रेयोरसे) ३/३/१२, १५
सख्यम् (प्रेयोरसे व्रजसम्बन्धिनः) ३/३/१८-१९
सख्यम् (बलदेवस्य) ३/३/२९
सख्यम् (बलदेवसखीनाम्) ३/३/३२
सख्यम् (मण्डलीभद्रस्य) ३/३/२७
सख्यम् (श्रीकृष्णस्य) ३/३/२०
सख्यम् (सुहृदः) ३/३/२४
सख्यरतिः (प्रेयोरसे) ३/३/१०७
सख्यात्मनिवेदने विरले १/२/१९८
सङ्कीर्तनम् १/२/१४५
सङ्कीर्त्तितम् (अद्भुतरसे) ४/२/१०
सङ्कुला (रतिः) २/५/२६
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः २/१/१८७-८९
सजातीयाशयस्निग्धभगवद्भक्तसङ्गः १/२/२२८-२९
सञ्चारिणः (शान्तरसे) ३/१/३३
सञ्चारिभावः (भेदद्वयम्) २/४/२०५
सत्त्वाभासभवाः (सात्त्विकभावाः) २/३/८६-८८
सत्यनियमः (श्रीकृष्णः) २/१/९७
सत्यप्रतिज्ञः (श्रीकृष्णः) २/१/९५-९६
सत्यवाक्यः (श्रीकृष्णः) २/१/६७-६९
सदास्वरूपसम्प्राप्तः (श्रीकृष्णः) २/१/१८०-८१
सद्गुणादिप्रदत्वम् १/१/२९
सद्धर्मपृच्छा १/२/१०३
सन्धिः २/४/२३५-४३
समः २/१/१२०-२२
समयव्यतिक्रान्तिः ४/९/२६-२७
समुत्कण्ठा १/३/३६-३७
समृद्धिमान् २/१/१७१-७३
सम्प्राप्तसिद्धाः २/१/२८२
सम्प्रार्थनात्मिका (विज्ञप्तिः) १/२/१५३
सम्बन्धरूपा (भक्ति, रतिः) १/२/२८८-९०
सम्बन्धानुगा (भक्ति, रतिः) १/२/३०५-९
सम्भोगः (मधुररसे) ३/५/३४-३५
सम्भ्रमप्रीतः ३/२/५
सम्भ्रमप्रीतिः (प्रीतरसे) ३/२/७९-८०
सम्भ्रमप्रीतिः (दश-अवस्थाः) ३/२/११६
सर्वज्ञः (श्रीकृष्णः) २/१/१८२-८३
सर्वशुभङ्करः (श्रीकृष्णः) २/१/१५४-५५
सर्वसल्लक्षणान्वितः (श्रीकृष्णः) २/१/४७
सर्वसिद्धिनिषेवितः (श्रीकृष्णः) २/१/१९२-९३
सर्वाराध्यः (श्रीकृष्णः) २/१/१६९-७०
सहायाः २/१/२७२
साक्षात् (अद्भुतरसे) ४/२/५
साक्षात् (वरः) २/४/२०८-९
सात्त्विकाः (भावाः) २/३/१-२, १६, ६०-६३,
    ३/२/६६-६८
सात्त्विकाः (करुणरसे) ४/४/६
सात्त्विकाः (प्रीतरसे) ३/२/१६३
सात्त्विकाः (प्रेयोरसे) ३/३/९७-१०१
सात्त्विकाः (भयानकरसे) ४/६/१०
सात्त्विकाः (मधुररसे) ३/५/१५
सात्त्विकाः (रौद्ररसे) ४/५/२३
सात्त्विकाः (वत्सलरसे) ३/४/४५-४८
सात्त्विकाः (वीररसे) ४/३/१७
सात्त्विकाः (शान्तरसे) ३/१/३०-३२
सात्त्विकाभासाः २/३/८२-८३
साधकाः २/१/२७६-७९
साधनभक्तिः (भेदद्वयम्) १/२/२-५
साधनसिद्धाः २/१/२८३-८५
साधनाभिनिवेशजः (भावः) १/३/७-८
साधुवर्त्मानुवर्तनम् १/२/१००-१०१
साधुसमाश्रयः २/१/१६४-६५
सान्द्रानन्दविशेषात्मा १/१/३८-४०
सामान्या (रतिः) २/५/९-११
साहसी (रौद्ररसे) ४/५/११-१२
सिद्धाः २/१/२८०-८१
सिद्धिः (प्रीतरसे) ३/२/१३०-३२, १७६
सुखप्रदत्वम् १/१/३०-३२
सुखी (भेदद्वयम्) २/१/१४५-४७
सुदुर्लभा (भक्तिः) १/१/३५-३७
सुदृढव्रतः (श्रीकृष्णः) २/१/९४
सुपाण्डित्यः (श्रीकृष्णः) २/१/७५-७८
सुप्तिः २/४/१७७-७८

सुबलः (सखा) ३/३/४५-४७
सुरम्याङ्गः (श्रीकृष्णः) २/१/४५-४६
सुहृत्कृत्यम् ४/८/१६-१९
सुहृदः (प्रेयोरसे) ३/३/२२-२३
सुहृद्वरः (वीररसे) ४/३/८
सूक्ष्मधीः २/१/८१
सूद्दीप्ताः २/३/८१
सेवाध्यानम् १/२/१८२
सेवा-नाम-अपराधवर्जनम् १/२/११८-२०
सौन्दर्यम् २/१/३३६-३७
स्तन्यस्रावः ३/४/४६-४७
स्तम्भः २/३/२१-२७
स्तम्भादयः (वत्सलरसे) ३/४/४८
स्तवपाठः १/२/१५७-५९
स्थाने गतिः १/२/१३२-३३
स्थायिवैरूप्यम् ४/९/१३
स्थायी भावः (करुणरसे) ४/४/७
स्थायी भावः (प्रीतरसे) ३/२/७६, १६७-६८
स्थायी भावः (प्रेयोरसे) ३/३/१०५-६
स्थायी भावः (बीभत्सरसे) ४/७/६-११
स्थायी भावः (मधुररसे) ३/५/१९-२०
स्थायी भावः (रौद्ररसे) ४/५/२५
स्थायी भावः (वत्सलरसे) ३/४/५२-५३
स्थायी भावः (वीररसे) ४/३/१८
स्थायी भावः (हास्यरसे) ४/१/१३
स्थायिभावविभागाः २/५/१-१५
स्थायिभेदद्वयम् (शान्तरसे) ३/१/३५-३७
स्थायिभावभेदाः (अद्भुतरसे) ४/२/४
स्थितिः (प्रीतरसे) ३/२/१३६-३८, १७८
स्थितिः (प्रेयोरसे) ३/३/१३३
स्थितिः (वत्सलरसे) ३/४/७६
स्थिरः (श्रीकृष्णः) २/१/१०७-८
स्थैर्यम् २/१/२६१-६२
स्निग्धाः (सात्त्विकभावाः) २/३/३-८
स्नेहः (सम्भ्रमप्रीतिभेदः) ३/२/८४-८६, १७१
स्नेहः (प्रेयोरसे) ३/३/१११-१२
स्मितम् २/१/३६२, ४/१/१६-१७
स्मृतिः १/२/१७५-७७, २/४/१२९-३१
स्वच्छा (रतिः) २/५/१२-१५
स्वतन्त्रः २/१/१७७
स्वतन्त्राः २/४/२१६-१७
स्वरभेदः २/३/३७-४२
स्वरूपम् (श्रीकृष्णस्य) २/१/१९
स्वार्था (मुख्या रतिः) २/५/४
स्वेदः २/३/२८-३१

ह

हतारिगतिदायकः २/१/२०४-६
हरिः (प्रीतरसे) ३/२/१४७
हरिः (प्रेयोरसे) ३/३/३-५
हरिवासरसम्मानः १/२/१०९
हरेः पूर्ण-पूर्णतर-तमता २/१/२२१-२३
हरेरतिप्रसादोत्थः (प्रेमा) १/४/९-१४
हर्षः २/४/१४८/५०
हर्षः (प्रीतरसे) ३/२/७२-७३, १६५
हर्षः (मधुररसे) ३/५/१८
हर्षः (वत्सलरसे) ३/४/५०-५१
हसितम् ४/१/१८-१९
हार्दः (भावः) १/३/१९-२०
हासरतिः २/५/५२-५४
हास्यकरुणाभ्यां वत्सलपुष्टिः ४/८/८०
हास्यभक्तिरसः ४/१/६
हास्यानुरसः ४/९/३४
हास्यापरसः ४/९/३९
हास्येऽङ्गिनि शुचेरङ्गता ४/८/३७
हिक्का (अनुभावः) २/२/२०
हितः (रौद्ररसे) ४/५/८
हुङ्कारः २/२/११
ह्रीमान् २/१/१४१-४२

परिशिष्ट—ग

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (सम्पूर्ण) की श्लोकानुक्रमणी

[अकारादिक्रम से, अनुष्टुप्-श्लोकों के प्रथम-तृतीय तथा अन्य छन्दोमय पद्यों के चारों चरणों के प्रारम्भकांशों की निर्देशिका; यहाँ अङ्क-पर्याय क्रमशः विभाग-लहरी-क्रमिक संख्या के सूचक हैं।]

अ
अंशेनांशेन चक्रे २/१/१९५
अंसयोस्तुङ्गतेत्यादि ३/३/७२
अकत्थनो गूढगर्व्वः २/१/२२६
अकस्मादेकस्मिन् ३/५/२७
अकिञ्चनाय येनात्मा २/१/२७०
अकुरुत बहुमानम् २/१/९३
अकुर्व्वतोऽपि २/४/१३१
अक्रूरस्त्वभिवन्दने १/२/२६५
अक्लेशाः कमल० ३/१/२०
अक्षीणि यः सुखमयानि २/१/१३३
अक्षोदीयानन्तरायः ३/२/६२
अक्ष्णोरङ्गनमञ्जन० ३/१/४२
अखण्डनिर्वाणरस० २/१/३६२
अखण्डसुखरूपत्वे० २/५/१२२
अखण्डितविखण्डितैः ३/१/३५३
अखिलजगन्मङ्गल० १/१/६
अखिलरसामृत० १/१/१
अखिलसुरभिरेणून् ३/४/४७
अगण्यजगदण्डाढ्यः २/१/१९९
अग्निपुत्रा महात्मानः १/२/३०८
अग्रतो वक्ष्यमाणायाः १/१/४४
अग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु २/५/२१
अग्रासि यन्निरभिसन्धि २/५/३४
अग्रे धरण्याम् ४/९/१६
अग्रे रामः सुधा० ३/५/२३
अग्रे लीलालक० ३/३/७३
अग्रे विविच्य १/३/२४
अग्रे सानुग्रहम् ३/२/१५८
अघदमनो मथुरायाम् २/१/१
अघध्वंसिन्! २/४/१६
अघभिदः किल २/४/१८३
अघमर्दनस्य सखि! २/१/३७५
अघस्य जठरानलात् ३/३/११६
अघहर! कुरु २/१/९०
अघहर! जितकाशी ३/३/८९
अघहर! तव २/४/१७४
अङ्गतां यत्र ४/८/१९
अङ्गत्वमस्य विश्वास० १/२/१९१
अङ्गत्वे सुनिरस्ते० १/२/२५७
अङ्गयोरङ्गिनः ४/८/७८
अङ्गसंवाहनं माल्य० ३/३/९६
अङ्गस्तम्भारम्भ० ३/२/६२
अङ्गानां पञ्चकस्यास्य १/२/९३
अङ्गानि तत्प्रणय० ३/५/१७
अङ्गानि निष्क्रियतया ३/२/१२३
अङ्गानि पुत्रस्य ३/४/४३
अङ्गानि विविधान्येव १/२/१४३
अङ्गान्यपरज्य २/१/३४१
अङ्गी मुख्यः ४/८/४९
अङ्गी स एव ४/८/५०
अङ्गेषु तापः ३/२/११६
अङ्गैरेवाभरणपटली २/१/३६०
अङ्घ्रिपद्मसुधाः १/२/२८१
अचञ्चलकुलाङ्गना० २/१/३२३
अचिन्त्याः खलु ये २/५/९३
अचिरमघहरेण २/४/१८४
अचिरादेव सर्वार्थः १/२/१०३

अचिरान्नरसिंह० २/२/८
अचेष्टत प्रेम० २/२/५
अजनि मुदा ३/२/१७७
अजनिषत युवानोऽपि २/४/७१
अजनि स्विन्नतनुः २/३/३०
अजांवलेपान्धतमोऽन्ध० २/४/२४
अज्ञेनापि मयास्य १/१/६
अज्ञस्तितर्म्यनुगृणन् १/२/१४७
अटति यद्भवान् २/१/२११
अणिमादयो लभन्ते २/१/१९३
अणिमादिसौख्य० ३/२/८२
अण्डाकृतिस्ते जननी ३/४/६८
अत एव क्वचित् तेषु १/३/५६
अतः क्षमस्वाच्युत! २/४/२४
अतः प्रादुर्भवन् ४/४/१६
अतः श्रीकृष्णनामादि १/२/२३४
अतः श्रीवैष्णवैः २/१/१९०
अतः सर्ववयस्येषु ३/३/१६
अतनुत गतिलीला० २/१/९०
अतनुत मुदमुच्चैः ३/२/८८
अतस्तस्य विभावादि० २/५/९९
अतस्तस्य स्वरूपस्य २/१/३०६
अतिताम्रमुखी २/३/८
अतितुन्दिलम् ३/४/१५
अतिप्रयत्नेन २/४/३०
अतिलोहितलोचनोत्पलैः ४/८/३९
अतिविलङ्घ्य ते २/४/१६३
अतीव विरलत्वात् २/२/२१
अतुलां यो वहन् ३/२/५३
अतुल्यमधुर० २/१/४१
अतोऽत्र पाञ्च० ३/१/३
अतोऽत्र वत्सले ८/४/३२
अत्यद्भुतम् १/२/३७
अत्यन्तकठिनम् २/४/२६४
अत्यन्ताभाव० ४/९/१५
अत्यादरात् पाद्य० २/३/९४
अत्यारूढस्य भावस्य २/४/२४७
अत्यासारातिवातेन २/४/७०
अत्र कर्तव्यकरणम् २/४/१४१
अत्र किञ्चित् कृशम् ३/४/२९
अत्र कृष्णस्य सम्बन्धः २/२/७
अत्र क्रोधरतिः ४/५/२५
अत्र गोकुल० २/१/३३१
अत्र चिन्ताश्रु० २/४/७
अत्र त्याज्यतयैवोक्ता १/२/५५
अत्र नात्युपयोगित्वात् २/४/३९
अत्र निष्ठीवनम् ४/७/४
अत्र नेत्रादिफुल्लत्व० २/५/२४
अत्र भङ्गी गिराम् ३/३/७६
अत्र व्याघ्रनखः ३/४/२३
अत्र शान्तिरतिः ३/१/३५
अत्र शास्त्रं तथा १/२/२९३
अत्र सञ्चारिता ४/३/४२
अत्र साहायकम् २/५/९९
अत्र स्तम्भः २/४/९०
अत्र स्तम्भादयः ४/५/२३
अत्र स्नेहादयः १/४/१९
अत्र स्यान्नाम० २/४/२५३
अत्र स्युर्नेत्रविस्तार० २/५/५५
अत्राङ्गभङ्गो जृम्भा २/४/१०४
अत्राङ्गादेः २/४/११९
अत्राट्टहासो नटनम् २/४/८०
अत्रानिमिषता २/४/१०७
अत्रानुभावाः कथिता २/३/५८
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति ३/१/४९
अत्रापस्मारसहिताः ३/४/४९
अत्रापि द्युतिरत्न० ३/३/७७
अत्रापि पूर्ववत् ३/२/४, ३/३/११७
अत्रायोगप्रसक्तानाम् ३/२/९९
अत्राष्टौ सात्त्विकाः ४/४/६
अत्रासार्वत्रिकत्वेन २/३/५२
अत्रासीत् किल १/३/४०
अत्रास्यशोष० २/४/४८
अत्रोपलक्षणतया० १/२/२८८
अत्रोपायसहाया० २/४/१५
अथ कंससहोदरोऽग्र० २/५/६६

अथ पञ्चगुणाः २/१/३७
अथ ब्रह्मादि० २/१/२९१
अथ भेदत्रयी २/५/२२
अथाङ्गित्वम् ४/८/१९
अथात्र सात्त्विकाभासाः २/३/८२
अथापि ह्युत्तमश्लोके २/१/२८७
अथामी पञ्च ३/१/३
अथामीषाम् ४/८/१
अथार्षानुमतेन १/२/९६
अथाष्टावनुकीर्त्यन्ते २/१/२५१
अथासक्तिस्ततो भावः १/४/१६
अथास्याः केशव० २/१८४
अथोच्यन्ते गुणाः २/१/३९
अथोच्यंन्ते त्रयस्० २/४/१
अदधाद् विनतम् ४/८/३७
अदूरमासेदुषि २/४/५६
अदृष्टपूर्वमालोक्य १/३/१८
अदृष्टपूर्वस्य हरेः ३/२/९६
अद्भुतश्चैष ४/८/२
अद्भुतस्य सुहृद्० ४/८/९
अद्भुता बहवः २/१/३८४
अद्य स्विद्यति २/३/८०
अद्यैव दूति! ४/८/५८
अद्वितीया अमी २/३/७१
अद्वैतवीथीपथिकैः ३/१/४४
अधरं पिञ्छ० ४/८/२६
अधरादेः सुलौहित्यम् ३/३/६२
अधर्मशष्पाणि २/१/१२७
अधिकमण्डनवेश० ३/२/१५०
अधिकम्मन्यभावेन ३/४/८
अधिका पुष्यमाणा २/५/१२८
अधिक्षेपापमानादेः २/४/१५९
अधिरूढे महाभावे २/४/८५
अधिरूढे महाभावे विरुद्धैः ४/८/८२
अधिरोहतु कः २/४/२३०
अधृतिर्जडता व्याधिः ३/२/११६
अधृष्टता भवेद् २/४/११३
अधोवदनता स्थैर्यम् ३/२/१६२
अध्व-नृत्य-रथाद्युत्थः २/४/३१
अनङ्गनयचातुरी २/१/३२३
अननुष्ठानतो दोषः १/२/६३
अनन्तरोक्ताः सर्वे ३/२/१६४
अनन्यममता १/४/२
अनभिनिवेशाज्जाता २/३/९०
अनवकलितपूर्वाम् १/२/२४२
अनवस्थितिराख्याता ३/२/११७
अनवाप्तश्रमं पूर्वे १/२/१००
अनाचान्तधियाम् २/५/१५
अनाथबन्धो! ३/२/१००
अनादिवासनोद्भास० ४/८/४८
अनाश्रितपरिच्छेदाः ३/३/१२३
अनासक्तस्य विषयान् १/२/२५५
अनिच्छतो मे १/२/२४
अनिरुद्धादिनप्तृणाम् ३/४/८४
अनिष्टाप्तेः पदतया ४/४/२
अनुकम्प्येषु सागस्सु ४/६/२
अनुक्रमेण वक्तव्यम् १/१/८
अनुगतिमतिपूर्वम् २/१/९३
अनुग्रहमयी तेषाम् २/५/३३
अनुग्रहस्य सम्प्राप्तिः ३/२/५७
अनुग्रहेणाशृणवम् १/३/९
अनुग्राह्यस्य दास० ३/२/८
अनुज्झितमुमुक्षा ३/१/१५
अनुप्रस्थापितात्मानः २/४/१११
अनुभावपिधानार्थः २/४/१२०
अनुभावाः शिरोघ्राणम् ३/४/४१
अनुभावाः नयास्तिक्य० ४/३/५६
अनुभावा मुखे ४/४/५
अनुभावास्तदुत्कर्ष० ४/३/४२
अनुभावास्तु कथिता ३/५/१३
अनुभावास्तु चित्तस्थ० ३/२/१
अनुभावास्तु तस्याग्रे ३/२/१५९
अनुभावास्तु नासौष्ठ० ४/१/१२
अनुरक्तधियः ४/८/७७
अनुल्लासश्वासा २/४/१००
अनुहुङ्कुरुते २/१/११२

अनेकवर्णं वसनम् ३/१/३५२
अनेनैक्यं गता ३/२/७६
अन्तःक्लेश-कलङ्किताः ४/५/४
अन्तः शुद्धिर्बहिः० १/२/२६३
अन्तर्गतः स्वविवरेण ३/१/२३
अन्तर्गोष्ठे चटुल! २/४/१६१
अन्तर्भावं वदन्तः ४/३/५४
अन्तर्वाणिभिः १/४/१७
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य ३/१/१८
अन्तर्हिते त्वयि २/४/१८६
अन्तस्तोषतुषार० ३/५/१४
अन्त्यजा अपि १/२/६२
अन्यत्र द्विभुजः ३/२/७
अन्यत्रेक्षा वृथा २/४/११९
अन्यदेवानवज्ञा च १/२/८१
अन्यवेशादिना २/१/२०
अन्यापि किं न २/४/१६५
अन्याभिलाषिताशून्यम् १/१/११
अन्याय्यं न २/१/२६०
अन्याश्च तदनुध्यान० २/३/६०
अन्ये तदनुरूपाणि ३/३/१११
अन्येषु पुण्यतीर्थेषु १/२/२३५
अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात् ३/२/११७
अन्यैर्दुरूहा सुबलेन ३/३/४७
अपराजितमानिनम् ४/३/६
अपराधदुरुक्त्यादि० २/४/१५५
अपराधादितोऽपि २/४/१४
अपरिकलितपूर्वः २/१/२१७
अपवर्गानुभवम् २/५/२०
अपवृत्तिस्तिरोवीक्षा २/४/१६४
अपश्यतो माथुर० २/४/२०९
अपश्यमाना वदनम् ३/२/१३४
अपसरापसर त्वरया २/४/७३
अपस्मारोऽत्र २/४/८६
अपहसितातिहसितके ४/१/१४
अपि कृष्णविभावत्व० २/५/४१
अपि गहनागसि ३/२/२४
अपि गुरुपुरस्त्वम् ३/३/९९
अपि जनिपरिहीनः २/१/१९८
अपि नवपल्लव २/१/३४१
अपि निवहाः ३/३/८२
अपि प्रथयतः ३/३/१०९
अपि मुरान्तक ३/२/१५०
अपुष्पिते नीरसताम् २/४/९
अपूर्वः कंसारे! ३/३/११८
अप्यङ्घ्रिसम्भवः २/३/३४
अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वम् ३/२/९८
अप्यानुषङ्गिकादेषा १/३/५०
अप्रतीतौ हरिरतेः ३/४/७९
अप्राणिनि भवेदाद्यम् २/४/२२८
अप्राप्तातीत० २/४/१४४
अप्रारब्धं भवेत् १/१/१९
अप्रारब्ध-फलम् १/१/२३
अप्रियादेः क्रिया ४/२/१२
अप्रियोत्थे तु २/४/६०
अप्रेक्ष्य स्वेन २/१/२५४
अभयमृतमशोकम् २/४/२२
अभिज्ञेन सुबोधोऽयम् १/३/४४
अभिज्ञेनापि रामेण २/१/११६
अभिदधदिह धर्मम् २/१/२३४
अभिद्रवति मामीश! २/४/२३
अभिनवतरुनिम्नः २/१/३२१
अभिनववधूयुक्तम् ३/४/६६
अभियुक्ततरैः १/१/४६
अभिलषति वराङ्गना० ४/८/५५
अभिवाद्य गुरोः २/१/१३६
अभिव्यक्तावज्ञाम् २/४/२४२
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता १/४/१३
अभीष्टेक्षणलाभादि० २/४/१४८
अभूतपूर्वकन्दर्प० २/१/३३१
अभूत् कंसरिपोः २/१/१०१
अभूद् विविधसेवया २/५/१४
अभ्युत्थानं नरः १/२/१३०
अभ्युत्थानमनुव्रज्या १/२/८५
अभ्युद्यतः साध्वस० २/१/३८२
अमंस्त रचितस्तुतिर्व्रज० ४/३/८

अमङ्गलमपि प्रोच्य २/४/१३
अमररिपुवधूटी २/१/३७७
अमर्षोत्सुकतासूया० ४/३/१७
अमाययानुवृत्त्या १/२/२६३
अमी पञ्चैव ४/७/१४
अमी प्रोक्ता ४/९/४१
अमूमहो बत २/४/१८
अमुष्य सुकुमारता २/१/३४१
अमून्यधन्यानि ३/२/१००
अमृतञ्चेति २/४/२६६
अमेध्यपूत्यनुभवात् ४/७/९
अम्बरमणिनिकुरम्बम् २/१/५७
अम्बा तवाद्य २/४/८७
अम्बुराजमहसम् ३/२/१७४
अम्भोभारभर० २/१/२४०
अयं कम्बुग्रीवः २/१/२२
अयं करभराट्० ३/१/३५३
अयं क्षिपति ४/५/१९
अयं नेता २/१/२३
अयं तु साक्षात् ४/३/६०
अयन्त्रितोद्वान्त० २/१/३६२
अयमहमपि हन्त २/१/२१७
अयमुपहितकर्णः ३/२/१४७
अयमेव भवन्नुच्चैः ४/३/४६
अयि पङ्कजनेत्र० २/१/३८१
अये ज्ञातम् ३/२/१०९
अयोगयोगावेतस्य ३/२/९३
अयोगे तन्मनस्कत्वम् ३/२/९४
अयोग्यमात्मानम् ३/२/११२
अरज्यत स मय्यहो ३/२/८३
अरतिभिरतिक्रम्य २/४/१३८
अरविन्दविलोचनं कदा ४/८/२३
अरागिता तु ३/२/११७
अरिजो वर्म० २/४/६३
अरिष्टे साटोपम् २/१/२६८
अरुणाम्बरम् ३/३/४८
अरुणिमयुगपाङ्गः ३/४/३६
अरे युवतितस्कर! ४/५/६
अर्चनं परिचर्या १/२/८५
अर्चनन्तूपचाराणाम् १/२/१३७
अर्चन्नुभयतः १/२/१२
अर्जुनः सपदि २/३/३६
अर्जुनो भीमसेनश्च ३/३/११
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः ४/३/३१
अर्थो द्विधा १/२/१९५
अर्धाङ्गुलान्तरोन्मानम् २/१/३६८
अवाक्सृतौ २/१/५३
अर्हणमुपपेदे २/१/१७०
अलघुरचितरिङ्गम् ३/४/२६
अलङ्कारमलङ्कृत्वा ३/३/८१
अलङ्कृतिभिरुज्झिता २/४/११२
अलब्धे वा विनष्टे १/२/११४
अलौकिकपदार्थ० १/२/२४४
अलौकिकविभावत्वम् २/५/१२४
अलौकिकी त्वियम् २/५/१०८
अलौकिक्या प्रकृत्येयम् २/५/१०१
अवगुण्ठनभूलेखौ २/४/११७
अवतारावलीबीजम् २/१/४०
अवतारावलीबीजम् सदा ३/२/१२
अवतारावलीबीजमवतारी २/१/२०२
अवतीर्णवान् २/१/१४०
अवद्यमद्यापि २/४/५०
अवधीरितशारदारविन्दौ २/५/२९
अवधीर्यमाण० ४/९/८
अवनतवदनस्य ३/२/१०५
अवन्तिपुरवासिनः २/१/८०
अवन्निह शकृत्० ३/४/३३
अवबोधय पार्थ० २/१/३८१
अवर्णः सर्वतः २/१/२४२
अवलम्ब्य कराङ्गुलिम् ३/४/१६
अवलोक एव २/१/१४०
अवलोक्य फणीन्द्र० २/५/६२
अवस्था तस्तार २/४/९५
अवस्थान्तरमाप्तः २/४/८५
अवहित्थाकार० २/४/११८
अविकलकलधौत० ३/५/८

अविक्लवमतिर्भूत्वा १/२/११४
अविचिन्त्यमहाशक्तिः २/१/३९
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्व० ३/२/११
अविच्युतोऽर्थः १/२/१४८
अविज्ञाताखिलक्लेशाः २/१/२८०
अवितृषषडमित्रः २/४/२२
अविद्यां निर्दहत्याशु १/१/२६
अविद्याध्वंसतः २/४/१८०
अविद्यामोह० २/४/१७९
अविरुद्धं विरुद्धञ्च २/५/५
अविरुद्धान् २/५/१
अविरुद्धैः स्फुटम् २/५/४
अविरुद्धैरपि २/५/४८
अवीचिदुःखप्रवाहम् ३/२/८२
अवेक्ष्य कुरुमण्डले २/४/९४
अवेक्ष्य कृष्णम् २/४/२१४
अव्युच्छिन्नमहा० ४/४/२
अव्युत्थापितसख्ययोः ४/३/७
अव्रतातप्त० १/४/१०
अशरणमतिमूढम् ४/६/५
अशिवत्वान्न घटते ३/२/१२८
अशेषक्लेशविश्रान्ति० २/४/१८०
अशेषजन्मोपचितम् १/२/१४२
अशोषयन् मनस्तस्य ३/२/७४
अश्नीमहि वयम् २/४/१४५
अश्रमाभीष्ट० १/३/४६
अश्रान्तलोचन० ३/५/३२
अश्लिष्टकोमल० २/१/७३
अश्वत्थतुलसीधात्री १/२/११०
अष्टादशमहादोषैः २/१/२४६
अष्टानां दनुज० २/१/५४
अष्टानामेव भावानाम् २/५/५१
अष्टाभिरष्टौ हरितः २/४/४९
अष्टावमी तटस्थेषु ४/९/३७
असङ्गमान्माधव० २/४/९
असत्यं क्रोध० २/१/२४८
असत्यत्वमयोग्यत्वम् २/४/२२८
असमानोर्ध्व० २/१/४२
असमानोर्ध्वसौन्दर्य० ३/५/४
असर्वव्यञ्जकः २/१/२२२
असव्ये राधायाम् ३/५/२२
असहायेऽपि युद्धेच्छा ४/३/१४
असाक्षात् स्वस्वयूथेशा० ३/३/९४
असाधारण्यपि मनाक् ४/२/१२
असितपीतसित० ३/२/१५०
असि शशिमुकुटाद्यैः ३/२/१०३
असूयायां तु २/४/१९४
असूयायां पुनस्तस्याः २/४/२००
असूयायां व्यक्त० २/४/१९७
असूयौग्र्यं तथा ४/५/२४
असृङ्मूत्राकीर्णे ४/७/१०
असौ किं तापिञ्छः २/४/१३४
असौ पाणिस्पर्शः २/४/१८५
असौ भक्तिरसः ४/७/१
अस्त्येव बल्लवाधीश० ३/२/१५६
अस्त्रेण दुष्परिहरा ३/३/११३
अस्त्वेवमङ्ग १/१/३७
अस्थूलश्चानणुश्चैव २/१/२४२
अस्माकं तु प्रकृति० ३/२/२८
अस्मान् दुनोति ३/२/११८
अस्मिन् न तादृशः ४/५/३२
अस्मिन्नभ्युदिते भावः ३/२/९१
अस्मिन्नालम्बनः ४/१/७
अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः ३/५/३
अस्मिन्नाश्रित० ४/७/२
अस्मिन्नुद्दीपनाः ४/३/४१
अस्मिन् भयरतिः ४/६/१२
अस्मिन् मथुरावीथ्या २/५/१०
अस्मिन् मन्वन्तरे १/४/८
अस्मिन् मुहुः ३/४/२१
अस्मिन् सम्पुटिते ४/५/४
अस्मिन् सुखघनमूर्तौ ३/१/३४
अस्य गर्गादयः २/१/२७२
अस्य नूनमवगाहते ३/१/२७
अस्य पञ्च लहर्यः २/१/३
अस्य प्रेक्ष्य करम् ४/१/११

अस्य यद्यदयता ३/२/८९
अस्यां कटाक्ष० २/५/३६
अस्यातिरूपात् ४/८/७०
अस्यानुभावाः कथिताः ३/२/८१
अस्यान्यत्रात्मपर्यन्ते २/४/९८
अस्या वैकक्षका० २/१/३५६
अस्यास्तत्र प्रवेशाय १/२/८३
अस्त्रैरुपात्तमसिभिः २/४/१३७
अस्विद्यद् विरचित० २/४/३३
अहं त्वाम् १/२/६९
अहं शिरसि मर्दनम् ३/३/२७
अहमद्यैव मया १/२/१९६
अहमिह कफ० ४/८/२१
अहमीक्षणोत्तरलितापि २/१/३७५
अहह कमल० ३/४/७६
अहह तनयम् ३/४/७०
अहह नवाम्बुद० २/१/३४१
अहह पशुषु २/१/६६
अहह बल्लवराज० ३/४/७५
अहह सवयसाम् ३/३/८२
अहितः स्याद् द्विधा ४/५/१५
अहितः स्वस्य ४/५/१६
अहितस्तु हरेः ४/५/१८
अहैतुक्यव्यवहिता १/१/१३
अहो क्षेत्रस्य १/२/१०६
अहो धन्योऽसि १/३/२३
अहो पश्यत २/२/१४
अहो भाग्यमहो! २/१/२९३
अहो मधुपुरी १/२/२३७
अहो महात्मन्! ३/२/२७
अहो व्रजनिवासिनः ४/५/६
अह्नाय कापि ४/९/१४

आ
आं दिव्या मल्ल० २/४/२४५
आं विदितम् २/१/२१
आः कौतुकम् २/१/३४५
आः पापिन्! २/१/२३७
आकर्णयन्ती च ४/९/१६
आकर्णयन्नघहराम् २/३/७२
आकर्णयन् निर्निमिषाः ४/५/३५
आकर्ण्य कर्ण० २/४/५७
आकलय्य परिवर्त्तित० २/४/१०९
आकृत्या पूतनाद्याः ४/६/१५
आकृत्या ये प्रकृत्या ४/६/१३
आकृष्यमाणेषु २/१/१२८
आक्रमान्मुख्यया २/३/४
आक्रुष्टे प्रकटम् २/१/२६६
आगतोऽहं गणाः २/१/२९१
आगन्तुकस्तु यः २/४/२५५
आघूर्णते लुठति २/४/८७
आघूर्णन् मणिवलय० २/४/२७
आघ्राणं गन्धपुष्पादेः १/२/१६४
आघ्राणं यद् हरेः १/२/१६२
आचार्यं माम् १/२/९९
आज्ञायैवम् १/२/६७
आताम्रामधर० १/३/३७
आतिष्ठेयं तमेव २/४/२४५
आत्मकोटिगुणम् २/१/२९०
आत्मगोपन-हृच्छोष० २/५/६७
आत्मनः कथ्यते २/५/१७
आत्मादयश्च २/४/१४३
आत्माद्यर्पणकारित्व० २/१/२६९
आत्मारामगणाकर्षी २/१/२०७
आत्मारामगणाकर्षी-इत्यमी २/१/४०
आत्मारामतया मे ३/१/३४
आत्मारामानपि ३/२/३०
आत्मारामाश्च १/२/५४
आत्मारामास्तदीयाध्व० ३/१/११
आत्मारामास्तु सनक० ३/१/१२
आत्मोचितविभावाद्यैः ३/५/१
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः ४/२/१
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिर् ३/२/३
आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता ४/४/१
आत्यन्तिकरहस्येषु ३/३/४३
आदौ श्रद्धा १/४/१५

आद्यं मध्यं तथा २/१/३१२
आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारम् ३/४/१८
आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डम् ३/३/६१
आद्यस्तु प्रायिक० १/३/६
आद्या सामान्य० १/१/९
आधिक्ये न्यूनतायाञ्च १/२/१०८
आधिर्विध्यति नः ३/३/१८
आधिस्तद्विरहे ३/२/७४
आनन्दराशि० ३/१/८
आनन्दश्चन्द्रहासश्च ३/२/४२
आनन्दाश्रुधरः १/३/४०
आनन्दिनी तदा २/१/३७१
आनम्रामसित० १/३/३७
अनम्रीकृतवदनः २/४/१२६
आनयस्व महाराज २/१/१९७
आनीयमाना स्वाद्यत्वम् ४/३/१
आनुकूल्य-विपर्यास० १/२/२७६
आनुकूल्येन कृष्णानु० १/१/११
आफलोदयकृत् २/१/१०७
आभासः पुनः २/४/२२४
आभासताञ्च १/३/५४
आभासतामसौ १/३/५५
आभासोऽपि २/१/१०३
आभिर्विप्लुतधीः ४/१/२७
आभीरराज्ञी हृदि २/४/६७
आभीरवीथीरभितः ३/३/१०१
आमोदयति माम् २/१/३८४
आम्नायप्रथितान्वया २/१/७७
आयात्येष लतान्तरे ३/४/४०
आयुर्हरेरेव १/३/२९
आरम्भो रास० २/१/३२४
आरात्रिकोत्सवादेश्च १/२/८७
आराधनं भगवतः १/२/३४
आराधनानां सर्वेषाम् १/२/२१४
आराध्यत्वात्मिका २/५/२७
आरान्मध्यमवेदि० ३/४/५८
आरुन्धे कुरुविन्द० ३/३/६३
आरूढः परमोत्कर्षम् १/४/५
आरूढा परमो० २/३/७९
आर्द्राङ्गस्खलदच्छ० ३/३/११२
आर्याणामतिशुद्धानाम् २/५/१५
आलम्बन इह ४/३/२
आलम्बनोऽस्मिन् ३/२/७
आलम्ब्य तस्यैव २/४/३०
आलस्यापस्मृति० ४/४/६
आलस्यौग्रे विना० ३/५/१६
आलिङ्गनं वरम् १/२/११२
आलोक्य तत्प्रिय० ४/४/८
आलोलामनुरागिणः १/३/३७
आविर्भूतो निर्विकल्पे ३/१/३७
आविर्भूय मनोवृत्तौ १/३/४
आविष्करोति २/१/१३८
आवृतं प्रकटञ्चेति २/१/१९
आवेगहर्षजाड्याद्या ४/२/४
आवेगाभास एवायम् २/४/७८
आवेगो जडता ४/५/२४
आवेगोन्मादजडता २/४/१४८
आवेश्य तदघम् १/२/२१४
आशंसते मुनि० २/४/४७
आशाबन्धः समुत्कण्ठा १/३/२५
आशाबन्धो भगवतः १/३/३४
आशास्ते मम १/३/३७
आशीर्वादो निदेशश्च ३/४/४१
आशीस्तथ्या जय २/१/१६३
आश्चर्यं कथयामि ४/२/१०
आश्रयत्वेन मधुरे ३/५/४
आश्रितादेः पुरैवोक्तः ३/२/७७
आश्रितावान्तरानेक० १/२/७३
आश्रित्य प्रेयसीमस्य ३/२/५१
आश्वासनोक्तयः ४/३/४९
आषोडशाच्च २/१/३०९
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने १/३/२६
आसज्जमानस्य २/४/१२
आसां प्रेमविशेषः १/२/२८४
आसाद्य नन्दितमतिर् २/४/४७
आसारे स्फारदृष्टिः ४/८/८५
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ २/३/५७

आसीच्छायाद्वितीयः २/१/१९५
आसीनं पुरटासनोपरि ४/८/२२
आस्पदभूतस्य २/१/२२५
आस्वादोद्रेक० ४/८/५१
आहुकप्रभृतीनां तु ३/४/८२
आहूयमानः पुरुषः ४/३/१९
आहत्य हन्त २/१/१०८
आहो वराहवपुषः २/३/३४

इ

इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च ३/२/२९
इच्छामि हि १/२/५१
इतरे ब्रह्मरुद्राद्याः १/२/११६
इतरेषां मदादीनाम् ३/२/७१
इतस्त्रितयतोऽप्यति ३/३/११६
इति कायहृषीका० १/२/९४
इति ख्यातं पुराणेषु १/२/२१३
इति घोरध्वनि० २/४/६६
इति तावदसाधीयः ३/२/१४१
इति द्विधा निगदितः २/१/७२
इति निजगदुरुच्चैः ४/३/३२
इति परिणत० ३/२/१७
इति भावत्रयस्यात्र २/४/१२७
इति भावास्त्रयः २/४/१९१
इति भ्रामं भ्रामम् ३/४/७१
इति मित्रगिरा ४/३/२२
इति यः शरणम् १/२/२०२
इति विवृतरहस्ये २/४/२३४
इति विसदृशतापि ३/२/१०३
इति वैष्णवशास्त्राणाम् १/२/६४
इति ब्रवीमि १/२/२३१
इति ब्रुवति ४/८/३४
इति ब्रुवति केशव ४/१/२१
इति श्रीविग्रहस्यास्य २/१/१९९
इति संस्मृत्य १/२/१८९
इति सुबल! गिरा मे ३/३/२९
इति स्खलदुदीरिते ४/१/१७
इति स्वप्ने जल्पन्त्यचिरम् २/४/१८८
इतीदं द्विविधम् १/२/१८५
इतीरयति माधवे ४/८/२७
इतो दूरे राज्ञी ३/५/२२
इत्थं मनोरथम् १/३/१४
इत्थं माथुरवृद्ध० १/३/४०
इत्थं शरत्प्रावृषिका० १/३/११
इत्थं सतां ब्रह्म० ३/३/१९
इत्थं सर्वावतारेभ्यः २/१/२४९
इत्थं स्म पृष्टः २/४/९३
इत्यच्युते विहरति ३/४/६०
इत्यतः कथिता २/१/२९६
इत्यतो मतिगर्वादि २/५/४९
इत्यत्र विस्मये ४/२/१३
इत्यनिश्चित० २/१/१८
इत्यष्टौ स्थायिनः २/५/७३
इत्यसाधारणम् २/१/४३
इत्यसौ स्याद् १/२/९
इत्यस्य विषयत्वेन ४/४/३
इत्याकर्ण्य पुरः ४/१/२३
इत्याकलय्य युधि ४/२/९
इत्यादयः सखायः ३/३/३१
इत्यादयोऽनुभावाः १/३/२६
इत्यादयो विभावाः ३/२/५७
इत्यादिर्विविधा धीरैः १/२/१५२
इत्यादिषु न ४/८/६४
इत्याद्युद्दीपनाः ३/१/२२
इत्यार्यया निगदिता २/४/२२३
इत्युक्ता अनुभावास्ते २/५/८८
इत्युक्ता कुल० ४/८/३०
इत्युक्ते भगवन् ४/१/११
इत्युक्त्वा चकिताक्षम् ४/१/८
इत्युच्चकैर्धावयतः ३/२/८५
इत्युच्चैर्नकुलानुजः ४/४/१२
इत्युच्चैर्मुखरा० ४/१/२७
इत्युत्कर्षं कमपि ३/२/३०
इत्युत्स्वप्नगिरा २/४/१७८
इत्युद्धवादयः १/२/२८६
इत्येष भक्तिरसिकैः २/५/१३०
इत्येषाञ्च न १/२/२६१
इदं गृहिणि! ३/४/७२

इदं ते वपुर्नाथ १/२/४४
इदं लालनभव्याशी २/५/३३
इदं हि धीरोदात्तत्वम् २/१/२२९
इदं हि पुंसः १/२/१४८
इदमेव हरेः २/१/३३०
इन्दीवरं विधुसुहृत् ३/२/११८
इन्दुर्बन्धुगणे २/१/७८
इन्द्रियोपरति० २/४/१७७
इभारिक्ष्वेडाभिः ४/८/३५
इमे चान्ये च २/१/३६
इयं ते हास० २/४/१८८
इयं स्फुटममङ्गला ३/३/११०
इयं तु व्रज०· १/२/२८४
इयमाविष्कृता ३/५/३६
इष्टलाभादिना २/४/४१
इष्टानवासिप्रारब्ध० २/४/१४
इष्टानिष्टवियोगासि० ३/१/५१
इष्टे स्वारसिकी १/२/२७२
इह ग्लानिश्रमोन्माद० ४/७/५
इह तत्प्रभवः २/४/९०
इह तुलनामपरः ३/२/१७
इह सन्त्रासमरण० ४/६/११
इहाष्टौ सात्त्विकाः २/५/७४

ई

ईदृशं तापसादीनाम् २/४/२६४
ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा ३/२/६१
ईर्ष्युर्मानधना प्रोक्ता ४/५/१३
ईश्वरः परमाराध्यः ३/२/१२
ईश्वरे तदधीनेषु २/१/२७७
ईषत्प्रथममेवेति १/२/२४८
ईषद्विक्रियमाणात्मा १/३/३
ईषद् व्यक्ता अपह्नोतुम् २/३/७१
ईहा यस्य हरेर्दास्ये १/२/१८७

उ

उक्ता शोकरतिः ४/४/७
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति २/४/१९३
उक्षत्यम्बकचातकान् ३/३/७९
उच्चैरनिन्ददानन्दम् २/३/५४
उच्छिष्टभोजिनो दासाः १/२/१२५
उज्ज्वलोऽयं विशेषेण ३/३/५०
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः १/२/१२८
उत्कण्ठितं वियोगश्च ३/२/९५
उत्कण्ठितवियोगाद्ये ३/२/१७९
उत्कण्ठिते हरेः ३/२/१३०
उत्कृष्टत्वेऽपि १/३/३२
उत्तमस्तु मदाच्छेते २/४/३८
उत्तमा मध्यमाः ४/९/२
उत्तमास्तु रसाः ४/९/४०
उत्तमो मध्यमश्च १/२/१६
उत्तरभागे रसा० उप० २
उत्तिष्ठ मूढे! ४/५/१०
उत्तुङ्गं यदुपुर० ३/१/२०
उत्तुङ्गांसच्छबिः ३/३/७३
उत्थातुं द्युति० २/१/५४
उत्थाप्य दोर्भिः ३/४/४६
उत्पन्नरतयः सम्यग् २/१/२७६
उत्प्लुत्य गाण्डिवभृता ३/३/११३
उत्साहस्त्वेष भक्तानाम् ४/३/३
उत्साहो युधि २/१/१२९
उत्सृज्यैतानथ ३/२/२५
उदञ्चद् रोमाञ्चम् २/१/२६८
उदयति पूर्णे २/२/१२
उदयति मधुरे २/५/१०
उदस्यन् धर्मेन्दुम् २/१/३२६
उदस्तं देवर्षिर्दिवि ४/१/२५
उदाहरणमात्राय ४/५/३२
उदाहरन्ति नाट्यज्ञाः २/१/२३२
उदूह्य दोर्भिः ३/४/४२
उदेति मदडम्बर० २/४/३६
उद्दामभाव० २/१/१०६
उद्दीपनत्वमेव २/१/३०६
उद्दीपना इह प्रोक्ताः ४/३/५६
उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरली० ३/५/११
उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदा ४/३/४८
उद्दीपना वयोरूप० ३/३/५७
उद्दीपनास्तु ते २/१/३०१

उद्दीपनास्तु ते वात्सल्य० ३/२/१५७
उद्दीपना हरेः ४/१/१२
उद्दीप्ता एव २/३/८१
उद्धवस्य व्यरोचिष्ट २/४/११६
उद्धवादौ च २/५/२६
उद्धवाद्यास्तथा २/१/२७२
उद्धवो दारुको जैत्रः ३/२/३१
उद्भटं किमपि २/२/१०
उद्भासः कस्यचित् २/५/८४
उद्भास्वराः पुरोक्ताः ३/२/६३
उद्यन्मुखं वारि० २/३/५६
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष! १/२/१५६
उद्वेलदुःखार्णव० ३/२/११२
उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र ३/३/१८
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति २/४/३
उन्मदोऽपि हरिर्नव्य० २/१/११६
उन्माथं सदपि ४/९/१२
उन्मादः पृथगुक्तः २/४/८४
उन्मादमोहावित्याद्याः ३/४/६४
उन्मादवदिह व्याधि० २/४/८९
उन्मादवन् नृत्यति १/४/६
उन्मादापस्मृती २/४/४
उन्मादो हृद्भ्रमः २/४/७९
उन्मीलन्नवनवनर्म० ३/३/१५
उन्मील्य व्रजशिशवः ४/२/११
उन्मुक्तां मनसि ४/२/११
उपगीयमानमाहात्म्यम् ३/४/६
उपदिशति सुधर्म्मा ३/२/१४७
उपदेशश्च शिष्याणाम् २/४/१४१
उपरि कनकदण्डम् ३/२/४०
उपरि घुरन्ति २/४/७२
उपस्थितदुरापार्थ० ४/३/२५
उपस्थितदुरापार्थत्यागसौ ४/३/४०
उपस्थिते चित्र० २/२/१३
उपहरति सुतन्वः ३/२/४०
उपायान्वेषणाक्रोश० २/४/१६०
उपालम्भादयश्चात्र ३/४/४४
उभयत्र परे शेषाः ३/२/७१
उभयेषां सदा० ३/२/१५५
उररीकृतकाकु० २/२/९
उरसि स्रवद्० ३/४/१६
उरुगायोरुगीतः २/१/१६७
उर्वी त्वरा जयति ३/४/६०
उल्लासिनः सपदि २/३/१३
उवाच हानन्द० ३/२/६८
उषसि विषाणवरे ३/३/८२
उषसि सखि! २/४/२३४
उष्णीषं दधदरुणम् ३/१/३५१
उष्णीषं पट्टसूत्रोत्थ० ३/३/६९
उष्णीषे दरवक्रिमा ३/३/७५
उष्णीषे वक्रिमा ३/३/७४
उष्णैस्तु रतिरत्युष्णा २/५/७८
उष्मप्रक्षितमृक्षराज! ४/६/४

ऊ

ऊचिवान्मनसि २/३/५०
ऊरुद्वयस्य बाह्वोश्च २/१/३२०
ऊर्जादरो विशेषेण १/२/९०
ऊर्मिवद् वर्द्धयन्त्येनम् २/४/३
ऊष्माणमपि वमन्ती १/३/६१

ऋ

ऋणमेतत् प्रवृद्धम् २/१/९२
ऋतमधिकर्तुम् २/१/१५०

ए

एक एव भवेत् ४/८/४३
एकं कर्मात्र १/२/७३
एकदा व्यक्तिमापन्नाः २/३/७९
एकमेव विविध० ४/२/६
एकरूपापि या २/४/२५४
एकस्मिन् कथमपि २/१/५४
एकस्मिन्नेव ४/९/९
एकान्तिनो यस्य १/२/३७
एकेन जायमान० २/४/२४१
एकेन भात्येष ३/२/२७
एकैकं प्रति २/१/१२५
एकोऽपि कृष्णाय १/२/१२९
एत एव गुणाः २/१/३२
एतदालम्बना भीतिः ४/६/१४

एतदीशनमीशस्य २/१/१८१
एतन्निर्विद्यमाणानाम् १/२/२३०
एतस्य भगवद्भक्ति० १/१/७
एतस्याः प्राग् ४/९/१५
एतस्याक्षिसहस्रतः ३/२/६०
एताः साधारणाः ३/३/९६
एते द्वारि मुहुः २/१/१७५
एतेन सहजेनैव २/४/२५४
एते न ह्यद्भुताः १/२/२६२
एतेषां प्रवरः ३/२/३५
एतेषान्तु तथाभावे २/५/९०
एतेषामन्यथाभावः ४/९/२६
एतेषु केऽपि ३/३/५२
एतेषु तस्य दासेषु ३/२/५६
एते हि तद्विना २/३/७०
एते हि यादवाः २/१/२९२
एतैरेव तथाभूतैः २/५/९४
एवं केषुचिदन्येषु ३/४/८४
एवं क्रियायोग० १/२/१२
एवं गुणस्य चास्य० ३/४/५
एवं गुणाश्चतुर्भेदाः २/१/४४
एवं गोपवधूम् २/१/८३
एवं पूर्वोक्तवत् २/५/६४
एवं भक्तिरसः २/५/११७
एवं विविधया ३/३/५६
एवं विस्मय० २/५/४३
एवंव्रतः स्वप्रियनाम० १/४/६
एवमन्यस्य गौणस्य ४/८/४१
एवमन्यापि ४/८/६२
एवमन्येऽपि ४/९/४०
एवमेव तु ४/९/३२
एवमेवात्र विज्ञेया ४/९/३६
एष त्रिधा भवेद् वेणुः २/१/३६५
एष भक्तिरसानन्द० ३/१/४५
एष भक्तिरसास्वाद० २/१/६
एष भ्रूक्षेपण० २/४/१३२
एष वत्सलनामात्र ३/४/१
एष हास्यरसस्तत्र ४/१/३०
एषां द्वयोस्त्रयाणाम् २/५/२६
एषां निरभिमानानाम् ३/१/३२
एषां पार्षदवत् ३/२/३९
एषां मोक्षाय १/२/२५
एषां लौकिकवच्चेष्टा २/१/२९६
एषां सञ्चारि० २/४/१९६
एषां स्वपर० २/५/१०२
एषा कृष्णरतिः २/१/५
एषाङ्गकम्पता २/५/८
एषाञ्च सात्त्विकानाञ्च २/४/१९९
एषा तु सम्भ्रमप्रीतिः ३/२/७८
एषात्र भक्तभावानाम् ३/२/१४४
एषाऽपि क्रोधरतिवद् २/५/६८
एषामत्र दशाङ्गानाम् १/२/७७
एषामालम्बनत्वञ्च २/१/३०७
एषा रसत्रयी ३/४/८०
एषा रसेऽत्र ३/२/७६
एषा सख्यरतिर्वृद्धिम् ३/३/१०६
एषु गोकुलबालानाम् ३/३/७६
एषु प्रियवयस्येषु ३/३/४०
एषु हास्यादयः ४/७/१४
एषोऽनुकम्प्यः २/४/२४
एष्वसाधारणाः प्रोक्ता ३/१/१९
एहि कालियह्रदे २/४/८

ऐ
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिः १/२/१०१
ऐश्वर्ययोगाद् भगवान् २/१/२४२

ओ-औ
ओजः सोमात्मकम् २/४/२६
औग्र्यं त्रासम् ३/३/१०२
औग्र्यं प्रत्यनुभावत्वम् २/४/२०१
औग्र्यामर्षासूया० २/४/६
औचित्यात् तत्र कौमारम् २/१/३१०
औत्पाते मुख० २/४/६२
औत्सुक्यं प्रति २/४/१९८
औत्सुक्यदैन्यनिर्वेद० ३/२/९९
औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ४/३/४९
औत्सुक्य-विश्लथित० २/४/१५२

औत्सुक्यावलिभिर्बलिम् २/१/२१४
औत्सुक्यं कुतुकोत्कण्ठे २/४/१९५
औद्धत्यपरिहारी २/१/१३९

क
कंसमल्लनिवहः २/१/५९
कंसशत्रुमभियुञ्जतः २/३/४९
कंसस्य किङ्करगणैः २/५/३४
कंसाद्या रति० ४/६/१६
कंसारातेर्वीजने ३/२/६२
कंसारिरपि संसार० ३/५/१०
कंसारिर्मगधपतेर्वध० २/१/११८
कंसारिर्वहति ३/१/३५१
कंसारेर्विरह० ३/३/१२७
कंसारे! सन्ति २/१/१७९
कः स्तब्धो हस्यते ३/२/२०
कक्षामपरो ममाद्य २/४/२३०
कङ्केल्लिकोरक० ३/५/२०
कच्चिद् बुधः २/२/५
कज्जलेन कृत० ४/९/२२
कञ्चित् कालम् २/५/४४
कञ्चिद् विशेषमप्राप्ता २/५/९
कञ्चिद् विशेषमापन्ना ३/२/१६८
कटीकण्डूतिरित्याद्यम् ४/९/२८
कटुतर-यमदण्डोद्दण्ड० २/४/१५७
कटुभिरसुरमण्डलैः २/४/५२
कठिनहृदयो गोष्ठे ३/४/७०
कठिनामपि कुण्ठयन् १/१/५
कण्ठः कम्बुवद्० ३/३/६३
कण्ठसीमनि हरेः २/५/६५
कतरद् ब्रह्मविदोऽपि ३/१/४१
कत्थिताद्याः स्व० ४/३/१३
कत्थितास्फोट० ४/३/११
कथं कथनचातुरी २/३/८८
कथं तत्र मुकुन्दस्य १/२/११५
कथं न विरह० ३/३/११६
कथं वयं नाथ! ३/२/१३४
कथं हा नस्त्राणम् २/१/३२६
कथमग्रे मुख० २/४/११५
कथमजनि विदग्धः २/१/६६
कथमद्य वृथा २/१/१०४
कथमनायि पूरे २/४/१८
कथमपि कृतमल्लम् २/१/९३
कथमपि चिराद् २/४/१३८
कथमपि परिबद्धुम् ३/४/४८
कथमसौ न २/४/१८
कथमस्नवदसम् २/३/९०
कथमिह रमताम् ४/७/८
कथय किमु ममोच्चैः ३/३/७९
कथयन्नमुमत्र ३/३/८३
कथय सखे २/५/१०
कथय स दयित० २/१/३८३
कथितं वसना० २/१/३४६
कथितेभ्यः परे ४/८/१५
कदम्बवनतस्कर! २/४/१६२
कदम्बादिषु सामान्य० २/४/२३१
कदम्बैः प्रालम्बम् २/१/२५८
कदा गम्भीरया १/२/१५५
कदाचित् खेदाग्निम् २/४/९५
कदाचित् स्वप्रधानः २/३/१७
कदाचिदपि शोकस्य ४/४/१३
कदा नमस्करिष्यामि ३/२/८०
कदा शैलद्रोण्याम् ३/१/१६
कदाऽहं यमुनातीरे १/२/१५६
कनकनिवहशोभा० २/१/३४९
कनिष्ठः क्रोशति २/४/३८
कनिष्ठकल्पाः सख्येन ३/३/३०
कनिष्ठाः सारण० ३/२/१४९
कन्दर्पकोटिलावण्या २/१/३१
कन्दर्प! विन्दति ३/२/१६३
कन्दर्पशासनधुराम् २/१/३६४
कन्दर्पो रमणीषु २/१/७८
कपटञ्च हठश्च २/१/१०४
कपिलो माधवः २/५/११९
कमपि पृथगनुच्चैः ३/२/५२
कम्पः फेनश्रुति० २/४/८६
कम्पसम्पदमधत्त २/३/४४

कम्पाङ्गजाड्यवैवर्ण्य० २/४/२६
कम्पिताङ्गलतिका २/३/१०
कम्पो रत्यनु० २/३/११
कम्प्रमूर्त्तिरभवद् २/५/७०
कम्प्रा स्वेदिनि ४/८/३१, ८०
कम्बुग्रीवोद्गमाद्यञ्च ३/३/६२
कम्बुराजकरमीक्षिता० ३/२/१७४
कम्बुस्तु दक्षिणावर्तः २/१/३७६
करञ्च मकरध्वज! ३/२/१७१
करधृतनवनीत० ३/४/२८
करयुगभागरिकम्बु० ३/२/९
करयोः कमलम् २/१/५१
करवै तरणीम् २/४/२०
करादाकृष्येव ३/२/१७०
करारविन्दात् पुरतः २/४/९६
करुणस्य सुहृद् ४/८/११
करुणस्यातिरेकादेः ४/९/११
करुणादावपि २/५/१२५
करुणाद्या रसाः २/५/१२३
करे च लगुडीम् ३/४/३३
करेण गोष्ठे० ३/४/४३
करेण चलता ३/३/३९
करेण व्यग्रात्मा २/१/२६८
करोति करभोरु! २/१/३५३
करोति हा ४/८/६७
करोत्कम्पादीषत् २/१/१४२
करोत्युच्चैर्मोदम् २/१/२२
करोषि फल्वप्युरु ३/२/५५
करौ हरेर्मन्दिर० १/२/२६६
कर्कशं त्रिविधम् २/४/२६३
कर्णाकर्णिकथाद्याश्च ३/३/९४
कर्णाकर्णि सखीजनेन २/१/३३३
कर्णाभ्यां कर्णिकारे ३/३/६६
कर्त्तव्यं तत्र ४/८/१८
कर्तुं मुग्धाः २/१/३१९
कर्तुमिच्छति २/३/२७
कर्म स्वाभाविकम् १/२/१८५
कर्माशयं ग्रथितम् १/१/२५
कलयत हरिरध्वना २/१/३७९
कलयति च कलानाम् ३/३/१२२
कलयन्नुररीकृत० ४/१/१
कलयितुमपि नालम् ३/४/४८
कलवचनमुदञ्चन् ३/४/२६
कलाविलास० २/१/८४
कलितश्यामा० १/१/१
कलिन्दनन्दिनीकूल० ३/२/८०
कलोक्तिरिङ्गणाद्यञ्च ३/४/२५
कल्पद्रुमा द्वारवतीम् २/१/१२४
कल्याणी मे निवसति २/४/१६१
कवय आनतकन्धर० २/१/२१३
कवलयति धृतिम् ३/५/१८
कवलयितुमिव ४/६/८
कवलितेन्द्रियवृत्ति० २/४/१८३
कवाटाभं वक्षःस्थलम् २/१/४६
कश्चित् परिम्लान० २/३/९५
कश्चिदयं व्याहरन् २/३/८५
कश्मलं ययुः २/३/२१३
कष्टं गद्गदिका० ४/३/५१
कस्तां न सेवेत १/२/१०७
कस्तूरीकृतचित्रकम् ३/३/२८
काचं विचिन्वन् ४/३/४४
काञ्ची चित्रा २/१/३६०
का त्वत्तः कुटिले! ४/१/२९
कानने क्षणम् २/४/२८
कान्त! कैलास० ४/९/३१
कान्तानखाङ्कितः ४/९/२७
कान्ताभिः कलहायते २/१/३३२
का पर्येत्यम्बिकेयम् ३/२/२०
कापि नास्य २/१/११९
काप्यव्यभिचरन्ती २/५/४६
का भीः का भीरयम् २/४/७७
कामं तामरसाक्ष! २/४/१७८
कामं दहतु २/४/२३
कामं वपुः पुलकितम् ३/५/१५
कामञ्च दास्ये १/२/२६८
कामप्राया रतिः १/२/२८७
कामसम्बन्धरूपे १/२/२८९
कामादीनां कति ३/२/२५

कामाद् गोप्यः १/२/२७५
कामाद् द्वेषाद् १/२/२७४
कामानुगा च १/२/२९०
कामानुगा भवेत् १/२/२९७
कारानामनि हन्त ४/७/११
कारामिव द्वारवतीम् ३/२/१७५
कार्त्स्न्येन चाद्येह २/१/५३
कार्पण्यं न कुरु २/४/११४
कार्यकारणभावस्तु २/४/१९९
कार्यभूताः स्मिताद्याः २/१/१२
कार्या तथापि १/३/५९
कालग्रस्तम् १/२/३६
कालाक्षमत्वम् २/४/१५१
कालादिभेदात् ४/८/८१
कालानवेक्षणं तत्र २/५/५८
कालिन्दी च ३/४/५८
कालिन्दी जाम्बवत्याम् ३/२/२०
कालिन्दीतटभुवि २/५/५९
कालिन्दीपुलिने ४/९/२१
कालिन्दीपुलिने वयस्य० ४/३/७
कालिन्दीमधुरत्विषम् ३/२/३६
कालिमा बलिरिपोः २/३/५०
कालेन यैर्वा २/१/२१९
कालो भूयान् ४/८/५४
का वा वृषस्यति ३/३/४९
का वृषस्यति २/४/१२४
काश्मीरेणोर्ध्व० ३/३/७४
का स्त्र्यङ्ग! ते २/१/२१६
किं गोष्ठम् ३/३/४२
किं ते कृतम् २/३/३४
किं तैर्गुण० १/२/३५
किं न फणि० ४/९/२९
किं पुनर्दर्शन० १/२/२१७
किं लोकोत्तर० २/१/११८
किं वर्ण्यते ३/३/१३३
किं वा प्रेमाभि० १/२/२७७
किं वा संवाहयिष्यामि ४/८/२०
किं शुष्यद्वदन० ४/६/४
किङ्किणिस्तोक० ३/३/३७
किङ्किण्यादि च ३/४/२७
किञ्चित्कुञ्चित० ३/२/९२
किञ्जल्कमिश्रतुलसी० ३/१/२३
कितव! योषितः २/४/१६३
किन्तु कालादि० ३/२/१४४
किन्तु ज्ञानविरक्त्यादि० १/२/२५१
किन्तु तत्र सुदुस्तर्क० २/५/९१
किन्तु तानि प्रसिद्धानि १/२/७२
किन्तु नायकवीर्यार्थम् २/४/१०२
किन्तु प्रेमा २/१/११
किन्तु प्रेमैकमाधुर्य० १/२/५७
किन्तु प्रेमोत्तर० ४/४/१५
किन्तु बालचमत्कार० १/३/४४
किन्तु भाग्यं विना १/३/५१
किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वम् २/४/२६९
किन्त्वात्मसौख्य० ३/१/५
किन्त्वेतस्याः प्रभावः २/५/१००
किमत्र सूर्यातप० २/३/२९
किमन्यदहमुद्धतः ३/२/५४
किमपरमिह वाच्यम् ३/३/१२२
किमपि मनसि २/१/११०
किमयमितरथा २/२/१९
किमहह गृहम् २/४/१३८
किमिदं किमिदम् २/४/६६
किमिव कुरुते ३/४/७०
किमुत स खलु २/१/९३
किमुन्मीलत्यस्त्रे २/३/७८
किमुरुस्तम्भे वा २/३/७८
किमन्तकासिलुलितात् १/२/२९
किम्वन्यदर्पितभयम् ४/३/४५
किरीटं कुण्डले २/१/३५९
किरीटकोटीडित० २/१/१७८
किशोराभः सदा ३/४/३८
कीरैरर्पयति क्वचित् २/१/३३२
कीर्तन्यतीर्थयशसः ४/३/४५
कुचकलशमुखाभ्याम् ३/४/७६
कुचकलशविमुक्तैः ३/४/४७
कुञ्चता निज० ४/८/४६
कुञ्चयन्नक्षिणी ३/२/१७८

कुटिलकुन्तलम् २/१/२११
कुटुम्बिनि! ३/४/७२
कुतः पुनस्ते १/१/२१
कुतुकादभिमन्यु० २/३/३०
कुन्दैर्मुकुन्दाय २/३/५
कुबेरात्मजौ १/२/४५
कुमारमकरध्वजादपि ३/२/५४
कुमारस्ते ४/८/७९
कुरङ्गीनेत्रायाम् २/१/२५८
कुररीव व्रजराज० २/२/९
कुरुजाङ्गले हरिम् ३/३/१३२
कुरु प्रणय० ४/८/३४
कुरु भुवमनवद्या० २/१/३६३
कुरुन् मधून् वा २/१/१६२
कुर्यामद्यैव गत्वा २/४/२४५
कुर्वती तव २/२/७
कुर्वती ध्यान० ४/८/६९
कुर्वन् कारयते २/१/१२६
कुर्वन्तः श्रुति० ३/१/२०
कुर्वन्ति कृतिनः १/१/४०
कुर्वन्त्यहैतुकीम् १/२/५४
कुर्वन् पूर्व० ४/७/३
कुर्वाणस्तटभुवि २/४/३३
कुलवरतनुधर्म० २/१/१८६
कुवलयदललक्ष्मी० ३/५/१८
कुवलययुवतीनाम् ३/५/१८
कुशेशयपलाशाभ्याम् २/३/५५
कुसुमादिकृतच्छेदं २/१/३६१
कुसुमान्यवचिन्वतः ३/३/११४
कूटेन माम् ४/५/३१
कृ-कृष्ण व-वद २/४/३७
कृच्छ्रात् पुनः २/४/९३
कृतं स्मित० ४/८/३४
कृतं हसित० ४/१/२१
कृतज्ञः स्याद् २/१/९१
कृतपुलककदम्बः २/१/३७७
कृतवरकबरीकम् ३/३/८५
कृतव्यलीकेऽपि २/१/७१
कृतस्तोत्रारम्भः २/५/५६
कृताः कृतार्थाः २/१/१५५
कृतागसं पुत्रम् २/४/३२
कृताञ्जलिः २/३/३९
कृतात्र द्विजरूपे ४/३/५३
कृताद्य नो येन ३/२/२७
कृतानुयात्रा १/१/२६
कृतिसाध्या भवेत् १/२/२
कृत्वा मुखान्यवशुचः २/४/१३७
कृत्वा बत सारङ्गम् २/१/२०८
कृत्वा हरिं प्रेमभाजम् १/१/४१
कृपां तस्य समाश्रित्य ३/२/५३
कृपार्द्रहृदयत्वेन ४/३/४७
कृपासिद्धा यज्ञपत्नी० २/१/२८९
कृशाङ्गि! सुखयन्ति० ३/३/३९
कृष्णं तदर्थ० २/३/४०
कृष्णं तस्य गुरुम् ३/४/२
कृष्णं महाबकग्रस्तम् २/४/९७
कृष्णं मुष्णन्नकरुण! ४/५/१७
कृष्णं स्मरन् १/२/२९४
कृष्णः प्रसादमकरोद् २/१/१७७
कृष्णं फुल्ल० ४/८/४०
कृष्णग्रहगृहीतात्मा ३/२/१०८
कृष्णतत्प्रतिपक्ष० ४/९/३८
कृष्णतद्भक्तकारुण्य० १/२/३०९
कृष्णतद्भक्तविद्वेष० १/२/८२
कृष्णनामनि २/२/१०
कृष्णनामाक्षरैः १/२/१२४
कृष्णपालनकर्तापि ४/५/९
कृष्णप्रणामी १/२/१२९
कृष्णप्रियाणाम् ४/४/१०
कृष्णभक्तविशेषस्य २/४/२६८
कृष्णभक्तेष्वनु० २/५/२३
कृष्णभावकलिलम् २/१/१५९
कृष्णभ्रमेणाशु २/४/५६
कृष्णमङ्कमभि ३/४/५६
कृष्णमाराज्जरासन्धः ४/९/३९
कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च २/१/१६
कृष्णश्च दारुणा० ४/६/२
कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थः २/५/५३

कृष्णसम्बन्धिभिः २/३/१
कृष्णसाक्षात्कृतौ २/१/२७६
कृष्णस्फूर्तिविशेषस्तु २/४/९८
कृष्णस्य पश्यत ३/२/५८
कृष्णस्य पूर्णतमता २/१/२२३
कृष्णस्य मण्डनतति० २/१/३३९
कृष्णस्याग्रे ४/९/७
कृष्णस्याभ्युदयार्थम् ४/३/३१
कृष्णस्वहस्तलिखिता २/४/१६५
कृष्णाङ्घ्रिरेणु० १/२/१०७
कृष्णादिकर्मकास्वाद० १/३/५
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैः २/१/१०
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदा० ४/९/३७
कृष्णाधिक्षेपजातेन २/३/४५
कृष्णान्वयाद्गुणातीत० २/५/७५
कृष्णापाङ्गतरङ्गित० ३/५/१४
कृष्णाम्बुदाकार० २/२/१३
कृष्णाय क्लमभर० २/४/२७
कृष्णाय नमः १/२/१५०
कृष्णायाच्छन्नरूपाय ४/३/४७
कृष्णार्णवं काश्य० २/१/७६
कृष्णाहित-हितस्थाः ४/५/२०
कृष्णेति मङ्गलम् १/२/१४६
कृष्णेति वैष्णवम् १/२/१७१
कृष्णेन तल्पादव० २/४/३०
कृष्णेन विप्रयोगः ३/३/१२८
कृष्णेन सङ्गमः ३/२/१२९
कृष्णेन हन्त २/४/२२९
कृष्णेऽमलां भक्तिम् १/२/१७३
कृष्णेऽर्पितात्म० ४/४/८
कृष्णे सखी ४/५/२
कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे ३/२/४९
कृष्णैकतोषणे ४/३/५५
कृष्णैश्वर्याद्य० ४/४/१५
कृष्णोत्तीर्णन्तु १/२/१२६
कृष्णोन्मुखं स्वयम् १/२/२६१
कृष्णो मदीयाम् २/४/४५
कृष्णो हितोऽहितश्चेति ४/५/२
केचित्तु नायकस्य ४/९/१७
केचित् प्रगल्भाः ३/३/५५
केचित् प्राप्यापि १/२/२७९
केचिदस्या रतेः ३/२/१४०
केचिदार्जवसारेण ३/३/५४
केचिदेषु स्थिरा० ३/३/५३
केचिद्भीताः शरण० ३/२/२२
के महेन्द्र! विबुधा २/१/१९६
केयं मोहनता ३/३/७७
केयूरनूपुराद्यञ्च २/१/३५९
केलितात्पर्यवत्येव १/२/२९९
केवला सङ्कुला २/५/२४
केवलेनैव स १/२/३०३
केवले वत्सले ४/८/३२
के वा रङ्गस्थल० २/१/१६३
के विश्वम्भर! २/१/२६०
केशबन्धनमालेपः ३/१/३५४
केशवस्य करुणा० ३/२/८९
केशवस्य गिरम् २/४/१०९
केषाञ्चित् क्वचिद् १/२/२४५
केषाञ्चिदेव १/२/१९८
केषाञ्चिद् हृदि १/३/४८
कैलासवासिनीम् ४/९/२७
कैलासस्था विलासेन ४/८/५९
कैशोरं पूर्वम् ३/३/७८
कैशोरं सफली० २/१/२३१
कैशोरेण तवाद्य २/१/३३३
कोटयो ब्रह्म० १/२/१६७
कोटिष्वशेषवसुधा० २/१/१८९
कोणेनाक्षः ४/८/५४
को न्वीश! ते १/२/२६
कोपो मन्यु० ४/५/२५
कोमलञ्च त्रिधैवोक्तम् २/४/२६६
कोमलाङ्गमपि २/१/५९
कोऽयं नवीन० ३/५/२०
को वार्थ आप्तः १/२/६६
कोऽहमिति स्वम् ३/२/१७६
कौमारं पञ्चमाब्दान्तम् २/१/३०९
कौमारं वत्सले ३/३/५९
कौमारादिवयोरूप० ३/४/१७

कौरवेषु तथा ३/२/३२
क्रमान्मणिमयी २/१/३७२
क्रमेण क्षय० १/३/५३
क्रमेणैव प्रलीयेत १/१/२३
क्रान्तं भवति १/२/१३६
क्रान्त्वा सप्त जगन्ति ३/५/१४
क्रियते सुहृदाम् १/१/६
क्रियास्तु नेत्रविस्तार० ४/२/३
क्रीडाकन्दुकताम् २/१/६२
क्रीडाताण्डवपण्डितस्य २/१/३४४
क्रीडाविनिर्ज्जित० २/४/२२६
क्रीडोत्सवानन्दरसम् ३/३/९८
क्रोधाश्रयाणाम् ४/५/३३
क्रोधो जरत्या ४/५/५
क्रोधो रति० ४/५/३३
क्रोशनाद्याः क्रियाः ४/६/१०
क्रोशन्ती करयोः ३/४/६३
क्रोशन्त्यां कर० ४/५/२९
क्लमादिभिश्चित्त० २/४/१७१
क्लेशघ्नी शुभदा १/१/१७
क्लेशास्तु पापम् १/१/१८
क्लेशे क्रमात् २/१/१८८
क्लैब्यं क्षमा च २/४/१९२
क्वचित् कदाचित् २/४/१३१
क्वचित् तत्र प्रमत्तः ४/५/९
क्वचित् तद्भावना० ३/२/११०
क्वचित् तनय इत्यवन् २/५/१४
क्वचित् प्रभुरिति २/५/१४
क्वचित् स्वाभाविकः ३/४/२५२
क्वचिदपि न ३/२/१२१
क्वचिदपि लताकुञ्जे ३/५/३०
क्वचिदपि विषमम् २/१/१२२
क्वचिद्भवेत् ततः ४/८/६०
क्वचिद् रुदन्त्यच्युत ३/२/१४२
क्वचिद् विहसति ३/२/१११
क्वचिन्नटति ३/२/१११
क्वचिन्मनसि भावयन् २/५/१४
क्वणितकणकिङ्किणी० ३/४/२८
क्व मे पुत्रः ३/४/७१
क्व यामि जरती ४/१/१७
क्व सुबल पुरा! ३/३/९९
क्व स्तन्यगन्धि० ४/२/८
क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ ४/८/८३
क्वाप्येकः क्वाप्यनेकः ४/१/५
क्वायं बालतमाल० २/४/७६
क्वाहं तमोमहदहम् २/१/२००
क्वेदृग्विधाविगणित० २/१/२००
क्षणं यानालोक्य ४/४/११
क्षणदाः क्षणदायितोज्झिताः ३/२/१२०
क्षणमपि पितृ० ४/८/५५
क्षणमहमवसीदन् ३/३/२०
क्षणमिह विरुदन्तम् ३/४/२२
क्षणमीश्वरभावोऽयम् १/३/५६
क्षणविघटित० २/४/१०१
क्षणादक्षौहिणीवृन्दे २/१/१३१
क्षणादर्शनतो दीनाः ३/३/१६
क्षणार्धमपि मन्यते ३/२/१०१
क्षणिकस्यापि ३/२/८४
क्षतजपूरं पुरुषोत्तमे ३/२/११५
क्षमावूरू स्तब्धौ २/३/७४
क्षमाशीलोऽपराधानाम् २/१/१११
क्षमोऽजनि न २/३/७७
क्षयमगमदकस्मात् २/४/१०१
क्षयाच्छ्रमाधिरत्याद्यै० २/४/२६
क्षान्तिरव्यर्थकालत्वम् १/३/२५
क्षितिरतिविपुला २/४/७२
क्षिपत ननु ३/२/११३
क्षिप्तास्ते स्मृति० ४/७/११
क्षीणजीवनतया २/४/२९
क्षीणा गोष्ठमही० ३/४/६३
क्षीबं मत्वा श्रपयति २/१/१६०
क्षुद्रकौतूहलमयी १/३/४९
क्षुभ्यत्यहृद्यलेशेऽपि ४/७/१२
क्षेत्रे कुरोः ३/१/४०
क्षोभकत्वाद् वियोगस्य ३/२/१२८
क्षोभयन् सपदि ३/१/३१
क्षोभहेतावपि १/३/२७
क्षोण्यामप्रेक्ष्य २/४/६९

क्षौमं वासः ३/४/१२
क्ष्मामण्डलेन सह ४/६/६

ख
खण्डिताखण्डितम् ३/१/३५२
खरतात्र नखाग्राणाम् २/१/३१७
खर्वितोरुशतपर्विका० ३/२/४६
खलं क्षुन्दन् ४/८/७९
खलक्षयेणाखिल० २/१/१५५
खलाः कुरुकुलाधमाः २/४/१५८
खेदानलव्यतिकरैः ३/२/१२३
खेलन्निव स्फुरति ४/२/८

ग
गगने सगणेश० २/२/४
गङ्गा च देवी १/३/२८
गच्छन्तो रसरूपत्वम् २/५/८३
गजेन दुष्ट० २/४/७४
गण्डान्तः स्फुरदेक० ३/३/२८
गण्डौन्नत्यम् ४/८/८४
गतिविदस्तवोद्गीत० २/४/१६३
गते किमपि ३/१/१४
गते वृन्दारण्यात् ३/३/१२१
गतो मुकुन्दम् १/२/६८
गतोऽसि चरितार्थताम् २/१/२८८
गत्यङ्गवाणीस्खलन० २/४/३५
गदः पदारविन्देऽस्य ३/२/१५८
गभीरादाभीरावलि० ३/३/११९
गभीरोऽप्यश्रान्तम् २/४/२७०
गम्भीरं सिन्धुवत्० २/४/२६१
गम्भीरत्वादि० २/१/२२८
गंम्भीरस्वनितम् ३/३/२८
गम्भीरो विनयी २/१/२२६
गरिष्ठं स्वर्ण० २/४/२६०
गरिष्ठारिष्टटङ्कारैः २/४/२२१
गरिष्ठोऽयं केशी ४/८/७९
गरुडमणिकवाटी० २/१/३२१
गरुडाङ्क! गुडाकेश० ३/३/१०७
गर्जन्नेष घनः ३/३/२४
गर्वावेगधृतिव्रीडा० ४/३/१७
गवां गोपालानाम् २/५/५६
गव्या गौरवतः २/४/६८
गह्वरं द्रुतपद० २/४/१५४
गाजे पलायमानोत्कम्प० २/४/६३
गाढानुकूलतोत्पन्ना २/५/२२
गाढासङ्गात् १/३/५५
गाण्डीवपाणिः ३/३/१४
गाण्डीवी स्मित० ३/३/१५
गात्रं सुगात्री २/२/६
गात्रोत्कम्पी मनः २/४/५८
गान्धर्विकास्पन्दन० २/३/५
गान्धर्वि! कुर्वाणमवेक्ष्य ४/९/१६
गाम्भीर्यं स्थैर्य० २/१/३५
गायन्त आनन्द० १/२/३७
गायन्ति स्म महाराज ३/३/१११
गायन्त्य उच्चैः २/४/८३
गावश्च कृष्णमुख० २/४/१०८
गावश्च धावन्ति २/४/१४६
गास्तत्र रक्षितुमसौ २/५/३४
गिरा गद्गदयास्तौषीत् २/३/४१
गिरिद्रोण्याम् २/३/७५
गिरिधरः स्पृशति ४/५/३०
गिरिवरभृति ३/२/४७
गिरिसन्निभमल्ल० २/३/२३
गिरेरुद्धरणं कृष्ण! २/१/९७
गीतं गुम्फति २/१/८५
गीते दामोदर! २/१/१६०
गीत्वा च मम १/२/२३१
गीर्वाणीभिरनङ्ग! २/१/३४४
गुच्छकग्रहणकैतवाद् २/४/१५४
गुञ्जाहारी शिखण्ड० ३/३/६६
गुणतोऽसानि १/२/१९६
गुणाः प्रधानम् २/१/१९१
गुणाः प्रोक्तास्ते २/१/३४२
गुणाः स्वरूपमेवास्य २/१/३०५
गुणात्मनस्तेऽपि २/१/२१९
गुणानामिह कृष्णस्य २/१/२१८
गुणा विरुद्धाः २/१/२४३

गुणास्तु त्रिविधाः २/१/३०३
गुणैरलमसंख्येयैः १/३/२१
गुणोत्कर्षश्रुतिः ३/२/५९
गुणोत्थं स्याद् २/१/४८
गुप्तः समेत्य २/४/१६९
गुप्तस्य गोपेन्द्र! २/१/१२७
गुम्फन्तु गोपाः २/४/४५
गुम्फितुं निरुपमाम् २/४/२८
गुरवो ये २/५/३३
गुरुजनगञ्जन० ३/५/१२
गुरुपादाश्रयस्तस्मात् १/२/७४
गुरुपुत्रमिहानीतम् २/१/१९७
गुरुब्राह्मणवृद्धादि० २/१/१३५
गुरुमपि गुरुवास० २/१/११०
गुरुरपि भुजगाद् ३/२/८८
गुरुरयमपराध० ४/६/५
गुरोः शिष्यो नूनम् ३/२/१३८
गुरोरपि पुरः २/४/१७०
गुरोर्जगति दर्शयन् २/१/८०
गुरोर्वर्त्मानुसारित्वम् ३/२/१५९
गुरौ च व्रज० २/५/२५
गुरौ पुरं कौरवम् ३/२/१७५
गुर्वीं नार्य! गदाम् ३/३/२४
गूढं परं ब्रह्म १/१/४३
गूढा गाम्भीर्य० २/४/१२५
गूढोऽपि वेषेण २/१/६९
गृष्टीणां युगपच्च २/१/१२५
गृहपतिचरितञ्च ३/५/१२
गृहिणि! गहन० २/४/१३९
गृहीतचेता राजर्षे! १/२/२२७
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रम् ४/२/७
गेहादङ्गनमङ्गनात् ३/४/५५
गोकुलं किल ४/६/७
गोकुलं कृष्ण! २/३/४८
गोकुले तु ३/३/१२६
गोकुलेन्द्र! कुरुते २/२/७
गोकुलेन्द्र-गुणगान० ३/२/६७
गोकुलेशगृहिणी २/४/२३७
गोचरे सकृदपि ३/४/६९
गोपाः शैलतटे ३/३/१२७
गोपा गोप्यश्च २/४/७०
गोपाङ्गनागण० २/१/८७
गोपानां वल्लभा २/१/३७२
गोपानां स्वजनः २/१/२६४
गोपाल-रूपशोभाम् १/४/२१, २/५/१३४, ३/५/३७
गोपाल-रूप० ४/९ उपसं २
गोपीचन्दन० १/२/२१६
गोपेन्द्र! गोपय ४/६/६
गोपोऽप्यशिक्षित० २/४/२२६
गोवर्धनं महा० ४/५/७
गोवर्धनः शिखर० ४/२/८
गोविन्दं गृहमानीय २/४/११०
गोविन्दः प्रिय० ४/५/१२
गोविन्दप्रेक्षणा० २/३/५४
गोविन्दप्रेष्ठवर्याणाम् २/४/२६७
गोविन्दमात्मनि २/४/१०८
गोविन्दमादिपुरुषम् २/१/१८९, २५०
गोविन्दस्मारणम् १/२/१०९
गोविन्दस्य पदारविन्द० ४/४/१२
गोविन्दस्य मुहुः ३/४/५५
गोविन्दस्य विलास० २/१/३२५
गोविन्दाख्याम् १/२/२३९
गोविन्दास्य-निसृष्ट० ३/४/१३
गोविन्दे प्रकटम् २/१/२३२
गोविन्दे मिहिर० ३/४/५७
गोविन्दे सुबलमुखैः २/४/१२६
गोविन्दे स्वयमकरोः २/४/११४
गोष्ठं रमा० २/४/१४६
गोष्ठभूभृदपि २/४/२२७
गोष्ठान्तर्मधुरिपु० २/४/२७
गोष्ठे कराम्भोरुह० ३/४/६८
गोष्ठे कौमार० ३/३/५८
गोष्ठे साश्रु० ४/८/८५
गौणमेवाङ्गिनम् ४/८/४७
गौणा भक्तिरसाः ४/१/४
गौरवं गण० ३/४/९
गौरवेन गुरुणा ३/४/९
गौरश्रीरलिके ३/३/७५

गौराङ्गा वातवसना: ३/१/१३
गौरो धूम्रस्तथा २/५/११८
ग्रन्थस्य गौरव० उपसं० १
ग्लपय न मुखपद्मम् २/४/१३९

घ
घटेतासौ ४/९/२३
घनरुधिरमये त्वचा ४/७/८
घनसुन्दरमात्मना २/५/२०
घनोपरिष्टादपि २/३/३१
घूर्णन्नर्णवसीम्नि २/४/८८
घोरक्रियाद्यनुभावाद् २/४/२१५
घोरा खण्डित० ३/५/२३
घोराडम्बरडम्बर: २/१/२४०
घोरासुरघूकानाम् २/१/१५७
घ्राणञ्च तत्पाद० १/२/२६७
घ्राणस्य शिखरे ३/४/२७
घ्राणैरवापुः परमाम् ३/४/४२
घ्राणोद्घूर्णक० ४/७/११
घ्रातश्च मूर्ध्नि ३/२/१५१

च
चकम्पे द्रागमर्षेण २/३/४५
चकार मेघे तद्वर्णे ३/२/९७
चञ्चत्कौस्तुभकौमुदी० ३/३/५
चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदय: ३/२/१०
चञ्चद्वेणीशिखरशिखया ३/३/७३
चञ्चलमुपसीदन्तम् २/३/४६
चटुलं त्वामभिभूय ४/३/६
चटुलो वपु० ४/९/८
चण्डांशोस्तुरंगान् २/४/७५
चतु:षष्टि: पृथक् १/२/९५
चतु:स्वरच्छिद्रयुक्ता २/१/३६७
चतुरो युगपद्० २/१/८६
चतुर्णां भूतानाम् ३/३/११९
चतुर्धामी अधिकृता० ३/२/१८
चतुर्भुजश्च शान्ताश्च ३/१/७
चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु १/२/१३६
चतुष्कं कञ्चुकोष्णीष० २/१/३५०
चतुष्टयेऽपि वीराणाम् ४/३/१७
चत्वार: खलु १/१/७
चत्वारि क्ष्मादि० २/३/१७
चत्वारो जज्ञिरे १/२/१०
चन्दनालिप्तमाघ्राय २/४/१५०
चन्द्रध्वजो हरिहय: ३/२/२९
चरणसरोजहंस० १/२/४०
चरणाब्जे शरणा० २/१/३८१
चरणौ ते मरणेऽपि २/५/२९
चरत: परिभूतकाल० १/१/४
चरितमहामृताब्धि० १/२/४०
चलापि यच्छ्रीर्न २/१/१८५
चलिते मुरभिदि ३/२/१२४
चाटुकृन्मान्द्यमालिन्य० २/४/२१
चापल्यञ्चैव निद्रा २/४/६
चापल्यादपि चपलम् १/३/३९
चामरव्यग्रहस्तम् १/२/१५५
चारुचित्रपरीहास: ३/३/८७
चारुपुष्पपटलम् २/४/२८
चार्चिक्यं वैजयन्तीम् ४/३/३६
चाष्टश्लिष्टशतम् २/१/१२५
चित्तं सत्त्वीभवत् २/३/१५
चित्तकन्दरतटीम् ३/१/२७
चित्तत्रयेऽत्र भावस्य २/४/२६३
चित्तद्वयेऽत्र भावस्य २/४/२६१
चित्तयुग्मेऽत्र भावस्य २/४/२६२
चित्तयुग्मेऽत्र विज्ञेया २/४/६०
चित्तस्य सम्भ्रम: २/४/५९
चित्ते गरिष्ठे २/४/२५८
चित्ते लघिष्ठे २/४/२५९
चित्रं मुरारे! २/१/२०६
चित्रं बतैतदेकेन ४/२/७
चित्रं वारिधरान् ३/२/६०
चित्रं सोऽयम् ४/७/३
चित्रयस्यहह ३/२/६५
चित्राकारं भजन्नेव ३/३/१३०
चित्रा न ते दारुक! ३/२/८५
चित्रेयं परमानन्द० २/५/७७
चिदानन्दं ज्योतिः ३/१/१६
चिन्तयाऽऽक्रान्त० २/४/१७२

चिन्तां कुर्यात्र १/२/१९७
चिन्तामणिश्चरण० २/१/१७३
चिन्तालस्यनिसर्ग० २/४/१७१
चिन्ता-विषाद-औत्सुक्य० ४/४/६
चिन्ता-विषाद-निर्वेद० ३/४/६४
चिरं जीवेति ४/८/५९
चिरमाभीरकुमार० ३/३/१२४
चिरमिह वृजिनार्त्त० २/४/२२
चिरमुत्कण्ठितमनसः २/५/३७
चिरयति मणिमन्वेष्टुम् ३/२/१२४
चिरादस्याश्चित्तम् २/४/९५
चिबुकाग्रे दधती २/५/३५
चुम्बन् फुल्लकदम्ब० ३/२/८६
चुम्बाश्लेषौ तथा ३/४/४४
चेतः सुधांशु० ३/५/१५
चेतस्तटे भक्ति० २/२/१८
चेतो बत हरति १/३/३९
चेतोविकासो हासः २/५/५२
चेत् स्वतन्त्रास्त्रय २/५/७४
चेष्टा रासादि० २/१/३४३
च्युतिरतिशयिनी च ३/२/८८

छ

छन्नाङ्गः पुरट० २/१/३५१
छलितो नर्म० ४/९/१०
छाया न यस्य २/४/२२९

ज

जगज्जनन्यां जगदीश! ३/२/५५
जगति युवति० ३/३/५१
जगदेकसंशय० २/१/७४
जगद्व्यवहतिक्रमम् ३/३/१२५
जगन्ति दंष्ट्र० २/४/२१४
जगन्मोहारम्भोद्धुर० २/४/१३४
जगृहे पाण्डु० ४/८/३९
जग्मुः पाण्डुसुताः ३/३/५
जड उदीक्षताम् २/१/२११
जडतोन्माद० ३/२/९९
जतु द्रवत्वमायाति २/४/२६५
जनं विकट० ४/३/२१
जननीं स्तम्भयति ३/४/३०
जनयति जनेषु ३/२/१५३
जनयत्येव वैरस्यम् ४/८/५३
जनितिथिरिति ३/३/२९
जने कृतापराधेऽपि २/१/७०
जने चेज्जातभावेऽपि १/३/५९
जने जातरतौ २/३/९
जने भवति मद्० २/४/१६२
जनेषु रतिशून्येषु २/४/२१८
जयन्ति शीतानि २/१/३६२
जरत्याः प्रस्तोभाद् ४/१/२५
जरदाभीरिकादीनाम् ३/४/८२
जरन्मीमांसकस्यापि २/३/८७
जरन्मीमांसकाद् रक्ष्यः २/५/१३०
जरां याता २/४/१६
जल्पित-स्मित-लीलाद्याः ३/४/१७
जहौ युवैव १/३/३१
जागर्मि त्वदुपग्रहाय २/१/२३७
जाड्यं व्रीडा० २/४/५
जाड्यमप्रतिपत्तिः २/४/१०७
जाड्यश्वासाक्षि० २/४/१७१
जातकृष्णरतेः ४/७/७
जाता तेषां मयि ३/२/२५
जातानुरागा गत० ३/४/४२
जातानुरागो द्रुत० १/४/६
जाता भक्तोपमे २/३/१२
जाताऽस्य सा ३/३/११३
जाते वियोगे ३/२/१३३
जाते साक्षाद् ३/१/३७
जातो मणिः ४/३/२३
जानीमोऽङ्ग! २/४/२५
जिगाय भरतश्रेष्ठम् ४/३/१०
जिगीषा स्थेयसी ४/३/१८
जितचन्द्रपराग० ३/४/५१
जित्वा दामोदर! ४/३/१२
जीवच्छवं भजति ४/८/७१
जीवनीभूत० २/१/८
जीवन्ति रोमविलजाः २/१/२५०

जीवस्फुलिङ्ग० ४/८/२०
जीवाम ते सुन्दर० ३/२/१३४
जीवेत यो मुक्तिपदे १/२/१७४
जीवेष्वेते २/१/३०
जुगुप्सा चेत्यसौ २/५/४०
जुगुप्सारतिरत्र ४/७/६
जुगुप्सा स्याद् २/५/७१
जृम्भाऽङ्गमोटनम् ३/१/२८
जृम्भामवलम्बते ३/१/२९
ज्ञप्ततत्तद्विशेषश्च २/५/८२
ज्ञप्तिशून्यमना रेजे २/३/५९
ज्ञातं पुरः प्रेक्ष्य २/३/२९
ज्ञातं मुकुन्द० ३/५/१५
ज्ञातये हरये ४/३/३३
ज्ञाते ह स्मररहस्ये २/१/१४१
ज्ञानं वा शुभ० १/३/३५
ज्ञानं विरक्ति० २/१/३४
ज्ञानतः सुलभा १/१/३६
ज्ञानवैराग्ययोः १/२/२४८
ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि १/२/२५८
ज्ञानिभक्तेन संसर्गः ३/१/१९
ज्येष्ठादीनां क्रमाद् ४/१/१४
ज्योत्स्नाकृतानन्द० २/४/३०
ज्वर! परिहर २/१/१४४
ज्वलति दुर्मुखि! ४/५/३०
ज्वलन्त्युल्लासिनः २/३/६९
ज्वलिता विश्लथगात्र० ३/३/१२४

झ
झरमुचि मुचुकुन्दः २/१/८१

ड
डम्बरः स रिपु० ३/२/१७४
डिम्भस्य जृम्भाम् २/३/३३
डिम्भाः स्वर्णनिभाः ४/२/१०
डिम्भानां व्रजपति० ४/५/१२
डुण्डुभो जलचरः २/४/२२७
डोरीजूटितवक्त्र० ३/४/१३

त
तं कः स्तौत्येष ३/२/२०
तं चिरेण जटिला २/५/६५
तं तमेव ४/९/६
तं दुष्टपुङ्गव० २/१/३४५
तं नागभोग० ४/४/८
तं निर्व्याजम् २/१/१०३
तं प्रेक्ष्य दण्ड० ३/४/६८
तं मातुलेयम् ३/३/१३१
तं मोपजातम् १/३/२८
तं वीरं शरदम्बुद० ३/३/२८
तं सुतेति ४/८/५७
तं स्मारयन् मुनिपते! ३/२/११८
तं हासयन्ति ३/३/५४
तच्चर्वणे भवेद् ४/८/५२
तच्चापहसितम् ४/१/२२
तच्चापहसितम् साश्रु० ४/१/२४
तज्जा भीर्नापरत्र ४/६/१३
तज्जोषणादाश्वप० १/३/१२
तटभुवि कृतकान्तिः १/२/२४३
तटमटतीत्यधुना २/४/७२
तडिद्विलास० ४/८/५८
तत एव तारतम्यम् २/३/६२
ततः सार्द्धाङ्गुलाद् २/१/३६८
ततोऽतिकुतुकोद्० २/३/२४
ततोऽनर्थनिवृत्तिः १/४/१५
ततो नापैति यः १/२/१२१
तत्कथाक्षिप्तमनसः २/४/६५
तत्कर्मगुणरूपाद्याः ४/४/४
तत्कारुण्यश्लथीभूत० ३/१/४५
तत् किं करोमि ३/२/१०६
तत्कुचोपरि २/४/२३७
तत्तत्कथा० १/२/२९४
तत्तत्कर्म ३/४/७
तत्तत्क्रीडानिदान० १/२/२८४
तत्तत्साधनतः २/५/१२
तत्तद्भक्तानुसारेण २/१/२२९
तत्तद्भावादिमाधुर्ये १/२/२९२

तत्तद्वेदी च ४/४/४
तत्तन्निवेदयेन्मह्यम् १/२/१९९
तत्तल्लीलाभेदाः २/१/२२५
तत्तिरस्कृतसंस्काराः २/५/५१
तत्तेऽनुकम्पाम् १/२/१७४
तत्त्वैर्ब्रह्माण्डमाढ्यम् २/१/२०१
तत्पादाम्बुजसर्वस्वैः २/५/१३१
तत्प्राप्त्युपायचिन्ताद्याः ३/२/९५
तत्र कर्म किमिवाद्भुतम् २/४/२२७
तत्र केषुचिदप्यस्याः ३/४/८०
तत्र गीतादिषूक्तानाम् १/२/२०
तत्र चित्रार्पिते २/३/२५
तत्र ज्ञेया २/१/१४
तत्र नारायणः १/२/२०९
तत्र निष्ठीवनम् २/५/७१
तत्र नेत्राम्बु० २/३/६५
तत्र पारिषदादेस्तु ३/२/७७
तत्र पूर्वे विभागे १/१/८
तत्र भागवतान् १/२/९८
तत्र वागादि० २/३/२१
तत्र शुष्यदधरः २/५/६९
तत्र सोल्लुण्ठवचनम् २/४/४२
तत्र स्फुरन्ति २/५/७६
तत्र स्वेदः शिरः० २/४/१६०
तत्राक्षिमर्दनम् २/४/१८७
तत्राङ्गभङ्गजृम्भा० २/४/१७१
तत्रादौ सुष्ठु १/१/१०
तत्रानुवृत्तिं किल ३/३/१२०
तत्रान्वहं कृष्णकथाः १/३/९
तत्रापि च विशेषेण १/२/२३
तत्रापि बल्लवाधीश० २/५/११०
तत्रापीशस्वरूपानु० ३/१/६
तत्राप्येकान्तिनाम् १/२/५८
तत्रायोगे मदम् ३/३/१०३
तत्राविचारपारुष्य० २/४/१६८
तत्राब्दकोटिप्रतिमः २/१/१६२
तत्राश्रूणाम् २/३/६६
तत्रासक्तिकृदन्यत्र २/५/२८
तत्रास्माकम् ४/८/७२
तत्रेर्ष्याऽनादराक्षेपाः २/४/१६४
तत्रैकांसगतम् २/४/१५०
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र ३/२/८७
तत्स्थानमाश्रित० १/२/२०१
तत्स्मारितानन्त० २/४/९३
तथा गाण्डीव० ४/३/१०
तथा ताराति० २/३/६६
तथा तेनैव २/१/२९७
तथाऽत्र मुख्य० ४/८/४१
तथात्वे रामपादाब्ज० २/५/१२७
तथाद्य लगुडम् ४/३/८
तथा न ते माधव! २/४/४६
तथाऽनवाप्ततद्भक्ति० ४/४/३
तथा न स्पृशतः १/२/७०
तथानुभूयमानास्ते २/५/९८
तथा परम० १/२/५३
तथापि क्वाप्यवसरे ३/२/३२
तथापि तस्याङ्घ्रि० २/१/१८५
तथापि दोषाः २/१/२४३
तथापि न २/१/६८
तथापि नाहम् १/२/२६
तथापि पूर्वतः २/१/२७१
तथाप्यमीषाम् २/३/६१
तथाप्यल्पविशेषाय ४/८/३६
तथाप्यूहाञ्चक्रे २/३/७५
तथाप्येष विभावादि० ४/१/२८
तथा प्रकीर्णकच्छत्र० १/२/१४०
तथा प्रेमभक्तिम् १/२/४५
तथा भुवननन्दिनः २/१/२१०
तथा मद्विषया १/१/२०
तथा राजसवद्गर्व० २/५/७६
तथापर्यन् हरौ १/२/१९७
तथा विशेषकोऽपि २/१/३५७
तथा बीभत्सभूमादेः ४/९/४
तथाऽहमपि तच्चित्तः ३/५/२८
तथा हि पाद्मे २/१/३१
तथा हि श्रूयते १/२/३०७
तथैव धीरोद्धतः २/१/२४
तथैवाहोपुरुषिका ४/३/१३

तथ्यं हन्त चिरायु० ४/१/११
तदङ्गसौरभाद्यास्तु ३/२/५९
तदत्र सर्वथा २/५/८१
तदभावे त्वसौ ४/३/५२
तदयं तव १/२/१९६
तदर्पितं हरौ १/२/१८६
तदवधि दधदन्तर० १/२/२४२
तदवधि मलिनोऽसि २/४/५१
तदवधि बत २/५/७२
तदस्मिन् कंसारे! ४/७/१०
तदात्वाभिव्यक्तीकृत० २/१/६४
तदामृतत्वम् १/२/१९४
तदा स्तम्भादयः २/३/१५
तदियमधहर! ३/३/५१
तदीक्षणोत्प्रेम० ३/४/४२
तदीयसुहृदस्तदा ३/३/१००
तदीयातिरहःकेलि० ३/२/१६२
तदीयास्तुलसीशास्त्र० १/२/८९
तदीयेच्छावशेनात्र ४/३/५
तदुन्नीतं वृन्दावन० २/४/१३३
तदुपरि नव० २/१/३४९
तदेकजीविताः ३/३/१६
तदेतेषु तदाधिक्य० २/१/२२८
तदेव दरसंलक्ष्य० ४/१/१८
तदेवावर्तनं तस्य १/२/१३५
तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा ३/३/१०८
तद्गिरश्च विवशाङ्गताम् ३/३/१०४
तद्दर्शनाह्लाद० २/१/३७८
तद्दानं प्रीति० ४/३/३४
तद्दिनं ब्रूहि १/२/२२४
तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीम् २/३/२४
तद्ब्रह्मकृष्णयोः १/२/२७८
तद्ब्रह्म निष्कलम् २/१/१८९
तद् ब्रह्म श्रीभगवतः २/१/१९०
तद्भक्तहृन्नभः १/३/४८
तद्भवव्यालदष्टानाम् १/२/१६२
तद्भावभावितस्वान्ताः २/१/२७३
तद्भावलिप्सुना १/२/२९५
तद्भावाकांक्षिणः १/२/३००
तद्भावेच्छात्मिका १/२/२९९
तद्भृत्यगात्र० १/२/२६७
तद्रसामृततृप्तस्य १/२/२१०
तद्वक्षोरुहचित्र० २/१/२३१
तद्वन्न रिक्त० १/१/२५
तद्विना तस्य ४/८/५१
तद्व्यर्थयन् कः २/१/१८८
तनयं जननी २/३/२३
तनयं प्राण० २/५/६२
तनयं भ्राम्यति २/४/६६
तनयममृतसिन्धौ ३/४/२६
तनयमवेक्ष्य ननन्द ३/४/२८
तनुं विभ्रमद् भव्यः ३/२/१०९
तनु तरणिजा० २/१/३२८
तनुतां सनातनात्मा ४/१/१
तनुरियमधुनापि ४/६/८
तनुरुचिविजित० ३/३/४६
तनुरुहाली च २/४/२०९
तनुरुहैः कुड्मलिता २/३/३३
तनुरुहैस्तत्र ३/२/१६५
तनोति मुख० ४/८/२५
तनोति मे २/४/२०९
तनोतु पुरुषोत्तम ३/१/१
तनोत्येषा प्रगाढार्त्ति० २/५/१०९
तनौ गुणोत्थ० २/१/४७
तनौ मन्त्रन्यासम् ३/४/१४
तन्नातिरसवाहित्वाद् २/१/३३५
तन्निष्ठताद्याः शीताः ३/२/६१
तन्निष्ठा दुर्घटा ३/१/४७
तन्नीरदद्युतिजयि ३/१/४०
तन्मयी या १/२/२७२
तन्मयी लालके ३/२/१६७
तन्मातरो वेणु० ३/४/४६
तन्माधुर्यं भवेद् २/१/२५७
तन्मुखे हरिनामानि १/२/२३२
तन्वा नमन्तोऽप्यनिशम् १/३/२९
तमघहरं गहने २/४/२४८
तमवशधियः ३/३/१२
तमविलोकयतः २/४/१०

तमात्मजैर्दृष्टिभिः २/४/१२३
तमालमालिङ्ग्य २/४/५६
तमालश्यामाङ्ग० २/१/२२
तमेव नित्यम् १/२/१७३
तमेव विद्यासरितः २/१/७६
तया कुसुम० ४/१/१०
तरक्षुनखमण्डनम् ३/४/२४
तरलतमसि २/१/८१
तरलमतेरपि ३/२/१०५
तरस्वी कृष्णाभ्रे २/१/३२६
तरूनपि चिकित्सकाः २/४/८२
तल्पैर्विच्युतकाञ्चिभिः २/१/३२५
तव गिरा जटिले! ४/५/३०
तव चरणसरोजम् ३/२/१०७
तव चिरविरहेण २/४/९१
तव नवमभिषेकम् ३/४/४७
तव पद्मिनि! २/२/१२
तव भक्तिरसामृताम्भोधिः १/१/५
तव मधुरस्वर० १/३/३८
तव मुहुरति० ३/४/७६
तव सुतमहमेव २/४/१३९
तवावतारं नवमम् २/१/१२८
तवावतारः खल० २/१/१२१
तवास्मीति वदन् १/२/२०१
तवोरसि निरीक्ष्यते ४/५/६
तस्थावधोमुख्यतिदुःख० २/३/५७
तस्थुर्मृजन्त्य उरु० २/४/१३७
तस्मात् केनाप्युपायेन १/२/४
तस्मात् परतरम् १/२/२१४
तस्मादङ्गाङ्गि० ४/८/१७
तस्मादनियताधाराः २/५/४५
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत १/२/९७
तस्माद् भारत! १/२/७
तस्मान्मद्भक्ति० १/२/२५०
तस्मिन्नेवापराधेन १/३/५३
तस्मिन्महन्मुखरिता १/२/१७२
तस्मिन् समर्पितम् १/२/१८४
तस्य क्षयार्थमिव ३/३/१०१
तस्य चेष्टाविशेषाद्याः ४/२/३
तस्य पदाम्बुज० ४/८/२०
तस्य प्रसादपात्रम् ३/२/५१
तस्य प्रस्फुरितौष्ठस्य २/३/९३
तस्य सनातनतनोः १/१/३
तस्य हरेः पद० १/१/२
तस्या अमूनि नः २/४/१६६
तस्याः कान्त० ४/८/७२
तस्याः सुस्राव २/३/५५
तस्याङ्गमुत्पुलकितम् २/३/१३
तस्यापि भवति १/२/२२०
तस्यायं तादृशः १/२/२२१
तस्यारविन्दनयनस्य ३/१/२३
तां तामेव हि २/४/१४२
ताः पुत्रमङ्क० ३/४/७४
ताः श्रद्धया १/३/९
ताञ्चानुभावयन्त्यन्तः २/५/८८
ताण्डवं व्यधित ४/९/३४
तादृग् ब्रह्माण्ड० २/१/२०१
तान् न स्पृशन्त्यशन० १/२/१७२
तान् प्रेमप्रसरोत्सव० २/१/२८४
ताभिः केलिकलौ ३/३/९३
तामेव मूर्त्तिम् १/४/७
ताम्बूलकेलिपद्मादि० २/१/३५४
ताम्बूलचर्वितमदन्ति ३/२/१५१
ताम्बूलचर्वितमवाप्य २/४/१८६
ताम्बूलस्फुरदाननेन्दु० २/१/३५८
ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे ३/३/९१
ताम्रोष्णीषम् ३/३/४१
ता ये पिबन्त्यवितृषः १/२/१७२
तारादामेति नर्म० ३/३/४४
तारावली वेणु० २/१/३७४
तारावलीलागरलेन २/१/३७४
तालानां विपिन० ४/५/१२
तावत् कर्माणि १/२/२४७
तावद् ब्रह्माण्डसेव्यः २/१/१९५
तावद् भक्तिसुखस्यात्र १/२/२२
तासां रतिविहारेण २/४/३४
तिमिरपराभवता० १/३/६०
तिरोभविष्यन् २/४/४९

तिलकुसुमविहासि० ३/३/६८
तिलतण्डुलितैः कचैः ३/४/१५
तिलमपि विरतासीत् ३/४/२२
तिष्ठते वैष्णवम् १/२/२०९
तिष्ठत्येव भवाग्नि २/१/२७८
तिष्ठन् मध्ये ३/३/६०
तिष्ठ! स्वैर० ३/४/४०
तुङ्गे रङ्गस्थल० २/१/२५६
तुङ्गोरःस्थलपिङ्गल० २/१/३५८
तुन्दं विन्दति ३/३/६३
तुलयाम लवेनापि १/२/२२८
तुलसीदलमात्रेण २/१/१४९
तुलसीमञ्जरि! २/१/३८१
तुलसीमालिकोरस्कम् १/२/१२३
तुषारति तुषानलोऽ० ३/४/५९
तुषारेऽपि प्रौढिम् ३/३/११८
तुष्टे च तत्र १/२/३५
तुष्यतु सनातनात्मा १/४/२१, २/५/१३४, ३/५/३७
तुष्यतु सनातनः उ०सं० २
तूणस्तृणो धनुरुत २/४/७७
तूर्णं पुण्यवतीनाम् २/४/१८९
तूर्णं बभूव २/३/४२
तूलखण्डमिव २/१/६१
तूष्णीं तिष्ठ! २/१/१७५
तूष्णीकता नतास्य० ४/५/२२
तृप्ताममंस्त सलिले २/१/१८३
तृप्तिर्ममाभूद् २/४/१४६
तृप्तिश्रमादिसम्भूता २/४/१०३
ते चान्ये चापि २/१/२९९
तेजस्थः स्वेद० २/३/१८
तेजोधाम २/१/५५
तेजो बुधैः २/१/२६५
ते तु तस्यात्र ३/४/१०
ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य २/१/३०१
ते द्विधालम्बना २/१/१४
ते द्वौ त्रयो वा २/३/७३
तेन यौवन० ३/३/८०
तेन सम्यक् १/२/२२४
ते नाधीतश्रुति० १/४/१०
तेनैषामङ्गिता ४/८/३६
ते पञ्चषाब्द० ३/१/१३
तेऽपि पादोदकम् १/२/१६१
ते पुरव्रजसम्बन्धात् ३/३/१०
ते यान्ति शाश्वतम् १/२/१३९
ते बहिर्विक्रिया० २/२/१
ते वैष्णवा भुवनमाशु १/२/१२२
ते शरण्या ज्ञानिचराः ३/२/२१
ते शीताः क्षेपणाश्चेति २/२/३
तेषां भावाप्तये १/२/२९१
तेषामास्तां हृदय० ३/२/२८
तेष्वेव सात्त्विकाभासः २/३/९१
ते संस्पृशन्तः २/५/३१
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः १/२/३०२
ते साधकाश्च २/१/२७५
ते स्तम्भस्वेद० २/३/१६
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार० १/२/२४
तैर्विभावादिताम् २/५/७९
तैस्तान्यघानि १/१/२४
तैस्तैर्विभावैः २/४/२५५
तौ दृष्ट्वा विकसद्० २/४/१४९
त्यक्तान्यभावस्य १/२/७१
त्यक्त्वा स्वधर्मम् १/२/६६
त्यागेच्छा तादृशी ४/३/४३
त्यागोत्साहरतिः ४/३/४३
त्रयं प्रधान० १/२/८३
त्रयस्त्रिंशदिमे २/४/२५०
त्रय्या चोपनिषद्भिश्च ३/४/६
त्रस्यल्लोचनमस्य ३/४/४०
त्रासः क्षोभः २/४/५४
त्रासनिद्राश्रमालस्य० २/४/२०२
त्रिचतुरदशनस्फुरत्० ३/४/२०
त्रिजगन्मानसाकर्षि० २/१/४२
त्रिजगन्मोहनम् २/१/३२२
त्रिदिवपुरपुरन्ध्री० २/१/३७७
त्रिदिवेशावलि० ३/२/३३
त्रिवलिव्यक्तिरित्याद्यम् २/१/३२७
त्रिभुवनविभव० १/२/१९०
त्रिरस्य मुकुटोपरि ४/५/१९

त्रिलोक्यामाक्रीडः २/१/९९
त्रिवर्गदा कामिनाम् १/२/२३६
त्रिवर्षा बालिका २/५/११
त्रिविधत्वं लिख्यते २/१/२२०
त्रिविधेषु त्रयी २/५/२३
त्रिष्वेवायोगयोगात्मा ३/२/१७३
त्रुटिर्युगायते २/१/२११
त्रुट्यत्पलाशि० ४/५/१०
त्रैलोक्यवर्त्तितीर्थानाम् १/२/२१२
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च २/१/२१६
त्रोटयत्यखिलयज्ञ० २/२/१०
त्वं कलासु विमुखोऽपि ३/२/६५
त्वं काऽसि ४/८/७०
त्वं चुम्बकोऽसि २/१/१६८
त्वं जीर्यद्दुलि० ४/१/२९
त्वं नः प्रोज्झ्य ३/३/४२
त्वं न्यस्तदण्ड० २/४/१४३
त्वं विदग्धोऽसि ४/९/३१
त्वं शात्रवाणाम् २/१/२०५
त्वक्श्मश्रुरोम० ४/८/७१
त्वच्छैशवम् ३/२/१०६
त्वत्कथामृतपाथोधौ १/१/४०
त्वत्पदकमलावलम्बस्य ३/२/८२
त्वत्पादपङ्कज० १/२/५०
त्वत्साक्षात्करणाह्लाद० १/१/३९
त्वदुदरखनिजन्मा ३/४/३६
त्वद्यशः कुमुदबन्धु० २/१/१५९
त्वमघविदारण० २/१/१३०
त्वमटसि सखि० ३/३/८९
त्वमत्र समरे २/१/१४४
त्वमवागिह मा २/४/११५
त्वमस्य विसृजन्नलम् ३/३/२७
त्वमिति निखिल० २/१/९०
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति २/४/४६
त्वया मोचितौ १/२/४५
त्वया विधेया २/१/७१
त्वया व्रजमृगीदृशाम् २/४/१६२
त्वया समन्तादनुबद्ध० २/१/२०६
त्वयि प्राप्ते कंस० ३/३/११९
त्वयि रहसि २/४/२३४
त्वयोपभुक्तस्रग्० १/२/१२५
त्वय्यर्पितं वितर २/३/४२
त्वय्येवार्पितबुद्धि० ३/२/३४
त्वराभरतरङ्गतः २/१/१३४
त्वां प्रपन्नोऽस्मि १/२/२०२
त्वां प्राप्तवान् ४/३/४४
त्वां रदैस्तृणम् ३/४/६९
त्वां लब्धावसरा २/१/७७
त्वां विना ४/९/६
त्वामायातः शरणमभयम् ३/२/२५
त्वामुद्वोढुमसौ ४/१/२७

थ

थूत्कारी दध्नि विस्रे ४/८/८५

द

दक्षिणः सत्यवचनः ३/२/१३
दक्षिणविभागे २/५/१३४
दक्षिणो विनयी २/१/२७
दत्त्वा राज्यम् ४/३/३६
ददर्श सुबलः ४/८/२७
ददामि दधि ४/१/१०
ददृशुरधिक० २/१/९०
दधतमचलमासीद् ३/४/४८
दधति तव तथाद्य ३/२/११९
दधत्पुलकिनं हरेरधि० ३/३/१०९
दधदपि रघुनाथ० १/४/२१, २/५/१३४, ३/५/३७ उपसं० २
दधदाकुलकाकपक्ष० ३/४/३०
दधदुरुजडिमानि २/४/९१
दधौ हृदयमन्दिरे २/१/८०
दनुजदमन! तस्याः ४/३/५८
दनुजदमन! याते ३/२/१२७
दनुजपतेर्नगरे २/४/५२
दनुजा येन धूताः २/२/८
दम्भस्तथावहित्था० २/४/१९४
दम्भेन बाष्पाम्बु० ३/२/८५
दयाम्बुधे! देव! ३/२/१०२

दयोत्साहरतिस्तत्र ४/३/५०
दयोद्रेकभृदुत्साहः ४/३/५०
दरविघूर्णितोत्तमाङ्गाः २/४/१७३
दरश्रीवत्साङ्कः २/१/२२
दरोदञ्चत्पञ्चाशुग० २/१/६४
दरोदञ्चद्गोपी० २/१/१४२
दर्पः सर्पपतेः २/४/१७८
दर्शनाच्छ्रवणाच्वेति ४/६/३
दवस्य कवलादपि ३/३/११६
दशत्वलं गायत १/३/२८
दशभिः सिद्धसखीभिः २/१/१९३
दशाङ्गुलान्तरा २/१/३७०
दशार्धशरमाधुरी २/१/३२९
दशाश्चतस्र एतासाम् २/४/२३२
दशाश्वमेधावभृथैः १/२/१२९
दशाश्वमेधी पुनरेति १/२/१२९
दशोत्तराण्यावरणानि २/१/१९१
दष्टौष्ठतातिभ्रुकुटी० ४/५/२१
दहत्यालोकमात्रेण १/२/१६७
दाक्षिण्यलेशेन ३/२/१०२
दातेत्यादिगुणः कृष्णः ३/४/४
दानवीरो भवेद् यस्तु २/१/१२३
दानादित्रिविधम् ४/३/६१
दानोत्साहरतिस्त्वत्र ४/३/२९
दामानि कामम् २/४/४५
दामोदर! त्वमिह २/५/३२
दामोदरस्य बन्धन० २/४/१७३
दामोदरस्य विजयाय ४/३/२३
दामोदरस्य सौख्याय ४/३/२६
दाम्नः सव्यकरेण ३/३/३५
दारुको द्वारकाद्वारि ३/२/१३५
दारुणाः स्नेहतः ४/६/३
दावं समीक्ष्य ३/३/१०१
दासादिवन्मनोज्ञत्व० ३/१/६
दासाभिमानिनां कृष्णे ३/२/५
दासास्तु प्रश्रिताः ३/२/१६
दासीकृता गोप० ३/१/४४
दासैः साधारणाः ३/२/१६१
दास्यं कर्मार्पणम् १/२/१८३
दास्यं गतानाम् ३/३/१९
दास्याम्यमुष्मै ४/३/३८
दिदृक्षते त्वाम् ३/४/६१
दिनमेकं निवासेन १/२/२३७
दिवसार्द्धेऽपि बभूव ३/३/११४
दिवि वा भुवि २/५/२९
दिविषन्निकरः २/३/२६
दिविष्ठा यत्र १/२/१०६
दिव्यसर्गादि० २/१/१९४
दिव्यार्गला प्रति० ४/३/१५
दिव्यालङ्करणेन ३/२/१०
दिष्ट्या दृष्टिमितः ३/३/४२
दीप्तिराशि० २/१/५६
दीयमानं न गृह्णन्ति १/१/१४, १/२/२८
दीर्घाभिः सुरदीर्धिका० २/४/६८
दीव्यतीह मधुरे ३/३/१२६
दुःखञ्चेति १/४/१८
दुःखत्रासापराधाद्यैः २/४/२१
दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि २/५/१०४
दुःखान्धकारपटलैः २/१/१३३
दुःखाभिशोक० ४/४/८
दुःखोत्थधातुवैषम्याद् २/४/८६
दुग्धेन दिग्धा ३/४/४३
दुरन्तभावं योऽविध्यद् २/२/१४
दुरन्तभावाः परि० २/४/१२३
दुरन्तामुद्धूय २/४/१८५
दुरवगमात्मतत्त्व० १/२/४०
दुरूहाद्भुतवीर्ये १/२/२३८
दुरूहामेव तनुते ४/४/१६
दुर्गमे क्लम० २/४/२८
दुर्गाणि ते पद० १/२/१४७
दुर्जातिरेव १/१/२२
दुर्जात्यारम्भकम् १/१/२२
दुर्जीवितेन हत० २/४/२२६
दुर्भगोऽयं जनः २/४/११
दुर्मानमन्थमथिते! ४/५/१४
दुर्वारः परवारणः २/१/२४०
दुर्वारचापलोऽयम् २/४/२३९
दुर्वाराविरभूद् २/४/२१५

दुर्वाससोऽरि० २/१/१८३
दुर्विबोधाशयः २/१/११४
दुष्करत्वेन विरले १/२/१९८
दुष्करे क्षिप्रकारी २/१/८८
दुस्त्यजश्चानुरागः २/१/२९४
दुहितरं दुहितुः ४/५/३०
दूतः समेति ३/३/४९
दूति! यत्र स्मृते २/४/१२४
दूती चागात् तदागारम् २/४/१८९
दूती सङ्कुचदीक्षणा० ४/१/२३
दूत्यं व्रजकिशोरीषु ३/३/९३
दूरं प्रयाहि ४/५/१४
दूरतस्तमवलोक्य २/१/५९
दूरात् पश्यत देव० ३/२/६०
दूरादहंपूर्विकयाद्य २/५/३१
दूराद् विद्रावयन् २/४/१९०
दूरे दरेन्द्रस्य ३/२/१६५
दूरे मुहूर्त्तमपि ३/२/७५
दूरे यमा ह्युपरि २/१/२८३
दृक्तटीभागलकता० ३/४/२५
दृक्पातमाचरतु २/४/४४
दृक्पातेऽपि घृणाम् २/१/२६४
दृगञ्चलचमत्कृति० २/१/३२९
दृगन्तपाटलत्वाद्याः ४/५/२७
दृगन्तश्रीर्लोला ३/५/२२
दृगम्भोभिर्धौतः १/२/२४१
दृगुन्मीलनरोमाञ्च० २/४/१८२
दृढाभ्यासादिना २/४/१२९
दृशं कवलित० ४/५/२८
दृशं न्यस्यन्त्यस्मिन् २/४/२४२
दृशमनृजु किरन्ती २/४/२३४
दृशोः कक्षाम् १/२/२४१
दृशोरग्रे चन्द्रावलि० ३/५/२२
दृशोस्तरलितैः ४/८/२७
दृशौ सास्रे २/३/७४
दृष्टं यस्यात्र २/१/२०१
दृष्टः कोऽप्यत्र २/१/१३१
दृष्टान्तिता वशिष्ठेन १/२/६०
दृष्टा स्पृष्टा तथा १/२/२०४
दृष्टिं क्षिपत्यघ० ३/२/१६९
दृष्टिं तत्र सुरारि० २/१/२६६
दृष्टे स्त्रीवदने ४/७/३
दृष्टवा तास्ते २/१/३१९
दृष्ट्वा परिश्रमम् २/१/१५३
दृष्ट्वा रामं हरिम् १/२/३०१
दृष्ट्वा हारि० ३/३/५
देयं कुत्राप्यदृष्ट्वा ४/३/३६
देवः सेव्यतया ३/२/५०
देवकी तत्सपत्न्यश्च ३/४/११
देवक्या विवृत० ३/४/५७
देवतानां गणाः १/२/१६८
देवप्रस्थ इतः ३/३/३५
देवप्रस्थः कृष्ण० ३/३/३४
देवर्षिभूताप्त० १/२/६८
देवर्षिवीणया गीते २/५/१९
देवश्रेणीस्तुतिकलकलः २/१/१६३
देवोऽपि रुद्ध० २/४/८१
देव्यः क्षणाद्० ३/४/७३
देव्यै ह्रिये २/५/३२
देशकालसुपात्रज्ञः २/१/२५
देशकालसुपात्रज्ञस्तत्तद् २/१/९८
देहसम्बन्धितामानाद् ३/२/१६७
देह्यहन्तास्पदम् १/२/१९५
दैत्यं दारयते २/१/२०३
दैत्यपुङ्गवमुदग्र० २/१/६१
दैत्यस्तस्य सुहृत्तमः २/४/८८
दैत्याक्रान्तम् १/२/३६
दैत्याचार्यास्तदास्ये ४/८/८४
दैन्यं ग्लानिश्रमौ २/४/४
दैन्यं चिन्ता ३/२/६९
दैर्घ्यं पञ्चसु २/१/४९
दैवं प्रियः १/१/३७
दैवात् सद्भक्त० १/३/४७
दोर्भ्यामर्गल० ४/८/५६
दोषोद्रेकवियोगाद्यैः २/४/९०
दोष्णस्ते करवाम ३/३/१८
द्युतिमण्डलीमलिनिभाम् ३/३/२६
द्रवीभूतं स्वभावेन २/४/२६७

द्रवेदत्राद्ययुगल० २/४/२६७
द्रष्टुं परम् ४/८/७०
द्रष्टुं ययुर्युवतयः २/४/१५२
द्रागन्धङ्करणः सुरेन्द्र० २/४/७५
द्रागभूत्तनय० ४/६/७
द्राघयत्यघहराग्रतः २/४/१५४
द्राघिष्ठामपि ४/९/१२
द्राघिष्ठे मुहुरत्र २/४/७५
द्राघीयसीमपि २/४/१२२
द्रुतं कुरु परिष्कृतम् ३/२/४४
द्रुतं मूर्च्छामन्तः २/४/१८५
द्रुतगति हरिमारात् २/४/१५३
द्रुतमघजठरान्तः ३/३/२०
द्वन्द्वं लोचनयोः ३/४/६५
द्वन्द्वे दृशोः पदमसौ ३/२/१६३
द्वन्द्वेनार्गलसुन्देरेण ३/२/३६
द्वयोरन्योऽन्यभावस्य ३/३/१३५
द्वयोरप्येकजातीय० ३/३/१३४
द्वयोरेकतरस्येह ४/८/६३
द्वयोरेकतरस्यैव ४/९/१३
द्वयोर्मिलितयोर्भोगः ३/५/३४
द्वयोस्तु मिश्रणे ४/८/१७
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः २/१/४९
द्वारकामभिसमीक्ष्य ४/२/६
द्वारकावासिनः सर्वे १/२/१०५
द्वारि द्वारवतीपुरस्य ३/२/३४
द्विजपतिरिव साक्षात् २/१/२३४
द्विजेन्द्र! तव १/३/१७
द्विजोपसृष्टः १/३/२८
द्वितीया त्वनुभावाख्या २/१/३
द्विधा बहुप्रदोऽप्येष ४/३/३०
द्विधाऽसौ कृष्ण० २/५/६४
द्विधेश्वरः स्वतन्त्रश्च २/१/१७६
द्विभुजत्वादिभागत्र ३/३/३
द्विविधः खलु १/३/७
द्विविधो दानवीरः ४/३/२५
द्विशः षड्भिः १/१/४४
द्विषतोऽभूद्भ्रुकुटी २/५/६६
द्विषदरविन्दवने २/१/१३०
द्विषद्भिः क्षोदिष्ठैः ३/२/१७०
द्विषन्नस्य शुचि० ४/८/३
द्विषस्तु वीर० ४/८/१३
द्विषो वत्सल० ४/८/५, ७
द्वेषः परोदये २/४/१६४

ध

धटी फणपटी ३/४/३१
धत्ते काकुभिः २/३/८०
धत्से दमम् २/१/१२१
धनशिष्यादिभिः १/२/२५९
धनुर्वेदमधीयानः ३/३/१२५
धन्यः साम्ब! भवान् ३/२/१६६
धन्यस्यायं नवः १/४/१७
धन्याः स्फुरन्ति ३/२/७५
धन्यानां किल ४/८/२६
धन्या बभूव २/४/४४
धन्यास्ते मानवाः १/२/२०७
धर्मवीरं न ४/३/६१
धर्मादयः किमगुणेन १/२/३५
धर्मान् सन्त्यज्य १/२/६७
धर्मार्थकाम० १/२/५०
धर्मी किशोर० २/१/६३
धर्मैकाभिनिवेशस्तु ४/३/५७
धर्मोत्साहरति० ४/३/५७
धवलिमयुगपाङ्गः ३/४/३५
धातुक्लृप्तञ्च तिलकम् २/१/३६१
धावति ततस्ततः २/१/१६८
धावनं कम्प० ४/७/४
धावन्त्यां भय० ४/५/२९
धिक् कुलं धिक् २/४/२१९
धिक् दीर्घे नयने २/४/२४६
धिगस्तु मे भुज० २/४/२११
धिगस्तु हतजीवितम् ३/४/६७
धिगिमां मर्त्यतनोः २/५/६२
धिग्जन्म नस्त्रिवृद्० २/४/२१९
धिङ् मां दुर्भगमत्र ३/२/१६६
धिनुयामधुना सुहृद्० ४/३/६
धिन्वन्नरिष्टभयदेन २/१/८७
धियमयमविचिन्त्यानन्त० २/१/१९८

धियोऽवतस्थुः २/३/२२
धीरः परं किमपि ३/२/१६९
धीरप्रशान्तनामा २/१/२२४
धीरोदात्तश्च धीर० २/१/२२४
धीरोद्धतस्तु २/१/२३८
धीर्व्यग्राऽजनि नः २/४/६८
धुनोति सर्वम् १/२/७१
धुन्वन् धावसि ३/३/२४
धुर्यादीनां तृतीयस्य ४/३/४६
धुर्यो धीरश्च ३/२/४८
धुवति किल ३/२/४०
धूपमाल्यादिसौरभ्यम् १/२/८६
धूमायितास्ते ज्वलिताः २/३/६३
धूमायिते द्विज० ४/९/१४
धूर्त्तस्त्वं यदवैषि ३/३/७७
धृतप्रतिसरम् ३/४/२४
धृतमुग्धरूपभारो ३/१/१
धृतरथचरणः २/१/१५०
धृताटोपे गोपेश्वर० ४/३/१६
धृतात्मभिर्योगिभिः ३/३/१३३
धृतिः स्यात् पूर्णता २/४/१४४
धृतिर्वैष्णवचिह्नानाम् १/२/८४
धृतिस्थायिनमेके ३/१/५०
ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन ४/३/५९
ध्यानं चिन्ता भवेद् २/४/१३६
ध्यानं बलात् २/१/३६४
ध्यानं रूपगुण० १/२/१७८
ध्यानातीतं किमपि ३/२/२८
ध्यानादन्तरयन् २/१/२१४
ध्यानाद् भवज्जन० १/२/२९
ध्यायं ध्यायं भगवतः १/३/३
ध्यायन् हरेश्चरित्राणि १/२/१८१
ध्येयोऽसौ निधने ३/२/५८
ध्रुवं मूर्द्धन्यद्रे० २/४/१३४
ध्रुवमघरिपुरादधाति २/२/१९
ध्वंसयन्नपि मुहुः २/२/११
ध्वजकुलिशाङ्कुश० २/१/३७९
ध्वजवज्राङ्कुश० २/१/५१
ध्वनिदूतः शिखरे ३/३/८३
ध्वनिभिस्ताण्डव० २/२/४
ध्वनौ स्थितानाम् ३/२/१६५
ध्वस्ताशिषोऽज० २/४/१४३

न

न कण्ठे यन्माल्यम् २/४/१३३
न कर्मणामकरणात् १/२/६३
न कर्मबन्धनम् २/१/२९८
न कस्य पथ्यम् २/१/१५५
न कस्याः कंसारे! २/१/३३७
न काचिदभवत् २/१/२८८
न काप्यम्भोजाक्षी २/१/९९
न कामये नाथ! १/२/३०
न का सखि! २/१/३१८
न किङ्करः १/२/६८
न किञ्चित् साधवः १/२/४१
न किल कुटुम्ब० ३/२/१२१
न किल वसतिमार्त्ताः ३/२/१२७
न गद्गदनिरुद्धवाक् २/३/७७
न गाण्डीवं खण्डितधीः २/४/९६
न गुञ्जामादातुम् २/३/७४
न घोरं नोद्घूर्णाम् २/१/१४७
न चलति भगवत्० १/२/१९०
न च सुतमुपदेष्टुम् ३/४/४८
न चान्यं वृणेऽहम् १/२/४४
न चासुरानेव २/१/९५
न जानीषे २/४/१३३
न जाने किम् १/२/२४१
न ज्ञानं न च १/२/२५०
नटैश्च हृष्यद्भिः ३/२/१६५
न तपो नात्म० २/१/२८६
न तानि लिखितान्यत्र १/२/१४३
न तृप्यति न ४/८/२५
न ते यमपुरम् १/२/१६६
नत्वा मुनींश्च संहृष्टः ३/२/६४
नदति क्वचिदुत्कण्ठः ३/२/११०
न दानं न हविः १/२/१६१
न देवगन्धर्वगणाः २/१/९५
न धर्मं काम० १/२/४६
न धीरधीर० ३/२/१७६

न नाकपृष्ठम् १/२/३२
न नाकपृष्ठम् न च सार्वभौमम् १/२/३९
ननाम नामानि २/१/३८२
न निर्विण्णो नातिसक्तः १/२/१५
ननु मुखरो न २/२/१५
ननु मुरलि! त्वयि २/२/१९
नन्दः स्वपुत्रमादाय ३/४/५४
नन्द! ते तनये २/१/२९४
नन्दनन्दन! कथम् २/१/१४९
नन्दसूनोरधिष्ठानम् १/२/३०७
नन्दे चानकदुन्दुभौ २/१/२६६
नन्दोपनन्दभद्राद्याः ३/२/३१
न पतिं कामयेत् १/४/७
न परिलसन्ति १/२/४०
न पारमेष्ठ्यम् १/२/४२
न पारमेष्ठ्यम् न रसाधि० १/२/३९
न पुत्रि! रचयौषधम् २/२/२०
न पुनरखिलभर्त्तुः २/१/१२२
न प्रत्यगात्मनि ३/१/४०
न प्रेमा श्रवणादि० १/३/३५
न ब्रह्मणे दृशमपि २/१/७७
न भजन्त्यवजानन्ति १/२/११
न भुङ्क्ते ३/५/३३
न भूयः प्रविशेन्मातुः १/२/१३४
न मर्त्यबुद्ध्या १/२/९९
नमस्या मुनि० १/२/१५८
न मोक्षे स्पृहा १/२/४५
नय कल्पतरुम् २/४/११५
न यत्र युष्मच्चरण० १/२/३०
नयनन्दितबान्धवम् ३/३/४६
नयनयुगमसिञ्चद् २/१/३८३
नयनयोः स्तनयोः ३/४/७५
नयना हन्त बभूव २/३/२३
नय मां विकृति० ३/२/८२
न यावदियमद्भुता ३/१/१४
न यावद् वृद्धायै २/४/१८८
न युज्यते सदात्मस्थैः २/१/१८१
न योगसिद्धीरपुनर्भवम् १/२/३२, ३९, ४२
नरके वा नरकान्तक! २/५/२९
नराकृतिनवाम्बुद० ३/१/३९
नर्म्मकर्मठतया २/४/१५४
नर्म्मोक्तौ मम ३/५/९
नलदेन्दीवरचन्दन० ३/४/५१
नवं धनुरिवातनोः २/१/३१८
नवकुवलयकोमलः ३/४/२०
नवकुवलयकोमल-दामश्यामलम् ३/४/३
नवघन इव ३/२/९
नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टम् ३/४/६६
नवधा तुलसीम् १/२/२०५
नवनवरस० २/५/७२
नवनववरमाधुरी० ३/५/६
नवभाण्डीरपलाश० ३/४/१५
नवमणिदर्पण० ३/३/६८
नवमदनमदान्धा २/४/४०
नवरन्ध्रा स्मृता २/१/३६९
न वष्टि योग्याञ्च ३/२/१७५
नवात्र सात्त्विकाः ३/४/४५
नवानुरागेण २/२/६
नवाम्बुधरबन्धुरः ३/२/८
नवार्करश्मि० २/१/३४७
नवीनसङ्गमाकार्य० २/४/११३
नवे रत्यङ्कुरे २/५/९६
न व्याख्यामुपयुञ्जीत १/२/११३
न व्यादातुम् २/१/३१९
नव्येन यौवनेनापि ३/४/३७
नव्ये ब्रह्माण्डवृन्दे २/१/१७९
न शक्तिमुपवीणने २/३/७७
न शिष्याननुबध्नीत १/२/११३
न शौरिचिन्ता० १/२/१११
न सङ्गः शल्ययुक्तानाम् १/२/११२
न साधनविधौ २/१/२८८
न साधयति माम् १/१/४२
न सार्वभौमं १/२/३२, ४२
न सिद्धिषु च ४/८/२५
न स्यादित्युज्ज्वले ४/८/८२
न स्वं विशुष्यन् २/४/२१४
न स्वाध्यायस्तप० १/१/४२
न हानिं न २/१/१४७

न हि गोमायुरुतानि २/१/११२
न हि जाने २/१/२०९
न हि दनुज० २/४/१५७
न हि भ्रामम् ३/३/१२१
न हि शशकलुष० १/३/६०
न हि सुख० २/३/९०
नाचिन्तयद्व्यसन० २/१/१०८
नातिसक्ते न वैराग्य० १/२/१४
नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ४/३/४५
नात्र शास्त्रं न १/२/२९२
नाधर्मजम् १/१/२४
नानाकृतिप्रकटनात् २/१/३३४
नानादेश्यासु २/१/६५
नाभ्यजानन्निमम् २/३/६०
नाम चिन्तामणिः १/२/२३३
नाम-लीला-गुणादीनाम् १/२/१४५
नामसङ्कीर्तनम् १/२/९२
नामाश्रयः कदाचित् १/२/१२०
नाम्नो हि सर्वसुहृदः १/२/१२०
नायं वञ्चन० ४/५/४
नायकानां शिरोरत्नम् २/१/१७
नायकोत्कर्षबोधाय २/४/७८
नायिकास्वप्यनेकासु ४/९/१७
नारदस्य प्रसादेन १/३/२२
नारदस्योपदेशेन १/२/३०७
नारायणपराः १/२/३३
नारीगणमनोहारी २/१/१६६
नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः २/१/२८
नारीबालादिषु ४/६/१४
नालम्बितुं कथमपि ३/५/१७
नावसरं द्वारि २/१/१९३
नाशीर्वदेऽपि २/४/१०५
नासां द्विजाति० २/१/२८६
नासाग्रन्यस्तनेत्र० ३/१/२४
नासा सुशिखरा ३/३/६७
नासिकाग्रदृगयम् ३/१/२७
नास्ति यत्र सुखम् ३/१/४८
नास्त्यन्यः सहकारिता० २/४/७६
नास्त्यर्थः सात्त्विकाभास० २/३/९६
नाहवाय सहसा २/४/१०६
नाहारि कस्य २/१/७३
निःशङ्क-प्रणय० ३/३/१५
निःशङ्कस्त्वम् भ्रमसि २/४/१६१
निःश्वासझञ्झामरु० २/२/१३
निःश्वासेन दरोत्तरङ्गः० २/४/१७८
निःसत्त्वाश्च प्रतीपाश्च २/३/८३
निकटभुवि तथाग्रे २/४/२४३
निक्वाणैरिह मुखरी० २/५/५९
निखिलकरणवृत्ति० ४/४/९
निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय १/२/९३
निखिलास्वप्यवस्थासु १/२/१८७
निगमकल्पतरोर्गलितम् १/२/२२६
निचुलितगिरिधातु० ३/४/४७
निजनिजमिह रात्रौ २/४/१७४
निजप्रतिज्ञाम् २/१/९६
निजप्राणव्ययेनापि ४/३/४८
निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञा० ३/२/१६१
निजप्रियोपहरणम् १/२/८८
निजरमणतया हरिम् ३/५/६
निजवपुरनुरूप० ३/२/४३
निजावसरशुश्रूषा ३/२/१३९
नित्यगुणो वनमाली २/१/२२०
नित्यञ्च परमानन्दः १/१/३१
नित्यत्वेऽप्यस्य १/२/९
नित्यप्रियाः सुरचराः ३/३/५३
नित्यसिद्धस्य भावस्य १/२/२
नित्यसिद्धाश्च० ३/२/५६
नित्यासिद्धाश्रय० १/२/२८९
नित्यानन्दगुणाः २/१/२९०
निद्रां प्रति २/४/१९८
निद्रालवोऽपि कुतः ३/५/३२
निद्रा-स्वेदाङ्ग-सम्मर्द० २/४/३१
निधाय मुरलीम् ३/२/८
निधास्यते किन्तु २/४/४५
निधेहि सविधे ३/२/१७१
निन्दन् सुधा० २/१/३६४
निन्दां भगवतः १/२/१२१
निन्दायास्तु विभावत्वम् २/४/२००

निन्दितस्य दमघोष० २/१/११९
निपत्य निकटस्थली० ३/३/१००
निपिबति चेत् ३/२/१७२
निपेतुरङ्गाद् २/३/३१
निबद्धमूर्द्धाञ्जलि० ३/२/१०२
निबध्नात्युल्लासाद् ४/३/१६
निभृतनिरीक्षणजन्मा २/५/३७
निभृतमरुन्मनोक्ष० १/२/२८२
निमेषविश्लेष० २/५/३१
निमेषोन्मुक्ताक्षः ३/२/१०९
नियुक्ताः सन्त्यमी ३/२/३२
नियुक्तकन्दुक० ३/३/८६
नियुद्धकेलिनृत्यादि० ३/३/६५
नियुद्धदण्डयुद्धादि० ३/३/३८
निरवद्यः प्रतिपद्य ४/८/२३
निरवधि मधुरिम्णा १/२/२४३
निरवधिमविचार्य ३/२/१०७
निरवाहयच्छिखि० ३/५/३५
निरविघ्नतया ४/८/२३
निरातपत्रः ४/८/२९
निराबाधा राधे! २/३/७८
निरालम्बं चेतः ३/३/१२१
निरीक्ष्य दृक्० २/१/५३
निरीहनिखिलेन्द्रियाः २/४/९४
निरुच्छ्‌वसितरीतयः २/४/९४
निरुद्धं बाष्पाम्भः २/३/७५
निरुद्धमप्यस्रवदम्बु० २/४/१२३
निरुद्धा कालिन्दी० २/४/२४२
निरुध्य पुर० ४/५/२८
निरूपयन् वानर० २/४/९६
निर्जितीकरणं युद्धे ३/३/९२
निर्धौतानामखिल० २/४/१६१
निर्धौतास्यतटान् २/१/२८५
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे १/२/२५५
निर्मज्जिताग्र० ४/५/१४
निर्मथ्य चैद्य० २/४/१६९
निर्माति स्वयमिन्द्रजाल० २/१/८५
निर्माल्यादेश्च १/२/८४
निर्विद्य निद्रा० ३/३/१२०
निर्वेदः क्रोध० २/४/२१२
निर्वेदमाप न २/१/१०८
निर्वेदाद्याः २/१/१३
निर्वेदाद्या विलीयन्ते २/५/४८
निर्वेदे तु यथेर्ष्याया २/४/१९७
निर्वेदोऽथ २/४/४
निर्वेदो विषये ३/१/५१
निर्व्यूढव्रतमुन्नत० २/१/२२७
निवारय व्रजपतेः २/३/४६
निवासो द्वारकादौ १/२/७५
निवृत्तानुपयोगित्वाद् ३/५/२
निवेदितात्मा १/२/१९४
निशमयतो हरि० २/३/९०
निशमय्य सम्भृत० २/१/३७५
निशम्य कंसस्य २/३/९५
निशम्य कर्माणि ३/२/१४३
निशम्य जरतीगिरम् ४/१/१०
निशम्य पुत्रम् २/४/६७
निशम्य विजयम् २/३/८८
निशातशरशायिना २/१/१३४
निशि वक्षसि २/४/६६
निश्चलस्य यदेतस्य २/२/१६
निश्चिन्तो धीर० २/१/२३०
निश्वासैः स्रवदेव ३/४/६५
निषिद्धाचारतः १/२/६४
निष्क्रम्य किल ३/३/१०४
निष्क्रामन्तं नागम् ३/३/९७
निष्क्रियः क्षणमभूत् २/३/२७
निष्पन्नं पूर्ववदिदम् २/५/६८
निष्प्रत्यूहस्तत् २/४/१८१
निसर्गः सैव १/३/२२
निसर्गपिच्छिल० २/३/८९
निर्हृत्य दूरे २/४/५०
नीचानालोच्य २/१/२५४
नीचे दयाधिके २/१/२५३
नीचोऽप्युत्पुलकः १/३/२३
नीतश्चित्ते सताम् ३/३/१
नीता क्रोधं ४/५/१
नीताङ्गसङ्गति० २/१/३३९

नीता चेतसि भक्तानाम् ३/२/३
नीते प्रणीतमहसा २/४/१२२
नीरन्ध्रदैन्योन्नति० ३/२/१०२
नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुः ४/४/१०
नुनोद दहदिङ्गल० ४/५/२८
नूनं बल्लवराङ्गि! ३/४/६५
नृत्यं विलुठितम् २/२/२
नृत्यतां श्रीपतेरग्रे १/२/१२८
नृत्यद् गोपनितम्बिनी० २/१/३४४
नृत्यन्ति गायन्ति ३/२/१४२
नृत्यन् दोर्युद्ध० ३/३/६६
नृपपुरमनुविन्दन् २/४/१३९
नृपमाक्रोशति २/३/८
नेच्छन्ति सेवया १/२/३८
नेतुः स्वरूपमेव २/१/३३४
नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य ३/३/१२०
नेत्राम्बुजन्तु २/१/१०१
नेत्रे विमृज्य २/३/४०
नेदिष्ठः पृथुरोम० २/१/२७८
नैकात्मतां मे १/२/२७
नैचिकीनिचयम् ३/२/१२२
नैच्छन्नृप० १/२/३१
नैच्छन्मोक्षम् १/२/४८
नैति भक्तिसुधाम्भोधेः १/१/३८
नैरपेक्ष्यं निर्ममता ३/१/२६
नैवाङ्गीकुर्वते जातु १/२/५७
नैवेच्छत्याशिषः १/२/४३
नैवेद्यमन्नं तुलसी० १/२/१६०
नोद्वेगं तद्० ४/९/१२
न्यस्तं मया २/४/१८६
न्यस्तक्रीडनकः ३/२/१०८
न्यस्ता तच्चरणे १/२/२०७
न्यस्यन्नेष प्रिय० ३/३/७३
न्यायेनानुगता २/१/७७
न्याय्यो हि दण्डः २/१/१२१

प
पक्षपातेन तन्नाम्नि ३/२/९७
पक्ष्माग्रमिश्रविरलाश्रु० २/३/७२
पञ्चधापि रते० २/५/११४
पञ्चाशत्कोट्यखर्व० २/१/२०१
पञ्चास्य! पश्य ३/३/८४
पञ्चेषुर्जगताम् ३/३/७७
पटिमरता रति० ३/२/४७
पटैः कृतयथोचित० २/१/३५३
पट्टडोरी कटौ ३/४/२३
पतङ्गकन्यापुलिने ४/९/२०
पतति बत यथा ३/२/११९
पतितो दण्डप्रणाम० ३/२/७३
पतिपुत्रसुहृद्० १/२/३०८
पतिसुतान्वयभ्रातृ० २/४/१६३
पत्तनाभं महिष्ठम् २/४/२६२
पत्नीं रत्ननिधेः ३/२/८६
पत्युर्वञ्चनचातुरी २/१/३३३
पत्राङ्कुरविलेखादि ३/३/९१
पत्रिमोक्षमकृपे २/३/२७
पत्री मुकुन्द। २/३/४२
पथि पथि सुरभीणाम् ३/४/३५
पदकमलयोः सास्रौ ३/३/१२
पदपल्लवयोश्च २/१/५१
पदाङ्कक्षेत्रतुलसी० २/१/३०२
पदाम्बुजनखाङ्कुरादपि ३/२/१०४
पदा सुजातेन २/३/५७
पदे पदे का २/१/१८५
पपात चरणोपान्ते ३/२/१३२
पप्रच्छुराकाश० २/४/८३
पयोदः किं वाऽयम् २/४/१३४
पयोधिमिव मन्दरः ४/३/२१
परं पदं भूषण० २/१/२१५
परं हितायाद्य २/१/७१
परचित्तस्थितं देश० २/१/१८२
परतन्त्राः स्वतन्त्राः २/४/२०५
परदुःखासहो यस्तु २/१/१३२
परन्तु ववृधे ३/३/११०
परब्रह्मोल्लासान् २/५/५६
परमं ब्रह्म दिदृक्षते २/५/२०
परमात्मतया कृष्णे २/५/१८
परमात्मतयाऽति० ३/१/४१

परमात्मनि वृष्णि० ३/१/३४
परमात्मा परं ब्रह्म ३/१/९
परमानन्द-तादात्म्याद् २/५/११२
परमानन्दसन्दोहो २/१/२४५
परमानुरागपरयाथ ३/५/३५
परां भयानकाभासे २/४/८९
परागपटली गवाम् ३/२/४४
परात्परं ब्रह्म २/१/१९१
परात्मनि त्वय्यपि २/४/१९
परानन्दमयी सिद्धि० १/२/२१२
पराभवं फेनिल० २/१/२०५
परार्थाया रतेः २/५/४२
पराश्रयतयाऽप्येते २/५/१०५
परिक्षामो मध्यः २/१/४६
परिक्षीणो मध्यः २/१/३३७
परिचर्या तु १/२/१४०
परिचर्यापराः १/२/१९२
परिजननिखिलान्तः० ३/२/५२
परितो मयि ३/४/५१
परितोषाय कृष्णस्य ४/३/४
परिधानं ससंव्यानम् २/१/३४८
परिनिष्ठितोऽपि १/२/२२७
परिपतद्भिरसौ ३/४/७५
परिपूर्णतया २/१/३०
परिप्लवान्तःकरणः २/३/९५
परिमलसरिदेषा २/१/३६३
परिरम्भकौशल० ३/५/३५
परिवदतु जनः २/२/१५
परिष्वज्याङ्कमारोप्य ३/४/५०
परिस्खलत्कुन्तल० २/४/३२
परिस्फुरतु सुन्दरम् २/१/२१०
परिहारेऽपि लज्जा १/२/१५४
परिहास-प्रहासादि० २/५/३०
परिहितहरिहारा २/४/२४३
परिहृतगृहवास्तु० २/४/१७४
परीक्षिति भवेद् ३/२/९०
परे वात्ममनसाऽगम्यम् १/२/१८२
पर्यङ्के महति ३/३/१५
पर्वतं वरमुदस्य २/३/५०
पर्वतोद्भट० २/१/५९
पलायमान० ४/९/३९
पल्यङ्कासनदोलासु ३/३/८७
पवन उपारत० २/५/६१
पवनव्याधिर्यथार्थाख्यः ३/२/१२४
पवर्गदातापि २/१/२०५
पवित्रमैत्री वैचित्री ३/३/५६
पशुप-सवयसाम् ४/८/७३
पशूनपि कृताञ्जलिः २/४/८२
पश्चाद् रतिं स्पृशेदेष २/४/२२०
पश्चिमभागे रसाम्बु० ३/५/३७
पश्य क्रीडन् सुखयति ३/३/७०
पश्य गौरि! ४/९/२२
पश्य भक्तिरस० ३/२/६७
पश्य भयेनाद्य २/३/४६
पश्य रौति रमते ३/२/१२५
पश्य विन्ध्यगिरि० २/१/६१
पश्य स्रस्ततनुः ३/४/६३
पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः ४/९/२०
पश्याभ्यर्णे त्वयि ४/५/१७
पश्येताच्युतजल्प० ४/१/१९
पश्येश! मे २/४/१९
पश्योत्सिक्त० ३/३/७९
पश्योद्दामकला० २/१/८५
पांशुप्रारब्धकेतौ २/४/६९
पाञ्चजन्यजनितः ३/१/३१
पाञ्चालीपतयः ३/३/८४
पाटलपटलसदङ्गः ३/३/२६
पाण्डवः पुण्डरीकाक्षम् ३/३/१३०
पाण्डित्यं रत० ४/७/३
पाण्डुरः कर्ब्बुरः २/१/३५५
पातु प्रस्नव० ४/८/३१
पात्रं लोकानुरागाणाम् २/१/१६१
पादाङ्कमेव किल २/१/१७७
पादान्ते विलुठत्यसौ ४/५/२९
पादाब्जतुलसीगन्धः ३/१/२१
पादैश्चतुर्भिर्भवता २/१/१२७
पादौ हरेः क्षेत्र० १/२/२६८
पापबन्धैर्विनिर्मुक्तः १/२/१६५

पापिनोऽपि प्रसङ्गेन १/२/१७९
पारावतीविरचनेन २/१/८७
पारिकाख्यो भवेद् २/१/३६६
पारीर्भिनत्ति ३/४/३९
पारुष्यभृकुटीनेत्र० २/५/६३
पार्श्वस्थालम्बरोमाञ्च० २/४/५४
पार्श्वाद्यङ्गं सुवलितम् ३/३/६७
पार्श्वे गौरीगरिष्ठाः २/१/१४६
पार्षत्प्रधानाविति २/१/३८२
पालयन् शरणापन्नान् २/१/१४३
पालितैर्विफल० २/४/८
पालीताम्बूलमास्ये ३/३/४४
पावनः पापनाशी २/१/१०२
पावनश्च विशुद्ध० २/१/१०२
पावशृङ्गदलादीनाम् ३/४/३२
पाशाबद्धोत्तुङ्ग० ३/३/३४
पिण्डीशूरस्त्वमिह ४/३/१२
पितः! सान्द्रानन्दसुधा० ४/४/१२
पितरं पूर्व्वज० २/१/१३६
पितरं सर्वसुहृदम् ३/२/७२
पितामहाद्यम्बुधरैः २/१/७६
पितेव पुत्रं करुणः १/२/११७
पिनस्मि जगदण्डकम् २/४/३६
पिबत भागवतम् १/२/२२६
पिंशितविमिश्रित० ४/७/८
पिशितासृङ्मयी ४/८/६१
पीतपट्टदुकूलाद्यम् ३/३/६४
पीतांशुकम् परि० २/४/२२३
पीयूषद्युतिभिः ३/४/५८
पीयूषमुत्तभित० २/४/१०८
पीयूषशेषसरितः १/२/१७२
पुंसः स्मितादयः ४/९/२६
पुण्डरीकनयनः २/१/६१
पुण्डरीकविटङ्काक्ष० ३/३/३७
पुण्यशैलः शुभारण्यम् ३/१/२१
पुण्येन व्रजसुभ्रुवाम् ४/१/२९
पुत्रगुप्तिधृतयत्न० २/५/७०
पुत्रमाकुलमति० २/३/१०
पुत्रस्तथा दीव्यति २/४/१४६
पुत्रस्ते नवनीत० ४/८/३०
पुत्रस्नेहस्नुत० ३/४/१२
पुत्रे प्राङ्गणतः ४/१/१९
पुद्गले पुलक० ३/१/३१
पुनः पुनर्वरान् दित्सुः १/२/४७
पुनरुत्थानं विसस्मार ३/२/७३
पुनस्तेनैव गच्छन्ति २/१/२९८
पुनाति सेशानुभयत्र १/२/१०७
पुरः श्यामाम्भोदे ३/२/१०९
पुरटजवामधुलिट् ३/२/४३
पुरतः प्राण० २/३/२३
पुरतः प्रेक्ष्य २/३/२६
पुरमभि पुरु० ४/३/५८
पुरस्तस्य निवेशाद्या ३/२/१३९
पुरस्तादाभीरीगण० ३/२/१३७
पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य ३/३/९५
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्च ३/२/३८
पुराणे नाट्य० १/३/१३
पुराणे श्रूयते १/२/३००
पुरा महर्षयः १/२/३०१
पुरारिमपि सङ्गरे ३/२/१५४
पुरि नीते २/३/८
पुरुषमणिरयं मे ३/४/३६
पुरुषस्तमजं नित्यम् १/२/१७६
पुरुषार्थास्तु चत्वारः १/१/३३
पुरुषोत्तम! चेद् २/१/१६५
पुरो दृष्टवा गौरी २/४/१८८
पुरो दृष्ट्वा रामम् २/१/१४२
पुलककुलम् ४/८/७३
पुलकयति वपुर्नः २/१/३६३
पुलकाञ्चितसर्वाङ्ग० २/४/१४९
पुलकाञ्चितेन ३/३/१३२
पुलकिततनुरेषा २/४/१८४
पुष्टिं निज० ४/७/१
पुष्टिमार्गतया १/२/३०९
पुष्णन्निजप्रभुम् ४/८/४५
पुष्णाति यो रतिम् २/४/२१०
पुष्पमण्डनवैचित्री ३/३/६४
पुष्पाद्याच्छेदनम् ३/३/९२

पूजादानन्तु तस्मै ४/३/३७
पूजायां नाविदत् २/४/११०
पूजितं पूज्यमानम् १/२/१६९
पूजिताः प्रणताः १/२/११०
पूतनामिह निशाम्य २/३/१०
पूर्णः शुद्धः १/२/२३३
पूर्णता पूर्णतरता २/१/२२३
पूर्णपरमहंसम् २/१/२०८
पूर्णसिद्धिरपि मे ३/२/८९
पूर्णस्पृहश्च धृतिमान् २/१/११७
पूर्त्तिः शान्ते २/५/१२१
पूर्त्तेर्विकारविस्तार० २/५/१२०
पूर्वतोऽत्र विपर्यस्त० ४/३/४१
पूर्वतोऽप्यधिकः २/१/३२७
पूर्वमुक्ताद् द्विधा २/५/११३
पूर्वमेवानुशिष्टेन ४/९/१
पूर्ववत् पुष्यमाणः ३/२/५
पूर्वापरविचारोत्थम् २/४/५८
पूर्वोक्तरीत्या निष्पन्नः २/५/५५
पूर्वोक्तविधिनैवायम् २/५/६०
पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ३/३/९६
पृथिव्या प्रथमस्कन्धे २/१/३२
पृथुकुतुपे ४/८/२१
पृथुतरमध्यकटिः ३/४/२०
पृथुरपि नृगकीर्त्तिः ४/३/३२
पृथुसमवसरः २/१/१३०
पृथे! तनयपञ्चकम् २/१/६८
पृथ्वी प्रत्युत ४/६/४
पौगण्डं प्रेयसि २/१/३१०
पौगण्डमध्य एवायम् ३/३/७१
पौगण्डादिपुरैवोक्तम् ३/४/३४
पौलस्त्यं जयते २/१/२०३
प्रकटं चित्र० २/३/२६
प्रकटप्रार्थनादिः ४/९/३०
प्रकटितनिजवासम् २/४/१५३
प्रकटितबहुरूपः २/१/१९८
प्रकाशिताखिलगुणः २/१/२२२
प्रकृतिभ्यः परम् २/५/९३
प्रकृतिरतिदुरूहा २/१/११०
प्रकृत्या शिथिलम् २/३/९१
प्रक्षीणकलुषौघास्ते १/२/१८०
प्रगाढा स्थेयसी ४/३/२९
प्रचलचरणयुग्मम् ३/४/२२
प्रचुरविरहतापैः ३/२/१२७
प्रचुरालङ्करणोज्ज्वला ३/२/३३
प्रजल्पन्तः प्राणान् २/४/१००
प्रणत इति २/१/११३
प्रणतशिरसि सौरीम् २/१/६६
प्रणमत ताः ३/५/६
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः २/३/४१
प्रणयतरङ्गकरम्बिताः ३/५/६
प्रणयति तव ३/३/९९
प्रणयतु मम २/१/३४९
प्रणामो मौन० ३/२/१६१
प्रणिधानविधिम् २/४/१३१
प्रतापी कीर्त्तिमान् २/१/२८
प्रतापी धार्मिकः ३/२/१४
प्रतापी पौरुषाद्भुत० २/१/१५६
प्रतिकूलेऽपि २/१/२६२
प्रतिज्ञा तव १/२/१८९
प्रतिज्ञानियमौ २/१/९४
प्रतिदिशमिह गोष्ठे २/४/७१
प्रतिपक्षस्तु करुणः ४/८/८
प्रतिपक्षस्तु हास्ये ४/८/१२
प्रतिपक्षो भवेदस्य ४/८/९
प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध! २/१/११३
प्रतियोद्धा मुकुन्दः ४/३/५
प्रतियोधस्थिताः ४/३/११
प्रतिवाचमदत्त केशवः २/१/११२
प्रतिवादिचित्त० २/१/७४
प्रतिबिम्बस्तथा १/३/४५
प्रतीयमाना अप्यज्ञैः २/५/१२३
प्रतीयमानाः प्रथमम् २/५/८३
प्रत्यक्पदात् परमहंस० ३/१/८
प्रत्यक्षं गिरिरेष ३/४/७
प्रत्यक्षरक्षरदमन्द० २/१/७३
प्रत्यानीताः परम! १/२/३६
प्रत्याशापल्लवः २/५/३७

प्रत्यासत्तिविधायिनी १/२/२०३
प्रत्यासीदतु मत्पुरः २/४/७५
प्रत्याह तम् २/४/९३
प्रत्याहृत्य मुनिः ४/८/६५
प्रत्येकमच्छिनद् ४/२/९
प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि ३/१/४३
प्रथमदर्शनरूढ० २/४/१८३
प्रथमविभागे १/४/२१
प्रथयति न २/४/५२
प्रथयन् वपु० ४/९/८
प्रथिमोपक्रम० ३/४/३०
प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः ३/२/१४९
प्रधावति जवेन ४/१/१७
प्रपन्नायामग्रे २/१/२५८
प्रपन्नो भाण्डीरे ३/३/११८
प्रपेदे कल्याणी ३/२/१७०
प्रबलतरानन्द० १/३/६१
प्रवलमनन्याश्रयिणा २/१/१
प्रबलामपि मल्ल० २/४/२४०
प्रभवति विबुधानाम् २/४/१५७
प्रभावः सर्वजित् २/१/५८
प्रभावति! समीक्ष्यताम् ३/२/१५४
प्रभावानास्पदतया ३/४/५
प्रभुमिन्दीवरसुन्दरम् ४/८/२३
प्रभुरयमखिलैर्गुणैः ३/२/१७
प्रभुरयमनिशम् ३/२/९
प्रभुर्दिवि दिवौकसः ३/२/८
प्रभुवर! मय्यद्भुताद्य ३/२/२४
प्रभो! तव पदार्चने ४/८/२५
प्रभोरमून्यङ्घ्रि० २/१/३७८
प्रमदविमुग्धो नृपतिः ३/२/७३
प्रमाता तदभेदेन २/५/१०३
प्रमिताक्षराद्य० २/१/७४
प्रयाणे चाप्रयाणे १/२/१७७
प्रयास्यति महत्तपः ३/१/३९
प्रलपति मुहुरालीम् २/४/४०
प्रलम्बरिपुरीश्वरः ३/२/५४
प्रलयः सुख० २/३/५८
प्रलापधावनक्रोश० २/४/८०
प्रवर्त्तितोऽहम् १/१/२
प्रवाच्यमाने पुरतः २/३/९५
प्रवासः सङ्ग० ३/५/३१
प्रवास्यमानोऽसि २/१/७१
प्रविशति दृशोरन्ते २/१/३१४
प्रविशति सुबलोऽयम् ४/८/२८
प्रविशन्नाम मनो धिनोति २/१/३८०
प्रविशन्नालयं विष्णोः १/२/१३४
प्रविष्टवति माधवे ३/३/१००
प्रविष्टे नासिकारन्ध्रे १/२/१६३
प्रवृद्धबाष्पाः परि० ३/३/१३१
प्रव्यक्तमार्दवत्वञ्च ३/४/१९
प्रशाधि तदिमाम् २/५/५४
प्रसन्नदृष्टाखिल० ३/२/१३४
प्रसभं कौस्तुभ० २/१/१०४
प्रसभं पीत० ४/८/३७
प्रसरति वनमाला २/४/१८४
प्रसाद आन्तरः १/३/१९
प्रसादा वाचिकालोक० १/३/१६
प्रसादेनातिधन्यानाम् १/३/६
प्रसारय दृशम् ३/४/७२
प्रसार्य भुजयोः ३/३/३९
प्रसूनपुञ्जाश्चटुलम् २/२/१८
प्रसृमररुचि० १/१/१
प्रस्थानमङ्गलदिनावधि ३/५/३२
प्रस्नुता कुरुभुवि ३/४/५६
प्रस्रवस्तिमित० २/४/२३३
प्रस्विन्ननासिकमुवाह २/३/७२
प्रहारस्य विभावत्वम् २/४/२०१
प्रहृष्टरोमा नृप! ३/२/६८
प्रह्लादः स्मरणे १/२/६५
प्राक्तन्याधुनिकी २/१/६
प्रागत्रानियताधारा ४/१/३
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः २/१/३५
प्रागसङ्गतयोर्भावः ३/५/२६
प्राचां मतानुसारेण ४/७/१३
प्राणतनुक्षोभ० २/३/६२
प्राणत्यागो मृतिः २/४/९९
प्राणस्तु विक्रियाम् २/३/१५

प्राणित्यपुण्यः सुबलः २/४/९
प्राणेन महता २/१/६०
प्रातः पुत्र! बलस्य ४/१/२३
प्रातिकूल्यमनौचित्यम् २/४/२२४
प्रातिकूल्यादिभिः २/५/६३
प्राधान्यात् सनकादीनाम् ३/१/१२
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या १/२/२५६
प्राप्तं निशम्य २/४/१५२
प्राप्ता न क्षणिकापि ३/२/१६६
प्राप्तायां सम्भ्रमादीनाम् ३/३/१०८
प्राप्तैः स्थायि० ४/९/३
प्राप्नोति यज्ञायुत० १/२/१६०
प्राप्य राज्यम् ३/३/१२६
प्रामृजत् करुणः २/४/३४
प्रायः आद्यद्वये ३/२/९०
प्रायः किशोरः ३/३/८०
प्रायः पुरःसरत्वाद्याः ३/३/९०
प्रायः प्रकृतिशूराणाम् ४/३/९
प्रायः प्रसन्नमनसाम् १/३/४७
प्रायः शमप्रधानानाम् २/५/१८
प्रायः समानयोरत्र ३/३/१०५
प्रायः सर्वरसौचित्याद् २/१/३११
प्रायः सुखमयाः २/५/७७
प्रायः स्वसुख० ३/१/५
प्रायस्तावन्ति तद्भक्त० १/२/२१९
प्रायिकी चेति ४/७/६
प्रायेण धीर० ४/३/५५
प्रायेण सर्वभावानाम् २/४/२५६
प्रायेण सर्वभावानामेक० २/४/१२८
प्रायेणेयम् ४/८/६२
प्रायोऽत्र मरणात् २/४/१०२
प्रायो धूमायिता २/३/६८
प्रार्थये तव १/२/४६
प्रार्थ्यां श्रियम् १/२/३१
प्रार्थ्या महत्त्व० २/१/३६
प्रालेयबिन्दुनिचितम् ३/२/१६३
प्राहुरेकेऽस्य ४/८/७
प्रियङ्करणवल्लकी० ३/३/१७
प्रियत्वमात्रवश्ये २/१/१५१
प्रियनर्मवयस्याश्च ३/३/२१
प्रियनर्मवयस्याश्च स्तु० ३/३/४३
प्रियनर्मवयस्याश्च वयस्येषु ३/३/४५
प्रियमिव किल २/१/३४९
प्रियवाक् सरलः ३/४/४
प्रियश्रवस्याङ्ग! १/३/९
प्रियसखि! सुबलोऽभूद् ३/३/८५
प्रियसङ्गमं व्रज० ३/३/१३२
प्रियात् प्रियस्य ४/२/१३
प्रियापरिषदग्रिमाम् ३/२/५४
प्रियप्रियानल० २/४/५९
प्रिया भूत्वाऽप्रिया २/४/११७
प्रियोत्थे पुलकः २/४/६०
प्रीणिते मनसि २/२/१०
प्रीतये मम २/४/१०६
प्रीतिं तत्प्रणते ३/२/५०
प्रीतिदानं तु ४/३/३५
प्रीते च वत्सले ३/३/१३५
प्रीतो व्यमुञ्चत् २/१/१५२
प्रीत्या रामायणम् २/५/१२७
प्रीत्युत्फल्लमुखाः ३/२/७२
प्रीत्युत्सिक्तमनाः ४/८/२२
प्रेक्ष्य तत्र पुरुषोत्तमम् २/३/३६
प्रेक्ष्य तत्र मुनि० ३/४/५६
प्रेक्ष्य तवां मम २/१/२२७
प्रेक्ष्य पिञ्छकुलमक्षि० ३/२/१२२
प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य दिशः ३/४/४०
प्रेक्ष्य युधिष्ठिर० ३/२/१७७
प्रेक्ष्य विस्तृत० १/३/४४
प्रेक्ष्य वृन्दावनात् २/४/६४
प्रेक्ष्य प्रेमनाट्यगुरुणा ३/२/६५
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा २/१/२७७
प्रेमवत् स्नेहवद् ३/४/५३
प्रेमानन्दं दारुकः ३/२/६२
प्रेमान्तरङ्ग० २/१/८
प्रेमान्धा वरवपु० २/४/११४
प्रेमा बल्लवनाथयोः ३/४/५७

प्रेमा स्नेहस्तथा ३/३/१०६
प्रेम्णैव गोप० १/२/२८५
प्रेम्ण एव १/४/१९
प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था १/३/२
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रु० २/१/३७८
प्रेयसस्तु तिरोभावः ३/४/७९
प्रेयसस्तु शुचि० ४/८/५
प्रेयसीषु हरेरासु ३/५/७
प्रेयानेव भवेत् ३/३/१३६
प्रेयान् कामपि ३/३/१३४
प्रेष्ठं प्रियतरमिव २/३/४०
प्रोक्ताः कृष्णेऽस्य २/१/२७४
प्रोक्तानुभावतामीषाम् २/३/२०
प्रोक्ता मनीषिभिः १/२/१५७
प्रोक्तेन लक्षणेनैव १/२/२५७
प्रोक्तेयं विरहावस्था ३/३/१२८
प्रोत्कण्ठ उद्‌गायति ३/२/१४३
प्रोत्साहयस्यतितराम् ४/३/१५
प्रोद्यदिन्दुनिभ० २/३/४९
प्रोद्यन्नन्तःकरण० २/१/१०३
प्रोद्यन्मण्डलबद्ध० २/१/३२५
प्रोद्यन्विभावनोत्कर्षात् ४/८/४६
प्रोद्यम्य दण्डम् ४/३/१९
प्रोन्मीलद्वनमालिका ३/३/७९
प्रोषिते बत ३/२/१२५
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी १/२/१७
प्रौढां त्रिचतुरा २/३/७६
प्रौढानन्द० २/१/१०
प्रौढानन्दचमत्कार० २/५/१०४
प्रौढानन्दचमत्कारो भक्तैः २/५/८१
प्रौढापास्या रतिः २/४/१२५

फ

फणिपतिह्रदकच्छे ३/३/२९
फणिह्रदमवगाढे ४/४/९
फणीश्वरेणाद्य ४/८/६७
फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः २/५/१२९
फेणायते प्रतिपदम् २/४/८७

ब

बकसोदरदानवोदरे २/३/२६
बत दूरेऽस्तु २/१/३८०
बत विधूत चिद्० ३/२/११३
बत सत्राजिति २/१/१०४
बत साक्षात्करण० ३/१/४१
बद्धः सुतोऽसौ ४/५/१०
बद्धस्पर्द्धं सौहृदाद् ३/३/४१
बद्धोष्णीषः पुरट० ३/३/७०
बत विधूतचिद्० ३/२/११३
बन्धच्छदकरोऽपि १/३/४०
बन्धश्च भीतिञ्च २/१/२०५
बन्धूकाभः सिन्धुर० ३/३/३४
बन्धूनानन्दयिष्यन् २/१/२५४
बभूव गान्धर्वरसेन २/३/५
बभूव गोष्ठेन्द्र० २/३/३३
बभूव घर्माम्बु० २/४/३२
बभूवुरिन्द्रियाणीव २/४/९७
बर्हापीडं नटवरवपुः २/१/३१६
बलः कूर्मस्तथा २/५/११९
बलस्य बलिनो ४/३/२१
बलानुजसदृग्० ३/३/१७
बलिं हरद्भिश्चिर० २/१/१७८
बलिनैव स ४/३/३९
बलिष्ठा बलपक्षाः २/४/१६७
बलिसुतभुजदण्ड० ३/२/११५
बलीयानुत्तापस्तव ३/३/११८
बहुग्रन्थकलाभ्यास० १/२/७९
बहुलाश्वे बहुला० ३/२/१२०
बहुविधगुण० २/१/२२५
बहुस्तम्भो पश्य ३/३/९७
बहूनामपि भावानाम् २/४/२४१
बहूनामपि सद्भावे ३/४/६४
बह्वङ्गव्यापिता २/३/६५
बाढं निबिडया २/४/५५
बाधिर्यं गुरुवाचि २/१/३३३
बाध्यत्वमत्र शान्तस्य ४/८/६६
बालः प्रयात्यविरतम् २/५/३४

बालशब्दाद्युपन्यासः ४/९/२८
बालासौ विषयेषु ४/८/६५
बालिकादेश्च कृष्णे २/५/९
बाल्येऽपि नव० २/१/३३५
बाष्पसङ्कीर्णया कृष्ण! ३/३/११५
बाष्पाम्बुपूरेण ३/३/१२०
बिभर्ति हृदि २/१/२१०
बिभ्रद्गेण्डुम् ३/३/३४
बिभ्रद्वासःकनक० २/१/३१६
बिभ्रद्वेणुं जठर० ३/३/६०
बिभ्रन्नीलां चटुल ३/३/७०
बिभ्रन्मुहुः प्रेम० ३/२/६८
बिभ्राणस्य हरेः ४/८/३१
बिम्बाधराणि चरणेन २/४/१३७
बिले क्व नु २/४/३६
बिल्वमङ्गलतुल्यां ये २/१/२७९
बिल्वयुग्मरचितोन्नत० ४/९/२२
बीभत्सस्य भवेद् ४/८/१४
बुद्धा सद्यः सत्य० २/४/१८१
बोधः स्वप्नः क्लमः ३/२/७७
बोधभिद्दैन्यम् २/४/२०४
बोधो निद्राक्षयात् २/४/१८७
बोधो मोहक्षयाच्छब्द० २/४/१८२
बोपदेवादयः ४/३/५४
ब्रह्मण्येव लयम् १/२/२७९
ब्रह्मन्नत्र पुरद्विषा २/१/१७५
ब्रह्मभावात् ४/९/४
ब्रह्मरात्रितति० २/१/२१२
ब्रह्मरात्रिततिवद् २/१/२१२
ब्रह्मशङ्करशक्राद्याः ३/२/१९
ब्रह्माण्डकोटिधामैक० ३/२/११
ब्रह्मानन्दो भवेदेष १/१/३८
ब्रह्मिष्ठश्वसनः ३/५/२३
ब्रह्मिष्ठाया निष्फलम् ४/८/५४
ब्राह्मणो वासुदेवाख्यम् १/२/१४४
ब्रूमः सत्यमदर्शने ३/३/४२

भ
भक्तः सर्वविधः ४/२/२
भक्तप्रारब्धविध्वस० २/१/१९४
भक्तमकरानशीलित० १/१/४
भक्ताः सर्व्वविधा ४/५/२
भक्ताः स्रवन्नेत्र० १/३/२९
भक्तात्मारामकरुणा० ३/१/१७
भक्तादिभिर्विभावाद्यैः ४/९/३३
भक्तानां जपताम् १/२/१५०
भक्तानां पञ्च० ४/१/५
भक्तानां भेदतः १/३/२४
भक्तानां हृदि २/१/९
भक्तापेक्षिकमस्य २/१/२२०
भक्तास्तु कीर्त्तिताः २/१/३००
भक्तिं पराम् १/२/४३
भक्तिः प्रवृत्तात्म० १/३/११
भक्तिः प्रेमोच्यते १/४/३
भक्तिच्छेदलसत्० २/१/३५८
भक्तिनिर्धूत० २/१/७
भक्तिन्तु न ददात्येव १/२/२२२
भक्तिप्रपञ्चमनु० ३/३/९
भक्तिभरेण प्रीतिम् ४/१/१
भक्तियोगविधानार्थम् १/२/५३
भक्तिरसस्य प्रस्तुति० १/१/६
भक्तिरसामृतसिन्धुः १/१/३
भक्तिरसामृतसिन्धौ १/१/४
भक्तिरित्युच्यते १/४/२
भक्तिरेव वृता १/२/४७
भक्तिरैकान्तिकी १/२/१०२
भक्तिर्दृढा न २/१/२८७
भक्तिर्वशीकरोतीति १/१/४१
भक्तिहृतमनःप्राणान् १/२/२३
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या १/२/२२५
भक्तीच्छोर्भक्तिदा १/२/२३६
भक्तेर्विशुद्धता १/१/१६
भक्तेषु स्थायिताम् २/५/५०
भक्तैरपि दुर्लभया ३/२/२४
भक्त्या वयमिति १/२/२७७
भगवच्चरणद्वंद्व० १/२/१७९
भगवति च १/३/६०
भगवति हन्त ४/७/८

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य १/१/२२८
भगवन्धिकम् ३/१/४१
भगवानपि गोविन्दः ३/५/३३
भगवान् मयि सर्वदा ४/१/१
भङ्गभीमतरदृष्टि० २/५/६५
भजते जृम्भामहो २/२/१२
भजते पक्षम् २/४/२३०
भजन्नपक्वोऽथ १/२/६६
भज भङ्गं न ४/३/२२
भभ्रमति मेदिनी २/४/३७
भयं चित्तातिचाञ्चल्यम् २/५/६७
भयमपि दमयित्वा ३/२/१०७
भयानकः सबीभत्स० २/५/११६
भयानकस्य बीभत्सः ४/८/१३
भयानकाभिधः ४/६/१
भयानकेऽथ बीभत्से २/५/१२१
भयानको विपक्षोऽस्य ४/८/१०
भयार्त्तैरारब्धस्तुति० २/१/१४२
भर्त्तारञ्च जगद्योनिम् १/२/३०४
भर्त्तुर्मिथः सुयशसः २/१/२८३
भर्त्सनं मूर्धविधुतिः ४/५/२२
भवतः प्रताप० २/१/१५७
भवति मुखविकारः २/५/७२
भवतु माधव० २/४/१०
भवतु सदायम् १/१/३
भवत्पदाम्भोज० १/२/२६
भवत्युदयतीश्वरे ३/३/११०
भवदभि रति० ४/३/५८
भवन्तं पृच्छन्ती ३/४/७१
भवन्तमवलोकते ३/४/४९
भवन्ति तूष्णीम् ३/२/१४२
भवन्ति हृत्कर्ण० १/३/१२
भवन्तु आम्नाय० ४/३/३८
भवबन्धच्छिदे १/२/४९
भवान् प्रभुरहं दासः १/२/४९
भवेच्छोकरति० ४/४/१
भवेत् कदाचित् ३/१/४३
भवेत् सूर्यान्तरा २/१/३७१
भवेत् सौन्दर्य० २/१/३३६
भवेदत्र शिरःकम्पः २/४/१२९
भवेद् भक्तिरसोप्येष २/५/११३
भवेद् भागवतो धर्मः १/२/१८४
भवेद् रामायणादीनाम् २/५/१२६
भवेद् विहसिताद्यश्च ४/१/१५
भवेन्नहि ययोः ३/२/१०४
भवेन्मुख्योऽथ ४/८/१८
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र! १/२/१४६
भागवतार्पित० ३/१/१
भाण्डीरं पुनरतुलम् ४/२/११
भाण्डीरकक्षे ४/९/३५
भाण्डीरे क्रीडनम् ३/३/६९
भाण्डीरोद्दण्डशाखा० २/४/६९
भाति केवल० ३/४/३७
भाति दधन्मण्डली० ३/३/२६
भात्येव न तु ४/८/४८
भान्त्यमी त्रिगुणोत्पन्न० २/५/७५
भारताद्याश्चतस्रस्तु ४/९/४२
भारताद्युक्तिरेषा २/५/९२
भारावताराय ३/२/९८
भाव एवान्तरङ्गाणाम् १/४/५
भावं तद्विषयञ्चापि १/२/२४४
भावः स एव १/४/१
भावज्ञै रतिशून्यश्च २/४/२१७
भावज्ञैरत्र मालिन्य० २/३/४७
भावत्वमेव निश्चित्य ३/२/१४०
भावनायाः पदे २/५/१३३
भावाः सर्वे ४/९/४१
भावानां क्वचिद् २/४/२३२
भावाभासोऽपि १/३/५२
भावाम्बरमणिरुदेति ३/१/२९
भावाविर्भावजनिताः २/४/२५१
भावा व्यभिचारिणः २/४/६
भावाश्रिता तृतीया १/१/९
भावैश्चित्तमिवाक्रान्तम् २/३/१
भावोत्थोऽति० १/४/४
भावोन्मत्तो हरेः १/४/१८
भावोऽप्यभाव० १/३/५४
भाव्यते गाढ० २/५/१३३

भिक्षामटन्नरिपुरे १/३/३३
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतः ३/२/४
भिन्दन्नण्डकटाह० २/१/२१४
भिन्नत्वं स्थान० २/३/६७
भिन्नयोर्हेतुनैकेन २/४/२३८
भिन्नाद्य साध्वि! ४/९/१६
भीताभयप्रदानाद्याः ४/३/१४
भीता रुद्रं त्यजति २/१/१६०
भीमः स्मयन् ३/३/१३१
भीमस्य चेदीश० २/३/५६
भीमाय स्वयमतुला० २/१/११८
भीषणास्तु प्रभावेण ४/६/१५
भीषणेभ्यश्च तत्र ४/६/१२
भुक्तयश्चाद्भुताः १/१/३४
भुक्तावशिष्ट० ३/२/५७
भुक्तिं मुक्तिं हरि० १/२/२२२
भुक्तिमुक्तिस्पृहा १/२/२२
भुजद्वन्द्वं स्तम्भ० २/१/३३७
भुजपरिघयोः ३/३/१२
भुजपरिघाः ३/२/११९
भुजमण्डलेन मणि० ३/३/१३२
भुजयुगमपि २/१/३२१
भुजामंसे सख्युः ४/८/३५
भुजौ स्तम्भारम्भौ २/१/४६
भुञ्जान एवात्मकृतम् १/२/१७४
भुवं लिखन्त्यश्रुभिर् २/३/५७
भुवनं कृष्ण! २/१/१५७
भुवनेऽस्मिन् न भवान् २/१/१६५
भुवमभि मकराङ्कः ३/२/१६०
भुवि विलुठाम २/२/१५
भूतेषु सन्तम् २/४/८३
भूपांशवः खे २/१/२१९
भूपालसेवकस्येव २/४/२१६
भूयः प्रस्रववर्षिणी ३/४/५५
भूयोऽपि याचे १/१/३२
भूयोभिर्वसुदेव० ३/४/५७
भूरिसाद्गुण्यभारेण २/४/११६
भूर्यनुग्रहचितेन ३/४/९
भृत्ययोर्नायकस्येव ४/८/७८
भृत्यस्य पश्यति २/१/१३८
भृशमनुतप्तधियोऽश्रु० २/५/६१
भृशमलिनोऽपि १/३/६०
भेदं स्वीकृत्य २/१/३०५
भैरवं रुवति २/५/७०
भोः पश्यत ४/५/३१
भोः पश्य सव्यकर० ४/२/८
भोक्ता च दुःखगन्धैः २/१/१४५
भोगापवर्ग० १/३/४६
भोगैकसाधनजुषा २/३/१३
भ्रमति भुवनमध्ये २/१/३७७
भ्रमति हसति २/४/४०
भ्रमदिदमनवेक्ष्य ३/२/१२१
भ्रश्यन्ति मार्गात् २/४/४६
भ्रातस्तनयम् ३/४/६१
भ्रातृव्येपु वसन्ती ३/४/६१
भ्रान्तधीरयमधीर० ३/२/१२५
भ्रूभेदस्थपुटित० ४/५/१२
भ्रूभेदाधर० ४/५/२३
भ्रूवल्लिताण्डवकला ३/५/२०

म
मकरीपत्रभङ्गाढ्यम् २/१/३५७
मङ्गलालङ्क्रियारूपाः २/१/२५१
मच्चापलञ्च तव ३/२/१०६
मञ्चस्योपरि २/१/२६६
मञ्जिष्ठाद्ये यथा २/४/२५३
मणिमयवर० ३/२/४३
मणिराडयमुडुरिव २/१/५७
मणिस्तम्भालम्बी ३/२/१३७
मणिहारोज्ज्वलमुज्ज्वलम् ३/३/४८
मण्डले किमपि २/४/२३३
मतिधृतयो हर्ष० २/४/५
मतिस्मृति० ४/३/५६
मत्कथाश्रवणादौ १/२/२४७
मत्तुल्यो नास्ति १/२/१५४
मत्पादसेवाभिरता १/२/२७

मत्वा परं ब्रह्म ३/४/४६
मत्सरं त्यज ३/४/६९
मत्सेवया प्रतीतम् १/२/३८
मथुराञ्च परित्यज्य १/२/२११
मथुरायां सकृदपि १/२/२२३
मथुरेत्यपि कर्ण० २/१/३८०
मदकलकलभेन्द्रोल्लङ्घि० ३/५/१८
मदचकितचकोरी० ३/५/८
मदनः पुरतो विलोकयन् ३/२/१७६
मदनकदली० २/१/३२८
मदनान्धतया ४/८/३७
मदस्खलितमालपन् २/४/३७
मदोऽपि त्रिविधः २/४/३९
मद्भक्तः स्यान्न २/१/९७
मद्भक्तानाञ्च १/२/२१८
मद्वेषशीलिततनोः ४/८/३३
मद्वेषेण पुरः स्थितौ ४/१/१९
मधुद्विषि परि० २/३/७७
मधुपानभवोऽनङ्ग० २/४/३५
मधुपुष्पावलिभिः ३/३/४८
मधुमथनेन ४/९/१९
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेयाः २/५/११५
मधुराख्यो भवेद् ३/५/१
मधुरापरपर्याया २/५/३६
मधुराश्चर्य० २/३/१२
मधुरिपुमभिवन्द्य ३/२/१६०
मधुरिपुमिह ३/३/८५
मधुरिपुरुपरागे २/१/३६३
मधुरिममधुपात्री ३/५/८
मध्ये यस्मिन् भगवतः १/२/२०
मध्ये सुन्दरि! ३/३/३५
मनसि कमपि १/२/२४३
मनागुन्मीलिताश्चामी २/४/२५९
मनागेव प्ररूढायाम् १/१/३३
मनुष्यमिव तं द्रष्टुम् १/२/१९२
मनोगतिरविच्छिन्ना १/४/१३
मनोनुसाराद् भावानाम् २/४/२५७
मनोऽभिरमते १/२/१५३
मनो मम चतुर्वर्गम् २/४/१४७
मनो मम मनागपि ३/२/१०१
मनो ममेष्टामपि ३/२/१७५
मनो मे व्यालोलम् ३/५/२७
मनो मे सोत्कण्ठम् २/१/९९
मनोरथेनासति १/१/२९
मनोवृत्तिश्चेयम् २/४/१६
मन्त्रं पृच्छति ३/२/३७
मन्त्रध्वानो नटति ४/३/१२
मन्त्रस्य सुलघूच्चारः १/२/१४९
मन्थानकं विदधती २/४/८१
मन्दं मन्दमये कः ३/२/१३१
मन्दस्पन्दमभूत् ३/४/६५
मन्दस्मितम् ४/९/१४
मन्दिरेषु युगपत् ४/२/६
मन्मथता तस्य १/३/३९
मन्युर्बन्धुषु ते ४/५/२६
ममतान्यममत्वेन १/४/३
मम दृशि गोचर २/१/१७०
मम नाम सदाग्राही १/२/२२५
मम प्रतिज्ञामपहन्तुम् २/१/९५
मम भक्तिः १/३/१०
मम शिशुरहि० २/४/७२
मम सन्दिश ३/४/६१
ममाद्यामङ्गलं नष्टम् ३/२/७९
ममाभवनिरेतयोः ३/२/१०४
ममार्चनापराधा ये १/२/११८
ममैष कालोऽजित! २/४/१२
मयात्मभूयाय १/२/१९४
मया दृगपि २/५/५४
मया हन्त प्राप्तो न २/४/१६
मया हृतजगत्त्रयोऽप्यतनु० ३/२/८३
मयि वल्गति ४/३/२२
मय्यर्पितात्मेच्छति १/२/४२
मय्यानन्दः सान्द्रताम् ३/१/३७
मय्युच्चैः कृतकिल्बिषे २/१/२२७
मरकतगिरेर्गण्ड० २/१/३२८
मरकतमणिलक्षैर् २/१/१८६

मरन्दकुसुमापीड० ३/३/३१
मर्कटी भ्रुकुटीभिर् ४/९/३४
मर्त्यात्मबुद्धेः सुत० २/४/१२
मर्त्या यदा १/२/१९४
मर्यादातिक्रमाद्यैर् ४/९/७
मल्लश्रेण्यामविनयवतीम् २/१/२५६
मल्लानां यदवधि ४/९/१२
मल्लानामशनिर्नृणाम् २/१/२६४
महत्तमान्तर्हृदयाद्० १/२/३०
महसि विनतवक्र० २/४/२४३
महसो घन० ४/८/२०
महागुरुर्महाकीर्त्ति० ३/२/१४८
महानन्देति विख्याता २/१/३७०
महाभागवतो जातः १/३/२०
महार्त्तिविप्रयोगेर्ष्या० २/४/७
महार्यां मर्यादाम् २/४/२७०
महाशक्तिविलासात्मा २/५/९२
महासम्पत्तियुक्तः २/१/१७१
महिमज्ञानयुक्तः १/४/१४
महिलेयम् २/१/२१
महीजयोर्मध्यगम् २/४/६७
महेन्द्रमणिमञ्जुल० ३/३/४
महेन्द्रमणिहाटक० ३/३/१७
महोत्सवादिवृत्तेषु २/३/६९
मह्यं न न स्यात् ३/२/९८
मां केशिनिषूदन! ४/३/१५
मां पुष्पितारण्य० २/५/३१
मां योद्धुम् ४/८/३८
मां राक्षसेन २/४/१६९
मां विद्धि कृष्णम् २/१/६९
मां व्यस्मारयदेष ३/२/१०
मांसास्थिरक्त० ४/८/७१
मां स्नेहयति २/१/२१
मा गर्वमुद्वह २/४/१६५
माङ्गल्यं जगतामेव २/१/२५९
मातर्नेष्यति माम् ४/१/८
मातर्माद्रि! गता ४/४/१२
मातश्चण्डि! ४/५/२९
मातुः प्रमोद० ३/४/३९
मा त्वं कदम्ब! २/४/२२९
मा त्वं भैषीः ४/३/२०
मात्सर्यवानहङ्कारी २/१/२३६
मात्सर्याद्याः प्रतीयन्ते २/१/२३९
मात्सर्याद् वेग० २/४/१९२
माद्यन्नेष तदलघु० ४/३/१२
माद्रेयनारदादीनाम् ३/४/८३
माधव! लीलामहौषधि० २/१/२०८
माधवाक्षेपिणं दुष्टम् २/४/२११
माधवाद्य विरहेण २/४/२९
माधुर्यादपि मधुरम् १/३/३९
माधुर्याद्भुतरूपत्वात् ३/३/७१
माधुर्याद्याश्रयत्वेन २/५/९८
मानः प्रसिद्ध० ३/५/२९
माऽनयं भोः! २/४/२५
मानससदनम् २/५/१०
मानसे निर्विकल्पत्वम् २/५/१६
मानसेनोपचारेण २/१/१८२
मा प्रेक्षिष्ठास्तव १/२/२३९
मा मर्यादाम् ४/५/१७
मा मुञ्च पञ्चशर! ३/५/१७
मा मे गर्भो निपात्यताम् २/४/२३
मामेति स्खलदक्षरे ४/१/१९
मायां वितत्येक्षितुमात्म० २/४/१९
मायाबलं दर्शयता २/१/२१५
मायाश्रितानाम् ३/३/१९
मार्कण्डेयादयः २/१/२८५
मार्गद्वयेन चैतेन १/२/१९३
माला त्रिधा २/१/३५६
मा सिञ्च सान्द्र० ३/५/१७
माहात्म्यज्ञान० १/४/११
माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु १/४/१२
मित्रं हास्यस्य ४/८/८
मित्रत्वं शात्रवत्वञ्च ४/८/१
मित्रस्य कुर्वन्नमृतम् २/१/२०६
मित्राणि चित्रतर० २/१/८७
मित्रानीकवृतम् ४/८/४०

मिथोविरोधिनः २/१/१४१
मिथो वैरावपि ४/८/८१
मिथो हरेर् २/५/३६
मिलन्तं हरिमालोक्य २/३/५९
मिलितः शम्बर० ३/२/१७६
मिलितमधिष्ठित० ३/२/१७७
मिहिरदुहितुर् ४/८/२८
मीन इत्येषु २/५/११९
मीमांसकवडवाग्नेः १/१/५
मीमांसका विशेषेण २/५/१२९
मुकुन्द! खिन्नः २/१/१२८
मुकुन्दचरितामृत० २/३/८८
मुकुन्दपदपद्मयोः २/१/२८८
मुकुन्दमाविष्कृत० २/४/९६
मुकुन्द! वसति० २/३/३९
मुकुन्दलिङ्गालय० १/२/२६७
मुकुन्दवसति० ३/३/११०
मुकुन्द! विरहेण २/४/११२
मुकुन्द! सुखचिद्० ३/१/१४
मुकुन्दो गान्दिनीपुत्र! ३/३/१०७
मुकुन्दोऽयम् ४/८/३५
मुकुल-पुलकिता ४/९/१९
मुक्तानामपि १/२/५२
मुक्तिं ददाति १/१/३७
मुक्तिदाता हतारीणाम् २/१/२०४
मुक्तिनदीकान् १/१/४
मुक्तिर्भक्त्यैव ३/१/१५
मुक्तिश्रियां सुष्ठु २/३/९४
मुक्तिस्तेषाम् १/२/३६
मुक्तैः प्रार्थ्या १/२/२३५
मुखं चन्द्राकारम् २/१/४६
मुखं ते दीर्घाक्षम् २/१/३३७
मुखं स्मितविलासाढ्यम् २/१/३२२
मुखपुटकृत० ३/४/२२
मुखबाहूरूपादेभ्यः १/२/१०
मुखरशिखरे लीना ३/५/३०
मुखशोषणमुच्छ्वासः ४/६/९
मुखशोषत्वरा० २/४/१५१
मुखाम्बुजमुदञ्चित० २/१/३२३
मुख्यं पारिषदेषु ३/२/३६
मुख्यः स्तम्भोऽयम् २/३/६
मुख्यभावाभिधास्त्वेक० २/४/२५०
मुख्यस्तु पञ्चधा २/५/११५
मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य ४/८/४७
मुख्या गौणी च २/५/२
मुख्यापि द्विविधा २/५/३
मुख्यामेव रतिम् २/४/२०८
मुख्यो भक्तिरसः ३/१/२
मुग्धं मुखाम्बुजम् ३/२/१०६
मुग्धाक्षि! चातुर्यम् २/३/२९
मुग्धेयं किल ४/८/६५
मुदमधिकां व्रज० ३/४/२०
मुदितसुन्दर हे! २/४/७३
मुद्रां भिनत्ति ३/२/१६९
मुद्राभिः प्रकटी० ३/१/४२
मुद्विस्मयादेराभासः २/३/८६
मुनय उपासते १/२/२८२
मुनिगण-नृपवर्य० २/१/१७०
मुनीश्वर! पुरातनी ३/१/३९
मुने! समर्थाः २/१/९५
मुमुक्षुप्रभृतीनाम् १/३/४१
मुमुक्षुप्रभृतौ पूर्व्वम् २/३/१४
मुमुक्षुप्रमुखेष्वाद्या २/३/८४
मुमुक्षुभिः परित्यागः १/२/२५६
मुमुदे प्रेक्ष्य ३/४/१६
मुरमथन! पुरस्ते ४/६/५
मुरलीखुरली० २/२/४
मुरलीतरलीकृतान्तरा २/२/९
मुरलीध्वनिना ४/९/२९
मुरलीशृङ्गयोः स्वानः ३/२/५९
मुरारेर्माधुर्यम् २/१/६४
मुषाण दधि मेदुरम् ४/१/२१
मुहुरहो रसिकाः १/२/२२६
मुहुराक्रोशदिहाद्य २/२/९
मुहूर्तं वा मुहूर्त्तार्धम् १/२/१४१
मुहूर्त्तमतदर्थिनः २/३/८८

मूढो भ्रमति १/२/२११
मूर्त्तेर्मधुरिमाद्यञ्च २/१/३२०
मूर्द्धन्याहुकशासनम् ३/२/३७
मूर्द्धा रुद्धदृगश्रुभिः ३/१/४२
मूर्ध्न्यवघ्राय परमाम् ३/४/५४
मूलतो भजनासक्ताः ३/२/२९
मृतिरत्रानुभावः २/४/१०२
मृत्युर्भोजपतेः २/१/२६४
मृत्युस्तस्करमण्डले २/१/७८
मृदुकलमुरलीम् २/४/२४८
मृदुतां कोमलस्यापि २/१/३४०
मृदुश्रद्धस्य कथिता १/२/१८६
मृद्नन् करिष्यति २/४/२२९
मृधे मगध० ४/५/२८
मृषा वृषभ! जल्पितम् ३/३/३२
मेघश्यामः कनक० ३/२/२८
मेधावी सूक्ष्मधीश्चेति २/१/७९
मेनेऽमुं स्थायिनम् २/४/१३
मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ ३/५/९
मोक्षद्वारार्गलान्मोक्षः १/२/१५१
मोक्षसालोक्य० १/२/५१
मोटयन्तमभितो निजम् २/४/१०६
मोहस्तन्द्रा २/१/२४७
मोहितः शिशुकृतौ २/१/१९६
मोहो मृतिरालस्यम् २/४/५
मोहो हृन्मूढता २/४/९२
मौनमित्यादयः शीताः ३/१/२६
मौलिश्चन्द्रकभूषणः ३/२/१३१
म्रदिमवीक्षणतस्तव २/४/७३
म्लानः सलीलमपि २/१/३४५
म्लानाननः कृष्णमवेक्ष्य २/३/९४
म्लेच्छान् मूर्च्छयते २/१/२०३

य

य एषां पुरुषम् १/२/११
यं समस्तनिगमाः ४/८/५७
यं सुष्ठु पूर्वम् २/१/७६
यः करोति १/२/२२०
यः कृष्णपादाङ्कित० २/२/५
यः केनाप्यतिभाग्येन १/२/१४
यः पुण्डरीकेक्षण! ३/४/६८
यः प्रथीयान् १/३/५८
यः प्रीतिं तनुते ३/२/४९
यः प्रेरकः ४/५/११
यः शास्त्रादिष्वनिपुणः १/२/१८
यः स्वतो रति० २/४/२२०
यः स्वातन्त्र्येऽपि २/४/२२२
यक्षेन्द्रभट-भद्राङ्ग० ३/३/२३
यच्च व्रजन्त्यनिमिषाम् २/१/२८३
यच्चेष्टा कृष्णविषया ४/१/९
यजन्ति यज्ञम् ४/३/३८
यज्ञः पूजाविशेषोऽस्य ४/३/५९
यज्ञस्य भङ्गादतिवृष्टि० २/३/३१
यतः किमपि ३/२/१५४
यतिगोष्ठ्यामुत्पुलकः २/३/८५
यतो यतः क्रीडया २/१/१६८
यत् कर्मभिर्यत्तपसा १/२/२५२
यत्तत्र विप्रलम्भादौ २/४/८४
यत्नेन तैर्विरचिता २/४/१७
यत्नेन स्मितमथ २/४/१२६
यत्नेनापादितोऽप्यर्थः १/१/४६
यत्पादपङ्कज० १/१/२५
यत्पादपांशु० ३/३/१३३
यत्पादसेवाभिरुचि० १/२/१४२
यत्प्रह्वणाद् १/१/२१
यत्र क्व वा १/२/६६
यत्र नित्यतया २/१/१७
यत्र यत्र विषये ४/९/६
यत्र रागानवासत्वात् १/२/६
यत्र साधारणतया २/५/१०१
यत्र स्वल्पोऽपि १/२/२३८
यत्सुखौघलवागस्त्यः २/५/१११
यत्सेवया भगवतः १/२/२१५
यथाकथञ्चिदेवोक्तम् २/४/२४९
यथाकथञ्चिन्मनसा १/२/१७५
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः १/१/२०

यथा दध्यादिकम् २/५/८०
यथा दामोदरो भक्त० १/२/२२१
यथा पदाङ्गुष्ठ० १/२/१४२
यथा मरिचखण्डादेर् २/५/८४
यथा मृष्ट० ४/८/५२
यथार्कः प्रति० २/५/७
यथा विधि० १/२/७०
यथा विनिद्रा ३/५/२८
यथा वैभवसामग्री० १/२/८९
यथा सौमित्रिभरतौ २/१/२९७
यथा स्वैरेव २/५/९५
यथेभः शौनकादिश्च १/२/२१
यथोत्तमश्लोक० १/२/२६८
यथोत्तरमसौ २/५/३८
यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च २/१/१९१
यदपि शिखामणि० २/१/२२०
यदभ्युदयतः क्षेमम् १/३/५१
यदभ्राण्युद्दण्डो दशन० ४/१/२५
यदरीणां प्रियाणाञ्च १/२/२७८
यदवधि मम १/२/२४२
यदवधि मम चेतः २/५/७२
यदवधि मम शीता १/२/२४२
यदवधि वृष्टिमचीकरः २/४/५१
यदस्यां कृष्ण० १/२/२८३
यदहं पदमुद्रयोज्ज्वलितः ३/२/२४
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु० ३/२/१४३
यदा यादृशि २/५/१३
यदिदं वदनाम्भोजम् ३/१/२९
यदि न त्वम् ४/३/६
यदिन्दवति २/१/१४४
यदुकुमारगणाः ३/२/१५०
यदुकुलकमलार्क! ३/२/५२
यदुग्रभुजसङ्गरे ३/३/३२
यदुत्तमश्लोक० १/२/१४८
यदुनन्दन! ४/९/३९
यदुपतिरितिहासे ३/२/१४७
यदुभिरयमवध्यः २/१/८१
यदुभे चित्त० १/२/२४९
यदुवर! दरश्वासेनामी ३/२/१२६
यदुवर! यदि २/१/१२२
यदुवर! विरहात् ते ३/३/१२२
यदुवीर! तटे ३/३/१२४
यदुवीर! सभासदः ३/२/३३
यदुवृद्धाननमत् २/१/१३६
यदुसदसि सुरेन्द्रैः ३/२/१६०
यदृच्छया मत्कथादौ १/२/१५
यदृच्छया लब्ध० १/२/४८
यदैश्यज्ञान० १/२/२८८
यद् गर्हन्तु सुखमय० १/२/२४०
यद् गोद्विजद्रुम० २/१/२१६
यद् गोविन्देति २/१/९२
यद्धर्मसूनोर्बत २/१/५३
यद् ब्रह्मसौख्यम् २/१/१८८
यद्यदिष्टतमम् १/२/१९९
यद्यप्यसौ पार्श्वगतः २/१/१८५
यद्विचित्रगति० ३/२/६५
यन्नमस्ये भगवतः ३/२/७९
यन्नामधेय० १/१/२१
यन्निरञ्जन! ४/९/६
यन्मर्त्यलीलौपयिकम् २/१/२१५
यन्मित्रं परमानन्दम् २/१/२९३
यमौ किरीटी ३/३/१३१
यया न हि हरेः ३/४/६७
यर्ह्यम्बुजाक्षापससार २/१/१६२
यशोदादेस्तु वात्सल्य० ३/४/५३
यशोदापि महाभागा ३/४/५०
यशोदा मूर्त्तेव ३/४/१४
यशोदा वर्ण्यमानानि ३/४/६२
यष्टा दरोच्छ्वसित० २/३/७२
यष्टिं हस्तत्रय० ३/३/७०
यष्टिः श्यामा ३/३/६९
यष्ट्या दुर्बलया ४/८/४०
यस्तातेन विकृष्य ३/२/१६६
यस्तु दृष्ट्या ४/८/२४
यस्तु स्वाभाविकः २/४/२५२
यस्तूत्तमश्लोक० १/२/१७३
यस्मिन् गते ३/१/८
यस्मिन् दिने १/२/२२४

यस्य प्रभा प्रभवतः २/१/१८९
यस्य मुख्यस्य ४/८/५०
यस्य सत्सङ्गतिः १/२/२२९
यस्य स्फूर्तिलवाय ४/८/६५
यस्य हासः ४/१/२८
यस्याः स्तनस्तबक० २/४/८१
यस्याः स्वभाव० २/४/४४
यस्याधिक्यं भवेद् २/५/२६
यस्यानुरागप्लुत० २/३/२२
यस्यास्ति भक्तिर् १/१/२९
यस्येन्द्रियं विमथितम् २/१/१०६
यस्यैकनिःश्वसित० २/१/२५०
याः केशवाङ्गे ४/९/२०
या कृष्णेनाति० १/३/४२
याचते बत ३/४/६९
याचितः पटिमभिः २/५/६९
याते पदाब्ज० ४/८/७१
याते राजपुरम् ३/४/६३
या दृष्टा निखिलाघ० १/२/२०३
यानारूढं पुरः १/२/१३०
या नासीदुदगाद् दृशोः ३/३/११२
यानि योधैः २/१/८९
या निर्वृतिस्तनुभृताम् १/२/२९
यानेकत्र तथैकस्य ४/९/१३
यान्यक्षिपन् ४/२/९
यान्यङ्गानि च १/२/२९६
या पत्रिपङ्क्तिता० ३/३/११३
या पितृत्वादि० १/२/३०५
या पुरः कृष्णमालोक्य २/५/११
या प्रागास्ते सरस्वती ३/३/११२
या प्रायो जायते ४/७/९
या भावमनुगृह्णाति २/५/५
यामात्रिकामचतुरा २/४/५७
यामि काश्यगृहम् ४/८/७५
यामिन्यामुषितः २/१/८३
या मोक्षान्तचतुर्वर्ग० १/१/३२
यावता स्यात् १/२/१०८
यावदालक्ष्यते केतु० २/४/१११
यावन्ति भगवद्भक्ते० १/२/२१९
यावन् मुकुन्दहृदि २/४/१७
या वै लसच्छ्रीतुलसी० १/२/१०७
या स्यात् पूर्व्वा २/४/१२९
यास्याम्यस्य न ४/१/८
या स्वशक्तिसहायाद्यैः ४/३/१८
युक्तायुक्तादिकथनम् ३/३/९०
युक्तास्य स्फूर्तिमात्रेण २/४/१७६
युक्तिस्तु केवला १/१/४५
युगं चतुष्कम् २/१/३४७
युगकोटिसहस्राणि १/२/२०५
युगपदयमपूर्वः २/१/१८६
युगमात्रेक्षितमतिः ३/१/२४
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः ३/३/८८
युतश्चतुर्विधेष्वेष ३/२/१५
युद्धकेलिसमुत्साहः ४/३/९
युद्धदानदयाधर्मैः ४/३/२
युद्धभूमादिना ४/९/९
युद्धोत्साहरतिस्तस्मिन् ४/३/१८
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यम् ३/४/८१
युधिष्ठिरादिको धीरैः २/१/२३५
युधिष्ठिरोऽम्बुधिः ४/३/६०
युवतीनां यथा १/२/१५३
यूयं नृलोके १/१/४३
ये कण्ठलग्नतुलसी० १/२/१२२
ये कुर्वन्ति सदा १/२/१८०
ये कृष्णभक्त० २/१/१२
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणाः ४/३/४५
ये तु नेच्छन्त्यपि १/२/३४
ये ध्यायन्ति १/२/३०८
येन कंसरिपुणाद्य २/१/१९६
येन जन्मसहस्राणि १/२/२३२
येन मूर्ख! जगदीश० २/४/२२७
येन बल्लव० ४/९/३४
येनाधितुण्डस्थल० २/२/१८
ये नायकप्रकरणे २/१/३४२
येनार्चितो हरिस्तेन १/१/२८
येनार्द्धं कपट० ४/३/५१
ये निर्वेदादयो भावाः २/५/८९
येऽन्योन्यतः १/२/८७

ये प्रोक्ताः पञ्च० २/१/२९९
ये बाहुमूलपरिचिह्नित० १/२/१२२
ये भक्तिप्रभविष्णुता० २/१/२८४
ये मुमुक्षां परित्यज्य ३/२/२६
ये मे भक्तजनाः १/२/२१८
ये वा ललाटफलके १/२/१२२
येषां गृहानावसतीति १/१/४३
येषां श्रीश० १/२/५८
येषां षोडश० २/१/१२५
येषां संस्मरणात् १/२/२१७
ये सत्यवाक्य० २/१/२७४
ये सर्वदा यदुपतेः ३/२/७५
ये स्युस्तुल्याः २/५/३०
यैकापहृत्य गोपीनाम् २/४/१६६
योगिनां गिरि० ३/१/३१
योगिनां नृप! १/२/२३०
योगीन्द्राः पुलक० ३/१/२०
योगे त्रयः स्युः ३/२/७१
योगेन दानधर्मेण १/२/२५२
योगे मृतिम् ३/३/१०३
योगे रसविशेषत्वम् २/५/१०८
योगोऽपि कथितः ३/२/१२९
यो जानाति समस्तार्थम् २/१/१८२
यो दुस्त्यजान् १/२/३१
यो दुस्त्यजान् दारसुतान् १/३/३१
योद्धुं बलेन ४/३/१५
यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा १/२/१२७
यो नो जुगोप २/१/१८३
यो भवेत् कोमलश्रद्धः १/२/१९
योऽश्नाति नित्यम् १/२/१६०
यौधिष्ठिरं पुरम् ३/२/१२३

र

रक्तकः पत्रकः ३/२/४१
रक्तकण्ठमनुयामि ३/२/४६
रक्तकस्तव पदाम्बुजं० ३/२/१२२
रक्तिमा लक्ष्यते २/३/५२
रक्ष कृष्णेति २/४/५५
रक्षां विष्णुस्वरूपाः २/१/१७९
रक्षिते व्रजकुले २/३/५०
रक्षी कृष्ण इति २/१/२६०
रक्षी लालक इत्याद्यैर् ३/२/१४८
रघुवर! यदभूस्त्वम् २/१/११३
रङ्गप्रसङ्गे सप्रेम० ३/२/१
रचयति निजवृत्तौ ३/३/१२२
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्० ३/४/१२
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र १/१/२८
रज्यन्मञ्जुलकण्ठगर्भ० ३/२/८६
रणोर्वरित० २/१/६८
रताः किल २/४/१५८
रतिं विनापि ४/४/१३
रतिः सैवात्र ३/४/५२
रतिः स्थितानुकार्येषु २/५/१०७
रतिगन्थिश्च ते २/४/२१७
रतित्वात् प्रथमैकैव २/५/७३
रतिद्वयविनाभूतैः २/३/९
रतिमिह पल्लविताम् ४/९/१९
रतिरनिश० १/३/६१
रतिरात्यन्तिकंस्थायी २/५/४६
रतिरानन्दरूपैव २/१/९
रतिरासो भवेत्तीव्रः १/२/२१५
रतिर्द्विधापि २/५/७६
रतिर्वासनया स्वाद्वी २/५/३८
रतिस्थायितया नाम० ३/२/२
रतेः कारणभूता ये २/५/८५
रतेरनुग्रहाज्जाता २/५/७१
रतेरस्या असम्पर्कादियम् २/५/२१
रतेरस्याः प्रभावोऽयम् २/५/९१
रतेरेव प्रभावोऽयम् २/५/९७
रतेर्भूम्ना क्रशिम्ना ४/४/१४
रतेश्छाया भवेत् १/३/४९
रतेस्तु तत्तदास्वाद० २/५/८७
रत्नजालस्फुरन्मध्यम् २/१/३७३
रत्नाकरश्च बडवानल० ३/२/११८
रत्नालङ्कारभारस्तव २/१/१४६
रत्नालयो भवत्येभिर् २/५/९५
रत्यन्तरस्य गन्धेन २/५/२५
रत्याक्रमणतः प्रोक्ता २/३/७

रत्याख्य इत्ययम् २/५/९२
रत्या चारुकृता २/५/४४
रत्या तु भाव १/३/१०
रत्यादेर्विषयत्वेन २/१/१६
रत्यानुगृह्यमाणोऽयम् २/५/५३
रत्याभासभवास्ते २/३/८३
रत्या सहाविनाभावात् ४/४/१४
रथस्थं ये निरीक्षन्ते १/२/१६८
रथाङ्गिना रत्न० ३/३/१४
रथात् तूर्णमवप्लुत्य ३/२/१३२
रथादवस्कन्द्य स २/१/३७८
रथेन सह गच्छन्ति १/२/१३१
रदानां रञ्जनम् २/१/३१७
रन्ध्रान् वेणोरधर० २/१/३१६
रभसादलिकाम्बरे २/५/६६
रभसाद् रथादव० २/१/१४०
रमयन्ति प्रियसखाः ३/३/३८
रमेशमाधुरीसाक्षात्० २/५/१११
रम्भे! समारम्भि ४/८/७०
रम्यपिङ्गपटमङ्ग० ३/२/४६
रम्या चोर्म्मिर्मधुरिम० २/१/३६०
रम्योरुरिन्दीवर० ३/३/१४
रविं विनाऽक्ष्णोरिव २/१/१६२
रविर्भवति शीतलः २/१/६८
रविशशिमण्डलमण्डित० ३/२/९
रसः सप्तविधः ४/१/२
रसः स्यान्नेति २/५/१०७
रसदः शारदाद्याश्च ३/२/४२
रसद्वयस्याप्यङ्गत्वम् २/४/२१३
रसस्य स्वप्रकाशत्वम् २/५/११२
रसा एव रसाभासाः ४/९/१
रसानां समवेतानाम् ४/८/४४
रसान्तरेण व्यवधौ ४/८/६८
रसाभासाश्च तेनात्र ४/१/३
रसामृताब्धेर्भागे २/१/२
रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये ३/१/२
रसामृताब्धेर्भागे तुरीये ४/१/२
रसालः सुविलासश्च ३/२/४१
रसाल! परिकल्पय ३/२/४४
रसावलिसमावेशः ४/८/८३
रसास्तदनुयायित्वादन्ये ४/८/४३
रसा हास्यादयः ४/९/३३
रसेनोत्कृष्यते १/२/५९
रसे प्रेयसि ३/३/१०२
रसेषु गहनास्वाद० २/५/१२२
रसोद्बोधे विभावादि० २/५/८६
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य ३/५/२
राक्षसीं निशि २/४/२३७
राग इत्युच्यते ३/२/१६८
रागः सप्तसु २/१/४९
रागडम्बरकरम्बित० २/२/७
रागद्वेषविमुक्तः २/१/१२०
रागद्वेषादिभिः २/४/१६८
रागबन्धेन केनापि १/२/२८१
रागात्मिकामनुसृता १/२/२७०
रागात्मिकायाः १/२/२९०
रागात्मिकैकनिष्ठा १/२/२९१
रागानुगाङ्गताऽस्य १/२/१९३
रागानुगाविवेकार्थम् १/२/२७१
रागानुगाश्रितानान्तु १/४/१४
रागाभावो दृगादीनाम् ४/३/२४
रागाविर्भवदुद्धुर० ४/१/११
राजदेवावतारादि० ३/३/५७
राजन् पतिर्गुरुरलम् १/१/३७
राजसूयसदसि २/१/११९
राज्ञः पुत्री बत २/४/७७
राज्ञामगाधगतिभिः २/१/१३३
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य २/४/१२
राधा पुनातु २/४/८१
राधापेयान् १/१/१
राधामाधवयोरेव ३/५/२१
राधामाधाय हृदये ३/५/१०
राधामुरवैरिणोः २/५/३७
राधायाः स्मित० ३/५/१४
राधायास्तदपि ३/५/२३
राधा लाघवमप्यसादर० ३/५/९
राधावगुण्ठितमुखी २/४/२२३
राधा शान्तिरिवोन्निद्रम् ४/८/६९

राधासन्देशवृन्दम् ३/३/४४
राधिकाद्य दृषदाम् २/२/७
राधिका मणिसरम् २/५/६५
रामाणां शतमपि ४/८/३८
रासारम्भरसार्थिनः २/१/३४४
रिपुरपि यदि २/१/१२२
रिपोः सुतानामपि २/१/१२१
रिरंसां सुष्ठु १/२/३०३
रुक्मिणीकुचकाश्मीर० ४/८/७६
रुक्मिणीनन्दनस्तेषु ३/२/१५२
रुक्षोऽयं रतिशून्यत्वाद् २/३/१४
रुचिभिश्चित्तमासृण्य० १/३/१
रुचिमुद्वहतस्तत्र १/२/२५४
रुचिरस्तेजसा २/१/२३
रुदन्ति मथुरापते! ३/३/१२५
रुदितमनुनिशम्य २/५/६१
रुद्रतार्क्ष्योद्धवादीनाम् ३/४/८३
रुद्रौघः कालजीर्णे २/१/१७९
रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृति० २/१/२१४
रुरुदुरनुपलभ्य २/५/६१
रुषा ज्वलितबुद्धिना ३/२/८३
रूपं प्रसिद्धमेवैषाम् ३/२/१९
रूपं स्फटिकवद् २/५/१३
रूपवेषगुणाद्यैस्तु ३/३/८
रेखामयम् २/१/५०
रेजेऽश्रुविस्रावि० २/३/५६
रे श्रीदामकुरङ्ग! २/१/२४०
रैवते नवमवेक्ष्य ३/२/१२५
रोगाणामभिवन्दिता १/२/२०३
रोदनबिन्दुमरन्द० १/३/३८
रोपिता सेविता १/२/२०४
रोमाञ्चं सांयुगीनाः ४/८/८४
रोमाञ्च-कञ्चुक० ४/८/३३
रोमाञ्चकम्प० २/३/१९
रोमाञ्चस्वेद० ३/१/३०
रोमाञ्चिताङ्गश्च ४/९/३५
रोमाञ्चोऽयम् २/३/३२
रोमावलिप्रकटता० २/१/३१३
रोम्णामभ्युद्गम० २/३/३२
रोषस्तु दयिते ४/५/२६
रोषे तु रक्तिमा २/३/५१
रोहिणी ताश्च ३/४/१०
रौद्रस्य करुणः ४/८/१२

ल

लकुटकरः शेखरी ३/३/२६
लक्षणं क्रियते १/१/१०
लक्ष्मणा क्षणमवर्तत २/४/१०९
लक्ष्मीं पश्यन् मुरदमन! २/१/१७२
लक्ष्मीकेलिगृहम् २/४/२४६
लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्ग० ४/३/३९
लक्ष्मीराधुनिकी ३/३/६३
लगुडालगुडिक्रीडा० ३/३/८६
लग्नस्ते नितराम् ४/१/२३
लघुरघहर! कीटाद् ३/२/१०३
लघुरहमिति० ४/६/५
लघु लघु परिगुञ्जन्० ३/४/३५
लघुवेत्रकरत्वादि ३/४/३१
लघुभूतं सद्यः ३/३/१२१
लतापशुपुलिन्दीषु ४/९/१८
लब्धकृष्णरतेरेव ४/७/१२
लब्धस्तम्भा सम्भ्रमारम्भ० ३/३/९७
लब्धेनाञ्चितमम्बरेण ३/२/३६
लभन्ते रतिशून्यत्वान्न २/५/४७
लभे चेतःक्षोभम् ४/७/१०
ललितयोदमिमीलद् २/४/१८३
ललितौदार्यमित्येते २/१/२५२
लवनिमिषार्द्धमपि १/२/१९०
लसच्छ्रीवत्साङ्कः २/५/५६
लसत्यनलसं क्वचित् ३/२/१११
लालकत्वादिनाप्यत्र ३/४/८
लालनोत्कमभितः ३/४/९
लालाफेनकदम्ब० २/४/८८
लालास्रवोऽट्टहासश्च २/२/२
लाल्याः किल ३/२/१४९
लाल्यानान्तु स्वसम्बन्ध० ३/२/१५५
लाल्याभिमानिनाम् ३/२/१४५
लावण्यधाम्नो भवितोप० ३/२/९८

लास्यं दासा: ४/८/८४
लीलया मयि लब्धे ३/१/३६
लीलाकथास्तव १/२/१४७
लीला प्रेम्णा २/१/४३
लीलावलोकप्रति० २/३/२२
लीलविशेषशलित्वाद् २/१/२३९
लुठति धरणिपृष्ठे २/४/९१
लुठन्ति भुवि ३/३/१२५
लुब्धैर्वात्सल्य० १/२/३०६
लेलिह्यमानं वदनैर् २/४/२१४
लोकं पुनाना: १/१/४३
लोकोत्तरक्रियाहेतु ४/२/२
लोकोत्तरचमत्कार० १/३/५८
लोकोत्तरार्थवीक्षादेर् २/५/५५
लोलता मदमात्सर्ये २/१/२४७
लोलाक्षिभ्रमरततिः २/१/५४
लोलाक्षी दधिकलसम् २/४/२७
लोहमयी नूनम् २/१/१६८
लोहितायति निशम्य २/४/२३३
लोहितायति मार्त्तण्डे २/४/१७२
लौकिकी वैदिकी १/२/२००

व
वंशी-ध्वनिर्जयति २/१/३६४
वंशीन्यस्ताधर० १/२/२३९
वंशीपूरेण कालिन्द्या: २/४/१७०
वंशीमधुरिमा वस्त्र० २/१/३१५
वंशीरवेण सखि! ३/५/२०
वक्त्रं कंसस्य २/३/९३
वक्त्रं चित्रविमुग्ध० ३/२/१३१
वक्त्रञ्च नोन्नमयति ३/२/१६९
वक्षसि निक्षिप्ताङ्गी २/४/१७५
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः ३/१/४
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिम् ४/१/६, ४/६/१
वचनंपटिमभङ्गी २/१/२३४
वचांसि वैकुण्ठ० १/२/२६६
वत्सपालपटले २/१/१८
वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे ३/४/३२
वत्सलस्य सुहृद्० ४/८/६
वत्सस्य हन्त ३/४/६०
वत्सानवति ४/८/२९
वत्साश्चेति वदन् ४/२/१०
वत्सैर्वत्सतरीभिश्च ३/३/१२९
वद किमपदमागस्तस्य २/१/११३
वदत्यजनि दूतिका २/५/५८
वदनकमलं पुत्रस्य ३/४/६६
वदनञ्च त्रपया २/४/११५
वदनदमितराका० ३/५/८
वदान्य: को भवेदत्र २/१/२७०
वदान्यस्तेजसा युक्त: ३/२/१४
वदान्यो धार्मिक: २/१/२६
वधबन्धशिर:कम्प० २/४/१५५
वनभुवि शबलाङ्गी २/४/१८४
वनभ्रमणकेलिभिर् ३/३/२७
वनमालारचनोचितान्यरण्ये ३/३/११४
वनस्रगामोद० २/२/६
वनाद् वंशीध्वाने २/३/७४
वनितावेशो हरिश्चरति २/१/२१
वन्दते पादयोर्द्वन्द्वम् ३/२/१७८
वन्दे कुड्मलिताञ्जलिर् ४/३/५१
वन्दे चैतन्यदेवस्य १/१/२
वन्दे तमद्य २/१/१३३
वन्देतरामघहरस्य ३/३/९
वन्ध्या दृशां दश० ३/२/७५
वन्यरत्नाद्यलङ्कारैर् ३/३/९५
वपुरतिपरुषम् ४/६/८
वपुरादिषु योऽपि १/२/१९६
वपुरुत्फुल्लता० २/२/२१
वपुर्विमर्देन खलाश्च २/१/१५५
वय: कौमार० २/१/३०८, ३/३/५८
वय: सौन्द्रर्यरूपाणि २/१/३०४
वयमपि ते १/२/२८२
वयसो विविधत्वे २/१/६३
वयस्तुल्या: ३/३/३६
वयस्यगोष्ठ्याम् ३/३/४७
वरं देव देहीश! १/२/४४
वरं हुतवहज्वाला १/२/१११
वराक्षि! हरिरित्यसौ २/२/२०

वराङ्गीभिः साङ्गीकृत० २/१/१४७
वरापि यदयोग्यया २/४/१६२
वरामध्यासीन० २/१/२५८
वरावरतया प्रोक्ताः २/४/२०६
वरीयानीश्वरश्चेति २/१/२९
वरीयान् बलवान् ३/२/१५
वरूथप! विलम्बि ३/३/३२
वैरगुरुभिर्जलम् ३/२/४४
वर्णस्योज्ज्वलता कापि २/१/३१३
वर्णाः कर्णाध्वनि १/२/२४०
वर्षत्युच्छ्वसितेषु ३/३/११२
वर्षन्त्यष्टौ किमपि २/१/१७२
वशी जितेन्द्रियः २/१/१०५
वष्टि षष्टिमपि ३/२/१२२
वसन्तकुसुमैश्चित्रम् २/४/११७
वसन्नेष क्लिन्नो जड० ४/७/१०
वसानः कौपीनम् ३/१/१६
वस्तुतः स्वयमास्वाद० १/३/५
वस्तुतस्तु तथा १/२/१०२
वस्तुतस्तु पुराणादौ २/५/११७
वस्त्रगूढमणिरेष २/५/६९
वहति स्पर्शमहोत्सवम् ३/४/५१
वहमानेष्वपि सदा २/४/२३१
वह्निः पश्य शिखण्ड० २/४/६८
वह्नौ क्षिपत्यविरतं० ३/४/३९
वागङ्गसत्त्वसूच्या २/४/२
वागारम्भे स्मित० २/१/२५६
वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा १/३/२९
वाचः शैशवशीतलाः ३/२/१३१
वाचः सगद्गदपदाः ३/५/१५
वाचा सूचितशर्वरी० २/१/२३१
वाञ्छन्ति यत्पाद० १/२/३९
वाञ्छन्ति ये १/२/३७
वाच्छन्त्यपि मया १/२/४१
वाञ्छिताधिकदातृत्वम् ४/३/२७
वाडवोऽपि किल ३/२/८९
वातजेऽप्यङ्गावृति० २/४/६१
वातव्राते करीष० २/४/६९
वाताध्वरोमविवरस्य २/१/२००
वात्सल्यगन्धिसख्यस्तु ३/३/२२
वामस्तामरसाक्षस्य २/२/६२
वामा वक्रिमचक्रेण ३/३/५५
वामे पाणौ मसृण० ३/३/६०
वारं वारमखर्वलोचन० ३/३/१२७
वाराणसीनिवासी २/३/८५
वारि वारिदनिभे २/५/७०
वावदूकः सुपाण्डित्यः २/१/२४
वासं ब्रूहि शठ! २/१/८३
वासः कुत्रचिदन्धकूप० २/१/२३७
वासः पिङ्गम् ३/३/४१
वासः सम्प्रति २/१/८३
वासुदेवे भगवति १/३/२१
विकटासुरमण्डलान्त्र २/१/१६५
विकत्थनश्च विद्वद्भिः २/१/२३६
विकर्म यच्चोत्पतितम् १/२/७१
विकस्वरमुखाम्बुजम् ४/१/१७
विकारं न स्फारम् २/४/२७०
विकिर प्रभो! ४/९/८
विक्रान्तं किमुत ३/३/७५
विक्रीडत्यसकृद्० ३/२/३७
विक्रीणीते स्वमात्मानम् २/१/१४९
विक्रीते करिणि २/४/११४
विक्लिद्यदन्तरात्मानः १/३/१८
विखण्डिताशेष० २/१/३६२
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्या० ३/५/३०
विघ्नस्थगित० १/३/५७
विचलदलकभृङ्ग० ३/४/३
विचलदलकरुद्ध० ३/४/२६
विचिक्युरुन्मत्तकवद् २/४/८३
विजयरथकुटुम्बिना ३/२/१२१
विजयिनमजितम् ४/८/७३
विजयो बलभद्राद्याः ३/३/२३
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च १/२/८६
विज्ञातार्थास्तदनुभवतः ३/२/२२
विज्ञानसुषमाधौते ४/९/५
विज्ञाय तावुत्तमगाय० २/१/३८२
विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः २/३/४
विज्ञेयोऽपरसत्त्वस्य ४/९/३२

विडम्बयन्नपि २/१/५७
वितर्कमतिनिर्वेद० २/४/२०४
वितर्कयसि माम् ४/८/२७
वितर्कावेशह्रीजाड्य० ३/२/७०
वितर्कौत्सुक्यहर्षाद्याः ४/३/२८
वितायमानैर्भवता २/१/१२८
वित्रासामर्षहर्षाद्यैः २/३/४३
विदग्धश्चतुरो दक्षः २/१/२५
विदग्धो नवतारुण्यः २/१/२३०
विदग्धो बुद्धिमान् ३/३/७
विदधति परिचर्याम् ३/२/४०
विदिताकृतिराकुलः २/३/३०
विदूरत्वादुत्तमता० १/२/५४९
विदूरान्माराग्निम् २/१/३२६
विद्धधीरधिक० २/४/१०९
विद्धाविधेयम् २/४/६७
विद्या नाम वधू० २/१/७७
विद्याशक्तिप्रधानत्वम् ३/१/१९
विद्येयं मम २/४/२४६
विद्वानखिल० २/१/७५
विद्वान्नीतिज्ञ इत्येष २/१/७५
विधत्ते राधायाः २/१/२६८
विधत्स्व कर्णा० १/२/३०
विधाय कंसारि० २/१/९६
विधूतविधुरबुद्धि० ३/२/११५
विधुराङ्गे परिखिन्न० ३/२/१२०
विधुरितं विधुमत्र २/४/१८
विधुरितमुखी २/४/१३८
विधुरितवदना २/४/२४८
विधूनितवधूधृतिम् २/१/३२९
विनयं विशेषयति २/१/१४०
विनयमधुरमूर्त्तिः २/१/२३४
विनयादिगुणोपेतः २/१/२३३
विना भवदनुस्मृतिम् ३/३/१२५
विनायकानीकपमूर्द्धसु २/४/४६
विनिन्द्य कृतबन्धनोऽपि ३/२/८३
विनिर्णयान्त एवायम् २/४/१३५
विनिहितनयनेयम् ३/४/७६
विनोदनर्मविक्रान्ति० ३/३/५७
विनोपायैरुपेयाभूद् १/३/२०
विन्दन् विद्यादीपिकाम् २/४/१८१
विन्ध्यावलिनन्दनस्य २/१/२६२
विन्यस्त-श्रुति-पालिरद्य ३/४/५५
विन्यस्य मञ्जु० ४/८/३३
विन्यस्यापससार ४/८/३०
विपक्षादिषु २/५/४७
विपक्षे वृत्ति०: २/४/२२५
विपर्ययस्तु दोषः १/२/६५
विपुलपुलको धन्यः ३/३/९९
विपुलप्रतिभो दक्षः ३/३/७
विप्रलम्भे ततः २/५/७८
विप्रलम्भो बहुविधः ३/५/२५
विप्राणां नस्तथा २/४/१०५
विभावतादीनानीय २/५/९४
विभावत्वादिहेतुत्वम् २/५/९६
विभावनादिवैचित्र्याद् ४/१/१५
विभावनादिवैशिष्ट्याद् ४/१/७
विभावनादिवैशिष्ट्यादभक्तानाम् २/४/२५६
विभावनाद्यवस्थां तु २/१/११
विभावयन्ति कुर्वन्तीत्युक्ताः २/५/८७
विभावश्चानुभावश्च २/४/१९७
विभावस्य भ्रुकुट्याद्याः ४/६/९
विभावस्यैव वैरूप्यम् ४/९/१३
विभावा अनुभावाश्च २/१/१३
विंभावाद्यैस्तु वात्सल्यम् ३/४/१
विभावैरनुभावैश्च २/१/५
विभावोत्कर्षजः २/५/३९
विभावो नाम २/१/१५
विभाव्यते हि २/१/१५
विभुरपि भुज० २/१/१९८
विभुरित्यादिगुणवान् ३/१/१०
विभूषणं विभूष्यम् २/१/३३८
विमर्शात् संशयादेश्च २/४/१३२
विमुक्तसम्भ्रमा या ३/३/१०५
विमुक्ताखिलतर्षैर् १/३/४२
विमुञ्च पृथुवेपथुम् ३/२/१७१
विमृज्य मयि ३/२/१७१

विमोचयार्गलाबन्धम् ४/८/७५
वियोगे त्वद्भुतानन्द० २/५/१०९
वियोगे सम्भ्रमप्रीतेर् ३/२/११६
वियोगो लब्ध० ३/२/११४
विरक्तिरिन्द्रियार्थानाम् १/३/३०
विरचयति मदीशे २/४/१५६
विरमदलघुकण्ठोद्घोष० २/४/१०१
विरम विरम ४/६/८
विरमितरणरङ्गः ३/३/८९
विरहज्वरसंज्वरेण ३/३/१२४
विरहनिरुद्धमनाः ३/२/११५
विरहाद्यैश्च तन्मोहात् २/४/१०७
विरहान्मुरविद्विषश्चिरम् ३/२/१२०
विरागाद्याश्च ये ३/२/६३
विराजति शरीरिणी २/१/३१८
विराजन्तीमभिव्यक्तम् १/२/२७०
विराजन्ते यस्य ४/४/११
विरावपरिवर्जितास्तव ३/३/१२३
विरुद्धैर्दुःशकग्लानिः २/५/४
विरुध्यते न हि २/१/२२५
विलज्जतीनां भृगुवर्य! २/४/१२३
विलसन्तमवेक्ष्य २/४/२४०
विलाप-पात-निःश्वास० २/५/६०
विलाप-श्वास-वैवर्ण्य० २/४/१५
विलापोत्ताप-कृशता २/४/१३६
विलासहासेक्षित० १/२/२४
विलुठदमलहारः ३/४/३६
विलोक्य रङ्गस्थल० ३/४/७३
विलोक्य वैलक्ष्यवती २/३/३३
विलोक्य श्याममम्भोदम् २/४/१३०
विलोचनचमत्कृतिः ३/१/३९
विलोचनरसच्छटा० ३/२/१०१
विलोचनसुधाम्बुधेस्तव ३/२/१०१
विलोचनाभीष्ट० ३/४/७३
विवर्णगात्रताश्वास० २/४/९९
विवर्णवपुषः क्षणाद् ३/३/१००
विविधाद्भुत० २/१/२४
विविधाद्भुतभाषावित् २/१/६५
विविधाद्भुतभाषाविद् वावदूकः ३/३/६
विविधानान्तु भक्तानाम् २/४/२५७
विवृण्वन्तः काये २/४/१००
विवृद्धतृष्णा ललिताख्य० २/२/१३
विवेकहर उल्लासः २/४/३५
विवेकादीन्यतोऽमीषाम् १/२/२६०
विवेकोत्था तु ४/७/७
विवेको निर्णयश्चेमौ २/४/१९५
विशारदायामपि ३/३/४७
विशाल! विसिनीदलैः ३/३/३२
विशाल-वृषभौजस्वि० ३/३/३०
विशीर्यन्त्याः सौरी० २/४/१८५
विशुद्धस्य हृषीकेश० १/२/११७
विशुद्धिः स्यादनन्तस्य १/२/१६४
विशृण्वतो मेऽनुसवम् १/३/११
विशेषणत्वमेवैषाम् १/२/२६०
विशेषतः पाद० १/२/१६०
विशेषणाभिमुख्येन २/४/१
विश्रम्भसम्भृतात्मानः ३/३/८
विश्रम्भसारनिकुरम्ब० ३/३/९
विश्रम्भेण गुरोः १/२/७४
विश्रम्भो गाढ० ३/३/१०६
विश्रान्तषोडशकला० ४/८/६८
विश्राममन्दिर० १/१/३
विश्वमेव मुदितम् ३/३/१२६
विश्वरूपधरमद्भुताकृतिम् २/३/३६
विश्वस्ताः प्रभुता० ३/२/१६
विश्वस्य प्रकृतिम् ४/६/४
विश्वासो मित्रवृत्तिश्च १/२/१८८
विश्वेषामनुरञ्जनेन ३/५/५
विषमगतिमवस्थाम् ४/४/९
विषमत्वं परापेक्षा २/१/२४८
विषमपि सहसा ३/२/१७२
विषमिव तान्तु ३/२/१७२
विषयादिक्षयिष्णुत्वम् ३/१/२२
विषयाश्रयभेदे च ४/८/६४
विषयाश्रयभेदेऽपि ४/८/७४
विषयेषु गरिष्ठोऽपि १/२/२५४

विषाणिकानाद० २/१/३७४
विषाणि कामम् २/१/३७४
विषादचापलावेग० ४/७/५
विषाददीनतामोह० २/५/७६
विषादमोहापस्मार० ४/६/११
विषादरोषभीत्यादेर् २/३/४७
विषादविस्मयामर्ष० २/३/३७
विषादव्याधिसन्त्रास० २/४/९९
विषादादेश्च तत्र २/४/९२
विषादे श्वेतिमा २/३/५१
विषादोत्सुकतावेग० ३/१/३३
विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् १/२/१३५
विष्णुनैव समाः १/२/१३१
विष्णुर्नित्यमुपास्यते ३/४/७
विष्णुर्महान् स २/१/२५०
विष्णुलोकस्थिता १/२/१०४
विसृजति तदसम्मतिर्यदि ३/२/१७२
विस्तारस्त्रिषु २/१/४९
विस्तीर्योत्तरलित० २/४/३३
विस्तृतकुमुदवने २/२/१२
विस्फूर्जन्नघदमनेन २/५/५९
विस्फूर्जितं दिशि २/४/५७
विस्मयं माधुरीभिर्यः २/१/१८४
विस्मयस्तिमित० २/१/१८
विस्मापनं स्वस्य २/१/२१५
विस्मारयति समस्तम् ३/५/१२
विहरणसचिवत्वाद् ३/२/८८
विहरति वने ३/५/३०
विहससि कथम् २/३/४६
विहसितावहसिते ४/१/१४
विहाय विषयौन्मुख्यम् २/५/१७
वीक्ष्य कंससहजान् २/३/४९
वीक्ष्य द्रवच्चित्त० ३/२/८५
वीरम्मन्यमदप्रहारि० २/१/२२७
वीरस्य त्वद्भुतः ४/८/१०
वीरेऽद्भुते च २/५/१२१
वीर्याणि लीला० ३/२/१४३
वृता महासिद्धयः २/१/१९३
वृत्तयो नाट्य० ४/९/४२
वृत्तस्तत्त्वादिवीतैरथ २/१/१९५
वृत्तासि व्रजराज्ञि! ३/४/५८
वृथा गतो बत ३/१/३४
वृथैव धिक् ४/५/१०
वृद्धाः शिशुमुखाः ४/१/७
वृद्धिं प्रेमा ततः ३/२/७८
वृद्धिं यथोत्तरम् २/३/६३
वृद्धे त्वं वलिताननासि ४/१/२७
वृन्दानि चेति २/१/१७३
वृन्दारण्यं स्वपदरमणम् २/१/३१६
वृन्दारण्ये समन्तात् ३/३/६६
वृन्दारण्योत्सव! ३/२/२२
वृन्दावनान्तरगतः ३/३/१२९
वृन्दावने तु १/२/१६६
वृन्दावनेन्द्र! भवतः २/४/४७
वृन्दावने वराभिः २/१/११५
वृन्दावने व्रजधनम् २/१/१७३
वृन्दावने शीर्यति २/४/९
वृषभस्य वृषार्कजा ३/३/११४
वृषभस्येव गम्भीरा २/१/२५५
वृष्टिजो धावनच्छत्र० २/४/६२
वृष्णीनां परदेवतेति २/१/२६४
वेणुं वादयते २/१/८५
वेणी नितम्ब० ३/३/७२
वेदानुद्धरते २/१/२०३
वेदान्ततन्त्रे ४/९/३५
वेदाहं रुक्मिणा ३/५/२८
वेलेव वृष्णितिलक! २/४/८७
वेषः केशव! पेशलः ३/३/७५
वैकुण्ठनाथकरुणामपि २/४/४७
वैक्लव्यबाष्पकलया २/१/२८३
वैजयन्ती शिखण्डादि० २/१/३१५
वैणवध्वनिभिरुद्भ्रमद्भियः २/२/११
वैणवीं ध्वनिधुरामविदूरे २/४/२३३
वैदग्धीसारविस्तारः २/१/३२४
वैदग्ध्यौज्ज्वल्य० ४/९/१८
वैधभक्त्यधिकारी १/२/२९३

वैधरागानुग० १/३/७
वैधी भक्तिरियम् १/२/२६९
वैधी रागानुगा १/२/५
वैरी न चेद् भवति २/४/१६५
वैरी शुचिर्युद्ध० ४/८/४
वैरी हास्योऽस्य ४/८/११
वैरूप्यन्तु विभावादेर् २/५/१००
वैरूप्यमनुभावादेर् ४/९/२५
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः २/३/१६
वैशिष्ट्यं पात्र० २/५/७
वैष्णवत्वाद् रतिः ४/३/५३
वैष्णवानि तु शास्त्राणि १/२/२०७-८
वैष्णवेन सदा ते १/२/११८
वैस्वर्यं स्वरभेदः २/३/३७
वैस्वर्यस्य तु २/३/६६
व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते १/३/४१
व्यक्तालक्तपदैः क्वचित् २/१/३२५
व्यक्तीकृतास्ति १/४/२०
व्यतरदमलचेताः ४/३/३२
व्यतिरेकतयामीषाम् १/२/८२
व्यतीत्य भावनावर्त्म २/५/१३२
व्यत्यस्तगतिकम्पाक्षि० २/४/६१
व्यथित कथम् २/१/२०८
व्यभिचार्यभिधा २/१/४
व्यर्थीकृताः कंस० २/१/१२४
व्यर्थेन किं हन्त २/४/२०९
व्यलुनादेव मुकुन्दः २/१/२६२
व्यवसायादचलनम् २/१/२६१
व्यवहारेऽप्यकार्पण्यम् १/२/८०
व्यवहारेषु सर्वेषु १/२/७६
व्याकुलत्वन्तु २/३/६७
व्याजिहीर्षतु ४/८/५७
व्याधुन्वानो द्विप इव २/१/२५६
व्यापारेषु विवेचन० २/४/१४२
व्यामोहाय चराचरस्य २/४/१४२
व्रजनिजवळभी० ३/३/८२
व्रजन्त्या दृष्टो यो नव० ३/५/२७
व्रजपतिदयितासीत् ३/४/३
व्रजपतिनन्दन० ३/२/४३
व्रजपतिरिति ब्रूते ३/४/७०
व्रजपतिरिह सूनोर्जातकार्थम् ४/३/३२
व्रजपतिसुतमग्रे २/४/४०
व्रजभुवि तथा ३/२/१२६
व्रजभुवि मम ३/४/३५
व्रजभुवि विहरन्तम् ३/४/३
व्रजमभि परितस्ते ३/२/१२७
व्रजयुवतिषु शौरिः २/१/६६
व्रजयुवराजतया ३/२/४७
व्रजराजं वरकूर्चम् ३/४/१५
व्रजराज्ञि! रथात् २/३/३८
व्रजशिशवः २/४/२४८
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनु० २/३/२२
व्रजस्थानां परैश्वर्य० ३/२/१५६
व्रजस्य हासोद्गम० ४/८/६७
व्रजाङ्गने सा २/२/६
व्रजाजिरान्तर्व्रजराज० २/४/३२
व्रजादघहरो हरत्यहह ३/३/४
व्रजानुगे रसालादौ २/५/२५
व्रजानुगेषु सर्वेषु ३/२/४५
व्रजानुगेष्वनेकेषु ३/२/९१
व्रजाम्बुजदृशोऽभजन् २/४/९४
व्रजेन्द्रगृहिणी मुहुर् २/४/८२
व्रजेन्द्रनन्दने सुष्ठु २/१/२४९
व्रजेन्द्रसुबलादीनाम् १/२/३०६
व्रजेशगृहिणी सुतम् ३/४/२४
व्रजेश्वरसुतेन ४/५/६
व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ ३/४/११
व्रीडाकुञ्चितलोचनाम् २/१/२३१
व्रीडावलोकनिहतः २/१/१०६

श

शंसन् धूर्जटि० ३/२/३४
शक्तः किंनाम २/४/२४५
शक्ता बभूव न २/१/३३९
शक्तास्मि मानमवितुम् ३/३/४९
शक्तिं न क्षिप ३/३/२४
शक्तिरस्ति विभावादेः २/५/१०३
शक्तो न हरिर्विधिना २/१/११५
शक्याः कृच्छ्रेण २/३/७३
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः २/१/२१३

शङ्करस्य दिवि २/२/११
शङ्का तु प्रवर० २/४/५३
शङ्कात्रासावेगा: २/४/४
शङ्कापङ्कलवम् ३/२/३४
शङ्के चिरं केशव: २/२/१८
शङ्के नीता: १/२/२४०
शङ्के पूतनिकादय: ३/४/७
शङ्के प्रेमभुजङ्गेन २/२/१६
शङ्खचक्राङ्किततनु: १/२/२१६
शङ्खचूडमधिरूढ० २/३/४४
शचीगृहकुरङ्ग रे! २/४/३६
शठेन केनापि ३/१/४४
शतमखमणिस्तम्भारम्भ० २/१/३२८
शत्रुः शुचिर्युद्धवीर: ४/८/६
शत्रुः शुचिस्तथा ४/८/१४
शनैरथोत्थाय २/३/३९
शपमानाय न २/१/११२
शबलत्वं तु २/४/२४४
शब्दार्थरसवैचित्री २/४/२४९
शमप्रकृतिक: क्लेश० २/१/२३३
शमस्य निर्विकारत्वाद् ३/१/४६
शमो दमस्तप: २/१/३३
शमो मन्निष्ठता ३/१/४७
शम्भुर्वृषं नयति २/१/३४५
शम्बर: सुमुखि! ३/२/१७४
शयीमहि महीपृष्ठे २/४/१४५
शय्यासनैकप्रियता २/४/१०४
शरज्ज्योत्स्नातुल्य: २/१/९९
शरणद समुपेत: २/४/२२
शरणमभूत् कन्दरा० २/१/१५७
शरण्या: कालिय० ३/२/२३
शरस्तप्तायस: प्रभो! २/४/२३
शरालिरिव शाणिता २/१/३१८
शरीरेन्द्रियवर्गस्य २/४/२५१
शर्माणि चित्ते २/४/५०
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य २/१/१८३
शान्तत्वेनायमेवाद्धा ३/२/२
शान्तमेव रसम् ३/१/५०
शान्तस्य प्रीत० ४/८/२
शान्तस्याश्रय० ४/८/७७
शान्ता: स्यु: ३/१/११
शान्ताख्य: भावचन्द्रस्य ३/१/१७
शान्तादयो रसा: ४/९/३
शान्तो द्विधैष ३/१/३८
शान्ताख्याया रते: ३/१/४६
शाब्दे परे च १/२/९७
शालीनत्वेन सङ्कोचम् २/१/१४१
शावा: स्नुतस्तनपय:कवला: २/४/१०८
शासनेनैव शास्त्रस्य १/२/२६
शास्ति स्वस्तिधुरन्धर: २/१/७८
शास्त्रत: श्रूयते १/२/६७
शास्त्रमत्र समाख्यातम् १/२/२०६
शास्त्रादीनां विचारोत्थम् २/४/१४०
शास्त्रानुसारिकर्म्मा २/१/१००
शास्त्रे युक्तौ च १/२/१७
शास्त्रोक्तया प्रबलया १/२/२६९
शिखण्डकृतशेखर: ३/२/८
शिखण्डकृतशेखर: फणपटीम् ३/४/३३
शिम्बीलम्बिकुचासि ४/१/२९
शिर: कृष्ण! ४/८/५६
शिरश्च काकपक्षाढ्यम् ३/४/२९
शिरसि कुलिशम् ३/४/६६
शिरसि-नृपति ३/३/१२
शिरसि पृथूनि २/४/१५७
शिरो वेदाङ्गुलम् २/१/३६९
शिरो हृषीकेश० १/२/२६८
शिवं भूयात् ४/८/७९
शिव शिव परमात्मन: ४/८/२१
शिव शिव मुरली ३/५/१२
शिवे शिवायाम् २/१/२६२
शिशुं रुचिर० ३/४/२४
शिशुपालं समरे ४/८/३९
शिशुरकुतश्चिद्भीतिर् २/४/२३९
शिशो: श्यामस्य २/३/२५
शिश्रिये विकट० २/३/३६
शिष्याद्यनुबन्धित्वम् १/२/७८

शीताः स्युर्गीत० २/२/३
शीतैर्भावैर्बलिष्ठैस्तु २/५/७८
शीलेन निर्मलमतिः २/१/१३८
शुकमुखादमृतद्रव० १/२/२२६
शुचित्वौज्ज्वल्य० ४/९/२४
शुचेः सम्बन्ध० ४/८/६०
शुचेर्हास्यस्तथा ४/८/७
शुण्डाकारं प्रेक्ष्य ४/३/२०
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा १/३/१
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रति० २/५/३
शुद्धान्तश्च स्फुरति २/१/१७२
शुद्धान्तान्मिलितम् ३/२/९२
शुद्धा प्रीतिस्तथा २/५/६
शुद्धिन्यासादि० १/३/१३७
शुभानि प्रीणनम् १/१/२७
शुभ्रं दृष्ट्वा क्षिपति २/१/१६०
शुभ्रभावमभितः २/१/१५९
शुष्यति स्म सरसि २/४/२९
शुष्यदास्यजलजा ४/६/७
शून्येन्द्रियत्वम् २/४/९२
शून्योद्याने नयति ३/२/३०
शृङ्गं केलिरणारम्भे २/३/३५
शृङ्गं तु गवलम् २/१/३७३
शृङ्गाणि लङ्घयति ४/६/६
शृङ्गारः सखि! ३/५/५
शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः २/१/१७३
शृङ्गारप्रचुरा चेष्टा २/१/२६७
शृङ्गारस्य विभावत्वम् ४/९/२४
शृङ्गारादिरसोद्भेदः ४/१/३०
शृणु रसद! सदा ३/२/४७
शृणु हितमभितः २/४/५१
शृण्वती तुरग० ४/६/७
शृण्वत्यश्रूण्यवास्राक्षीत् ३/४/६२
शोकस्त्विष्टवियोगाद्यैः २/५/६०
शोकामर्षादिभिः १/२/११५
शोचन्त्यद्य यथा ३/३/१२७
शोभा विलासः २/१/२५२
शौनकप्रमुखास्ते ३/२/२६
शौरिणा सदसि २/५/६९
श्यामश्यामरुचि० ३/४/१३
श्यामाकन्दर्पलेखम् ३/३/४४
श्यामाकृतिः स्फुरति ३/१/८
श्यामाङ्गद्युतिरद्य २/१/३५८
श्यामाङ्गो रुचिरः ३/४/४
श्यामोऽयमामोदभरः २/१/१८८
श्रद्धया मोदमानस्तु १/२/१६९
श्रद्धामात्रस्य १/२/१९१
श्रद्धारज्यन्मतिरतितराम् २/१/१०३
श्रद्धा रतिर्भक्ति० १/३/१२
श्रद्धा विशेषतः १/२/९०
श्रवणं नामचरित० १/२/१७०
श्रवणकुहरकण्डूम् २/४/१५३
श्रवणयोरलमश्रवणिर्मम २/४/१०
श्रवणोत्कीर्तनादीनि १/२/२९६
श्रावं श्रावं तव ३/२/२२
श्रियमविशङ्कमलङ्कुरु २/४/५१
श्रीकृष्णगाथां गायन्ती १/४/८
श्रीकृष्णचरणाम्भोज० १/२/२५
श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैः १/२/१५८
श्रीदामदोर्विलसितेन २/५/३२
श्रीदामभूसुराद्याश्च ३/३/११
श्रीदाममूर्त्तिर्वरशुक्तिः ३/३/९८
श्रीदामा गणयति ४/८/३८
श्रीदामा च सुदामा ३/३/३८
श्रीदामानं दामभाजम् ३/३/४१
श्रीदामा परिकर० २/५/५९
श्रीदामाऽयं द्राक् ३/३/९७
श्रीदामा रमणीय० ३/३/७९
श्रीदामाहं कृष्ण० ४/३/२०
श्रीदाम्नः किल ४/८/४०
श्रीदाम्नः पृथुलाम् ३/३/३५
श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्च ४/३/७
श्रीदाम्नो योद्धुकामस्य २/३/३५
श्रीधरस्वामिभिः ३/२/१
श्रीबलस्य सखि! २/३/४९
श्रीभागवतरक्तानाम् २/१/७

श्रीमत्तुलस्या रसनाम् १/२/२६७
श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः १/४/२०
श्रीमद्भागवताद्यर्हं० ३/५/३६
श्रीमद्भागवतार्थानाम् १/२/९१
श्रीमद्भागवते चैष ३/२/१४१
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीम् १/२/३००
श्रीविष्णोः श्रवणे १/२/२६५
श्रीविष्णोरर्चनम् १/२/१३९
श्रुतदेवोऽच्युतम् ३/२/६४
श्रुतमात्रोऽपि यः २/१/१६७
श्रुता स्मृता कीर्त्तिता १/२/२१३
श्रुतिञ्चकाराच्युत० १/२/२६६
श्रुतिपथमघशत्रोर् १/२/२४२
श्रुतिपुटपरिवाहेनेश० ३/२/११३
श्रुतिप्रेष्ठोक्तिरखिल० २/१/७२
श्रुतिर्महोपनिषदाम् ३/१/१८
श्रुतिस्मृतिपुराणादि० १/२/१०१
श्रुत्वाऽच्युतमुपायातम् २/४/६५
श्रुत्वा मदीरित० २/३/४२
श्रुत्वा हन्त हतम् २/४/८८
श्रेणिं माणिक्य० ४/३/३६
श्रेणीश्यामलकोमलैर् ३/५/५
श्रेष्ठः पुरवयस्येषु ३/३/१३
श्रेष्ठमध्यकनिष्ठेषु २/४/१९१
श्रेष्ठमध्यादिभिः २/१/२२१
श्रैष्ठ्यमुज्ज्वल एवास्य २/१/३११
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च १/२/७
श्रोत्रस्यान्ततटीमपि ३/५/९
श्लथयन्त्या किल २/३/३८
श्लाघ्याङ्गसन्निवेशः २/१/४५
श्लाघ्यौ तावेव १/२/१३३
श्वफल्कपुत्रो भगवत्० २/२/५
श्वसितपवनधाटी० २/४/९१
श्वादोऽपि सद्यः १/१/२१
श्वासक्रोशनभूपात० ४/४/५
श्वासाधोमुखभूलेख० २/४/१३६
श्वेतश्चित्रोऽरुणः २/५/११८
श्वेतीकृताखिलजनम् २/३/४८
श्वोभाविनि २/४/१६९

ष

षट्पञ्चाशद्यदुकुल० २/१/१७२
षोढा हासरतिः स्यात् ४/१/१४

स

संयोजनविशेषेण २/५/८०
संरम्भगद्गद २/३/४०
संरम्भप्रकटीकृत० ४/३/७
संवत्सरं वा १/२/१०५
संवरीतुमशक्यास्ते २/३/७६
संवेष्टिताङ्गघटसप्त० २/१/२००
संशयो धार्ष्ट्य० २/४/१९३
संशयोऽन्तर्भवेत् तर्के २/४/१९६
संसारमरुकान्तार० १/२/१३३
संसारसर्पसन्दष्ट० १/२/१७१
संसृष्टमाभ्यां सह २/१/६९
संस्कारोद्बोधकान्तस्य ३/२/७७
संस्तुत्य ईषत्० २/४/१२१
संस्पर्शनेनाङ्कृताङ्घ्रि० २/४/१२१
स इन्द्रसेनो भगवत्० ३/२/६८
स एव भक्ति० १/१/१५
स एव यद् दृग्विषयः ३/३/१३३
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु ४/३/३८
स एवाङ्गम् ४/८/४२
स एष परमः ३/२/१५४
स एष वैहासिकता० ४/८/६७
सकृन्निगदमात्रतः २/१/८०
स क्षीणतत्तद्भावः १/२/२१
सखा बन्धुविशेषो वा ४/३/४
सखायो गुरु० २/१/३००
सखि! तनुरुहाम् २/१/३१४
सखि! तव घूर्णयति २/२/१९
सखिप्रकरमार्गणा० ४/३/८
सखि! मधु किरती ४/९/१९
सखि! विलोचनयोश्च २/४/१०
सखीक्रोधो भवेत् ४/५/३

सखी तव निर्गला २/५/५४
सखीन् केवलमेवेदम् ३/३/८१
सखेलमाखण्डल० २/१/९६
सख्यः समस्तजन० २/१/७३
सख्यसम्पृक्तहृदयैः ३/३/१३६
सख्या भेदयति २/१/३३२
सख्युः प्रियस्य २/१/१५२
सख्येनोज्ज्वलितैः ३/२/१०, ३/३/५
सगद्गदपदैर्हरिम् ३/३/३९
सग्धिं भजन्ति ३/२/१५१
सङ्कर्षणस्य सख्यन्तु ३/४/८१
सङ्कीर्त्यमानम् १/३/११
सङ्कुचन्त्या स्वयम् २/५/३९
सङ्कुला पुलकैर् २/४/६४
सङ्क्रान्तधातु० २/४/१७५
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि ३/१/२३
सङ्गतिः किल ४/८/७४
सङ्गत्यागो विदूरेण १/२/७८
सङ्गाभावो हरेर्धीरैर् ३/२/९४
सङ्गीतोन्मुखमुखरैर् २/४/३३
सङ्गीयतेऽभीक्ष्ण० १/२/१७३
सङ्गोपनाय न २/४/२२३
सङ्गोपितश्च ४/९/१४
सङ्ग्रामकामुक० ४/३/२३
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग० २/१/१८७
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मा ३/१/९
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः सर्व० २/१/३८
स जयति शम्बर० ३/२/१५३
सजातीयविजातीयैर् ३/५/२१
सजातीयाशये स्निग्धे १/२/९१
स जानुभ्यामष्टापद० ३/२/१३८
सञ्चारयन्ति भावस्य २/४/२
सञ्चारयन्ति वैचित्रीम् २/५/८९
सञ्चारिणामिह क्वापि २/४/२०२
सञ्चारिणोऽत्र ३/१/३३
सञ्चारी स्यात् २/५/१२८
सञ्ज्ञामयी कापि ३/३/४७
सततमधुना ३/२/१२६
स तया सह ३/५/३५
सतर्णकं डिम्भ० २/४/४९
सतां प्रसङ्गान्मम १/३/१२
सतां स्तोमः २/४/२७०
सत्त्वस्य तारतम्यात् २/३/६२
सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना २/३/२
सत्त्वाभास इति २/३/८६
सत्त्वाभासं विनापि २/३/८९
सत्यं ब्रूमस्तदवधि ४/८/७२
सत्यं शौचं दया २/१/३३
सत्यञ्च व्यक्तिमायाति २/१/२५३
सत्याञ्च कृष्णाञ्च २/१/९६
सत्वरा मानसासक्तिर् २/५/५७
सत्वरोऽपि रिपु० २/३/२७
सत्सङ्गमाख्येन ३/२/२७
सदम्भमम्भोरुहसम्भवस्तदा २/४/४९
सदसि युधिष्ठिर० २/१/१७०
सदानन्दं परम् ४/८/७६
सदा नवसुधा ३/४/६७
सदाऽनुभूयमानोऽपि २/१/१८४
स दान्तो दुःसहमपि २/१/१०९
सदा प्रणयशालिनः ३/३/१७
सदा भगवतो भीतिम् ४/६/१६
सदा मे मनस्याविरास्ताम् १/२/४४
सदा विफलवृत्तय ३/३/१२३
सदा स्वरूपसम्प्राप्तः २/१/३८
सदा स्वरूपसम्प्राप्तो माया० २/१/१८०
सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारि० ३/१/१०
सदुक्त्या च सुखम् २/५/१२४
स दृग्भङ्ग्या ३/५/२७
सदृग्विकासनासौष्ठ० २/५/५२
सदेकपक्षपाती २/१/१६४
स देवर्षिर्मुक्तानपि ४/४/११
सदैव पारतन्त्र्येऽपि २/४/२१६
सद्गुणाः सुखमित्यादीनि १/१/२७
सद्धर्मपृच्छा भोगादि० १/२/७५
सद्धर्मस्यावबोधाय १/२/१०३
सद्भावश्चेद् विभावादेः २/५/१०६

सद्यन्येव हरिम् २/४/२४६
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती १/२/१४२
सद्यः प्रपद्यमाने २/१/१४४
सद्यश्चतुष्टयाक्षेपात् २/५/१०६
सद्यस्त्वद्विरहेण २/३/८०
सद्यस्त्वया तदपि २/५/३२
सद्यो नवनवोल्लेखिज्ञानः २/१/८२
सद्यो नश्यति १/२/१७७
सद्यो विलयमायाति १/२/१६३
सद्यो विसृज्य २/४/१५२
सनकस्य तनौ २/५/१९
सनातनं मित्रमिति २/१/२९५
सनिःश्वसितडम्बरम् ४/१/२१
स निर्दहति पापानि १/२/१२७
स नृपः परिरिप्सितः ४/९/१०
सन्तानिकां हरति ३/४/३९
सन्ति यद्यपि मे २/१/२०९
सन्देशमर्पयति ४/८/३३
सन्धिं क्वाप्यनुशास्ति २/१/३३२
सन्धिः सरूपयोस्तत्र २/४/२३६
सपदि दनुजहन्तुः २/४/१५६
सपद्यवशवर्ष्मणः २/१/१३४
स पुनश्चतुर्विधः २/१/२२४
स पूर्वरागो मानश्च ३/५/२५
सप्तधाऽत्र तथा २/५/११४
सप्त हासादयः २/५/५०
सप्तिः सप्ती रथ इह २/४/७७
स बभ्रामाभ्यर्णे ३/४/७१
स भक्तक्षोभ० ४/३/२४
सभाजयन्ते मम १/२/२७
सभाजयित्वा तमनङ्ग० २/४/१२१
स भावः कृष्ण० १/३/१५
समः सर्वेषु भूतेषु ३/१/४८
समक्षमक्षमः प्रेक्ष्य ३/२/१३५
समग्रमाघ्राय शिरः ३/४/४३
समजनि दशा ३/२/१२६
समजनि धृतनव० ३/२/१२४
समजनि ननु देव्याः ३/२/५२
समञ्जस त्वा विरहय्य १/२/३२
स मनागपचीयमान० ३/४/३०
स मन्तव्यो रसः ४/८/४४
स मन्यमानस्तदनाप्ति० ३/२/११२
सममुरुकरकाभिः २/४/७१
समयाः खण्डितादीनाम् ४/९/२६
समयानां व्यतिक्रमः ४/९/२६
समयानां व्यतिक्रान्तिर् ४/९/२५
स मयि सनातनमूर्त्तिः ३/१/१
समलालयदालयात् २/५/३५
समवेतं सदा० २/४/२६८
समस्कुरुत पांशुलान् ३/३/१०९
समस्तगुणवर्जिते ३/१/१४
समस्तविविधाश्चर्य० २/१/२१८
समाधौ योगिनस्तस्मिन् ३/१/३६
समानार्थतया १/३/१३
समाहृतिः समासेन उ० सं० १
समीक्ष्य शक्रम् २/३/३१
समीरस्य घ्राणाध्वनि ३/३/११९
समुत्कण्ठा निजाभीष्ट० १/३/३६
समुद्रा इव २/१/२९
स मृग्यः श्रेयसाम् १/२/१००
समृद्धपुलको यथा ४/३/८
समृद्धिमान् क्षमाशीलः ३/२/१३
सम्पादयिष्यति कदा ३/४/६०
सम्प्रदानस्य वीक्षाद्याः ४/३/२७
सम्प्राप्तसिद्धयः २/१/२८१
सम्प्राप्य वैष्णवीम् १/२/६२
सम्प्रार्थनात्मिका १/२/१५२
सम्बन्धरूपा गोविन्दे १/२/२८८
सम्बन्धाद् वृष्णयः १/२/२७५
सम्भोगेच्छामयी १/२/२९८
सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् ३/२/७६
सम्भ्रमप्रीतवज्ज्ञेयम् ३/२/१७९
सम्भ्रमभूमा कुमाराणाम् ३/२/१७७
सम्भ्रमादिच्युता या ३/४/५२
सम्भ्रमेण मुनिभिः २/१/११९
सम्मतं भक्तिविज्ञानाम् १/२/२४६

सम्मदेन सुहृदः ३/३/१०४
सम्मुह्य चापमजहात् २/१/१०६
सम्मोहितार्यचरितात्र २/१/२१६
सम्यगुन्मीलिताश्चामी २/४/२५८
सम्यङ्मसृणितस्वान्तः १/४/१
स याति परमम् १/२/१४१
स रत्यादिविभावाद्यैर् २/५/८२
सरभसमभिपश्यन् ४/८/२८
सरभसमुपभोक्तुम् २/१/२१७
सरसाः सरसीरुहाक्षवेषाः ३/२/३३
सरूपयोर्भिन्नयोर्वा २/४/२३५
सरोमाञ्चं क्ष्वेडा० ४/३/१६
सरोमाञ्चे कम्पे २/३/७८
स रोहिताक्षः ३/३/१४
सर्व एव पराम् २/३/८१
सर्वं मद्भक्तियोगेन १/२/२५३
सर्वः प्राणसमानताम् ३/२/५०
सर्वचित्तावगाहित्वम् २/१/२६३
सर्वतः स्वनियोगानाम् ३/२/६१
सर्वत्र करुणाख्यस्य २/५/१२६
सर्वत्र नयनक्षोभ० २/३/५३
सर्वथा शरणापत्तिः १/२/८८
सर्वथैव दुरूहोऽयम् २/५/१३१
सर्वथैवमहङ्कार० ३/१/४९
सर्वदा परिचर्यासु ३/२/३८
सर्वदां मत्प्रिया २/१/२९२
सर्वधर्मान् परित्यज्य १/२/६९
सर्वपापप्रशमनम् १/२/१०९
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति १/२/२०८
सर्वपापविनिर्मुक्ता विष्णु० १/२/१५९
सर्वप्रकारमेवेदम् २/४/२६९
सर्वभक्तिरसास्वादः २/५/१२०
सर्वमङ्गलमूर्धन्या १/३/१७
सर्वमाधुर्यसाराणि १/२/१८१
सर्वरागैस्तथा पापैर् १/२/१२६
सर्ववेदान्तसारम् १/२/२१०
सर्वस्वं दीयते ४/३/३३
सर्वस्वात्मनिवेदने १/२/२६५
सर्वाटवीप्रचारेण ३/३/६५
सर्वात्मना यः १/२/६८
सर्वाद्भुतचमत्कार० २/१/४१
सर्वाधिकारिताम् १/२/६०
सर्वानन्दचमत्कार० २/३/७०
सर्वापराधकृदपि १/२/११९
सर्वार्थिनां बाढमभीष्ट० २/१/१२४
सर्वाविद्याध्वंसतः ३/१/३७
सर्वासामपि सिद्धीनाम् १/२/१३८
सर्वेऽधिकारिणः १/२/६१
सर्वे नित्याः २/१/२४४
सर्वे विधिनिषेधाः १/२/८
सर्वेषां सात्त्विकानाम् २/३/६२
सर्वेषां हितकारी २/१/१५४
सर्वेषामग्रपूज्यः २/१/१६९
सर्वेषामतिमुख्यः २/१/१७४
सर्वेषामेव गोविन्दे ४/५/७
सर्वेषु सखिषु ३/३/३३
सर्वे सर्वगुणैः २/१/२४५
सर्वे हि सत्त्वमूलत्वाद् २/३/६१
सर्वैर्गुणैस्तत्र १/१/२९
सर्वैश्वर्यमयी २/१/२४६
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् १/१/१२
स लुञ्चति न ३/४/६७
स लोकपावनो भूत्वा १/२/१२४
सवनशस्तदुपधार्य २/१/२१३
सबाष्पाक्षी रक्षा० ३/४/१४
स विचुक्रोश २/२/९
स विप्रलम्भ० ३/५/२४
सविरूपं विरुवन् ४/३/२२
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया २/३/३९
स वै मनः कृष्ण० १/२/२६६
सव्ये दोष्णि ४/८/३१
स शोचति ३/४/७२
स स्तोककृष्णः ४/३/१९
सस्मितञ्च वचः २/१/२५५
सस्वनं दृष्टदशनम् ४/१/२०
सहचरनिकुरम्बम् ३/३/२०

सहचरि! बल्लवचन्द्र० २/४/५२
सहजा अपि लीयन्ते २/५/४५
सहवासो मुकुन्देन ३/२/१३६
सहसा दीयते ४/३/२६
सहस्ततालं क्षिप्ताङ्गम् ४/१/२६
सहालीभिर्लेभे २/४/९५
सहासलीलेक्षण० २/४/१२१
सा कामरूपा १/२/२८३
सा कामरूपासम्बन्ध० १/२/२७३
सा क्षणार्द्धवदगात् तव २/१/२१२
साक्षादनुमितश्चेति ४/२/४
साक्षादैन्द्रियकम् ४/२/५
साक्षाद् रतेर्न २/४/२०३
साक्षाद् व्यवहितश्चेति २/४/२०७
साक्षी वेत्ति स २/१/२६०
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः १/३/२
सात्त्विकानां विवेकाय २/३/९६
सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव ३/१/३२
सात्मानं पशु० ४/२/११
सात्राजितीसदन० २/४/१२२
सा त्वञ्जसा १/२/२२३
सात्त्वतास्तु ४/८/५७
साद्गुण्यैर्निर्मलैः २/१/१५८
साधकानान्तु वैविध्यम् २/५/१२
साधकानामयम् १/४/१६
साधनाभिनिवेशस्तु १/३/८
साधनाभिनिवेशेन १/३/६
साधनेक्षां विना १/३/५७
साधनेन विना १/३/१५
साधनैः कृपया २/१/२८२
साधनौघैरनासङ्गैः १/१/३५
साधारण्यं तदेवोक्तम् २/५/१०२
साधुवृन्दमकरोत् २/२/११
सानङ्गरङ्गम् ४/९/२०
सा निशान्तलुठदुद्भट० २/३/१०
सा नेत्रचत्वरचरम् २/४/५७
सान्दीपनिमुख्याश्चान्ये ३/४/११
सान्द्रं महः पथि ३/१/४०
सान्द्रश्चित्तद्रवम् ३/२/८४
सान्द्रानन्दम् तन्मया ४/८/५४
सान्द्रानन्दचमत्कार० २/५/११०
सान्द्रानन्दविशेषात्मा १/१/१७
सान्द्रानन्दाकार० २/४/१८१
सान्ध्यत्विषा ग्रस्त० २/३/५६
सापत्रपापि कुलजापि ३/३/४९
सा प्रत्युत २/१/३३९
सा ब्रह्मणि १/२/२९
सा भक्तिः ससमस्कन्धे १/२/३
सा भक्तिः साधनम् १/२/१
सा भक्तिरेकमुख्याङ्गा० १/२/२६४
सा भूरिकाल० २/३/६४
सा भुक्तिमुक्ति० १/३/४३
सामग्रीपरिपोषेण २/१/४
सामर्थ्यस्यापि २/४/१०३
सामर्थ्याधिक्य० ४/९/११
सामान्यभगवद्भक्ति० २/१/२
सामान्या नायकगुणाः २/१/२७१
सामान्यासौ तथा २/५/८
साम्याद् विश्रम्भरूपैषाम् २/५/३०
साम्येन भीति० ३/३/९
साम्बादयः कति ३/२/१५१
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः ३/३/२२
सारं जुषां चरणयोर् १/२/३५
सारङ्गरङ्गदं रेजे २/४/१९०
सा रसव्यतिकरेण २/४/२९
सार्द्धं विजह्रुः ३/३/१९
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य० १/१/१४, १/२/२८
सालोक्यादिर्द्विधा १/२/५६
सालोक्यादिस्तथाप्यत्र १/२/५५
सालोक्येत्यादि० १/१/१६
सा विभावादिभिः ३/२/१४५
सा विस्मयरति० ४/२/१
सा सम्बन्धानुगा १/२/३०५
साहाय्यमत्र सुबलः ४/३/२३
सा हासरतिरेवात्र ४/१/१३
सिक्ताप्यश्रुजलोत्करेण २/१/२७८

सिञ्चति गण्डद्वयीमस्त्रैः २/३/८५
सिद्धः पूर्वोक्त० २/५/५८
सिद्धतायास्तथा ३/१/२५
सिद्धयः परमाश्चर्याः १/१/३१
सिद्धलोकस्तु १/२/२८०
सिद्धाः स्युः २/१/२८०
सिद्धान्ततत्त्वभेदेऽपि १/२/५९
सिद्धास्ते पुनरेक० २/४/१४२
सिद्धा ब्रह्मसुखे १/२/२८०
सिन्धुं प्रार्थयते ३/२/३७
सिष्वेद मल्लस्त्वधि० २/३/९४
सिसीधु मुमुमुञ्च २/४/३७
सीमन्तद्युतिरङ्ग० ३/४/१३
सीमन्तिन्यश्च नित्यम् २/१/१४६
सुकुमारस्वभावेयम् १/२/२४९
सुकुमारेण पौगण्ड० ३/४/३८
सुखं दृष्टे तदेवाद्य ४/९/५
सुखं वैषयिकम् १/१/३०
सुखं स्वपितु नः ३/३/२७
सुखदकरकवार्भिर् ३/२/१६०
सुखमयनिजनिद्रा० २/१/८१
सुखमविचलदङ्गाः २/४/१७४
सुखयति सुष्ठु ३/३/६८
सुखवपुषः स्मरणेऽपि ४/८/२१
सुखात्मा भवती राधे! ४/८/६८
सुखानि गोष्पदायन्ते १/१/३९
सुखी भक्तसुहृत् २/१/२७
सुखी वरीयानित्याद्याः ३/३/७
सुखैश्वर्योत्तरा १/२/५६
सुचन्द्रो मण्डनः ३/२/३९
सुचिरमरचि शच्याः ४/३/५६
सुचेतसामनुभवः २/५/१२५
सुजनानां बत २/१/१६५
सुतमङ्गुलिभिः २/५/३५
सुतमुत्फुल्लविलोचनम् २/४/२४०
सुतस्तव कृतार्थयत्यहह ३/४/३३
सुदाम्नः सोत्कण्ठम् ४/३/१६
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा १/२/५२
सुदुर्लभोऽर्थेषु १/२/२६
सुधांशुकोटेरपि १/३/६१
सुधा प्रियसखीम् २/२/२०
सुधाम्बुधिरपि स्फुटम् ३/४/५९
सुप्तिर्निद्राविभावा २/४/१७७
सुप्तिर्बोध इतीमे २/४/६
सुबलं कुवलयनयनम् ३/३/४६
सुबल! भुजभुजङ्गम् २/१/३८३
सुबलार्जुनगन्धर्वास्ते ३/३/४३
सुभद्र-मण्डलीभद्र० ३/३/२३
सुभद्रायाः प्रीतिर्दनुज० ३/२/१७०
सुमधुररसरूपः ३/३/५१
सुमुखि! निशित० २/१/१८६
सुमृष्टपानकादीनाम् ४/८/५३
सुरमुनिवन्दित० ४/८/५५
सुरर्षे विहिता १/२/१३
सुराजेव विराजेत २/५/१
सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरपि ३/३/१०९
सुवेषः सर्वलक्ष्म० ३/३/६
सुष्ठु गोष्ठयुवराज० ३/२/४६
सुष्ठु निःसहतनुः २/४/१०६
सुसेव्यो दासबन्धुश्च २/१/१४८
सुहृत् प्रीतस्य ४/८/४
सुहृत्सु मण्डलीभद्र० ३/३/२५
सुहृदश्च सखायश्च ३/३/२१
सुहृदामिश्रणं सम्यग् ४/८/१६
सुहृदित्युदितो भिया ४/९/१०
सुहृदेव प्रतिभटो वीरे ४/३/२४
सुहृदो न हि ३/३/८३
सेनान्यं विजितमवेक्ष्य ४/८/३८
सेयं त्वयि व्रजवधू० २/४/४४
सेयं साधनसाहस्रैर् १/१/३६
सेवकानामिहैश्वर्य० ३/२/१५५
सेवां मनागपि २/१/१३८
सेवा नामापराधानाम् १/२/८१
सेवानुरक्तमनसाम् १/२/३१
सेवामाहुः परम् २/५/९०
सेवायां ते ३/२/३०

सेवा साधकरूपेण १/२/२९५
सेविष्ये चलचारु० ४/८/२२
सेवोन्मुखे हि १/२/२३४
सैव भक्तिरिति १/२/१३
सैवोत्साहरतिः ४/३/१
सोऽङ्गी सर्वातिगो यः ४/८/४२
सोत्कण्ठं मुरलीकला० ३/२/६०
सोदाहरणमेतेषाम् २/१/४४
सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्याम् २/१/१७
सोऽप्यौचित्येन ४/४/४
सोल्लासं क्रकचेन ४/३/५१
सोल्लुण्ठहास० ४/५/२०
सोऽहं प्रियस्य १/२/१४७
सौन्दर्येण दृगानन्दकारी २/१/५२
सौभाग्यरूपतारुण्य० २/४/४१
सौम्याः सूनृतया ३/३/५५
सौशील्यतः किल २/४/१२२
सौशील्यसौम्य० २/१/१३७
स्खलदङ्घ्रिप्रसरन्तम् ३/४/१६
स्खलदशिशिरबाष्प० ४/४/९
स्खलदशिशिरबाष्पक्षालित० ३/३/२०
स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदति० १/२/२४१
स्खलन्नयनवारिभिर् २/१/१३४
स्खलन्मलिनवाससः २/४/११२
स्तन्यैरसिञ्चन्नव० ३/४/७३
स्तम्भं भूमिस्थितः २/३/१८
स्तम्भतां वहति ३/२/६७
स्तम्भमद्भुतमसौ ३/२/६७
स्तम्भाद्याः कार्यभूताश्च २/५/८५
स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः ३/२/६६
स्तम्भो हर्षभयाश्चर्य० २/३/२१
स्तवादयश्च दासा० ३/१/२८
स्तब्धोऽप्यभ्यधिकाम् ३/२/८६
स्तिम्यत्यम्बुभिरम्बक० २/३/८०
स्तूयन्ते जगदण्डवद्भिर् ४/२/१०
स्तूयमानमपि मुक्तसम्भ्रमा० ३/४/५६
स्तोकाद् विभावनाज्जातः ४/८/४५
स्तोतव्या यदि २/४/११
स्तोत्रैः स्तवैश्च १/२/१५९
स्त्रिय उरगेन्द्र० १/२/२८२
स्त्रीणां प्राणैरपि ४/५/१७
स्थलभुवि सम्भृत० ४/८/७३
स्थानं तीर्थम् १/२/१३२
स्थानाभिलाषी ४/३/४४
स्थाने स्वतन्त्रचरितः २/१/१७७
स्थायिता कैश्चिद् २/५/४९
स्थायिनोऽत्र ४/९/२३
स्थायिभावोऽत्र ३/२/१६८
स्थायिभावोऽत्र स प्रोक्तः २/५/२
स्थायीभावो भवत्यत्र ३/५/१९
स्थायीभावो विभावाद्यैः ३/३/१
स्थायी वत्सलताऽस्येह ३/४/७८
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः ३/१/४
स्थायी स्याद् विस्मयरतिः ४/२/४
स्थिता यदि न ३/४/५९
स्थितिभाजं व्रज० २/५/३५
स्थिरो दान्तः २/१/२६
स्थूलमध्योरुतापाङ्ग० ३/४/१९
स्थूलस्तालभुजोन्नतिर् २/४/७६
स्थेयसी साधुभिः २/५/५७
स्थैर्यदाक्षिण्य० ४/३/२८
स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः २/१/३६६
स्नपय कृपणबन्धो! ३/२/१०३
स्नपयति निजदास्ये २/४/१५३
स्नपयितुमिह सद्मन्यम्बया ३/३/२९
स्निग्धा दिग्धास्तथा २/३/२
स्निग्धास्तु प्रायशः २/३/६८
स्निग्धास्तु सात्त्विकाः २/३/३
स्नुवाना प्रत्यूषे ३/४/१४
स्नेहः स रागो येन ३/२/८७
स्नेहस्नुतस्तन्यपयः० ३/४/४६
स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद् १/२/२७६
स्नेहो भक्तिरिति १/४/१२
स्नेहोऽस्मास्विति २/१/२९५
स्पन्दनोज्झित० ४/२/६
स्पन्दबन्धुरशिरा० ३/१/२७

स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्ग० २/३/३४
स्पष्टतार्थं पुनरपि १/२/२५८
स्पृष्टा श्रिता सेविता १/२/२१३
स्पृष्ट्वा विष्णोरधिष्ठानम् १/२/१६५
स्पृहयति करिशुण्डा० २/१/३२१
स्फारेक्षणः क्षितिपतिः ४/२/९
स्फुटं चमत्कारितया ३/४/७८
स्फुटं ब्रह्मादीनाम् ४/१/२५
स्फुटं राधानेत्र० २/४/१३३
स्फुटं श्रितवतोरपि ३/२/१०४
स्फुटममुना यमुना० २/१/३७९
स्फुटमसि तदगारान्मा २/४/७१
स्फुटमिह पाण्डवमित्र! ३/२/११९
स्फुटरेखामय० २/१/५१
स्फुटितनव० १/२/२४३
स्फुरच्चरणपङ्कजे ४/५/१९
स्फुरति मम २/१/२१७
स्फुरति मयि २/४/१५६
स्फुरति सुषमा २/१/३१४
स्फुरतु सनातन! १/१/५
स्फुरत्तरुणिमोद्गमम् २/१/३२९
स्फुरत्पुरटकेतकी० ३/३/४
स्फुरदतनुतरङ्ग० ३/३/५१
स्फुरदरुणदुकूलम् ३/३/८५
स्फुरन्ति खलदेवल० २/४/११२
स्फुरन्ति सुहृदाम् ३/३/१२३
स्फुरसि तरल० २/१/१३०
स्फुरिततनुम् ४/८/५५
स्मरन् प्रभु० ४/८/२४
स्मरस्मेरामाराद् ४/८/३५
स्मर्तव्यः सततम् १/२/८
स्मर्यमाणतयाप्युक्तौ ४/८/६३
स्मारं स्मारम् ४/८/७२
स्मारं स्मारं मुकुन्द! २/४/१३०
स्मितं त्वलक्ष्यदशनम् ४/१/१६
स्मितमुखमुज्ज्वल० ३/४/२८
स्मितविकसित० ४/८/२८
स्मितविलसदपाङ्गः २/१/३८३
स्मितश्रीनिर्धूत० २/१/६४
स्मिताङ्गसौरभे २/१/३०२
स्मृतिरजितात्म० १/२/१९०
स्मृतिरथ वितर्क० २/४/५
स्मृतिर्ध्यानं तथा १/२/८७
स्मृते सकलकल्याण० १/२/१७६
स्मृत्वा साहसिकम् ३/२/५०
स्मेरयत्यघहरम् ४/९/२२
स्मेरां निक्षिपती ४/८/३०
स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचिताम् १/२/२३९
स्मेरास्यः परिहित० ३/१/३५१
स्मेरास्यैः स्फुटमिह २/४/१२६
स्यमन्तकं हन्त २/४/५०
स्यमन्तकमहं हृत्वा २/४/२०
स्याज्जूटः कबरी २/१/३५५
स्यात् परम्परया २/४/२०३
स्यादाभ्युदयिकस्त्वेकः ४/३/३०
स्यादुद्यमः कृतधियाम् २/१/१०८
स्यादेव यत्कर्मणि ३/२/५५
स्याद्देहादिविभावत्वम् २/५/४१
स्यान्नानृतं वचो यस्य २/१/६७
स्युरेतस्या विना० २/५/४६
स्युस्त्रिधोपरसाः ४/९/२
स्रगुल्लसदुरःस्थलः ३/३/४
स्रजं वराम् २/३/५
स्रस्तव्याधितयूथ० ४/७/११
स्रस्ताङ्गयष्टिरजनिष्ट २/४/१८६
स्रुताश्रुधारो द्विज! ३/२/११२
स्रोतोगणास्तमरणम् १/१/२५
स्व एव धिष्ण्ये ३/२/५५
स्वं कुटुम्बिनि! २/४/८
स्वं चेष्टया २/३/१३
स्वं पुङ्गवीकृत्य २/४/५६
स्वकुलर्द्ध्यै ततो धीमान् १/२/२२९
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः ३/५/५
स्वजातीयैर्विजातीयैः ४/८/४९
स्वतनयं प्रणयाद् ३/४/७५
स्वताताशिष्ट्या स्फुट० ४/३/१९

स्वनिगममपहाय २/१/१५०
स्वपरार्थैव सा २/५/६
स्वपादमूलम् १/२/७१
स्वप्ने दम्भोलिपाणेरपि २/१/१४६
स्वप्ने मयाद्य २/४/१७
स्वप्राणेभ्यस्त्रयम् २/१/३१९
स्वमातुः स्विन्न० २/१/१५३
स्वयं पराजयम् २/४/१६७
स्वयन्त्वसाम्यातिशय० २/१/१७८
स्वयमित्यर्द्धविशीर्ण० २/३/३८
स्वयंप्रकाशरूपापि १/३/४
स्वयम्भूचूडाग्रैर् ४/४/११
स्वरूपेण तथोत्कर्ष० २/३/६४
स्वर्गध्वंसं विधित्सुर् २/१/२५४
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि १/२/३३
स्वर्गापवर्गं मद्धाम १/२/२५३
स्वर्गापवर्गयोः १/२/१३८
स्वर्गे लोके मिषति ३/३/६०
स्वर्णं द्रवति २/४/२६५
स्वल्पापि रुचिरेव १/१/४५
स्ववशाखिलसिद्धिः २/१/१९२
स्ववासनानुसारेण १/२/२६४
स्वविलोचनचातकाम्बुदे २/३/८
स्वसङ्गोपनमुद्घूर्णा ४/६/१०
स्वसास्मि तव ४/८/३४
स्वस्थ एव क्रमान्मन्द० २/३/१९
स्वस्माद् भवन्ति ये २/५/२७
स्वस्मिन् धुर्येऽप्यमानी ४/८/८५
स्वाङ्गुष्ठपानमुत्तान० ३/४/२१
स्वाङ्गेक्षा निह्नवोऽन्यस्य २/४/४२
स्वातन्त्र्यं कौशलम् २/१/३८
स्वात्यम्बुदे वर्षति ३/३/९८
स्वाद्यत्वं हृदि २/१/५
स्वानन्दसिंहासन० ३/१/४४
स्वानिष्टोत्प्रेक्षणम् २/४/४८
स्वापाङ्गविद्धाम् ४/८/६१
स्वाभीष्टदेवतान्यत्र ४/९/७
स्वामप्युपेक्ष्य तनुम् ३/३/१०१
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि ४/३/४४
स्वाराज्यलक्ष्म्यास० २/१/१७८
स्वावमाननमेवात्र २/४/७
स्विन्नं वक्त्रं कबर० ३/४/१२
स्विन्नाद्य कण्टकिफलम् ३/२/१६३
स्विन्नासि भिन्ना २/३/२९
स्विष्टस्य सूक्तस्य १/२/१४८
स्वीकुर्वते रसमिमम् ३/४/७७
स्वीकुर्वन्नपि नितराम् २/१/११८
स्वीयचौर्यापराधादेः २/४/४८
स्वेदाम्बुमुक्तापटलीम् ३/३/९८
स्वेदाश्रुभिर्न हि ३/२/१२३
स्वेदो हर्षभय० २/३/२८
स्वे स्वेऽधिकारे १/२/६५
स्वैरं चरन्नेष २/१/१२७
स्वैराचारविमोक्षाद्याः ३/२/१५९

ह
हंहो डिम्भाः १/२/२४०
हठादन्तःस्मेराम् २/४/२४२
हठादिह कटाक्षयन्त्यखिल० २/४/१५८
हन्त देहहतकैः २/४/८
हन्त द्वारवती० २/१/१७५
हन्त निश्चलंतनुः २/४/२३७
हन्त मे कथमुदेति २/१/१८
हन्त शम्भुरपि २/१/१९६
हन्त शान्त इवासि ३/३/१८
हन्त स्वकीयकुचमूर्ध्नि ४/५/३१
हन्ति स्म हन्त २/४/२२६
हरति पदतति० २/१/३७९
हरति शितिमा २/१/३१४
हरावभक्तस्य १/१/२९
हरावासक्तिमुत्पाद्य १/३/८
हरिं सम्प्राप्य १/२/३०२
हरिः पूर्णतमः २/१/२२१
हरिकीर्तनजात० २/२/८
हरिकेलिभुवाम् २/१/३८०
हरिचरणविलोकालब्धि० ३/२/११३
हरिणा चाश्वदेयेति १/१/३५

हरिणा दण्डवदग्रतः ४/९/१०
हरिणा दीयमानोऽपि ४/३/४०
हरिदयितं हारिणम् ३/३/४६
हरिनामाक्षरयुतम् १/२/१२३
हरिनीलरुचिम् ३/३/४८
हरिपदकमलावलोक० ३/२/१०५
हरिपदपङ्कजयुगलम् २/४/१३१
हरिप्रणयविक्रिया० २/२/२०
हरिप्रियक्रिया० १/३/५०
हरिप्रियजनस्यैव १/३/५२
हरिप्रीत्या च ताम् १/३/१४
हरिभक्तिमहादेव्याः १/१/३४
हरिभक्तिविलासे १/२/७२
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये १/२/२६२
हरिमन्वेष्टुमितः ३/३/८३
हरिमपि दरदूरे २/४/२४३
हरिमभ्युद्यति तीव्र० २/५/६६
हरिमवलोक्य पुरोभुवि ३/२/७३
हरिमाक्रुश्य गिरा २/३/३०
हरिमिहिरनिपीत० २/४/१०१
हरिमुद्दिश्य भोग्यानि १/२/१०४
हरिमुद्दिश्य यत् किञ्चित् १/२/१५१
हरिरजगणदन्तः कोमलाङ्गोऽपि २/१/११०
हरिरञ्जलिना तथा २/१/१३६
हरिरसमदिरा० २/२/१५
हरिरिव हन्तुमिभम् २/१/१५०
हरिरिह परिमृष्ट० ३/३/६८
हरिरुत्फुल्लकपोलमाननम् ४/८/३७
हरिरेव सदाराध्यः १/२/११६
हरिर्यथार्थम् २/१/६९
हरिर्वृन्दारण्ये २/१/१४७
हरिलीलासुधा० २/४/१४७
हरिवक्त्रेन्दुमवेक्ष्य २/२/४
हरिवक्षसि रुचि० २/१/५७
हरिवल्लभसेवया २/५/२०
हरिवागियं मम २/१/७४
हरिवासरसम्मानः १/२/७६
हरिश्च तद्वयस्याश्च ३/३/२
हरिश्च तस्य दासाश्च ३/२/६
हरिश्च तस्य लाल्याश्च ३/२/१४६
हरिसेवानुकूलैव १/२/२००
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः २/१/८९
हरि हरि निःश्वसतो निशाः ३/२/१०५
हरेः प्रमदमेककः ४/३/२१
हरेः सालोक्य० १/२/१४४
हरे! त्वदालोकनमन्तरेण ३/२/१००
हरेरतिप्रसादोऽयम् १/४/९
हरेरपि चमत्कृति० २/१/२१०
हरेरप्यपराधान् १/२/११९
हरेरभिनवोद्धुरप्रणय० ३/२/१११
हरेरीषच्छ्रुतिविधौ २/५/९७
हरेर्द्विष्यपि न ३/१/२५
हरेर्दृक्चापलम् ४/९/२१
हरेर्नामाव्यक्तीकृत० २/४/१००
हरेश्चेत् तत्त्वविज्ञानम् ४/३/५२
हरेस्तरुणिमाङ्कुरे २/१/३२३
हरौ जहसुरुद्धुरम् ४/१/१०
हरौ निरङ्कुशैश्वर्यात् २/१/२४१
हरौ रतिं वहन्नेष १/३/३३
हरौ श्रुतिशिरः० ४/५/१९
हर्षः स्यादिह २/४/१४८
हर्षजेऽश्रूणि २/३/५३
हर्षरोषविषादाद्यैर् २/३/५३
हर्षविह्वलितात्मानः ३/४/७४
हर्षाद् घोषः स्फुरति २/१/१६३
हर्षालस्य+अवहित्थाद्याः ४/१/१३
हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र ३/२/६९
हसत्यथो रोदिति १/४/६
हसन्ति नन्दन्ति ३/२/१४२
हस्तद्वयमितायामा २/१/३६७
हस्तनिष्पेषणम् ४/५/२१
हस्तपेषादयः ४/५/२७
हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि २/४/४३
हस्ताहस्तिप्रसङ्गाद्याः ३/३/९२
हस्तोदरे विनिहितैक० ३/५/३२
हहा बत विडम्बना २/४/१५८

हा किं करोमि ४/६/६
हा कृष्ण! पाहि २/४/२२१
हा क्षणार्धमपि २/१/२१२
हा गोष्ठेश्वरि! २/४/७६
हा तावदेव २/४/१७
हा धिक्! प्रियेण ४/५/१४
हानोपादानरहिता २/१/२४४
हा मेधाविनि! ४/५/४
हारश्चकास्ति ४/५/३१
हारस्तारो वलय० २/१/३६०
हा व्रजेन्द्रतनयेति २/३/४४
हासडम्बरकरम्बितानननम् ४/९/३४
हासादावत्र भिन्ने २/५/४२
हासादीनां तदा ४/९/३८
हासाद्भिन्नोऽट्टहासोऽयम् २/२/१७
हासोत्तरा रतिर्या २/५/४३
हासो विस्मय उत्साहः २/५/४०
हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितराम् ४/१/८
हास्यभक्तिरसौ नाम ४/१/६
हास्यादीनां रसत्वम् ४/७/१३
हास्यादीनान्तु ४/८/३६
हास्योऽद्भुतस्तथा २/५/११६
हा हन्त हा हन्त ३/२/१००
हितचरितान् हरि० ३/२/१७
हितमिह निजयाग्रे ३/२/१४७
हितस्त्रिधाऽनवहितः ४/५/८
हितादन्यस्य कृष्णस्य २/३/९२
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य २/१/२१९
हितोपदेशदानाद्याः ३/४/४१
हित्वा कारणकार्यादि० २/५/८६
हित्वापि तार्क्ष्यपक्षम् २/४/२३०
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरित० २/४/१४३
हित्वास्मिन् पिशितोपनद्ध० ४/८/२२
हिममुष्णञ्च जलम् २/४/२४०
हीनार्थाधिकसाधके १/३/३५
हुङ्कारो जृम्भणम् २/२/२
हुतभुजि बत २/४/१५६
हृतात्मनो हृत० १/२/२४
हृदयं न विदीर्यति २/५/६२
हृदयमाविजते २/४/७३
हृदयाद् यदि निर्यासि २/४/४३
हृदयाम्बरे ध्रुवम् ३/१/२९
हृदये परमानन्द० २/५/१०५
हृदये सम्भव० १/३/४३
हृदि ध्यायं ध्यायम् ३/१/१६
हृदि भक्तजन० ४/५/१
हृदि यस्य १/१/२
हृदि शोकतयांशेन ४/४/७
हृदि सत्त्वोज्ज्वले २/५/१३२
हृद्वाग्वपूभिर्विदधन् १/२/१७४
हृद्व्योमन्यमृत० २/१/२७८
हृन्मीलनात् २/४/१७६
हृषीकेण हृषीकेश० १/१/१२
हृष्टः कम्बुपति० ३/१/४२
हृष्टायमानमनसः २/३/८७
हृष्यत्तनूरुहो भाव० २/३/४१
हे गोपीजनवल्लभ! १/३/३५
हेतुः कश्चिद् भवेत् २/४/१२७
हेतुत्वं गोपनत्वञ्च २/४/१२८
हेलारम्भेणाद्य ४/३/२०
हेलोत्तानितदृष्टि० २/१/२३७
ह्यजानतस्तत्पृथगीश० २/४/२४
ह्यहं कियान् २/४/१९
ह्रदं भुजगभैरवम् २/४/८२
ह्रासशङ्काच्युताः ३/२/८१
ह्रियमघहर! मुक्त्वा ३/२/१०७
ह्रियमेणदृशा गुरावपि २/३/३८
ह्रिया सद्यो गूढाः २/३/७५
ह्रियेव चिन्तामणि० २/१/१२४

परिशिष्ट—घ

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (सम्पूर्ण ग्रन्थ) में उद्धृत प्रमाणग्रन्थों तथा प्रामाणिक व्यक्तिनामों की (उल्लेखसन्दर्भ-सहित) अनुक्रमणी

अगस्त्यसंहिता १/२/७०, १६८, १९२
अग्निपुराणम् / आग्नेयम् १/२/१६९, २/१/१५
आदिपुराणम् १/२/२१८, २२५, २३१
आदिवाराहम् १/२/२११
उद्धवसन्देशः ४/५/१७
कात्यायनसंहिता १/२/१११
काशीखण्डः १/२/६२
कृष्णकर्णामृतम् १/३/३७, ३९, २/१/१७३, ३६२, २/४/४३, ८१, ३/२/१००, १०२, १०६, १३१
कूर्मपुराणम् / कौर्म्मम् २/१/२४२-४३
गारुडम् (गरुडपुराणम्) १/२/१७१
गीतगोविन्दः २/१/२०३, ३/५/५, १०,३०
गोविन्दविलासः २/५/३७
'ग्रन्थान्तरम्' १/२/२६५
तन्त्रम् १/१/३१, ३६, १/२/१६३, २८५, १/३/२
दशरूपकम् ४/३/३९
दानकेंलिकौमुदी २/४/१०, २७०, ३/३/९९, ३/५/१८
द्वारकामाहात्म्यम् १/२/१२७-२८
नाट्याचार्याः ४/८/४३
नाट्यादौ २/५/१२५
नामकौमुदीकृत् ३/२/२
नारदपञ्चरात्रम् १/१/१२, ३४, १/२/५०-५१, १५५, १/४/१८
नारदीयम् १/२/१०३, १०८, १२९, १४१, १८७, १/३/१७
नारायणव्यूहस्तवः (हयशीर्षीय) १/२/४६-४८, ३०८
नृसिंहपुराणम् (नारसिंहम्) १/२/१५९, १७९, २०२, १/३/६०, ३/२/९७
पञ्चरात्रम् १/२/१३, २००, १/४/२, १२-१३
पद्मपुराणम् १/१/२३, २६, २८, १/२/८, ४४-४५, १/२/६१, १०४, ११४-१६, ११९-१२०, १२२, १२४, १५०, १५३-५४, १६०-६१, १७७, १८१, २१४, २२०-२३, २३२-३३, २३५-३७, ३०१-२, १/३/३, १४, ३३, १/४/७, २/१/१०३, २९१-९२, २९७-९८, २/४/१४२
पद्मोक्तिः २/४/१६२
पद्यावली १/३/४०, २/१/८३, २/२/१५, २/४/५२, ११४, १६५, ३/२/२८, ३/५/१२, १५, १७, २०, २७, ३२, ३५
पुराणान्तरम् १/२/१३३, १८२
प्रह्लादसंहिता ३/५/३३
प्राचीनाः (प्राञ्चः) १/१/४६, २/४/३७
बलदेवोक्तिः २/४/१५८
बृहद्वामनः २/१/२०९
ब्रह्मयामलम् १/२/१०१
ब्रह्मवैवर्त्तम् १/२/१०९
ब्रह्मसंहिता (आदिपुरुषरहस्यम्) २/१/१८९, २५०
ब्रह्माण्डपुराणम् (ब्रह्माण्डम्) १/२/१३०, २१२, २८०
ब्राह्मम् १/२/१०६
भक्तिविवेकः १/२/१९७
(श्रीमद्) भगवद्गीता १/२/२०, ६९
भरतः २/५/१०३
भविष्योत्तरम् १/२/१३१, १६८, २२४
(श्रीमद्) भागवतम् १/१/१३-१५, २०-२१, २४-२५, २९, ३७, ४२-४३, १/२/४, ७, १०, १२, १५, २४, २६-४३, ५२-५४, ६५-६९, ७१, ९७-९९, १०७, ११३, १२१, १२५, १३८, १४२, १४७-४८, १७२-७४, १९०, १९४, १९९, २१०, २१५, २१७,

२२६-२८, २३०, २४७, २५०, २५२-५३, २६६-६८, २७४-७५, २८२; १/३/९, ११-१२, २१, २८, ३१; १/४/६, १०; २/१/३३-३६, ५३, ८९, १०६, १२१, १५०, १५२-५३, १६२, १६७, १७०, १७८, १८१, १८३, १८५, १९७, २००, २११, २१३, २१५-१६, २१९, २६४, २७७, २८३, २८६-८७, २९३-९४, ३१६, ३७८, ३८२; २/२/५, १४; २/३/२२, २४, ३४, ३९-४१, ५७, ६०, २/४/१२, १९, २२-२५, ३४, ४६, ६५, ७०, ८३, ९३, ९७, १०८, ११०-११, १२१, १२३, १३७, १४३, १५०, १५२, १६३, १६६, १६९, २१९; २/५/६१; ३/१/२३; ३/२/५५, ६४, ६८, ७२, ७९, ९८, १०८, ११०, १३२, १३४, १४२-४३; ३/३/१९, ६०, १११, १३१, १३३; ३/४/६, १२, ४२, ४६, ५०, ५४, ६२, ७४; ३/५/२८; ४/२/७; ४/३/३८, ४५; ४/४/८; ४/८/१७
भारतम् (महाभारतम्) २/५/९२
भावार्थदीपिका १/१/४०
महाकौर्म्मम् १/२/३०४
महाभारतम् १/२/११७, १८९; २/१/९२, २/५/९३
महावाराहम् २/१/२४४-४५
महोपनिषच्छ्रुतिः ३/१/२०
माघकाव्यम् (शिशुपालवधम्) २/१/११२, १४०
मुकुन्दमाला २/५/२९
यामुनाचार्यस्तोत्रम् १/२/१९६; २/१/११३, १९१
रससुधाकरः २/४/३०
रामायणम् २/५/१२७
ललितमाधवनाटकम् २/१/१४२, १६०, १८६, २१७, ३४५; २/४/३६, ७६-७७; ३/२/१०, ३/४/४७, ७५; ३/५/१४; ४/८/८४; ४/९/१४
लिङ्गपुराणम् १/२/१४४
वाराहम् १/२/११८, १६६
विदग्धमाधवनाटकम् २/१/२१४; २/४/१३३, १६१; ३/२/६०; ३/४/५१, ७६; ४/५/४, २९; ४/८/६५, ७२
बिल्वमङ्गलः २/१/३८१, ३/१/४४
विष्णुधर्मपुराणम् १/२/१४६, १८०; २/१/१४९
विष्णुधर्मोत्तरः १/२/१६५; ३/१/४८; ४/८/४४
विष्णुपुराणम् १/२/१७६; २/४/१४९
विष्णुयामलम् २/१/२४७-४८
विष्णुरहस्यम् १/२/११२, १३९
वैराग्यशतकम् (भर्तृहरिः) २/४/१४५
वैष्णवतन्त्रम् २/१/२४६
शुकसंहिता १/३/२०
श्रीधरस्वामी ३/२/१
श्रीमत्प्रभुपादाः १/३/३५
सहदेवोक्तिः २/४/१५७
साहित्यदर्पणः (तथाहुः) ३/४/७८
सुदेवः ३/२/२
स्कान्दम् १/२/१००, १०५, ११०, १२३, १२६, १३६, १५१, १५८, १६७, १८४, २०३-०५, २०७-९, २१६, २६२-६३; १/३/१८, २३; ३/२/७४; ३/३/१२९
स्तवमाला २/१/३४९
स्तवावली २/४/१५३
हंसदूतम् २/४/९५; ३/२/१३७-३८; ४/४/११
हनुमद्वाक्यम् १/२/४९
हरिभक्तिविलासः १/२/७२, २०१
हरिभक्तिसुधोदयः १/१/३२, ३९; १/२/१३४-३५, १६२, २२९; १/३/२९; ३/२/२७, ११२; ४/३/४४
हरिवंशम् २/१/९५; २/३/५५, ९३; २/४/११, ११७; ४/३/१०
कविनाम-निर्देश-रहित प्रकीर्ण उद्धरण १/२/१५६, २३९, २४०-४३, २६५; १/३/३८, २/१/१८, २१-२२, ४६, ४९, ५१, ५४, ५७, ५९, ६१-६२, ६४, ६६, ६८-६९, ७१, ७३-७४, ७६, ७८, ८०-८१, ८५, ८७, ९०, ९३, ९६-९७, ९९, १०१, १०४, १०८, ११०, ११५-१६, ११८-१९, १२२, १२४-२५, १२७-२८, १३०-३१, १३३-३४, १३६, १३८, १४४, १४६-४७, १५५, १५७, १५९, १६३, १६५, १६८, १७२, १७५; २/१/१७७, १७९, १८८, १९३, १९५-९६, १९८, २०१, २०५-६, २०८, २१०, २१२, २२७, २३१, २३४, २३७, २४०, २५४, २५६, २५८, २६०, २६२, २६६, २६८, २७८, २८४, २८८, ३१४, ३१८, ३१९, ३२१, ३२३, ३२५-२६, ३२८-२९, ३३२-३३, ३३७, ३३९,

३४१, ३४४, ३५१, ३५३, ३५८, ३६०, ३६३-६४, ३७४-७५, ३७७, ३७९-८०, ३८३-८४; २/२/४, ६-१३, १६, १८-२०; २/३/५, ८, १०, १३, २३, २५-२७, २९-३१, ३३, ३५-३६, ३८, ४२, ४४-४६, ४८-५०, ५४, ५६, ५९, ७२, ७४-७५, ७७-७८, ८०, ८५, ८७-८८, ९०, ९४-९५; २/४/८-९, १६-१८, २०, २७-२९, ३२-३३, ४०, ४४-४५, ४७, ४९-५१, ५५-५७, ६४, ६६-६९, ७१-७३, ७५, ८२, ८७-८८, ९१, ९४, ९६, १००-१०१, १०५-६, १०९, ११२, ११५-१६, १२०, १२२, १२४-१२६, १३०-३१, १३४, १३८-३९, १४६-४७, १५४, १५६, १६७, १७०, १७२-७५, १७८, १८१, १८३-८६, १८८-९०, २०९, २११, २१४, २२१, २२३, २२६-२७, २२९-३०, २३३-३४, २३७, २३९-४०, २४२-४३, २४५-४६, २४८; २/५/१०, ११, १४, १७, १९-२०, ३१-३२, ३४-३५, ५१, ५४, ५६, ५९, ६२, ६५-६६, ६९-७०, ७२, ८३-८४; ३/१/८, १३-१४, १६, २७, २९, ३१, ३४, ३६-३७, ३९-४२; ३/२/८-९, १७, २०, २२, २४-२५, ३०, ३३-३४, ३६-३७, ४०, ४३-४४, ४६-४७, ५०, ५२, ५४, ५८, ६२, ६५, ६७, ७३, ७५, ८०, ८२-८३, ८५-८६, ८८-८९, ९२, १०१, १०३-०५, १०७, १०९, १११, ११३, ११५, ११८-२७, १३५, १४७, १५०-५१, १५३-५४, १५८, १६०, १६३, १६५-६६, १६९-७२, १७४-७८; ३/३/४-५, ९, १२, १४-१५, १७-१८, २०, २४, २६-२९, ३२, ३४-३५, ३९, ४१-४२, ४४, ४६-४९, ५१, ६३, ६६, ६८, ७०, ७३, ७५, ७७, ७९, ८१-८५, ८९, ९७-९८, १००-०१, १०४, १०७, १०९-१०, ११२-१६, ११८-२७, १३०, १३२; ३/४/३, ७, ९, १३-१६, २०, २२, २४, २६, २८, ३०, ३३, ३५-३६, ३९-४०, ४७, ४८, ५५-६१, ६३, ६५-७३, ७८, ३/५/६, ८-९, २२-२३; ४/१/८, १०-११, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९; ४/२/६, ८-११; ४/३/६-८, १२, १५-१६, १९-२३, ४/३/३२, ३६, ५१, ५८; ४/४/९-१०, १२; ४/५/६, १०, १२, १४, १९, २८, ३०-३१; ४/६/४-८; ४/७/३, ८, १०-११; ४/८/२०-३१, ३३-३५, ३७-४०, ५४-५९, ६१, ६७-७०, ७३, ७५-७६, ७९-८०, ८५; ४/९/५-६, ८, १०, १२, १६, १९-२२, २७, २९, ३१, ३४-३५, ३९, ४१.

ग्रन्थ-सन्दर्भिका

[सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची]

अग्निपुराण, पूना : आनन्दाश्रम, ई. १९५७, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली-४१.

अथर्ववेदसंहिता, दिल्ली : नागप्रकाशक, ई. १९९४.

अनन्तदेव, *भक्तिनिर्णय*, सम्पा. अनन्तशास्त्री फडके, बनारस : ई. १९३७.

ॲनल्स ऑफ़ द भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, खण्ड ३०; भाग ३-४.

अबू बक्र सिराज़ ए दीन, *द बुक ऑफ़ सर्टेनिटी* , लंदन : राइडर एण्ड कंपनी, हॅचिन्सन हाउस, ई. १९२९.

श्री अरविन्द, *लेटर्स ऑन सावित्री*, पॉण्डिचेरी : श्री अरविन्द आश्रम, ई. १९५१.

अष्टादश-उपनिषदः, वि.प्र. लिमये एवं रं.द. वाडेकर, पुण्यपत्तन (पुणे) : वैदिक संशोधन मण्डल, ई. १९५८.

अहिर्बुध्न्यसंहिता, मद्रास : अड्यार लाइब्रेरी एवं रिसर्च सेण्टर, ई. १९१६.

आचार्य उमास्वामी, *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र*, आरा : द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, ई. १९२०.

आनन्दवर्धनाचार्य, *ध्वन्यालोक*, अभिनवगुप्तकृत लोचन-टीका सहित, सम्पा. सुबोधचन्द्र सेनगुप्त तथा कालीपद भट्टाचार्य, कलकत्ता ; (बङ्गाक्षर).

—लोचन तथा महादेवशास्त्रीकृत-बालप्रिया-दिव्याञ्जना-समुपेत, सम्पा. पट्टाभिरामशास्त्री, बनारस : जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़. ई. १९४०, काशी संस्कृत सीरीज़ ग्रन्थ माला. १३५.

— —सम्पा. एस्. कुप्पुस्वामी शास्त्री, मद्रास : कु.शा. रिसर्च इंस्टीट्यूट, ई.१९४४.

आर्किओलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट , द आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, दिल्ली : ई. १९२६.

इंगे डब्ल्यू. आर., *'क्रिश्चियन मिस्टिसिज़्म'*, लंदन : मैथ्युएन एण्ड कंपनी, ई. १९१३.

उद्भट, *काव्यालङ्कारसङ्ग्रह* , सम्पा. पं. दुर्गाप्रसाद एवं वासुदेव लक्ष्मण पणसीकर, बम्बई : निर्णयसागर मुद्रणालय, ई. १९४२.

उपनिषदें - ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर , शाङ्करभाष्ययुक्त, गोरखपुर : गीताप्रेस, वि.सं. १९९३-२०१९, ई. १९३६-६२.

उपनिषत्-सङ्ग्रह, सम्पा. जगदीश शास्त्री, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, ई. १९८०.

उपनिषद्भाष्यम्, (श्रीशङ्कराचार्यविरचितग्रन्थसंग्रह) सम्पा. हरि रघुनाथ भागवत, पूना : अष्टेकर कंपनी, शालिवाहन शकाब्द १८४०, ई. १९१८.

उपाध्याय बलदेव, *भागवत सम्प्रदाय*, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, ई. १९५३.

एवेलिन अंडरव्हिल, *मिस्टिसिज़्म* , लंदन : ई. १९२०.

एन एन्साइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑफ़ संस्कृत ऑन हिस्टॉरिकल प्रिन्सिपल्स्, भाग १-५, प्र. सम्पा. ए.एम. घाटगे, पूना : डक्कन कॉलेज पोस्टग्रे. एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट, ई. १९७६-९१.

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसॉफ़ीज़ , सम्पा. कार्ल एच. पॉटर , दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, ई. १९८३.

कवि कर्णपूर, ***अलङ्कारकौस्तुभ***, सम्पा. शिवप्रसाद भट्टाचार्य, राजसाही : वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, ई. १९२६.

—***चैतन्यचन्द्रोदय***, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९२७, काव्यमाला-८७.

कविराज कृष्णदास, *श्रीचैतन्यचरितामृत*, राधागोविन्दनाथकृत टीका, (मूल तथा टीका दोनों बङ्गभाषा), नवद्वीप : बं. १३५५. ई. १९४८.

——***दशश्लोकी***, टीका-राधाकृष्ण गोस्वामी, सम्पा. हरिदासदास, नवद्वीप : हरिबोल कुटीर, ४६२ गौराब्द, ई. १९४८. (बङ्गाक्षर)

कविराज गोपीनाथ, *डेट् ऑफ़ मधुसूदन सरस्वती*, वाराणसी : प्रिंसेस ऑफ़ वेल्स सरस्वती भवन सीरीज़ -७.

कविराज विश्वनाथ, ***साहित्यदर्पण***, कलकत्ता : ई. १९२९. तथा सम्पा. कृष्णमोहन शास्त्री, बनारस : जयकृष्ण हरिदास, चौखम्बा सं. सी. ई. १९४७.

काणे पी.वी., *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र*, खण्ड ५, पुणे : भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट ई. १९७५-७७.

काणे पी.वी., *हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोइटिक्स* , कलकत्ता : फ़र्मा के.एल. मुखोपाध्याय, ई. १९५१, तृतीय संस्करण.

कालिदास, ***रघुवंश***, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९४७.

—ग्रन्थावली, सम्पा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, ई. १९८६.

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास, ***श्रीमद्भागवत***, मूल, गोरखपुर : गीताप्रेस, वि.सं. २०१०, ई. १९५३. सम्पा. नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन : १९५४.

श्रीधरी-टीका-सहित, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्र. ई. १९८८.

कैटॉलॉगस कैटालॅगॉरम , सम्पा. टी.ऑफ़रेट् , लीपज़िग् : जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, ई. १८९१.

(न्यू) कैटॉलॉगस कैटालॅगॉरम, सम्पा. के. कुञ्जुन्नी राजा, खण्ड १-१०, सम्पा. एन. वीझीनाथन्, खण्ड ११-१३, मद्रास : मद्रास वि.वि., ई. १९७०-९१.

गङ्गोपाध्याय विभासप्रकाश, *भक्तिरस,* (बङ्गभाषा), कलकत्ता, ई. १९४५.

गुह्यसमाजतन्त्रम्, सम्पा. विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ोदा : ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, ई. १९३१. गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़-५३.

श्रीगोपालदास, *वैष्णवधर्मरत्नाकर,* कल्याण, बम्बई : लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, ई. १९३२.

गोपीनाथ कविराज-रचनासङ्कलन, (बङ्गभाषा), वाराणसी : शतवार्षिकी उत्सव समिति, ई. १९९०.

गोविन्दाचार्य ए., *होली लाइफ़ ऑफ़ आळवारस्* , मद्रास : ई. १९४०.

गोस्वामी गिरिधर, *शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड,* काशी (वाराणसी) : श्रीमदनमोहन पुस्तकालय, वि.सं. २०१३, ई. १९५६.

गोस्वामी गोपेश्वर, *भक्तिमार्त्तण्ड,* बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९५०.

गोस्वामी श्रीजीव, *श्रीभागवतसन्दर्भ (षट्सन्दर्भ)*, सम्पा. प्र. श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता : शक. १८२२, ई. १९००.

गोस्वामी श्रीरघुनाथदास, *स्तवावली,* सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बं. १३५४, ई. १९४७. (बङ्गाक्षर)

गोस्वामी श्रीरूप, *श्रीश्री-उज्ज्वलनीलमणि,* सम्पा. पुरीदास, ढाका : प्र. मैमनसिंहवासी शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३ ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—*दानकेलिकौमुदी,* सम्पा. पुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बं. १३५५, ई. १९४८. (बङ्गाक्षर)

—*नाटकचन्द्रिका,* सम्पा. पुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बं. १३५४, ई. १९४७. (बङ्गाक्षर)

—*पद्यावली,* सम्पा. पुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बं. १३५३ ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—*श्री श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु* , सम्पा. पुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बं. १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—श्रीजीव-गोस्वामीकृत *दुर्गमसङ्गमनी,* श्रीमुकुन्ददास-गोस्वामीकृत *अर्थरत्नाल्पदीपिका,* श्रीविश्वनाथ-चक्रवर्त्तीकृत *भक्तिसारप्रदर्शिनी* (तीनों संस्कृत टीका), एवं -

—अज्ञातकृत *श्रीभक्तिरसकल्लोलिनी* - बङ्ग 'पयार' अनुवाद, तथा हरिदासदासकृत बङ्ग तात्पर्यानुवाद - इन सब के सहित एकत्र, (बङ्गाक्षर), सम्पादक हरिदासदास, नवद्वीप : हरिबोलकुटीर, ४६२ गौराब्द, ई. १९४८, वहीं द्वितीय संस्करण, बिजनबिहारी गोस्वामी द्वारा संशोधित, ४७५ गौ., ई. १९६१. तृतीय सं. ४९५ गौ., ई. १९८१. (सभी बङ्गाक्षर)

—श्रीविश्वनाथ-चक्रवर्त्तीकृत *भक्तिसारप्रदर्शिनी,* बङ्गानुवाद-सहित, सम्पा. भक्तिकुसुम श्रमण, मायापुर : श्रीचैतन्यमठ, ई. १९८२, प्रथम सं. (बङ्गाक्षर)

—श्रीजीव-गोस्वामीकृत *दुर्गमसङ्गमनी तथा ज्योत्स्ना* -टिप्पणी-सहित, टिप्पणीकार एवं सम्पादक गोस्वामी दामोदर शास्त्री, काशी : गौरीशङ्कर गोयनका, प्रथम सं. १९८८ वि. (ई. १९३१), द्वितीय सं. २०३२ वि. (ई. १९७५)

—श्रीजीव-गोस्वामीकृत *दुर्गमसङ्गमनी* तथा बङ्गानुवाद-सहित, अनुवादक एवं सम्पादक रामनारायण विद्यारत्न, बहरमपुर : बङ्गाब्द १२९५ (ई. १९८८) चतुर्थ संस्करण बं. १३३१ (ई. १९२४) (बङ्गाक्षर)

—श्रीजीव-गोस्वामीकृत *दुर्गमसङ्गमनी* तथा बङ्गानुवाद-सहित, अनुवादक एवं सम्पादक श्रीधरदेव गोस्वामी, कलिकाता : श्रीचैतन्य-सारस्वत-कृष्णानुशीलन संघ, बङ्गाब्द १३९६ (ई. १९८९) प्रथम संस्करण. (बङ्गाक्षर)

—श्यामनारायण पाण्डेय-कृत हिन्दी व्याख्या सहित, कानपुर : साहित्य निकेतन, ई. १९६५, प्रथम संस्करण.

—श्रीजीव-गोस्वामीकृत *दुर्गमसङ्गमनी,* श्रीविश्वनाथ-चक्रवर्त्तीकृत *भक्तिसारप्रदर्शिनी* तथा श्यामदासकृत *हरिकृपाबोधिनी* (हिन्दी टीका) सहित, वृन्दावन : श्रीव्रजगौरव प्रकाशन, ई. १९८१, प्रथम संस्करण.

—आचार्य विश्वेश्वरकृत दीपिका (हिन्दी व्याख्या) सहित, सम्पा. विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली : हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई. १९६३, प्रथम संस्करण.

—अंग्रेजी अनुवाद, त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन महाराज, वृन्दावन : इंस्टीट्यूट ऑफ़ओरिएण्टल फ़िलॉसॉफ़ी, ई. १९६५, खण्ड-१.

—*श्रीरुप गोस्वामी द्वारा विरचित भक्तियोग का सम्पूर्ण विज्ञान,* राजीव गुप्ता-कृत हिन्दी भाषान्तर, लॉस एन्जिलिस : भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, ई. १९८९.

—प्रेमलता शर्मा-हिन्दी अनुवाद, पाठ-विमर्श, विमर्श-सहित सम्पादन, नई दिल्ली : इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, ई. १९९८-पूर्वार्ध, व्रज-नाथद्वारा-प्रकल्प, सं. ३.

—***मथुरामाहात्म्य,*** सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५४, ई. १९४७. (बङ्गाक्षर)

—***राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका,*** सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—***ललितमाधव,*** सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—***विदग्धमाधव,*** सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५४, ई. १९४७. (बङ्गाक्षर)

—***संक्षेपभागवतामृत,*** सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

—*स्तवमाला*, सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

गोस्वामी श्रीसनातन, *बृहद्वैष्णवतोषणी*, श्रीपुरीदास, कलकत्ता : हरिदास शर्मा, इष्टलाभ प्रिंटर्स, गौराब्द ४६४, बं. १३५७, ई. १९५१.

गोस्वामी श्रीसनातन एवं श्रीगोपालभट्ट, *श्रीहरिभक्तिविलास*, सम्पा. श्रीपुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

चक्रवर्त्ती श्रीनरहरि एवं घनश्यामदास, *भक्तिरत्नाकर*, (बङ्गभाषा), सम्पा. श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती, मायापुर-नदिया : गौड़ीय मिशन, ई. १९४०.

चक्रवर्त्ती विश्वनाथ, *माधुर्यकादम्बिनी*, सम्पा. श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता ई. १९२१. (बङ्गाक्षर)

—*रागवर्त्मचन्द्रिका*, सम्पा. श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता : ई. १९०१. (बङ्गाक्षर)

(पं. राज) जगन्नाथ, *रसगङ्गाधर*, नागेशभट्ट-कृत टीकासहित, सम्पा. मथुरानाथ शास्त्री, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९४७.

जयाख्यसंहिता (पाञ्चरात्र आगम), सम्पा. एम्बर कृष्णमाचार्य, बड़ोदा : ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, ई. १९३१, -६७, गायकवाड ओरि. सीरीज़ ५४.

जातक (बौद्ध, १-६ खण्ड), सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद - भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ई. १९९४-९६.

जेम्स विसेट् प्रेट्, *रिलिजियस कॉन्श्यसनेस*, न्यूयॉर्क : मैकमिलन, ई. १९४८.

ज़ेल्लर, लेख, *ऑरिस्टऑट्ल् एण्ड द ऑर्लिअर पेरिपेटेटिक्स्*,-भाग २, पूना : ऑनल्स ऑफ़ द भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट-खण्ड ३०, भाग ३-४ में प्रकाशित, ई. १९३५.

जैनेन्द्र *सिद्धान्त कोष*, सम्पा. जिनेन्द्र वर्णी, ...ज्ञानपीठ प्रकाशन, ई. १९७१.

ठाकुर भक्तिविनोद, *चैतन्यशिक्षामृत*, (बङ्गभाषा), कलिकाता : गौड़ीय मठ, बङ्गाब्द १३५५, ई. १९४८.

ठाकुर श्रीवृन्दावनदास, *चैतन्यभागवत*, (बङ्गभाषा) सम्पा. सत्येन्द्रनाथ वसु, कलिकाता : देवसाहित्य कुटीर, ई. १९४५.

डे एस.के., द *अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल*, कलकत्ता : जनरल प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स लिमिटेड, ई. १९४२.

तन्त्रसङ्ग्रह, सम्पा. श्रीगोपीनाथ कविराज, वाराणसी : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, ई. १९७०, योगतन्त्र ग्रन्थमाला-३.

तन्त्रसमुच्चय, श्रीनारायणकृत, सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् : ई. १९२९, त्रि.सं.सी.

तन्त्रालोक, म.मा. अभिनवगुप्त-प्रणीत, जयरथकृत-विवेक-सहित, काश्मीर-ग्रन्थमाला, सम्पा. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९१८-३३.

तीर्थ (श्री) आनन्द, *अनुव्याख्यान* (ब्र.सू. व्याख्यांश) बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९२८.

तीर्थ (श्री) नारायण, *भक्तिचन्द्रिका*, बनारस : सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, ई. १९२१.

तैत्तिरीय-संहिता, सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी : स्वाध्याय मण्डल, ई. १९८१.

द आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट, ई. १९२६.

दण्डी, *काव्यादर्श*, जीवानन्द विद्यासागर-कृत व्याख्या, सम्पा. वि. नारायण अय्यर, चेन्नपुरी (मद्रास): वाविळु रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स्, ई. १९५२.

दासगुप्त शशिभूषण, *श्रीराधार क्रमविकास दर्शने ओ साहित्ये*, (बङ्गभाषा) कलकत्ता : ए. मुखर्जी, ई. १९५२.

—*एन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज़्म*, कलकत्ता : कलकत्ता विश्वविद्यालय, ई. १९५०.

—एस.बी., *सम ऑब्स्क्योर् रिलिजियस कल्ट्स्*; कलकत्ता : कलकत्ता. वि.वि., ई. १९५०.

दासगुप्त एस.एन. (सुरेन्द्रनाथ), *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी*, कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, ई. १९५१.

दीक्षितर रामचन्द्र वी.आर., लेख, *कृष्ण इन अर्ली तमिळ लिटरेचर* , *'इंडियन कल्चर'* खण्ड ४ में प्रकाशित, ई. १९३७-३८.

—*स्टडीज़ इन तमिळ लिटरेचर एंड हिस्ट्री*, ऑक्सफ़ोर्ड : ऑक्स. युनिवर्सिटी प्रेस, ई. १९३९.

धनञ्जय, *दशरूपक*, सम्पा. काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, नारायण राम आचार्य, मुम्बई : निर्णयसागर मुद्रणालय, ई. १९४१. प्रथम सं.

नारद-*पाञ्चरात्र*, (*ज्ञानामृतसार*), सम्पा. सी.एम. बनर्जी, कलकत्ता : ई. १९६५,

नारद-*भक्तिसूत्र*, त्यागीशानन्द, मद्रास : रामकृष्ण मठ, माइलापुर, ई. १९४३.

—स्वप्रेश्वर कृत टीका सहित, इलाहाबाद : पाणिनि ऑफ़िस, ई. १९३१.

नारदीयसंहिता, सम्पा. राघवप्र. चौधरी, तिरुपति : केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, ई. १९७१.

नारायणीयम् (महाभारतांश, द्रोण. २९. २६-२९, शान्ति. ३३५-३५१), गोरखपुर : गीताप्रेस निकल्सन, आर.ए. *मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम* , लंदन : ई. १९१४.

नित्याषोडशिकार्णव, सम्पा. व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, ई. १९६८, योगतन्त्र ग्रन्थमाला.

(श्री) निम्बार्काचार्य, *दशश्लोकी*, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५२.

पद्मनाभ सूर्य, *मध्वसिद्धान्तसारसङ्ग्रह*, बम्बई : निर्णयसागर मुद्रणालय, ई. १९३२.

पद्मपुराण, गोरखपुर : गीताप्रेस, ई. १९५०.

परमसंहिता, सम्पा. एस. कृष्णस्वामी आयंगार, बड़ोदा : गायकवाड ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, ई. १९४०, ४६-४७, गा.ओ. सीरीज़ ८६.

परितोष दास, *भारतीय संस्कृति ते आचार्य गोपीनाथ कविराजेर अवदान*, (बङ्गभाषा) कलकत्ता : ई. १९९८.

पाण्डे के.सी., *कॅम्पैरेटिव एस्थेटिक्स*, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५०.

पाण्डेय चन्द्रबली, *तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी मत*, बनारस : सरस्वती मन्दिर, १९४५.

पाञ्चरात्र आगम, लक्ष्मीतन्त्र, सम्पा. वि. कृष्णमाचार्य, मद्रास : अड्यार लाइब्रेरी रिसर्च सेण्टर, ई. १९५९.

पाटणकर पी.एन., *इंडियन ड्रामटर्जी*, वाराणसी : प्रिन्सेस ऑफ़ वेल्स, सरस्वती भवन स्टडीज़ खण्ड ३, ई. १९२४.

पाद्मसंहिता, सम्पा. सीता पद्मनाभन्, मद्रास : पाञ्चरात्रपरिशोधनपरिषद्, भाग १, २, ई. १९७४, ८२.

पारिख माणिकलाल सी., राजकोट : श्रीभागवतधर्म मिशन, ई. १९४९.

पुरुषसंहिता, ...बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५०.

पौष्करसंहिता, ...बंगलोर : ई. १९३४

प्रपञ्चसारतन्त्र, सम्पा. ऑर्थर एवलॉन, कलकत्ता : आगमानुसन्धान-समिति, ई. १९३५.

प्रमथनाथ तर्कभूषण, *बङ्गालेर वैष्णव धर्म* (बङ्गभाषा), कलकत्ता : कलकत्ता विश्वविद्यालय, ई. १९४५.

बलदेव विद्याभूषण, ***काव्यकौस्तुभ***, सम्पा. हरिदासदास, नवद्वीप : ई. १९५२. (बङ्गाक्षर)

—***साहित्यकौमुदी***, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९४७, काव्यमाला.

बाणभट्ट, ***हर्षचरित*** , सम्पा. जगन्नाथ पाठक, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, ई. १९६४.

बादरायण व्यास, ***ब्रह्मसूत्र*** (वेदान्तसूत्र), मूल एवं सभी प्रमुख भाष्य, यथास्थान प्रकाशित.

बृहद्-ब्रह्मसंहिता, (नारद-पाञ्चरात्रीय), पूना : आनन्दाश्रम, ई. १९१२.

बोस रोमा, *डॉक्ट्रिन्स ऑफ़ निम्बार्क एण्ड हिज़ फॉलोअर्स*, कलकत्ता : रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बङ्गाल, ई. १९४३.

ब्रह्मसंहिता, श्रीजीवगोस्वामी-कृत टीका-सहित, सम्पा. श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती, मद्रास : गौड़ीयमठ, ई. १९३८.

भक्तिरसतरङ्गिणी-भक्तिरसामृतशेष, सम्पा. पुरीदास, ढाका : शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, बङ्गाब्द १३५३, ई. १९४६. (बङ्गाक्षर)

भक्तिवेदान्त ए.सी., *अ समरी स्टडी ऑफ़ श्रील रूप गोस्वामीज़ भक्तिरसामृतसिन्धु, द कम्प्लीट् साइंस ऑफ़ भक्तियोग, द नैक्टर ऑफ़ डिवोशन*, लॉस एन्जिलिस : भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, ई. १९८९.

(श्रीमद्-) भगवद्गीता, श्रीरामानुजभाष्य-सहित, गोरखपुर : गीताप्रेस, ई. १९५१.

भरत मुनि, ***नाट्यशास्त्र***, अभिनव गुप्त-कृत ***अभिनवभारती*** टीका-सहित, (चार खण्ड) सम्पा. रामकृष्ण कवि, बड़ौदा : ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, ई. १९५३, ५६-६४, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़-३६, ६८, ८१, १४५.

—अभिनवभारती-सहित, सम्पा. म. रामकृष्ण कवि, बड़ोदा : गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, ई. १९५३.

भानुदत्त, *रसतरङ्गिणी*, बम्बई : गोपालनारायण एण्ड कम्पनी, ई. १९५२.

—*रसमञ्जरी*, बम्बई : गोपालनारायण एण्ड कम्पनी, ई. १९५३.

भामह, *काव्यालङ्कार*, सम्पा. देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , ई. १९६२.

भोजदेव, *सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कार*, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९२५, काव्यमाला. तथा सम्पा. विश्वनाथ भट्टाचार्य, काशी हिन्दू विश्ववि. संस्कृत ग्रन्थमाला, ई. १९७९.

—*सरस्वतीकण्ठाभरण*, रामसिंह एवं जगद्धर-कृत टीकांशों सहित, वाराणसी : चौखम्भा ओरिएण्टालिया, ई. १९८७, चौ. राजमाता सीरीज़-३.

श्रीमध्वाचार्य, *अणुभाष्य*, सम्पा. अनन्त वासुदेव, ढाका : माध्वगौड़ीयमठ, बङ्गाब्द १३४४, ई. १९३७. (बङ्गाक्षर)

मम्मट, *काव्यप्रकाश*, झलकीकर-कृत टीका, सम्पा. गङ्गानाथ झा, वाराणसी : भारतीय विद्या प्रकाशन, ई. १९६७.

महाभारत, पूना : भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, ई. १९३३-६६.

माहेश्वरतन्त्र, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५०.

मिश्र मित्र, *भक्तिप्रकाश*, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९३४.

मित्र राजेन्द्रलाल, *नोटिसेज़ ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स्*, कलकत्ता : १९४३. विश्रामद्वारका, रामा. ६८०, ई. १९८०, श्रीत्रिदण्डि-ग्रन्थमाला ८.

यजुर्वेदसंहिता, सम्पा. दामोदर सातवलेकर, पारडी : स्वाध्यायमण्डल, ई. १९८१.

युगनद्ध, सम्पा. हार्वट वी. गुंटर, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५०.

श्रीरघुनाथदास, *मुक्ताचरित*, सम्पा. पुरीदास, शचीन्द्रनाथ रायचौधुरी, ढाका : ई. १९४६ (बङ्गाक्षर).

राघवन् वी., *नम्बर ऑफ़ रसज़*, मद्रास : द अड्यार लाइब्रेरी, ई. १९४०.

—*स्टडीज़ इन शृङ्गारप्रकाश*, मद्रास : द अड्यार लाइब्रेरी, ई. १९४५.

श्रीरामानन्दाचार्य (आनन्दभाष्यकार), श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, पालडी : श्रीरामानन्दपीठ.

श्रीरामानुजाचार्य, *गद्यत्रयम्* , रङ्गाचार्यकृत टीका, काञ्चीपुरम् : ई. १९४० वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला.

राय उमा, *गौडीय वैष्णव रसेर अलौकिकत्व*, (बङ्गभाषा), कलिकाता, ई. १९५२.

रायचौधरी एच.सी., *अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द वैष्णव सेक्ट*, कलकत्ता : कलकत्ता विश्वविद्यालय, ई. १९५०.

—*'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट'*, कलकत्ता : कलकत्ता विश्वविद्यालय, ई. १९४१.

राव गोपीनाथ टी.ए., *हिस्ट्री ऑफ़ श्रीवैष्णवज़*, मद्रास : ई. १९२३.

रुद्रट, *काव्यालङ्कार*, सम्पा. पं. दुर्गाप्रसाद एवं वासुदेव लक्ष्मण पणसीकर, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९२८, काव्यमाला. २, तृतीय सं.

श्रीलक्ष्मीधर, ***नामकौमुदी***, बनारस : अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, ई. १९३७.

श्रीवल्लभाचार्य, ***अणुभाष्य***, बम्बई : बं. संस्कृत-प्राकृत सीरीज़, ई. १९२१.

—***श्रीभाष्य***, काञ्ची : रामानुज-ग्रन्थमाला, ई. १९५६.

—***निरोधलक्षण***, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, ई. १९३४.

—***पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्ग***, सम्पा. प्रका. तुलसीदास तेलिवाला, अलवर : ई. १९५१.

—***भक्तिवर्धिनी***, सम्पा. प्रका. तुलसीदास तेलिवाला, अलवर : ई. १९५२.

वसुबन्धु, ***अभिधर्मकोषभाष्यम्***, सम्पा. प्रह्लाद प्रधान, पटना : काशीप्रसाद जायसवाल-अनुशीलन संस्थान, १९७५, भोटदेशीय संस्कृत ग्रन्थमाला.

वात्स्यायन मुनि, ***कामसूत्र***, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५०.

वामन, ***काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति***, सम्पा. नगेन्द्र, दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्स, ई. १९५४.

विश्वनाथ पण्डित, ***प्रेमरसायन***, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ई. १९५२.

विष्णुपुराण, गोरखपुर : गीताप्रेस, ई. १९५२.

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, सम्पा. म. प्रियबाला शाह, बड़ोदा : ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, ई. १९५८-६१

विष्णुसंहिता, सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् , ई. १९२५, द्वि. सं. दिल्ली : श्रीसद्गुरु पब्लिकेशन, ई. १९९०.

श्रीवोपदेव, ***मुक्ताफल***, कलकत्ता : ओरिएण्टल सीरीज़-५.

शर्मा प्रेमलता, *स्टडीज़ इन भक्तिरस बेस्ड ऑन श्रीरूप गोस्वामी*, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्वीकृत शोधप्रबन्ध, ई. १९५४. (अप्रकाशित)

शाण्डिल्यमुनि, ***भक्तिसूत्र***, भावदेव-कृत बङ्गभाषीय टीका-सहित, सम्पा. जीवानन्द, कलकत्ता : ई. १८७६.

शारदातनय, ***भावप्रकाशन***, सम्पा. यदुगिरि यतिराज स्वामी एवं के.एस. रामस्वामी शास्त्री, बड़ोदा : गायकवाड़ ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, ई. १९५०, १९६८.

शार्ङ्गदेव, ***सङ्गीतरत्नाकर***, पूना : आनन्दाश्रम, तथा मद्रास : अड्यार लाइब्रेरी, ई. १९४३-८६.

शास्त्री कपाली टी.वी., *लाइट्स् ऑन द वेदज़*, पॉण्डिचेरी : अरविन्द आश्रम, ई. १९५२.

श्रीप्रश्नसंहिता, सम्पा. सीता पद्मनाभन्, तिरुपति : केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, ई. १९६९.

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, (१-११खण्ड), प्रधान सम्पा. बलदेव उपाध्याय, —*तन्त्रागम खण्ड*, सम्पा. व्रजवल्लभ द्विवेदी, लखनऊ : उ.प्र. संस्कृत संस्थान, १९९७.

संस्कृत वाङ्मय कोश, सम्पा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, कलकत्ता : भारतीय भाषा परिषद, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, ई. १९८८.

सरस्वती श्रीमधुसूदन, *भगवद्भक्तिरसायन*, बनारस : अच्युत ग्रन्थमाला, ...तथा हिन्दी अनुवाद सहित सम्पा. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, वाराणसी, ई. १९५३.

सात्त्वततन्त्र, सम्पा. अनन्तशास्त्री फडके, बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ३४ ई. १९३४.

सात्त्वतसंहिता, सम्पा. व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्ववि. ई. १९८२.

सामवेदसंहिता, सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी : स्वाध्यायमण्डल, ई. १९८९.

श्रीहरिदासदास, *गण्य वैष्णवेर साहित्य (बङ्गभाषा)*, नवद्वीप : ई. १९४७.

श्रीहरिदासदास, *गौड़ीय वैष्णव साहित्य (बङ्गभाषा)*, नवद्वीप : ई. १९४८.

टिप्पणी – प्रस्तुत ग्रन्थ की अवतरणिका (प्रथम खण्ड) तथा अवतरणिका-प्रस्तार (यहाँ द्वितीय खण्ड में) का प्रमुख आधार रहा है – स्वयं प्रेमलता शर्माजी का (का.हि.वि.वि.में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध "Studies in Bhaktirasa based on Śrī Rūpa Gosvāmī" (1954, अप्रकाशित)। उस में प्रदत्त ग्रन्थ-सन्दर्भिका में कहीं-कहीं प्रकाशन-सन्दर्भ अपूर्ण है, उस समय प्राप्त किन्हीं एकमात्र संस्करणों का उपयोग प्राचीन जीर्ण जिल्दों में से होने के कारण। यहाँ यथाशक्य प्रयास-पूर्वक अधिकांश प्रकाशनविवृति दी गई हैं, जो अप्राप्य रही, उस के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

—ऊर्मिला शर्मा

(इस ग्रन्थसूची में सभी ग्रन्थनाम टेढ़े अक्षरों में हैं, केवल संस्कृत ग्रन्थनाम गहरे अक्षरों में हैं।)

शुद्धिपत्र

(श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः—प्रथमखण्ड)

पृष्ठ	पंक्ति		अशुद्ध	शुद्ध
	ऊपर से	नीचे से		
ix	—	१४	सास्कृ.	सांस्कृ.
xxx	—	६	आरैर	और
xxxiii	—	१०	वरान्	वान्
9	—	१२	हरत	हरता
15	—	१२	८८/११	८७/२१
53	१०	—	६/	७/
53	—	१०	/४/	/७४/
87	१	—	/३५	/३३
137	१०	—	/१२/७	/१/२७
196	—	७	/१/१९	/११/१९
199	—	५	/९/	/९०/
237	९	—	/८३/	/४३/
349	—	९	/३०	/३३
352	१	—	छूटा है	जोड़ें (३३१)
362	१	—	छूटा है	जोड़ें (५/४०)
364	८	—	/८	/४
378	१	—	छूटा है	जोड़ें (१९८)
384	—	८	छूटा है	जोड़ें (२/२७)
394	१	—	छूटा है	जोड़ें (१४/७)
396	—	७	छूटा है	जोड़ें (२/५३)
397	—	२	निशङ्क	निःशङ्क
398	—	७	छूटा है	जोड़ें (३०२)

429	—	आधा पृष्ठ खाली है	दो श्लोकों का अनुवाद गायब है	*नीचे दिया अंश जोड़ लें।
559	११,१२	—	श्लो. सं. २४३, २४४	२४४, २४५

---

*भ०र०सिं० २/४/२४४-४५

शबलता

१०६. अनेकों भावों की (एक साथ उमड़ने से हुई) भीड़ ही शबलता (चितकबरा-पन) है। ।२४४।

जैसे—

१३९. "वह शिशु भला मेरा क्या (बिगाड़) कर सकता है? (अरे!) इसने तो मेरे मित्र-पक्ष वालों (इतने सारे असुरों) को मार डाला! तो फिर तुरन्त उसी की शरण में आश्रय लूँ; (पर) वीर पुरुष ऐसा नहीं करते (शत्रु की शरण नहीं लेते)।; हाँ-हाँ यह दिव्य मल्ल-गोष्ठी विहार कर रही है (यह अतिशय बलशाली मल्लों का समूह है ये उसे मसल कर प्राण ले लेंगे); (अरे!) इसने तो एक हाथ से गिरिराज ऊँचा उठाये रखा था—इतना (ऐसा अप्रतिम बलशाली है वह)! आज ही ब्रजभूमि में जाकर उसको समाप्त कर दूँ; हाय! बुद्धि काँपती है (उसे कुछ करने या उसके पास जाने की बात सोचने तक से अन्तःकरण भय से काँप जाता है।)"

यहाँ (कंस के इस स्वगत ऊहापोह में) गर्व-विषाद-दैन्य-मति-स्मृति-शङ्का-अमर्ष और त्रास (भय)—इतने सारे भावों की शबलता है। ।२४५।

डॉ० प्रेमलता शर्मा (१९२७-१९९८) सङ्गीत, नाट्य, कला, रस, भक्ति साहित्य एवं गौड़ीय वैष्णव दर्शन की अनूठी विदुषी रहीं। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी एवं संस्कृत में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त संस्कृत में साहित्याचार्य तथा पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की, उनका शोध विषय था, "श्रीरूपगोस्वामी पर आधारित भक्तिरस का अध्ययन"। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला एवं मातृभाषा पंजाबी-इन पाँचों भाषाओं पर आपका असाधारण अधिकार था। गुजराती और मराठी का भी आपको अच्छा ज्ञान था। सुप्रसिद्ध सङ्गीतज्ञ पंडित ओंकारनाथ ठाकुर से गायन का उच्चस्तरीय प्रशिक्षण प्राप्त कर उन्होंने सङ्गीत के सिद्धान्त, इतिहास एवं दर्शन की अध्यापिका के रूप में अपने कर्मजीवन का प्रारम्भ किया एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सङ्गीत-शास्त्र विभाग के प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष पद को अलंकृत किया। बाद में आप उत्तर प्रदेश सङ्गीत नाटक अकादेमी, लखनऊ की अध्यक्षा (१९८३-१९८६) एवं इन्दिरा कला-सङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति (१९८५-१९८६) भी रहीं। सन् १९९२ में सङ्गीत नाटक अकादेमी के मान्य सदस्य (फेलो) के रूप में आपका चयन हुआ और उक्त अकादेमी की आप उपाध्यक्षा भी रहीं। आप अनेक मौलिक कृतियों की रचयित्री, सम्पादिका एवं अनुवादिका हैं। आपकी कृतियों में उल्लेखनीय हैं-रसविलास (१९५२), सङ्गीतराज (१९६३) सहसरस (१९७२), एकलिङ्ग माहात्म्य (१९७६) आदि। मतङ्गमुनिकृत बृहद्देशी का अंग्रेजी अनुवाद सहित समीक्षात्मक संस्करण (इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, १९९२-१९९४) भी आपका एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा। अन्तिम वर्षों में आपने 'सङ्गीतकलाधर' का सम्पादन एवं नाट्यशास्त्र के सङ्गीतविषयक अध्यायों का सम्पादन हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद १९९६ तक पूर्ण किया। आपके सहयोग में किया गया सङ्गीतरत्नाकर का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त आपने कई एक उच्चस्तरीय बंगला-संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद भी किया है, यथा-"जपसूत्रम्"-दो खण्ड।

प्रायोगिक सङ्गीत में आपकी मौलिक रचनाएँ हैं-सङ्गीतमय जैन गाथायें, मालविकाग्निमित्रम्, उत्तररामचरितम्, मुद्राराक्षसम् के नाट्य प्रयोगों में सम्पूर्ण सङ्गीत, कालिदासीय-मङ्गलाचरण, विक्रमोर्वशीयम् की प्राकृत ध्रुवायें, रघुवंश के अनेक प्रसङ्गों के गीतिनाट्य, श्रीमद्भागवत के भ्रमर-गीत, वेणु-गीत और युग्म गीत, श्रीगोविन्दविरुदावली एवं अन्य अनेक प्रकीर्ण संस्कृत तथा व्रजभाषीय रचनाओं के गेय रूप, नाट्यशास्त्र में वर्णित वर्धमान, मद्रक आदि गीतकों तथा ध्रुवाओं का पुनरुद्धार, सम्पूर्ण पूर्वरङ्ग का पुनरुद्धार भी आपके विशेष कृतित्वों में सम्मिलित है।

आवरण : पी.टी. देशपांडे